ISSN 2278-554 X Lamahi

लमही

जनवरी–मार्च, 2015

कहानी का स्त्री पक्ष

₹50/-

एक अद्भुत अनुभव

जंगल के गहरे साये,
चमकती आँखों,
शाहाना चाल और
कुदरत का शानदार
शाहकार।
वन विहार, भोपाल
एक राष्ट्रीय उद्यान,
शहर के बीच।

एक अछूता एहसास

मध्यप्रदेश

मध्यप्रदेश जनसम्पर्क द्वारा जारी

R.O.N. : D76610

लमही

वर्ष: 7 । अंक: 3 । जनवरी–मार्च 2015

इस अंक में

n विशेष लेख

स्त्री-विमर्श की परिक्रमा - **ओम प्रकाश मिश्र** / 5

n पड़ताल

इतिहास में स्त्री अस्मिता की तलाश - **डॉ नलिन रंजन सिंह** / 17

n परिचर्चा

अभिव्यक्ति, अस्मिता और अभिमान -आयोजक : **सौरभ शेखर, शोभा मिश्रा**

इस परिचर्चा में सम्मिलित कथा लेखिकाओं के विचार :

रमणिका गुप्ता /22, **ममता कालिया** /27, **सुधा अरोड़ा** /27, **नीला प्रसाद** / 31, **सारा राय** /34, **डॉ कविता वाचक्नवी** / 36, **मधु अरोड़ा** / 39, **आशा प्रभात** / 40, **स्वाति तिवारी** / 42, **रजनी गुप्त** / 44, **महुआ माजी** / 46, **जयश्री राय** / 47, **गीताश्री** / 50, **नीलाक्षी सिंह** / 52, **प्रत्यक्षा** / 53, **अल्पना मिश्र** /54, **किरन सिंह** / 57, **आकांक्षा पारे काशिव** / 58, **वन्दना देव शुक्ल** / 59, **पंखुरी सिन्हा** / 61, **कविता** / 64, **प्रज्ञा पाण्डेय** / 66, **दया दीक्षित** / 67, **इन्दिरा दांगी** / 70, **भूमिका द्विवेदी अश्क** / 72, **सीमा आजाद** / 73

n साक्षात्कार

- मेरे लिए साहित्य दोनों खेमों के बीच की जगह में बसता है-

(वरिष्ठ साहित्यकार एवं संपादक अर्चना वर्मा से सुनील कुमार मिश्र की बातचीत) / 76

- गुलामी का अहसास जिस दिन हो जाता है, मुक्ति की जंग भी तभी से छिड़ जाती है-

(प्रख्यात कथाकार एवं उपन्यासकार मैत्रेयी पुष्पा से स्वीटी यादव की बातचीत) / 84

n मानसरोवर

ठसक-**ममता कालिया** / 87, बुत जब बोलते है-**सुधा अरोड़ा** / 91, निर्वासिता-**मधु काकरिया** / 97, भय-**आशा प्रभात** /102, एक और भीष्म प्रतिज्ञा-**स्वाति तिवारी** /106, फिर वही शून्य-**मधु अरोड़ा** /109, काट दो-**सुधा ओम ढींगरा** / 113, थोड़ी सी ज़मीं थोड़ा आसमां-**जयश्री राय** / 118, डायरी, आकाश और चिड़िया-**गीताश्री** / 126, बहत्तर धड़कने, तिहत्तर अरमान-**आकांक्षा पारे काशिव** / 131, यथार्थ इन दिनों - **वन्दना देव शुक्ल** / 134, कैनेडियन माउंटेन टाइम -**पंखुरी सिन्हा** /139, कोखघर-**कविता** / 143, वक़्त-वक़्त की बात-**दया दीक्षित** / 151, माल-ए-मुफ़्त - **इंदिरा दांगी** / 160, द लास्ट फ्लाइट-**भूमिका द्विवेदी अश्क** / 162, लखन कहां का रहने वाला है-**सीमा आजाद** / 168

n आलोचना

'ठसक' पर-**सूरज पालीवाल**/ 176, 'बुत जब बोलते हैं' पर-**अरुण होता** / 179, 'निर्वासिता' पर-**धनंजय कुमार चौबे** / 183, 'भय' पर-**डॉ उषा राय** / 185, 'एक और भीष्म प्रतिज्ञा' पर-**डॉ. विजय बहादुर सिंह** /187, 'फिर वही शून्य' पर-**रविकांत** /189, 'काट दो' पर- **संजय कृष्ण** / 191, 'थोड़ी सी जमीं थोड़ा आसमां' पर-**भारत प्रसाद** / 194, 'डायरी, आकाश और चिड़ियां' पर-**पंकज सुबीर** / 197, 'बहत्तर धड़कने, तिहत्तर अरमान' पर-**अमिय बिन्दु** /200, 'यथार्थ इन दिनों' पर-**सुशील कृष्नेत** /204, 'कैनेडियन माउंटेन टाइम' पर-**मनोज कुमार पाण्डेय** / 206, 'कोखघर' पर-**सौरभ शेखर** / 208, 'वक़्त वक़्त की बात' पर-**प्रताप दीक्षित** /210, 'माल-ए-मुफ्त' पर-**राकेश बिहारी** /212, 'द लास्ट फ्लाइट' पर-**प्रांजल धर** /213, 'लखन कहां का रहने वाला है' पर-**स्वाती ठाकुर** /215

n उपन्यास अंश

जानकीदास तेजपाल मेंशन (क्या आप मुझे एक मुर्दा दिलवा सकते हैं?) **अलका सरावगी** / 217

भारत में बालिकाओं के पहले स्कूल की पहली शिक्षिका, समाजसेविका, क्रांतिधर्मी कवियित्री, नारी मुक्ति आंदोलन की पहली कार्यकर्त्री सावित्री बाई फुले (जिन्होंने 1 जनवरी 1848 को पूना के बुधवारा पेठ में पहला बालिका विद्यालय खोला) बालिकाओं को शिक्षा देते हुये। 3 जनवरी सावित्री बाई फुले का जन्म दिवस है। इस अवसर पर 'लमही परिवार' द्वारा उनका स्मरण करते हुये शत-शत नमन।

आवरण कलाकृति : ऋतिका राय

प्रधान संपादक* o विजय राय

संपादक* o ऋत्विक राय

संयुक्त संपादक* o ऋतिका

o वत्सल कक्कड

वेब संपादक* o पंकज सुबीर

संपादकीय एवं व्यवस्थापकीय संपर्क

3/343, विवेक खण्ड, गोमती नगर लखनऊ–226010

ईमेल : vijairai.lamahi@gmail.com, मो0 : **9454501011**

सामान्य अंक की एक प्रति का मूल्य : 15/– रुपये मात्र

इस विशेषांक की एक प्रति का मूल्य : 50/–रुपये मात्र

आजीवन सदस्यता : 1000/–रुपये मात्र

''लमही का वेब अंक आप **Not Nul**

(www.notnul.com)

पर पढ़ सकते हैं।''

आजीवन सदस्यता शुल्क बैंक ड्राफ्ट द्वारा 'लमही' **(LAMAHI)** के नाम से निम्न पते पर भेजें– **3/343**, विवेक खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ–**226010** (उत्तर प्रदेश)

प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। इनसे त्रैमासिक पत्रिका 'लमही' और उसके संपादक–मण्डल का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

समस्त विवादों का न्याय क्षेत्र लखनऊ होगा

''लमही'' की स्वत्वाधिकारी, मुद्रक एवं प्रकाशक मंजरी राय के लिए श्रीमंत शिवम् आर्ट्स, 211 पाँचवीं गली, निशातगंज, लखनऊ से मुद्रित तथा 3/343, विवेक खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ-226010 से प्रकाशित।

संपादक–ऋत्विक राय*

*सभी अवैतनिक

वर्ष : 7 l अंक : 3 l जनवरी–मार्च 2015

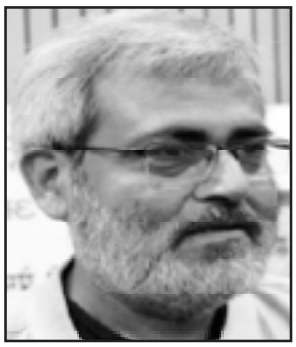

ईमेल : vijairai.lamahi@gmail.com मो. : 09454501011

n विजय राय

स्त्री विमर्श एक आंदोलन के रूप में बीसवीं शताब्दी के छठे दशक में प्रारम्भ हुआ। ऐसा नहीं है कि इन विमर्शात्मक आंदोलनों के पहले स्त्री लेखन नहीं था। स्त्री विमर्श बड़े परिप्रेक्ष्य में अस्मितामूलक विमर्शों का अंग है। सदियों, सहस्राब्दियों से दुनिया का एक बड़ा वर्ग उत्पीड़ित, दमित और शोषित था। शोषण का आधार भले ही अलग-अलग हो परन्तु शोषण करने वाले तंत्र एक ही हैं। सामंती पितृसत्तात्मक व्यवस्था ही शोषण के केन्द्र में रही है। सत्ता का राजनैतिक आधार बदला है। लोकतंत्र का प्रचार-प्रसार बढ़ा है। लोकतंत्र के प्रसार ने दुनिया में समानता के सिद्धांत को बुनियादी और सैद्धांतिक स्तर पर बढ़ाया है। समानता के प्रति लोगों का नज़रिया बदला है। इस बदले हुए सामाजिक राजनैतिक परिदृश्य में विषमता और उसके विभिन्न संस्थाओं के प्रति दुनिया के तमाम देशों में आंदोलन हुए।

स्त्रियों का शोषण किसी एक व्यक्ति की समस्या नहीं है। स्त्रियों का शोषण संस्थाबद्ध तरीके से शताब्दियों से पुरुषों द्वारा होता रहा है। चाहे वह सवर्ण समाज हो, चाहे वह दलित समाज हो-दोनों में स्त्रियों का शोषण समान रूप से प्रचलित है। साथ ही स्त्रियों का शोषण किसी एक समाज तक प्रचलित अवधारणा या घटना नहीं है। स्त्री का शोषण पूरे विश्व में, लगभग प्रत्येक समाज में अबाध और समान रूप से प्रचलित है।

मेरी वाल्स्टनक्राफ्ट से लेकर आज के वर्तमान समय तक न जाने कितने स्त्री पुरुषों ने समानता के इस संघर्ष में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जॉन स्टुअर्ट मिल, एंगेल्स, सिमोन, जर्मेन ग्रेयर आदि न जाने कितने नामों की सूची बनायी जा सकती है। **परन्तु प्रश्न तो वही है आज भी-कि क्या समानता और बराबरी का संदर्भ पाया जा सका है? इस समानता का संदर्भ क्या होगा? क्या आर्थिक स्वावलंबन समानता का मार्ग प्रशस्त करेगा या वही उसकी एकमात्र शर्त होगी? अगर वही एकमात्र शर्त होगी तो आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी महिलाओं का शोषण क्यों होता है?** कई बार तो यह भी देखने में आता है कि जो स्त्रियाँ बाहर काम करती हैं, उन्हें भी घर का काम भी उतना ही करना पड़ता है। यह तो दोहरी जिम्मेदारी लाद दी जाती है स्त्रियों पर। फिर कार्य स्थल पर स्त्रियों के शोषण और दमन की घटनाएँ भी काफी मात्रा में बढ़ी है। बढ़ने का दूसरा अर्थ भी हो सकता है कि आज स्त्रियाँ पहले की मात्रा में अपने प्रतिरोध को ज्यादा मात्रा में दर्ज कराने का साहस भी कर रही हैं और उसे दर्ज कराने में सफल भी हो रही हैं। अन्यथा पहले स्त्रियां इन अपमानों और शोषणों को चुपचाप सहन कर लेने में ही अपना और अपने परिवार का भला देखती थीं। इन अपमानों को चुपचाप सहन कर लेने का तात्पर्य यह भी है कि भविष्य में शोषण और दमन की गुणात्मक और मात्रात्मक स्थितियों में इज़ाफ़ा होना और उसकी विकरालता का बढ़ते जाना। फिर इससे स्पष्ट होता है कि आर्थिक स्वावलम्बन समानता का एक महत्वपूर्ण पड़ाव होगा पर मात्र उसके सहारे ही स्त्री पुरुष समानता के लक्ष्य को पाया नहीं जा सकता।

दरअसल स्त्री अधिकारों के संघर्ष का सामाजिक राजनैतिक आधार और साहित्यिक संदर्भ भी थोड़ा अलग अलग ही है। साहित्य में स्त्रियाँ जिस खुलेपन से अपने को अभिव्यक्त कर पा रही हैं वह आदर्श नहीं कहा जा सकता। उसमें भी अनेक प्रकार का संकोच और सामाजिक दबाव काम करता है, परन्तु सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में तो हालात और भी बुरे हैं। महिला आरक्षण बिल आज भी लटका हुआ है। विभिन्न राजनैतिक दलों की असंवेदनशीलता से हम सभी वाक़िफ़ हैं। विभिन्न कार्य स्थलों पर उनके सानुपातिक प्रतिनिधित्व को सभी दल नकार रहे हैं। सानुपातिक प्रतिनिधित्व का व्यापक असर समाज और उसकी संरचना पर दिखाई पड़ेगा। सारे संगठनों पर अभी पितृसत्तात्मक संरचनाओं का आधिपत्य है। हम समाज में पितृसत्तात्मक संस्थाओं द्वारा स्त्रियों के मानसिक कंडीशनिंग को भी आसानी से देख-परख सकते हैं। इसका असर राजनीति और समाज की विभिन्न संस्थाओं पर देखा जा सकता है। परन्तु अगर सानुपातिक प्रतिनिधित्व को बढ़ावा दिया जाएगा, तो इस स्थिति में रातोरात परिवर्तन भले न हो परन्तु समाज में इसका दीर्घकालिक प्रभाव सुखद ही होगा। कुछ समय बाद समाज की संरचना में ठोस परिवर्तन नजर आएगा। तात्पर्य यह है कि कुछ समय के बाद समानता की दिशा में ठोस परिवर्तन नजर आएगा।

दुनिया भर में अस्मितामूलक विमर्शों का आरम्भ समानता की आवश्यकता के कारण ही हुआ। चाहे अभिव्यक्ति का स्तर कोई भी हो-आत्म की हो या शिल्पगत या शब्दगत। इसने अभिव्यक्ति के परम्परागत पुरुषवादी वर्चस्व को तोड़ा है। जब पुरुष स्त्रियों के बारे में लिखता है तो अपनी तमाम सहानुभूति और संवेदना के बावजूद वह पूरी तरह न्याय नहीं कर सकता है। दूसरा उसमें किसी या किन्हीं अंशों में पुरुषवादी सोच के आ जाने की संभावना बनी रहती है। तीसरे संवेदना का एक स्थान जीवन में है परन्तु तब हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि 'जाके फटी न बेवाय, सो का जानी पीर पराई।'

'लमही' के इस अंक में प्रखर आलोचक **ओम प्रकाश मिश्र** का एक आलेख 'स्त्री विमर्श की परिक्रमा' वर्ष 2014 में प्रकाशित कतिपय ध्यातव्य कहानियों की विवेचना के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मिश्र जी मानते हैं कि 'इस समय समाज में स्त्री को लेकर जिन तीन प्रकार की

सोच वाले समूहों का अस्तित्व मौजूद है उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब कथा साहित्य में उभर कर प्रकट हो रहा है। एक में है समस्त प्रतिगामी बन्धनों को नकारती मुक्ति के लिये उठ खड़ी होती संघर्षशील स्त्री की नई तस्वीर है जबकि दूसरी में है स्त्री को पारम्परिक पुरुषवादी नजरिये से देखता हुआ मूल्यबोध। तीसरे में है महाजनी पूंजी के जहर से आक्रान्त जीवन को उपभोक्तावादी नजरिये से देखता सब कुछ को माल में तब्दील करता स्त्री को सिर्फ देह की हदों तक संकुचित करता और साहित्य को पोर्नोग्राफी की ओर धकेलता नया दृष्टिकोण।'

ओम प्रकाश मिश्र ने जिन कहानियों के बहाने स्त्री विमर्श की परिक्रमा की है वे स्त्री और पुरुष दोनों ही कहानीकारों द्वारा 2014 की प्रकाशित कहानियां हैं जो इस प्रकार हैं : **'कहां है सबके पास ऐसा' (स्वाति तिवारी), 'बिखरी आवाज' (महेश दर्पण) 'आंगन आहट और समर' (महेश कटारे) 'मिस रूबी' (भूमिका द्विवेदी अश्क) 'पिया बसंती' (सुषमा मुनीन्द्र) 'उधड़ा हुआ स्वेटर' (सुधा अरोड़ा) 'चलो चले मां' (संजीव) 'मेंढकी'** और **'ऊंची बोली' (दीपक शर्मा) 'कछार' (प्रज्ञा पाण्डेय)**। वे इसी आलेख के एक पैरे में लिखते हैं कि 'इन कहानियों के मध्य स्त्री को पुरुषवादी नजरिये से देखती और भोग के लिये वृद्धावस्था में भी लड़कियों के शरीर से चिपकती निगाहों को पर्त दर पर्त उघाड़ती **प्रेमचन्द सहजवाला** की **'दोस्ती'**, बेमेल विवाह के कारण असंतुष्ट चाची की अपने भतीजे से कामतृप्ति का बखान करती **सीमा आजाद** की कहानी **'मुआवजा'** घर में सम्पत्ति के लिए ससुर से सम्बन्ध बनाने की होड़ में लगी बहुओं की कथा कहती **विभा रानी** की कहानी **'गंगा मैया के निर्मल धार'** जैसी कहानियां भी इस साल आयी हैं जो भले ही समाज में व्याप्त सड़ांध को उजागर करना चाहती हों लेकिन अपने विवरणों और कथ्य से वितृष्णा जगाने की जगह पाठक को केवल काम कुंठाओं की दुनिया की सैर कराती हैं।

किरन सिंह की हंस में प्रकाशित **'देश-देश की चुड़ैले'** इस वर्ष की बेहतरीन कहानियों में शुमार की जा सकती है जिसमें दरमियानी कद की तीन कथाएं हैं- **कीटाणु, संरक्षित वन** और **चितमन**। इन उपशीर्षकों की तीनों कथाएं एक ही विषय को तीन कोण से दिखाती हैं। तीनों कहानियों में परिस्थितियां बदली हुई हैं, पृष्ठभूमि अलग हैं, वजहें दूसरी हैं, अंजाम मगर एक है-औरत को चुड़ैल में तब्दील कर देना या उसका तब्दील होते जाना। तीनों कथाएं अपने अस्तित्व में स्वतंत्र दिखाई दे कर भी एक कहानी है। पहली कथा बताती है कि अल्पसंख्यक समुदाय की एक बूढ़ी औरत अपने पोते का नाम कान्हा रखे हुए है। वह परिवार 'कच्छ' से भाग कर आया है और गांव के परती छोर पर रहता है। जीने का सहारा एक आम का पेड़ और थोड़ी जमीन है। गांव का मास्टर रजिस्टर में कान्हा को 'काना' लिखता है, बूढ़ी पर हिन्दू देवी-देवताओं के अपमान का आरोप लगाता है। अंत में उनकी जमीन हड़पने के छिपे इरादे से, उस बूढ़ी को चुड़ैल घोषित कर उसकी हत्या करने के लिए गांव इकट्ठा होता है। वह परिवार अपनी भरी फसल वाले खेत, झोपड़ी और पेड़ में आग लगाता हुआ वहां से फिर भागता है। दूसरी कहानी संरक्षित वन का एक पात्र कहता है-''यह पूरा वतन एक संरक्षित वन है।'' एक लड़की रास्ता भूल कर एक संरक्षित वन में चली जाती है। रात हो चुकी है और रास्ते में एक अपाहिज उससे मदद मांगता है। बलात्कार की घटनाओं से डरी हुई वह लड़की, उस अपाहिज को संदेह की निगाह से देखती है और उसे छोड़ कर चली जा रही है। उस लड़की का माथा, अपाहिज को व्याकुल सा देखता हुआ पीछे जंगल की दिशा में है और पांव स्वयं को बचाने के लिए आगे सड़क की तरफ जा रहे हैं। ऐसे में उसे लगता है कि वह मिथकों की वह चुड़ैल बन चुकी है जिसके सिर और पांव परस्पर उलटी दिशा में होते हैं। तीसरी कहानी 'चितमन' हमारे चित-मन के 'ग्रे एरिया' की कहानी है। दरअसल ये तीनों कहानियां बताना चाहती हैं कि औरतों की चाहत में डायन बनना कभी शामिल नहीं रहा। वे इस इल्जाम-योनि से, ऐसे बद-हालात से मुक्ति चाहती है।

प्राकृतिक रूप से पुरुष के साथ सह अस्तित्व में रही स्त्री कब और कैसे सामाजिक रूप से सहायक की भूमिका में चली गई इसकी पड़ताल के लिये हमें पितृसत्ता के उद्‌भव और जड़ जमाने की प्रक्रिया को समझना होगा। प्राचीन भारत से सम्बन्धित अधिकांश उपलब्ध साहित्यिक कृतियां पुरुषों द्वारा लिखी गई हैं इसलिये अपने समाज के बारे में स्त्रियों की स्वयं की क्या सोच थी कह पाना मुश्किल है। फिर भी स्त्री रचनाओं के रूप में हमें ऋग्वेद की कुछ ऋचाएं, थेरीगाथा, भक्तिकालीन कवयित्रियों के गीत, स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले लोकगीत आदि मिलते हैं। डॉ. नीलिमा पाण्डेय ने प्राचीन भारत से सम्बन्धित विभिन्न साहित्यिक स्रोतों के साथ इन स्त्री रचनाओं का अध्ययन कर तत्कालीन समाज में स्त्री अस्मिता की तलाश का प्रयास अपनी पुस्तक 'इतिहास में स्त्री अस्मिता की तलाश' के अंतर्गत किया है। **डॉ. नलिन रंजन सिंह** ने पुस्तक को स्त्री विमर्श महिला अध्ययन के विषय के रूप में चिन्हित करते हुये इस अंक में प्रकाशित अपने लेख 'इतिहास में स्त्री अस्मिता की तलाश' में इसे स्त्री विमर्श की ऐतिहासिक पड़ताल के लिये एक बेहद महत्वपूर्ण कृति माना है। वे यह भी मानते हैं कि मिथक और इतिहास के घालमेल से यह पुस्तक बचाती है और ठोस संदर्भों के साथ इतिहास के प्रति वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करती है। उम्मीद है कि डॉ. नलिन रंजन सिंह ने अपने आलेख 'इतिहास में स्त्री अस्मिता की तलाश' के अंतर्गत जिन संदर्भों को यहां उठाया है वे पाठकों को स्त्री से जुड़े हुये पूर्वाग्रहों से मुक्त करेंगे जो सामाजीकरण की प्रक्रिया में उनके इर्द-गिर्द बुने जाते हैं।

इसी अंक में 'लमही' द्वारा आयोजित परिचर्चा के दस प्रश्नों के उत्तर रमणिका गुप्ता से लेकर सीमा आजाद तक ने बड़ी बेबाकी से दिये हैं जिसमें लगभग सात आठ दशकों में सक्रिय महिला विमर्शकारों एवं कथा लेखिकाओं ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। इस महत्वपूर्ण परिचर्चा को सफलतापूर्वक आयोजित करने का श्रेय युवा आलोचक सौरभ शेखर और युवा लेखिका एवं एक्टिविस्ट शोभा मिश्रा को जाता है जिन्होंने तमाम परिस्मारकों द्वारा विचार संकलन का कार्य किया और कई उम्रदराज़ लेखिकाओं के घर जाकर उनसे प्रश्नों के उत्तर नोट किये। इसके अलावा इस अंक में विविध आयु वर्ग की 17 कथा लेखिकाओं की कहानियां और उन पर 17 समालोचकों द्वारा टिप्पणियां दी गई हैं। अलका सरावगी के अप्रकाशित उपन्यास 'जानकीदास तेजपाल मेन्शन' का अंश भी इस अंक की महत्वपूर्ण पठनीय सामग्री है। 'लमही' के सुधी पाठकों सहित सभी लेखकों को नव वर्ष की अनेकानेक शुभकामनाएं। हमें आपकी प्रतिक्रिया और सुझाव का इंतज़ार रहेगा। n

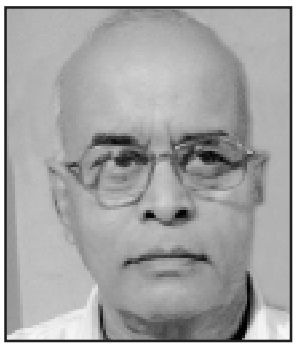

विशेष

स्त्री-विमर्श की परिक्रमा

(2014 में प्रकाशित कुछ कहानियों के बहाने से)

n ओम प्रकाश मिश्र

मानव सभ्यता में पुरुषसत्ता की स्थापना तथा औरत को मर्द से हेठी बनाए जाने का इतिहास जितने पीछे तक जाएगा, उतने ही पुरातन समय से स्त्री की आहो-कराह, सिसकियों के स्वर और आंसुओं के सैलाब हमारी संवेदनाओं से टकराते हुए मिलेंगे। स्त्री द्वारा रची गई कहानियों का इतिहास भी हमें कम से कम उतने पीछे तक अवश्य ले जाएगा। आधुनिक अर्थों में कहानी बिल्कुल नई विधा है और उसमें भी स्त्री-लेखन की मुसलसल परम्परा और भी नई है। लेकिन वाचिक रूप में, लोक-कथाओं के रूप में, मां और नानी-दादी के मुंह से झरते हुए दर्द के आख्यान और जीवन की आशा-आकाक्षाओं, सपनों की कहानियाँ, प्राचीन काल से ही हमारी संवेदनाओं में समाई हैं। वे हमारी समस्त उदात्तता के केंद्र में मौजूद मिलती हैं। बुराई पर अच्छाई की जीत के हमारे सपनों और अत्याचार के विरुद्ध हमारे दिलों में चुपचाप सुलगती हुई आग का उत्स अगर कहीं है तो स्त्री के दर्द द्वारा रची गई उन कथाओं में ही है। दलित के दर्द से कम पुराना और गहरा नहीं है स्त्री का दर्द। इसीलिए मुक्ति की कोई भी इबारत स्त्री की इस महागाथा को समाहित किए बिना पूर्ण नहीं हो सकती है। मनुष्य की आजादी की लड़ाई औरतों के लामबंद हुए बिना अंतिम सफलता तक नहीं लड़ी जा सकती।

गुलाम से बंधुआ मजदूर बनने और बंधुआ मजदूरी की अवस्था से श्रम की मंडी में खड़े होकर खुद को बेचने के लिए तत्पर होते हुए असंगठित श्रम से आज की संगठित संघर्षशील मजदूर-चेतना में रूपान्तरित हुआ है श्रम का वर्तमान। इसी के समानान्तर सामन्ती से पूंजीवादी और फिर महाजनी पूंजी में रूपान्तरित हुआ है अर्थतंत्र। छोटे-छोटे राजवंशों से बड़े सम्राटों तथा इन राजतंत्रों से औपनिवेशिक और फिर वैश्विक साम्राज्यवाद के साये में पनपते लोकतंत्रों की राजसत्ताओं के बीच सतत् प्रखर होता नारी मुक्ति का स्वर इक्कीसवीं सदी की सबसे मुखर अन्तर्वस्तु के रूप में आज की सांस्कृतिक चेतना में मौजूद है। यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है। इसे नकार कर कोई भी समाज आगे नहीं बढ़ सकता। एक तरफ जहां यह स्वर 'वेलेंटाइन डे' और 'किस ऑफ लव' के आयोजनों, निर्भया कांड के बाद उठे महान प्रतिरोध-संघर्ष और विभिन्न नारीवादी-आंदोलनों, गतिविधियों, के माध्यम से अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज करा रहा है, वहीं पुरुषसत्तात्मक चेतना के झंडाबरदारों के संगठित प्रतिरोध का सामना भी कर रहा है। बढ़ती हुई लोकतांत्रिक चेतना के दबाव और विभिन्न नारीवादी व प्रगतिशील आंदोलनों के प्रभावस्वरूप, स्त्रियों के पक्ष में, उनकी संरक्षा व सुरक्षा के लिए, कानूनों में व्यापक फेरबदल लगातार हो रहे हैं। कन्याभ्रूण हत्याओं में सकारात्मक कमी दहेज का सक्रिय विरोध, अदालतों में बढ़ते हुए पारिवारिक मामले, प्रेम विवाहों की बढ़ती हुई संख्या, स्त्रियों और लड़कियों की बदलती वेश-भूषा से लेकर सड़कों पर उनकी बढ़ती हुई उपस्थिति, हर साल शिक्षण संस्थाओं से तुलनात्मक रूप में लड़कियों की अच्छी होती प्रगति-रिपोर्ट, नौकरी पेशा-महिलाओं की बढ़ती हुई संख्या, कुल मिलाकर स्त्री के लिए एक सकारात्मक पक्ष प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि स्त्री को अपनी पूर्ण समानता के स्तर तक मुक्ति और वांछित स्पेस के लिए एक लम्बा रास्ता तय करना बाकी है।

जाहिर है समाज की इस कश्मकश का, आने वाले बड़े बदलाव के संकेत देती हवाओं का और एक नई क्रांतिकारी चेतना के साथ उठ खड़ी होती आधी दुनिया का प्रभाव साहित्य में प्रतिम्बिबित होना स्वाभाविक और जरूरी है। स्त्री व पुरुष दोनों ही कथाकारों के द्वारा स्त्री-विमर्श के विभिन्न पहलुओं को उकेरती कहानियां सामाजिक मंथन से पैदा होकर वापस समाज में नया मंथन पैदा कर रही हैं। यह एक अत्यन्त सुखद स्थिति है जब हिन्दी कहानी में संवेदनाओं के नए-नए धरातल पर कदम रखती स्त्री, एक नए क्षितिज की खोज में बेचैन है। इस खोज में मन का, तन का, आर्थिक, सामाजिक हर तरफ का धरातल स्पर्श कर रही है कहानी, और पाठकों के माध्यम से समाज में एक व्यापक आलोड़न की शुरुआत हुई है।

सन् 2014 में प्रकाशित कुछ कहानियों पर विचार करने से ऐसा महसूस होता है जैसे इस समय समाज में स्त्री को लेकर जिन तीन प्रकार की सोच वाले समूहों का अस्तित्व मौजूद है उनका स्पष्ट प्रतिबिम्ब कथा-साहित्य में उभर कर प्रकट हो रहा है। एक में है समस्त प्रतिगामी बन्धनों को नकारती, मुक्ति के लिए उठ खड़ी होती संघर्षशील स्त्री की नई तस्वीर जबकि दूसरी में है स्त्री को पारम्परिक पुरुषवादी नजरिये से देखता हुआ मूल्य बोध। तीसरे में है महाजनी पूंजी के जहर से आक्रांत, जीवन को उपभोक्तावादी नजरिए से देखता, सब कुछ को माल में तब्दील करता, स्त्री को सिर्फ देह की हदों तक संकुचित करता और साहित्य को पोर्नोग्राफी की तरफ धकलेता एक नया दृष्टिकोण।

हमारे पुरुष सत्तात्मक भारतीय समाज का ढांचा परिवार की कसी हुई बुनावट से बुना गया है जिसका धागा धर्म और अर्थतंत्र पर पुरुष के एकाधिकार से बना है। निरंतर विकसित होते हुए, जन-जन तक अपनी पहुंच बनाते विज्ञान ने, धर्म और पुराने अर्थतंत्र की रीढ़ तोड़ते हुए खड़े होते पूंजीवाद ने, अर्थतंत्र पर पुरुष एकाधिकार की चूलें हिला दी हैं। लिहाजा परिवार की कसी हुई बुनावट ढीली पड़ते-पड़ते अब बिखरती नजर आ रही है। जिस समाज में परिवार पति, पत्नी, माता, पिता, दादा, दादी, भाई, बहन, बुआ, चाचा, चाची, ताउ, ताई, देवर, ज्येष्ठ, भाभी, भयोहू, भतीजा, भतीजी, पुत्र, पुत्रवधू, पौत्र, पौत्री, पुत्री, प्रपौत्र, प्रपौत्री जैसे रिश्तों से गुम्फित और ससुराल पक्ष से सास, ससुर, साले, सलहज, साढू, सढूआइन, मामा, मामी, नाना, नानी, मौसा, मौसी जैसे रिश्तेदारों से आवृत था, वह केवल अर्थतंत्र के बुनियादी परिवर्तनों के प्रहार से तहस-नहस होने की स्थिति में आ खड़ा हुआ है। यह एक सर्वविदित सच्चाई है। हम स्वीकार करें या न करें, आने वाला समय समाज को और भी बड़े मंच पर एकताबद्ध करने और घुलाने-मिलाने की दिशा में लेकर जा रहा है और अपने मकसद को पूरा करेगा भी। चाहे परिवार को तोड़कर चाहे परिवार की नयी रूपरेखा गढ़कर। जैसे इसने धीरे-धीरे घुमंतू समाजों को पशुचारी अवस्था से खेत-खलिहानों वाले खूंटे से बंधे स्थाई समाजों में तथा गांवों को बड़े औद्योगिक नगरों में बदला था, जैसे विज्ञान ने बैलगाड़ियों को आधुनिक ट्रकों और बुलेट ट्रेनों से लेकर हवाई जहाज और राकेटों में तब्दील किया है।

इन सभी परिवर्तनों को जैसे हम तत्कालीन समय में कला के विभिन्न माध्यमों में प्रतिबिम्बित हुआ पाते हैं, वैसे ही आज के समय में हो रहे महत्वपूर्ण परिवर्तनों को साहित्य प्रतिबिम्बित कर रहा है। हम इस दौर की कहानियाँ पढ़ कर समय के विराट सामाजिक सत्य के प्रांगण में टहल सकते हैं। यह भी सच है कि इसमें सब कुछ हमें अपने मनोनुकूल नहीं मिलेगा। पर ऐसे ही तो समय का पहिया चलता है, कभी कुछ हमारे मनोनुकूल कभी कुछ किसी अन्य के मनोनुकूल।

2014 में प्रकाशित कुछ कहानियाँ इस दृष्टि से पढ़ी जा सकती हैं कि उनमें किसी न किसी रूप में इस पुरुषसत्तात्मक समाज की सीमाओं में कराहती और अपने-अपने ढंग से उसे तोड़ती स्त्री की तस्वीरें हैं। हम आप इसे समर्थन दें-न दें, पर यह समाज में कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में घटित हो रहा है। इनमें से एक है जनवरी में छपी स्वाति तिवारी की 'कहां है सबके पास ऐसा है।' लिव इन रिलेशनशिप पर चर्चा करती यह कहानी, एक समाज के अंदर एक नया समाज गढ़ने की कोशिश में लगे युगल प्रतिमा व प्रणव की कहानी है जो बिना विवाह के बंधन में बंधे एक साथ एक फ्लैट में एक परिवार की तरह रह रहे हैं। लड़की गर्भवती है। ऐसे माहौल में जहां हर तरफ परिवार शादी-शुदा लोगों से ही बने हैं, बिना विवाह के परिवार के रूप में साथ रहना, जहां शुरू में प्रचलित मान्यताओं को तोड़ने वाला क्रांतिकारी कदम लगता है, वहीं समय बीतने के साथ प्रचलित बहुसंख्यक समाज के साथ संघात उसके अंदर कहीं न कहीं झेंप भरने लगता है और पहले से अन्जाने कुछ नए सवाल सामने आने लगते हैं। एक पड़ोसन पहली बार उनके घर आती है। ''उसके कितने दिन चढ़े हैं।'' पूछने पर प्रतिमा का भाव देखें-

''पांचवां महीना है'' प्रतिमा ने कहा तो, पर एक बार मन ही मन स्वयं को टटोला कि यह बात बतानी चाहिए थी या नहीं। कल को यह शादी के लिए पूछेगी तो? एक निरर्थक सी चिन्ता से माथा ठनका। यह निरर्थक सी चिंता एक बड़े और मजबूत समाज की निगाहों में अपने लिए उपेक्षा का भाव देखने की थी।

आगे भी बातचीत में प्रतिमा यह बात जाहिर नहीं होने देना चाहती कि वे बिना विवाह के साथ रहते हैं। जबकि इसी प्रतिमा ने पहले अपनी मां के साथ हुए वाद-विवाद में कहा था-

''मैं रूढ़ियों को तोड़ रही हूं। कल को प्रणव मुझे बाध्य नहीं कर सकेगा अपनी मर्जी से हांकने के लिए, जैसे तुम्हें बाबूजी ने अपनी उंगलियों पर नचाया कि ऊषा यहां बैठो, ऊषा जल्दी आ जाना, ऊषा टीवी बंद कर दो, नानी के घर मत जाओ।''

''मैं पत्नी बन कर गुलामी नहीं करना चाहती। तुम्हारी इन सदियों से चली आ रही रीति-रिवाजों की परम्पराएं स्त्री-पुरुष को केवल एक-दूसरे का गुलाम बनाती हैं। मैं घुटने टेकने वाली नहीं।''

लेकिन साथ रहते हुए ऐसी अबाध स्वतंत्रता हासिल करना, समाज में रहते हुए परम स्वतंत्र हो पाना क्या सम्भव है? रोजमर्रा के जीवन की एक-एक घटना प्रतिमा की स्वतंत्रता का मुंह चिढ़ाने लगती है। प्रणव के आफिस से लौटने पर पकौड़े बनाने की इच्छा जाहिर करने पर मन न होते हुए भी वह पकौड़े बनाने लगती है तो ''कड़ाही में छूटते हर पकौड़े की छन्न उसके अंदर भी होती। क्या अंतर रहा उसमें और बीवी में?''

पकौड़े के साथ हल्की सी व्हिस्की लेते प्रणव को जब प्रतिमा मना करती है-''नहीं प्रणव, मत लो। ''तो खुद सोचती है-''एक दूसरे की स्वतंत्रता बनाए रखने का दावा करने वाले प्रणव और प्रतिभा क्या स्वतंत्र हैं? हस्तक्षेप नहीं है उनका एक दूसरे के जीवन में?''

यह प्रश्न हर कदम पर उठते हैं। रात बिस्तर पर प्रणव कहता है-''प्यार करने का मूड हो रहा है मेरा। उसका उत्तर सुने बगैर ही प्रणव...।''

यह सवाल कहानी में बराबर उठता रहता है कि 'एक छत के नीचे, एक बिस्तर पर साथ रहते, सोते क्या स्वतंत्रता को बचा पा रही है वह?

''प्रणव अपनी इच्छा पूर्ति के बाद करवट बदलकर सो गया, पर प्रतिमा का मंथन चलता रहा। एक प्रश्न आकर लेट गया उसके और प्रणव के बीच। क्या उसका बिन व्याहे मां बनने का निर्णय गलत है? उसका प्रणव से रिश्ता एक दैहिक सुख की मृगतृष्णा तो नहीं?''

आगे कहानी में प्रतिमा और उसकी पड़ोसन जिससे मिसेज कुलकर्णी के साथ इस रिश्ते की स्वतंत्रता और संतान को लेकर लम्बी बहसें हैं। जिसके अंत में प्रतिमा को बिस्तर पर उदास पड़ी अपने पेट मे पलते बच्चे के बारे में यह सोचते दिखाया गया है ''तो क्या इस बंधन से भी मुक्त हो जाऊँ? या इसके लिए उस बंधन को स्वीकार कर लूं?''

दूसरी तरफ जाते-जाते मिसेज कुलकर्णी का बड़बड़ाना है-''चलूं उनके आने से पहले सब कुछ कर डालना है, नहीं तो घर सिर पर उठा लेंगे। काश, तुम्हारी जैसी हिम्मत हमारे पास भी होती।'

यह कहानी एक आवश्यक विमर्श को मंच देती है। दोनों पक्षों को सामने रखती है, दोनों ही प्रकार के संबंधों की कमियों को उजागर

करती है लेकिन अपनी कोई बात पाठक पर थोपती नहीं हैं। हां विवाह-संस्था के प्रति कुछ झुकाव लेकिन आलोचनात्मक दृष्टिकोण के साथ, जरूर मौजूद है। समाज का आगे क्या स्वरूप होगा, यह तो आने वाला समय ही तय करेगा। लेकिन इस पुरुष सत्तात्मक तंत्र के खिलाफ, इसे बदलने या पुनर्परिभाषित करने के लिए खड़ी होती स्त्री को स्वतंत्रता और उसकी सीमाओं, परिवार और उसके स्वरूप और उसमें स्त्री-पुरुष और बच्चों-बुजुर्गों की स्थिति के बारे में विमर्श को अभी और आगे बढ़ाने की अवश्यकता है।

स्वाति तिवारी की इस कहानी जैसा कोई क्रांतिकारी कदम उठाए बिना अच्छे घर-बार और प्यार करने वाले परिवार के साथ रहती हुई नारी को भी अपनी स्वतंत्रता कहीं बाधित होती प्रतीत हो सकती है।

भौतिक संसार के समानान्तर मनुष्य का एक मानसिक संसार भी होता है जो भौतिक संसार के घात-प्रतिघातों द्वारा उसके मन पर पड़ते असर से निर्मित होता है। स्वतंत्रता की आवश्यकता और उसका नियमन भौतिक और मानसिक दोनों ही स्तरों पर एक अच्छे समाज के अस्तित्व के लिए जरूरी है। वर्तमान समाज में प्रचलित धारणाओं और परिस्थितियों में एक सुखी परिवार की श्रेणी में रखे सकने वाले परिवार में शादी के पहले और शादी के बाद एक स्त्री के मानसिक संसार को अपनी स्वतंत्रता कहां बाधित होती महसूस हो सकती है, इसी सवाल को उठाने की कोशिश की है **महेश दर्पण** ने 'बया' के अप्रैल-जून अंक में प्रकाशित कहानी **'बिखरी आवाज'** में। जाहिर है लेखक पुरुष है तो स्त्री के स्वानुभूत दर्द, और उसको लगने वाली चोट के हर-स्थल को छूना उनके लिए किसी महिला रचनाकार की तुलना में कठिन होगा फिर भी स्त्री के पक्ष में खड़े होकर लिखी गई यह कहानी कुछ महत्वपूर्ण बिंदुओं को छूती है। कहानी की नायिका छवि यानी मिसेज शुक्ला यानी सुरेश की पत्नी सपना देखती है कि वह मर गई है और एक मुक्त आत्मा के रूप में अकाश में आबाध विचरण कर रही है, लेकिन घूम फिर कर कभी मायके कभी पतिगृह के पास ही मंडराती और पुरानी यादों को संजोती है। उसे ऊपर से नीचे की दुनिया दिखाई देती है, अपने परिवार के लोग दिखते हैं और उसके आधार पर उसके मन की संवेदनाएं भी प्रकट होती रहती हैं।

''आखिर औरत की जून होती किसलिए है। जीते जी मरते रहो, और मर भी जाओ तो ढंग से मुक्त न हो पाओ। यह भी कोई बात हुई भला-

''मैं अब एक आजाद खुला परिन्दा हूं बेवजह हलकान हो जाने की अपनी पुरानी आदत से छुटकारा पाना होगा मुझे। ठीक है कि तमाम उम्र, मैं अपने होने के अहसास से ही कटी रही...जो कुछ भी थी, या तो अपने सुरेश के लिए या फिर बच्चों के लिए।

पूरी तरह समर्पिता-मिसेज शुक्ला। कभी रसोई, कभी कमरे, कभी सीढ़ियां तो कभी छत। घर का कोई न कोई हिस्सा मुझे हर घड़ी पुकारता ही तो रहता था।

''छवि, मेरी कमीज कहां रख दी यार?''

''अम्मा, मेरी फीस निकाल कर रख दी है कि नहीं?''

''अम्मा तुम टीवी देखने बैठ जाओगी तो मुझे खाना कौन देगा?''

मुक्त आत्मा की अवस्था में ही वह मायके पहुंचती है तो उसे याद आता है-

एक बार हाकी का मैच देखने वह अकेले ही भाग गई थी। कैसी पिटाई हुई थी उस रोज उसकी। लड़की जात ऐसे कहीं मैच देखने जाती है भला?

तब वह समझ ही नहीं पाई थी कि मैच देखने जाने में लड़की जात पर ये पाबंदी क्यों?''

स्त्री की स्वतंत्र पहचान का अभाव है पितृसत्तात्मक समाज में। इस समाज की सबसे बड़ी बिडम्बना यही है कि इसकी नैतिकताओं की निगाह में औरत को हमेशा अवयस्क की तरह किसी पुरुष की छत्र-छाया का मोहताज होना पड़ता है। शादी के पहले छवि मिस शर्मा थी तो शादी के बाद मिसेज शुक्ला। हां विवाह पूर्व टीचिंग जॉब में, आर्थिक स्वतंत्रता के दौर में उसे अपने अलग से होने का बोध होता था-

''वहां वह न तो रमेश की बहन है और न मुंशी जी की बिटिया। ज्वाइन करते ही वह इस अहसास से भर उठी थी कि वह है और उसके अपने होने की एक पहचान है। एकदम अलग। इसे बनाए रखने में उसे जो खुशी मिलती, वह उसके भीतर, एक ऐसा आत्मविश्वास पैदा करती जो इससे पहले जैसे सम्भव ही न था।''

''शादी के बाद सुरेश के दिल्ली बुलाने पर उसे जॉब छोड़कर जाना पड़ा था। प्रिंसिपल गुप्ता ने बहुत समझाया था। 'लेकिन उस वक्त, जाने कैसा जादू छाया था उस पर सुरेश के बुलावे का और फिर-ऐसा गड-मड्ड हुआ सब कुछ कि वह यह समझ ही न पाई कि कब अपने ही शहर के लोगों के बीच दिल्ली वाली हो गई थी। हां, अकेले में बैठी छवि अपने आप से जरूर पूछ लेती कि अगर नौकरी करने ही नहीं देनी थी, तो फिर सुरेश वर्किंग लड़की से शादी की जिद क्यों ठाने बैठा था।

''सबसे ज्यादा कुर्बानी औरत को ही क्यों देनी होती है घर बसाने के नाम पर।''

यहां अनायास मन्नू भंडारी की कहानी 'नई नौकरी' की याद आ जाती है जिसमें पति की छवि बनाने के लिए अपनी नौकरी छोड़ने के बाद रमा को धीरे-धीरे महसूस होने लगा जैसे वह एक घरेलू नौकर की हैसियत में आती जा रही हो।

विवाहित जीवन में छवि को बराबर यह महसूस होता है जैसे वह सुरेश के पुरुष व्यक्तित्व के भार के नीचे दबती जा रही हो। विवाहित पढ़ी-लिखी, बेपढ़ी, आर्थिक स्वतंत्रता के साथ कार्यरत महिला या आर्थिक रूप से परतंत्र गृहणी सबके अन्दर यह संवेदना अपनी निजता के हनन की अनुभूति बराबर होती है।

''ऐसे में अकसर उसे लगने लगता कि शायद उसकी तरह दुनिया की हर औरत किसी न किसी दबाव में ही जीती-मरती रहती होगी।''

राजा जनक का एक आख्यान है जिसके कारण वे अष्टावक्र से जुड़े। एक दिन सपने में राजा ने देखा कि वे भिखारी बन गए हैं और भिक्षाटन में संलग्न हैं। जगने पर यह दार्शनिक प्रश्न उनके सामने खड़ा

हो गया कि अभी जागृत अवस्था में उनका राजा होना सत्य है या सपने में देखा गया भिखारी होना। वैसे ही छवि अचानक इस मृतक आत्मा होने के सपने से जागने पर सोचने लगी, 'क्या इस सपने का कोई खास अर्थ है उसके लिए। वह सपने में मरी हुई थी या असल जिन्दगी में उसके होने का कोई अर्थ नहीं रह गया हैं।''

अपने पारिवारिक सम्बन्धों से ऊपर उठकर जब भी नारी अपने स्वत्व को खोजती है, अपने लिये छोटा सा भी स्पेस खोजती है तो यह बन्धन उसे अंगुल भर भी स्वतंत्र आकाश देने को तैयार नहीं होते, न उसकी आत्मा की छटपटाहट से व्यथित ही होते हैं। राजा जनक का प्रश्न दार्शनिक प्रश्न था लेकिन छवि का यह प्रश्न पूरी नारी जाति का एक वास्तविक प्रश्न है और व्यापक-विमर्श की मांग करता है। इस प्रश्न को हल करने के लिए आज इतिहास के विकास का रथ बार-बार ठिठक कर रुक रहा है। महेश दर्पण की यह कहानी पुरुष कथाकारों की तरफ से इस दिशा में एक सार्थक प्रयास है। इस प्रश्न के जवाब में लिव इन रिलेशनशिप की सार्थकता अभी समय के प्रयोगों के दौर में है। इसका जवाब नारी की आर्थिक स्व-निर्भरता, वैज्ञानिक विकास और एक वैश्विक समुदाय के रूप में समाज के उभरने की प्रक्रिया के गर्भ में छुपा है।

स्त्री-मुक्ति के लिए संघर्षरत, छटपटाती कहानियों के इस समय में मार्च 2014 के हंस में छपी **महेश कटारे** की कहानी **'आंगन, आहट और समर'** कला, कथ्य, दृष्टि हर लिहाज से एक विशिष्ठ स्थान रखती है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के देहात की पृष्ठभूमि में पिछड़े वर्ग की एक कर्मठ और मजबूत इरादों वाली साहसी युवा स्त्री के माध्यम से बुनी गई इस कहानी की नायिका, पति के अत्याचारों के विरुद्ध अपने अधिकारों की रक्षा के लिए पुरुषसत्ता के प्रतीक 'पति' का अन्यायी पंजा मरोड़ सकने की सामर्थ्य लिए हुये उठ खड़ी होती नारी चेतना का प्रतीक बन जाती है।

महेश कटारे की इस कहानी की नायिका है जावित्री। वह पिछड़े वर्ग की शादी-शुदा युवा औरत है। पति गंजेड़ी, नशेबाज, नाकारा, किसी भी तरह के पारिवारिक दायित्वबोध से मुक्त, किसी भी उत्पादक श्रम से जुड़े बिना आवारागर्दी का जीवन बिता रहा है। घर से निकलता है तो महीनों निठल्ला घूमने के बाद लौटता है। एक दो दिन बाद फिर फुर्र। अन्य कोई बड़ा बुजुर्ग भी परिवार में नहीं है। ढाई एकड़ खेत है, दो भैंसें थीं जिनमें से एक, बेटे की बीमारी में बिक गई। घर-गृहस्थी, उपार्जन के स्त्री-पुरुष दोनों के ही काम अकेले दम पर करती हुई जावित्री किसी तरह समझदारी और साहस के साथ साफ-सुथरी जिन्दगी बिता रही है। ऐसे में एक दिन पति घर लौटता है तो खेतों का किसी से सौदा करके दस हजार एडवांस लेकर, उसे ज़मीन और ज़मीन के कागजात दिखाने के लिए। जावित्री समझाने का प्रयास करती है तो पति उस पर हाथ छोड़ देता है। पूरे गांव-समाज के बीच अकेले दम अपनी मेहनत के बल पर इज्जत के साथ अपना और अपने बच्चों का जीवन निर्वहन करती जावित्री में जगी हुई स्वतंत्र स्त्री-चेतना, पुरुष के इस अन्याय-अत्याचार के विरुद्ध उठ खड़ी होती है और वह पति का तना हुआ हाथ ऐंठ कर धमाधम से दो घूंसे उसकी पीठ पर जड़ देती है। गांजे से खोखला हुआ पति भहराकर धूल चाटने लगता है और जमीन का ग्राहक कार स्टार्ट करके भाग जाता है।

पति के हाथ छोड़ने और गाली देने पर सात्विक क्रोध से तमतमाई जावित्री की यह बात काबिलेगौर है। यह स्त्री-मुक्ति की सच्ची तस्वीर है- ''ऐ.ऐ ऐ...। जबान बन्द। लगाम लगा अपनी बोली पै। जमीन तेरी नईं इन मोंड़ी-मोड़ा के पुरखों की है। और ये घर? अपने मूंड़ पै पथरा, गिट्टी, चूना-माटी पटकी है मैंने। और सुन! खसम की अबै मोय जरूरत नईं है। जरूरत भई तो सोऊ कर लेंउगी। हाँ तू अब होस में आजा, नईं तो ठीक नाय रहैगा।''

महेश कटारे ने जावित्री के माध्यम से जिस नई स्त्री को प्रतिष्ठित किया है उसकी तस्वीर बहुत बारीकी से गढ़ी है। उसमें मातृत्व की कोमलता भी है और एक अधिकार-सचेत चेतना की मजबूती भी। श्रम और आर्थिक स्वनिर्भरता से पैदा स्पष्ट वैचारिक क्षमता है तो तमाम विपरीत परिस्थितियों से अकेले लोहा लेती जिन्दगी से उपजी त्वरित बुद्धि-विवेक भी।

जाहिर है औरत की मुक्ति की लड़ाई में पसीने से लथपथ अपने बच्चों के भरण-पोषण के लिए जूझती यही स्त्री हिरावल की भूमिका निभा सकती है। देह को हथियार बना कर पुरुषसत्ता के विरूद्ध लड़ने चली स्त्री हिरावल की भूमिका नहीं निभा सकती। उपभोक्ता बाजारवाद के प्रभाव और प्रायोजन से रची जाती देह-मुक्ति की अलमबरदार स्त्री, मुक्ति के सोपान चढ़ती इस मजबूत स्त्री को नीचे धकेलने का ही प्रयास करती है। क्योंकि पुरुषसत्ता से मुक्ति का उसका संघर्ष मानव मात्र के मुक्ति संघर्ष का सहयोगी बनकर पितृसत्तात्मक नींव पर बने इन तमाम अर्थतंत्रों और राज्य संकल्पनाओं के अन्त का रास्ता साफ करने की सम्भावना और सामर्थ्य रखता है।

स्त्री प्राकृतिक और स्वाभाविक रूप से मानव समाज की जननी, संरक्षक और प्रतिपालक होती है। कहानी की नायिका जावित्री एक जगह पड़ोसन से बातचीत में कहती है- ''तुम्हारी बात और है बहन! मेरे घर पे मर्द को नाम भर है तो मर्द का काम को करै? औरत के पेट में बच्चा बोना मर्द को काम है... पर पेट में पालना और पैदा तो औरत को करना पड़ता है।''

पड़ोसन उसे भिनसारे अकेले कटिया-चारा के लिए जाने पर ऊँच-नीच का भय दिखाती है- ''आजकल के गू-खाने न बच्ची देखते हैं न बूढ़ी'' तो जावित्री का साहस देखने लायक है-

''अब बिसका भी इलाज सुन लो! एक-दो तो मेरा कछु नहीं बिगार सकते। जैसे कटिया काटती हूँ वैसेई गला काट देउंगी हरामी का। हां अगर कोऊ गोल बाँधि के बहन-बेटी पर हराम करवे पै उतर आए तब तैसी देखी जाएगी।''

पड़ोसन में तो नहीं है ऐसा साहस जावित्री में पैदा हुआ यह साहस निश्चित रूप से मेहनती जीवनशैली और आर्थिक स्वनिर्भरता से पैदा हुई उसकी चेतना की स्वतंत्रता की देन है। इसलिये पति मेवाराम जब जमीन जायदाद का कानूनी मालिक होने की धौंस दिखाता है तो वह जवाब देती है-

''पहले मालिक होने के गुन पैदा करो। खेत में पसीना बहाय के कछु पैदा करके दिखाओ। घर की जिम्मेदारी संभालो। कोरे पारे की मालिकी नहीं चलती।''

महेश कटारे की कलम से रची गई यह तनकर खड़ी होती स्त्री, औरत के भविष्य के प्रति नई आशा जगाती है।

कहानियों में नई स्त्री संघर्ष के सभी तरीके आज़मा रही है खड़ी होने के लिए। वह अपने अधिकार को हासिल करने के लिए। बेचैन दिखती है। पढ़ी-लिखी और अपनी अस्मिता को बचाये रखने को कटिबद्ध, सत्य के प्रति मजबूत आग्रह, दृढ़-चरित्र और संतुलित विवेक के साथ खड़ी स्त्री के समक्ष बड़ी-बड़ी हस्तियां भी बौनी साबित हो जाती हैं। औरत में ऐसी ही खुद्दारी से पैदा शक्ति की कथा कहती है। 'पाखी' के अगस्त 2014 अंक में प्रकाशित **भूमिका द्विवेदी अश्क** की कहानी **'मिस रूबी'**।

कहानी का शीर्षक भ्रष्टाचार की बहुत अधिक दौलत जमा कर चुके अधिकारियों की उन अल्ट्रामाडर्न बीवियों पर हल्का व्यंग भी है जो गरीबों को हेय दृष्टि से देखती हैं और मूर्खतावश अपने आप को सदा स्वीट सिक्सटीन का साबित करने पर तुली रहती हैं, शादी-शुदा होते हुए भी खुद को मिस कहलाना पसन्द करती हैं। इस उपभोक्ता समय में बिना श्रम के अकूत पैसे से बौराये कुछ ऐसे लोगों का एक अलग उज्बक तबका तो है ही समाज में। यह कहानी जहां ऐसी मानसिकता वालों की लिजलिजी कमजोरी पर व्यंग करती है वहीं उसके बरअक्स अपने दम पर खड़ी, अन्याय का प्रतिकार करती। असीम साहस और जीवट की प्रतिमूर्ति नैना शर्मा की स्वयं प्रकाशित मूर्ति भी पाठकों के हृदय में गढ़ती है। यद्यपि भूमिका द्विवेदी अत्यन्त युवा रचनाकार हैं लेकिन यह कहानी उनकी अपार सम्भावनाओं की तरफ संकेत करती है।

कहानी की नायिका नैना शर्मा, अत्यन्त वैभवशाली समृद्ध परिवार की परित्यक्त महिला हैं जिन्हें ''उसके पति चन्द्रोखर शर्मा ने उसके बच्चों सहित घर से निकाल कर दूसरी औरत रख ली थी। इसे विडम्बना ही कहा जायेगा कि उसे चार हजार गज की उस बड़ी सी हवेली से निकाला गया था, जो उसके लिए ही खरीदी गयी थी, जिसे उसने ही सजाया था जिसे उसने ही बसाया था। प्यार से, दुलार से, परिवार से, बच्चों से, गृहस्थी से।''

''नैना शर्मा के पास अब अपने और अपने बच्चों के लिए कानूनी लड़ाई लड़ने के सिवाय कोई चारा नहीं था। यह उस महिला के लिए न केवल खुद के और उसके बच्चों के हक का मुद्दा था, बल्कि आत्म सम्मान का, सामाजिक प्रतिष्ठा और परिवार में उसके वर्चस्व के बुनियादी संघर्ष का भी सवाल था।''

''नैना ने बी.ए. की पढ़ाई के दौरान परिवार वालों की मर्जी के खिलाफ प्रेम-विवाह किया था, इसलिए मायके के दरवाजे खटखटाने का विकल्प उसने नहीं स्वीकारा।''

कहानी का घटनाक्रम बहुत छोटा और सीधा-सादा है। नैना शर्मा पति के द्वारा घर से निकाले जाने के बाद एक एडवर्टाइजिंग कम्पनी में दिहाड़ी मजदूरी पर कलर्क का काम करती थी। वह एक रिटायर्ड कर्नल की तिमंजिली कोठी में छत पर बने बरसाती कमरे में तीन सौ रुपये मासिक किराये पर बहैसियत किरायेदार अपने दोनों बच्चों के साथ रह रही थी। उसी कोठी में इन्कमटैक्स विभाग के अधिकारी अरविन्द, अपनी पत्नी रूबी (जो मिस रूबी कहलाया जाना अधिक पसंद करती थी) के साथ किरायेदार बन कर आये। इन नकचढ़ी ''मिस रूबी ने बिना गल्ती के उसने अहंकार के वशीभूत नैना के बच्चों को यह कह कर अपमानित किया कि-''इसीलिए तो बाप ने घर से निकाल दिया है बेघर कहीं की माँ-बेटी सब सड़क पर इसीलिए तो हैं।''

बच्चों के कोमल मन पर इस घटना से लगी चोट की दवा के रूप में न्याय व सत्य की विजय के पक्ष में तथा अन्याय के प्रतिकार के प्रति आस्था बनाये रखने के उद्देश्य से नैना इस बात का प्रतिरोध करने का फैसला करती है। अपनी दृढ़ता और सूझ-बूझ से कर्नल साहब के समक्ष इतनी बुद्धिमतापूर्वक अपनी बात रखती है कि कर्नल साहब उसी वक्त अपनी पत्नी को नैना देवी से माफी मांगने पर मजबूर करते हैं और खुद भी क्षमा याचना करते हैं। और कुछ ही दिनों बाद वह मकान काम छोड़ कर चले भी जाते हैं।

कहानी पितृसत्तात्मक समाज के पुरुष को मिले अबाध अधिकार, जिसका प्रयोग करके वह किसी स्त्री को कभी भी अधिकर विहीन व सम्पत्ति विहीन करके सड़क पर ला खड़ा करता है, के विरोध में स्त्री द्वारा लड़ी जाने वाली लड़ाई के महत्व को रेखांकित करती है। यद्यपि आजादी के बाद स्थापित लोकतंत्र ने कानूनों में स्त्री को कुछ राहत देने की कोशिश की है किन्तु विलम्बित न्याय-प्रक्रिया के चलते पीड़ित पक्ष यदि नैना शर्मा जैसी जीवट वाली दृढ़प्रतिज्ञ पढ़ी-लिखी, विवेकवान महिला की जगह सामान्य स्त्री हो तो उसके पास अपनी दुर्गति झेलने की भी सामर्थ्य नहीं रह जाती। लेकिन नैना शर्मा जैसी जीवट की महिलायें अपनी कमजोर आर्थिक स्थिति के बावजूद 'मिस रूबी' जैसे हवा गुब्बारों की हवा निकाल सकती हैं।

भूमिका द्विवेदी की यह कहानी औरत की दुर्दशा पर रोने की जगह उसके मजबूती से खड़े होने और संघर्ष करने की कथा सुनाती है और ऐसी संघर्षरत स्त्रियों के प्रति हृदय में संवेदना जागती है। यह अलग बात है कि 'मिस रूबी' जैसी महिलायें भी समाज में मौजूद हैं जो पुरुष सत्ता के विरुद्ध संघर्ष करती स्त्री को देख कर उसके विरोध में दांत में उंगली दबाकर यह कहने से भी बाज नहीं आतीं-

''राम-राम घोर, कलियुग आ गया
उसी देश में जहां भरी सभा में
द्रौपदी का चीर खींच लिया गया।
सारे महारथी चुप रहे
उसी देश में
मर्द की शान के खिलाफ यह जुर्रत?''-गोरख पाण्डेय

तमाम तरह के विमर्शों, आन्दोलनों और संघर्षों के बीच कुछ ऐसा भी है जो समाज को, समूह के साथ ही साथ इकाई को भी, कहीं तेज कहीं मद्धम प्रगति की ओर ले चल रहा है, उसे पुराने बंधनों से कहीं न कहीं पहले की अपेक्षा मुक्त कर रहा है। भले ही नये तरह के दबाव भी पैदा हो रहे हैं। इस सामाजिक अग्रगति की प्रक्रिया में नारी भी कुछ न कुछ मुक्त हो रही है। बदलते हुए अर्थतंत्र से संचालित जीवन-स्थितियों, बढ़ती हुई वैज्ञानिक चेतना, नई वैज्ञानिक खोजों, हथेलियों में समाती दुनिया, स्त्री-देह की अनिवार्यताओं पर धीरे-धीरे विज्ञान की विजय और आर्थिक स्वतंत्रता की तरफ कामकाजी, नौकरी पेशा, महिलाओं के बढ़ते, कदम नारी को पितृसत्ता की जकड़नों से

धीरे-धीरे मुक्त कर रहे हैं। 'हंस मार्च 2014 में सुषमा मुनीन्द्र की कहानी 'पिया बसन्ती' इस बदलाव में स्वाभाविक रूप से मुक्ति के सोपान चढ़ती स्त्री की चार पीढ़ियों की कथा है।

सुषमा मुनीन्द्र कहानी और उससे सम्बन्धित भारतीय सामाजिक यथार्थ को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में कहानी के शुरू में ही सारांश के रूप में रख देती हैं। उसे जस का तस यहां उद्धृत कर देना बेहतर होगा।

''यह बीसवीं सदी के दूसरे दशक से इक्कसवीं सदी के पहले दशक तक यानी कुल चार पीढ़ियों का बागी बदलाव है। बानगी देखें-पहली पीढ़ी में पति-परमेश्वर बन कर रहे। दूसरी पीढ़ी में परमेश्वर से खिसके और मालिक बने। तीसरी पीढ़ी में पति की तरह होने रहने की तमीज सीखी और पति बन कर रहे। और अब बेशुमार बदलावों के साथ बिल्कुल नई अवतरित हुई पीढ़ी के 'पति पिया बसन्ती' बने पत्नी के चौगिर्द मंडराने में सुख तलाश रहे हैं। वैसे एक भाव प्रत्येक पीढ़ी में समान रूप से देखा गया है कि हर पीढ़ी को पिछली पीढ़ी दरोगा और आगामी पीढ़ी दगाबाज लगती है। दरोगा से हेलमेल बैठता नहीं और दगाबाजों से बैठाने को दिल नहीं करता। पत्नियों की स्थिति देखें तो पहली और दूसरी पीढ़ी की पत्नियाँ पतियों द्वारा लतियायी जरूर गईं लेकिन बारी आने पर बहुओं को लतिया कर खमियाजा वसूल लिया। तीसरी पीढ़ी की निशा इस विप्र कुल की पहली स्त्री है जो सास बनते ही दहशत में डाल दी गई है। वह ऐसे गलत समय पर सास बनी है जब सास की पदवी अमूमन खत्म होने को है और पिया बसंती की अति सुरक्षा पा कर बहुयें चालबाज हो गई हैं। निशा खुद को निस्हाय बल्कि ठगा हुआ पाती है। दरोगा (सास) निरोग है और बरस हुए दगाबाज पीढ़ी की आमद हो चुकी है।''

यह हमारे समय के मध्यवर्ग का यथार्थ है। परिवार में स्त्री की पदेन-स्थिति के बदलते समीकरण की साहित्य के आइने में स्पष्ट तस्वीर है। सवाल उठना स्वाभाविक है कि आखिर क्यों स्त्री हमेशा दरोगा और दगाबाज पीढ़ियों के बीच दमित, दलित और दुखी पीढ़ी के रूप में मौजूद रहने को अभिशप्त है? भूत और भविष्य दोनों की ओर देखता वर्तमान इतना असंतुष्ट क्यों रहता है ? यह कुढ़न और जलन अस्तित्व में क्यों है? क्या परिवार की इससे मुक्ति का कोई उपाय है? गतिशील सामाजिक यथार्थ के समानान्तर हमारी पितृसत्तात्मक संस्कार-चेतना स्थिर और रुढ़िबद्ध है। कार्य-कारण से आबद्ध तार्किक, विकासमान समय और तर्क से परे खूंटे से बंधी परम्पराओं का अन्तर्विरोध ही इस मानसिक द्वन्द्व का जनक है। पुरुष-वर्चस्व की इस संस्कृति को घर की चहारदीवारी में अक्षुण्ण रखने का पितृसत्तात्मक दायित्व, पुरुष ने स्त्री के ही कन्धे पर लाद कर उसकी आँखें अशिक्षा और अस्वामित्व की ढंकनी से ढंक दी हैं। औरत जीवनपर्यन्त कोल्हू के बैल की तरह दिन रात गोल-गोल (पति और उसके परिवार के बीच) चक्कर लगाती रहती है और उसकी यात्रा का अंत नहीं होता। तमाम पितृसत्तात्मक समाजों में स्त्रियों की शिक्षा पर बंदिशें लगायी गई हैं। सिर्फ इसलिए कि आंखों की ढकनी खुल न जाय। जहां पर ढंकनी खुल गई है वहां धीरे-धीरे पति 'परमेश्वर' से 'मालिक' बनते हुए 'पिया बसन्ती' की पदवी पा रहे हैं', और अभी उससे भी आगे 'साथी' की भूमिका में पहुंचने के लिए स्त्री के मुबारक कदम उठ चुके हैं।

सुषमा मुनीन्द्र की यह कहानी बड़ी ही खुबसूरती से यह स्थापित करती है कि स्त्री की आर्थिक स्थिति, समाज के उत्पादन सम्बन्ध औरत की आर्थिक स्वतंत्रता और उसकी शिक्षा का स्तर ही उस पर पितृसत्ता के इन बन्धनों के कसाव की तीव्रता को निर्धारित करता है।

परिवार की पहली पीढ़ी में आजी का डोला जहां उतरा था वहां खेत में अहरी (दो-तीन कच्चे कमरे) बनी थी। निरक्षर आजी के लेखे गणित का अर्थ था कै बीसी सौ? 'आजा' उन्हें न खेती का हिसाब देते थे, न एक पैसा। एक समय में उनके पास मात्र दो साड़ी और दो बण्डी रहा करती थी। दिन में अवसर नहीं, सास की मजबूत निगहबानी को भेद कर गहन रात्रि में आजा जिहादी की तरह आजी के कोठे में मासिक अथवा पाक्षिक छापा मारते थे। आजी जब तक मर्म बूझतीं आजा प्रस्थान कर जाते। जीवन भर बस आंगन भर आकाश को जानने वाली, बाहर की बदलती दुनिया के परिवेश से बिल्कुल अपरिचित आजी आखिर अपनी बहू से क्यों न कहती-''हम कबहूँ एक जने (आजा) के सूरत नहीं देखेन, अउर तैं बेसरम गनेस (आजी के बेटे गणेश दत्त) के साथ परदेस जायें का उतान है।'' उनकी नई पीढ़ी (अम्मा), पांचवीं तक पढ़ी-लिखी, साक्षर हैं, रामायण बांच लेती हैं। उनके आने तक दो तीन पक्के कमरे बन चुके हैं, और पढ़े-लिखे पति कम्पाउण्डर की नौकरी पर तैनात हैं, तो उन्हें आजी की बात का जवाब क्यों न सूझता-''सूरत नहीं देखी तईं (गणेश दत्त) कइसन पइदा होइगे?'' अपनी स्वाभाविक नारी बुद्धि से ही आजी समझती कि यह साक्षर होना ही बहू का वह गुण (या अवगुण!) है जो उनको पुरखों द्वारा सौंपे गये पितृसत्तात्मक पहरेदारी के दायित्व निर्वहन में अवरोध उत्पन्न करने की, उसके बंधनों को ढीला करने की क्षमता रखता है। इसलिए उनका संग्राम इस साक्षरता को ले कर होता-''रामायन बांच लेत ही त टोरिया (विक्टोरिया) बनी फिरत ही। गनेस के साथ परदेस जाय का उतान ही।''

हम देखते हैं कि बदलते अर्थतंत्र के प्रभाव, और कृषि आधारित समाज में कृषि के अलाभकारी अवस्था में आते जाने के प्रभाव स्वरूप गांवों के युवकों की बाहर नौकरी पर आधारित होते जाने की बाध्यता में बहू का पलड़ा होता चलता है, और सास बहू के बीच का यह अन्तर विरोध हर अगली पीढ़ी में सास के अधिकारों में कटौती और बहू के अधिकारों में वृद्धि करता चलता है। जो भी हो आगे जा कर अम्मा को बाबू के साथ परदेस रहने का सुख भी मिला। अम्मा की बहू आई निशा, तो उसे और बड़ा आंगन मिला। बहू एमएचएससी थी। यह शिक्षा ही और अधिक स्पेस की मांग करती थी। जैसे आजी को अपनी बहू को स्पेस देना अखरा था वैसे ही अम्मा को भी अखरने लगा-''सिच्छा बहुत ली हो पे निसा तुमसे भात पसाते नहीं बनता है। कुछ ससुराल का कायदा सीखो।''

पति दामोदर दत्त चिकित्सक बन गये थे पर संस्कार और लिहाज का गट्ठर उनसे छूट नहीं रहा था। थोड़ा और स्पेस मांगते हुए पत्नी ने जॉब करने का प्रस्ताव रखा तो जैसे दिक्कतों से सामना हो गया हो-''मुझसे कहा तो कहा। अम्मा-बाबू सुनेंगे तो कूदने लगेंगे। हमारे परिवार में औरतें जॉब नहीं करतीं।'' निशा पति के साथ पोस्टिंग पर रही जरूर लेकिन अम्मा-बाबू के प्रति दामोदर का आदर अभी निशा को नियंत्रित स्वतंत्रता ही दे सका। परिवार का स्टेटस धीरे-धीरे बढ़ता गया। जमीन लेकर

दीर्घायु 'हेल्थ केयर यूनिट' खड़ा हुआ। पति काम में ऐसे डूबे कि रसिक होकर कभी ''निशा की कलाई पकड़ी तो पल्स पकड़ने की तरह'' निशा से कभी उदासियों का कारण न पूछा। पूछा तो मनुहार से मनाया नहीं।''

निशा के समय तक उच्च शिक्षा प्राप्त करती लड़कियों की संख्या कम थी। वैज्ञानिक चेतना का स्तर कम था। नये पारिवारिक कानूनों की निमृति और उनका प्रसार कम था। लिहाजा स्त्री पर 'स्त्री सुबोधनीय' का असर अधिक था।

चौथी पीढ़ी तक परिवार मध्य वर्ग की ऊपरी सतह की तरफ बढ़ रहा था। पुत्र कंदर्प ने अपने लक्षण बचपन में ही दिखा दिये थे- ''माँ ये दत्त क्या होता है? हनुमान दत्त, गणेश दत्त, दामोदर दत्त! मैं सिर्फ कंदर्प हूँ।''

कंदर्प प्रेम-विवाह करता है। डाक्टर बहू नवधा घर में आती है। इस बार सब कुछ बदला हुआ है। आर्थिक स्वतंत्रता, उच्च शिक्षा, अपने प्रोफेशन में एक्सपर्ट नवधा, प्रेमी पति। नवधा को स्वाभाविक रूप से अधिक स्पेस चाहिये। कंदर्प सास-बहू दोनों के मनोभावों के बीच सामंजस्य बैठाने की कोशिश करता पर सपोर्ट नई धारा की नवधा को ही मिलता। रहन-सहन, पहनावा, व्यवहार, सभ्यता, संस्कृति सब पहले की तुलना में नया था। अम्मा को जब पता चला कि दहेज में कंदर्प और नवधा के बैंक खाते में पचास लाख रुपया आया है। तो वे होश खोने को हुई-

''निशा यह बहू नहीं बैंक है। इसे एक शब्द जो बोलोगी तो गज भर लम्बा जवाब पाओगी।''

और निशा को सांत्वना देते हुए जब दामोदर दत्त आने वाले समय में झांकते हैं तो कहते हैं-''निशा विकट समय आने वाला है। इन्हें पता न होगा इनके बच्चे शादी करेंगे नहीं करेंगे। या बिना शादी के साथ रहेंगे। इन्हें इंवाइट करेंगे या सूचना ही देंगें इस पीढ़ी का बुढ़ापा वृद्धाश्रम में बीतेगा अस्पताल में क्या मालूम?''

उत्पादन संबन्धों और अर्थतंत्र ने ही परिवार को बनाया था, नया अर्थतंत्र एक नये सम्बन्ध विन्यास से उस परिवार को प्रतिस्थापित करेगा। पितृसत्ता की जकड़नों से मुक्त होती स्त्री के सामने आंगन भर आकाश नहीं पूरा विराट आसमान होगा। सुषमा मुनीन्द्र की इस लम्बी कहानी में और भी बहुत कुछ है जो इसे अत्यन्त मधुर, खूबसूरत और संवेदनाओं के भरे समुद्र जैसा बनाता है लेकिन उनकी चर्चा इस आलेख के लिए न तो सम्भव है न आवश्यक। सास-बहू के बीच के रिश्तों के मनोविज्ञान पर वह चर्चा फिर कभी। लेकिन इतना कह देना आवश्यक है कि कन्दर्प और नवधा उन छिटपुट जोड़ों में से हैं जो अभी भारत की आम स्त्री-आबादी का दस हजारवां हिस्सा भी नहीं बन पाये हैं। इस रफ्तार से स्वाभाविक रूप से पितृसत्ता की जकड़नों से मुक्त होने तक की आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में स्त्री को न जाने कितना समय लगेगा। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (संयुक्त राष्ट्र) से पिछले दशक में जारी एक रिपोर्ट की मानें तो-''दुनिया की 98 प्रतिशत पूंजी पर पुरुषों का कब्जा है। पुरुषों के बराबर आर्थिक और राजनीतिक सत्ता पाने में औरतों को अभी हजार वर्ष और लगेंगे।''

हंस के जून (2014) अंक में छपी **सुधा अरोड़ा** की एक कहानी **'उधड़ा हुआ स्वेटर'** की यहाँ चर्चा अपनी अन्य विशेषताओं के अलावा इसलिए भी जरूरी है कि तेजी से सामने आती स्त्री रचनाकारों और स्त्री संवेदनाओं को उकेरती पुरुष रचनाकारों की कहानियों में शायद इस वर्ष की अकेली कहानी है जो पति से अलग रिटायरमेन्ट की उम्र पार कर चुकी स्त्री के मनोभावों की खबर लेती है, उसके अकेलेपन की तहों में झांकने की कोशिश करती है, उसके अंदर इस उम्र में भी एक अनिर्वचनीय प्रेम से धड़कते हृदय की खोज करती है और उम्र के आखिरी पड़ाव पर भी जीवन को जीवन्तता से लबरेज करती है।

पति की घरेलू हिंसा में अपने बांयें कान से सुनने की क्षमता गंवा चुकी है कहानी की नायिका। उसके बायें कान का पर्दा फट चुका है और उसके लिए एक अपूरणीय क्षति बन चुका है। इस तरह की शारीरिक हिंसा के अलावा मानसिक तौर पर भी प्रताड़ित नायिका, पति के साथ रहना असह्य हो जाने पर, पति से अलग अकेली रहती है।

एक बेटी उसी शहर में माँ के साथ रहकर जॉब कर रही है दूसरी न्यू जर्सी में जॉब करती है। नायिका का नाम शिवा है, सुबह पार्क में सैर और प्राणायाम के दौरान एक रिटायर्ड विधुर बूढ़ा मिलता है- आशीष कुमार यानी ए.के.। जीवन में पुरुष की शारीरिक व मानसिक क्रूरता से उपजी कड़ुवाहटें, आशी के अपनी स्वर्गीय पत्नी से गहरे प्रेम की मधुर यादों और अपने प्रति अतिशय विनम्र, कोमल और खुले दिल के व्यवहार से धुल जाती हैं। बरसों-बरसों से शिवा की अन्तरात्मा में पूर्व पति के सांघातिक दबाव झेल कर सूखी, प्रेम की एक हाहाकारी नदी, जैसे अचानक हरी होकर उफनती, किनारों को तोड़ने को उद्धत होती है, लेकिन इसी बीच आशी की मृत्यु हो जाती है। उसके फ्लैट पर उसी सुबह पहली बार पहुंचने पर शिवा को जमीन पर बिछी एक रंगीन चटाई पर लिटाया गया उसका शव दिखाई देता है, जो उस समय भी अपनी पत्नी बिन्दा के हाथ बुना, कन्धों पर जरा सा उधड़ा हुआ स्वेटर पहने था, जो अक्सर उसे पत्नी की याद दिलाता रहता था।

सुधा इस कहानी से जहां एक तरफ इस कठोर सच्चाई की गहन अनभूति कराती हैं कि पितृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था में, स्त्री कितनी भी पढ़ी-लिखी, गुणी, कोमल मन की, विवेकशील और कर्मठ हो किन्तु असभ्य और क्रूर पति उसके व्यक्तित्व के सौंदर्य और कोमलता को एक-एक रत्ती जला कर राख कर देता है। वहीं दूसरी तरफ यह भी दिखा पाने में सफल हैं कि कैसे सच्चे मानवीय रिश्तों के सरस-स्पर्श मृत संवेदनाओं में पुनः प्राण प्रतिष्ठित कर देते हैं।

यौन-शुचिता का भयानक कुल्हाड़ा हाथ में उठाये पितृसत्ता, स्त्री-देह के प्रति बचपन से ही सबके अन्दर एक अस्वाभाविक भाव, भर देती है, अनगिनत कुंठाओं को जन्म देती है। प्रतिक्रिया स्वरूप परिवार के भीतर-बाहर नैतिक-मर्यादाओं का हनन ढके-छुपे उसी समाज के व्यक्तियों द्वारा होता है। लाज की लौह प्राचीर इसे छुपाने के लिए ही पितृसत्ता के द्वारा उठाई गई है, जिसके अन्दर रोज-रोज अपमान के कड़वे घूंट पीते हुए औरत की आत्मा मरती जाती है। इस मरी हुई आत्मा के साथ समाज में हंसती, बोलती, चलती लेकिन सदैव डरी और सतर्क रहती स्त्री अपनी समस्त सृजनात्मक क्षमता और प्रतिभा का उपयोग कहां कर पाती है ?

शिवा के हिस्से में ऐसे मुलायम स्पर्श तो कभी आए ही नहीं। उसके हिस्से में पहला स्पर्श चुम्बन का था जो होठों पर जबरन प्रहार की तरह था- उसके अपने फूफा का, जब उसकी उम्र सिर्फ बारह साल थी, जिसके बाद होंठ तीन दिन तक सूजे रहे थे और वह अपने माँ-पापा सबसे अपने होठों को छिपाती रही थी। उसे लगा जैसे उसके होंठ फिर पहले जैसे होंठ कभी कहीं होंगे।

ऐसा कोई एहसास पुरुष को तो नहीं होता, जिससे उसके जज्बात सूख जायें! उल्टे पुरुष को हर ऐसी घटना के बाद यही एहसास होता है कि लाज की एक लौह चहारदीवारी रहती है औरत के इर्द-गिर्द जो पुरुष के ऐसे बल-प्रयोग के अपराध को छिपाने और खुद स्त्री के अन्दर अपराध-बोध भरने का काम करती है। लाज की यह दीवार ही पुरुष को और नृशंस तथा औरत को और भीरु बनाती है।

दुर्भाग्यवश पति के साथ भी ऐसा ही अनुभव! केवल देह पर अपने अधिकार का प्रदर्शन करती, पशुवत नोच-खसोट। न कहीं कोमलता को सहेजने-संवारने का मृदुल स्पर्श, न कहीं प्रेम का अपनापन। बार-बार एक उबकाई जैसा अनुभव। पुरुष के दाहिने हाथ के प्रहार से फटा हुआ बायें कान का पर्दा। सूख गई संवेदना की नदी। माँ के अनुभव को देख कर विवाह से दूर भागती दोनों लड़कियां-''नो मैन इस वर्थ अ वूमैन।''

और ऐसे में बूढ़े आशी की कांपती हथेलियों के बीच उसका आंसुओं से भीगा चेहरा। इस एहसास को सुधा जी ने एक वाक्य में व्यक्त कर दिया है-''टु डाय एट द मोमेन्ट ऑफ सुप्रीम ब्लिस...।''

''जिन्दा रहने के लिए सिर्फ इतनी सी छुअन जरुरी होती है, उसे नहीं मालूम था। इस छुअन को पाने की साध इतने वर्षों से उसके भीतर कुन्डली मारे बैठी थी और उसे पता तक नहीं चला।''

अंखुआता हुआ यह भाव यद्यपि प्रेम नहीं है। लेकिन दो उम्र दराज लोगों के बीच प्रेम से एक रत्ती कम भी नहीं है। यह एक आदमखोर समय में मनुष्य होते जाने की प्रक्रिया है। यह मौत की वादियों में खिलता हुआ जिन्दगी का फूल है। यह एक ठूंठ में किसी गौतम बुद्ध के हाथों की छुअन से करवटें लेती अंखुआती हुई हरीतिमा है। यह कहानी धीरे-धीरे एक गुलाब की तरह पंखुड़ियां खोलती है पाठक के समक्ष समुद्र के विराट ज्वार की तरह उसे आप्लावित करती है और उतरते हुए भाटे की तरह सांस लेती हुई उसे खींच ले जाती है अपने साथ। फिर कहीं दूर हृदय के कोने में किसी चरवाहे की बांसुरी की तरह कई दिनों तक बजती रहती है।

'बया' के अप्रैल-जून, 2014 में **संजीव** की कहानी **'चलो चलें माँ'** पढ़ने को मिली। इस कहानी में बेदरोदीवार घुमन्तू कबीलों की औरतों के दुखान्त अस्तित्व को, अंधेरे में डूबती रोशनी के दर्द की महागाथा बनाने की कोशिश की है संजीव ने। औरत चाहे जिन परिस्थितियों में पल-बढ़ रही हो, प्राकृतिक रूप से रोशनी का उत्स होती है। उसका होना ही जीवन का होना है, जीवन्तता का होना है। रोशनी के इस हिस्से को अलग-अलग समय, स्थितियों-परिस्थितियों में पुरुषसत्ताओं ने अंधेरे के एक ही समुद्र में डुबोया है। इसी अंधेरे तल के एक कोने की पड़ताल करने कहानीकार इस समुद्र में उतरता है। सदियों से वैश्विक पुरुष और पौरुष की सभ्यता ने, सृजन-सामर्थ्य की साम्राज्ञी औरत को दासी, सेविका प्रजनन की मशीन और खरीद-फरोख्त के योग्य 'माल' का दर्जा दे रखा है। सभ्यता की खोल में छुपी इसी असभ्यता के विरुद्ध प्रतिकार के आवेग और संकल्प के रूप में यह कहानी अपनी शुरुआत में एक तलवार की तरह बुलन्द होती है। लेकिन अन्त होते-होते न जाने किस एनीमेशन साफ्टवेयर की बदौलत उठी हुई प्रतिकार की यह तलवार आदर्शवादी संतुष्टि की फूलमाला में बदलकर 'भन्ते' के गले में पड़ जाती है।

ऐसा लगता है कि कहानी के इस अन्त के प्रति खुद कहानीकार के मन में उहापोह की स्थिति है। कहीं न कहीं अपने निर्णय के प्रति एक संदेह है। पूर्ण आश्वस्ति नहीं है। यह बात कहानी के पहले ही वाक्य से प्रकट हो जाती है। ''मुझे कोई बेवकूफ कहे, अपराधी कहे, या आत्मघाती, कोई फर्क नहीं पड़ता। जो करना था, कर गुजरा मैं। आज और अभी। होश में आने के बाद से मेरे अन्दर जो गहरी कश्मकश चल और बल रही थी, आज उसका समाहार हो गया।''

कहानी आत्मकथ्य की शैली में लिखी गई है। नायक स्वयं अपने, अपने समाज और शेष समाज के बीच संघात के आवेगों, घात-प्रतिघातों और उभयपक्ष की संवेदना या संवेदनहीनता से सम्बन्धित अपने अनुभव तीव्र और तीखी प्रतिक्रिया के साथ व्यक्त करता है। वह शुरू से ही स्पष्ट कर देता है कि वह और उसका समाज उन लोगों में से एक है जो ''इंसान की शक्लसूरत पाने के बावजूद कीड़ों-मकोड़ों का जीवन गुजारते हैं।'' जिस समाज में 'औरतें कमाती हैं पुरुष खाते हैं। दिन में एक तरह से रात में दूसरी तरह से।' जहाँ 'तनिक बड़ी होते ही लड़कियां रात-रात भर गायब हो जाती हैं, सुबह लौटती हैं तो जैसे कोई युद्ध लड़कर वापस आ रही हों। जहां बेटियां रतन की खान हैं बेटियों के पैदा होने पर खुशी मनायी जाती है, बेटों के पैदा होने पर नहीं।

युगानुरूप अपने को नये-नये रूपों में ढालती हुई, शोषण और उत्पीड़न की बुनियाद पर टिकी यह राजसत्ता, पहली नजर में सुसंस्कृत, सुसभ्य, आकर्षक और लुभावनी नजर आने वाली यह पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था हकीकत में एक विराट दमनकारी मशीन के जबड़े की तरह काम करती है। अपने को कितने कौशल से बचाये रख कर इस जबड़े की दंतपंक्तियों के बीच विचरती चींटियों की तरह हैं ये घुमन्तू कबीले। अपने पैरों में प्राचीन स्वतंत्रता की गति, ताल और लय लिये काल की न जाने किस प्राचीन सुरंग से निकलकर आये इन कबीलों के जीवन की अंतरंग गहराई में उतर कर उसे कथारस में ढाला है संजीव ने। पता नहीं यह कबीले किसी प्राचीन मातृसत्तात्मक समाज से छिटके हुए अवशेष हैं, या अपनी जमीन और राज्य से निष्कासित, जंगल-जंगल भटकते किसी हारे हुए बहादुर राजा के सामन्तों की वंशावलि से जुड़े हैं यह, जिनके पुरुष जब अवसाद का शिकार हो कर अकर्मण्य हो गये, तो समाज की स्त्रियों ने उन्हें उबारने के लिए अपना सबकुछ दांव पर लगा दिया, लेकिन पराधीनता नहीं स्वीकार की। जमीन से आठ फिट ऊपर तने हुए रस्से पर बांस लेकर संतुलन साधते 'ढोल की ताल पर चलना' तथा 'थाली की बारी' और 'तलवार की धार पर' नाचने की कुशलता निश्चय ही किन्हीं वीरता भरे दिनों की प्रेरक यादगारें होंगी।

कथा के केन्द्र में है स्त्री और सारे अपमान, लांछन, दर्द और कष्ट सहते हुए भी उसका धरित्री की तरह पालनकर्ता, सृजनकर्ता स्वरूप। जो अपनी संतान की सुरक्षा और विकास के लिए हर घृणित कार्य करने के लिए तैयार हो जाती है। ऐसे काम तक जिसको याद करके भी उसे उबकाई आती है। इस कबीले में स्त्री स्वतंत्र है कबीले के पुरुष से। वह न किसी पुरुष/पति का दिया खाती-पहनती है, न उसके अदब में रहना उसकी अनिवार्यता है। हमारे समाज की पारिवारिक इकाई के स्वरूप से भिन्न हैं उनके समाज की पारिवारिक इकाई। उस परिवार में माताओं के बारे में तो हम जानते हैं, पिताओं के बारे में नहीं। 'पिता हमारे लिए एक ढीलाढाला आवरण भर है, जो हमें बांधता नहीं, बस सुरक्षात्मक ढंग से घेरे भर रहता है। बदलता रहता है।'' इस समाज में पुरुष उपार्जन का कोई काम नहीं करता सिवाय ताश खेलने और बीड़ी पीने और बच्चों की धायगिरी करने के।

इस समुदाय की पूरी शक्ल स्पष्ट करने के लिए कथाकार एक कहानी में कई छोटी-छोटी कहानियों को पिरोते हैं और इसे एक सान्द्र उपन्यास जैसी शक्ल देते हैं। कहानी के आकाश तले एक जीते-जागते समाज का मोरी के कीड़ों जैसी स्थितियों में बिलबिलाता, फिर भी उसी में संतुष्ट मनुष्यों का काफिला दर-दर भटकता रहता है, लेकिन किसी संघर्ष, किसी बदलाव के लिए उत्प्रेरित नहीं होता। कोई दुर्दमनीय असंतुष्टि ज्वाला बनकर इस समाज को जलाती नहीं। कथाकार मुर्दा घटाटोप अंधियारे में भविष्य के सूरज का बीज रोपता है। वह एक ऐसे नायक का सृजन करता है जिसके अन्दर पैदाइशी चिन्गारी है। यह चिन्गारी दरअसल माँ के अन्दर ही राख से ढंके अंगार के रूप में थी जहाँ से विरासत में उसे मिली। बिच्छू के डंक जैसे इस अंगार का एहसास कहानी की भयानक गली में पैर रखते ही हो जाता है। एक बस स्टैण्ड के निहायत गंदे कोने में भीख मांगते बैठी अपनी माँ (नायक की नानी) को दिखाने जब नायक की माँ पहली बार नायक को ले जाती है तो बेटे के प्रश्न के जवाब में वह जो कहती है वह बिच्छू के इस डंक की एक बानगी भर है-

''किस-किस वडील की माँ के बारे में पूछता है तू? सारी मायें ऐसी ही बूढ़ी हो कर मर गई होंगी या मर रही होंगी! यही इनकी किस्मत है। बूढ़ी अपंग या बेकार होते ही निकाल दी गईं। पिछड़ीं कि बिछड़ीं बिछड़ीं कि बिसर गई अपने कारवां से।... ज्यादातर के आखिरी दिन भीख मांगते या ऐसे ही किसी गंदे कोने में मौसम, भूख और बीमारी की मार सहते बीतते हैं। कुतिया-सी जिन्दगी और कुतिया-सी मौत!''

हेमा, मीरा, मौसी, रग्घू बाबा, खूसट सेठ, नानी, भूरिया, बाजार का खुला हुआ जबड़ा-सबकी अलग-अलग कहानी है, जिसे संजीव ने एक साथ पिरो कर आंसुओं की झिलमिलाती माला सी बना दिया है। बाजारवादी अर्थतंत्र द्वारा मनुष्य मात्र को और इस कहानी में खास तौर पर नारी को माल बना कर उसकी अस्मिता के पुर्जे-पुर्जे बिखेर दिये जाने की वीभत्स गाथा है 'चलो चले माँ।' जिसमें कुछ कथायें इतनी वीभत्स है कि सोच कर भी आत्मा कांपती है। वहीं एक नये सूरज का उजास भी है। जब इस समाज की प्रतिनिधि मादा से उसका बेटा नायक पूछता है- क्या मैं पढ़ नहीं सकता माँ?' माँ की बहादुरी बोल देती है-'क्या मैं तुझे पढ़ा नहीं सकती बेटा?' और फिर इस पढ़ाई की दास्तान-जब इस घुमन्तू, घर-बार विहीन कबीले की रोज बिकने वाली घुमन्तू, माँ अपने बेटे को दो विषयों से एम.ए. करा कर लेक्चरर के पद तक पहुंचाती है। लेकिन जब ताप बिखरने का वक्त आता है ठीक तभी यह सूरज अपनी आभा खो देता है। नायक अपने कबीले की कहानी लिखता है जिसके छपने से पहले ही कबीले के लोगों के द्वारा विरोध किया जाता है। रग्घू बाबा का सवाल-''तो तू हमें नंगाकर के, हमारे घाव और उनसे बहते पीव दिखायेगा?'' एक बड़ा सवाल बन जाता है। नायक लिखित पाण्डुलिपि को इस शर्त पर जलाता है कि उसके कहने पर कबीले के सभी लोग बौद्ध धर्म स्वीकार कर लें। अम्बेडकर के बंद गले का कोट पहनने के इशारे से कहानीकार एक राजनीतिक विकल्प की तरफ भी इशारा करते हैं। लेकिन यही वह जगह है जहां ज्वालामुखी की तरह उठी बदलाव की आग अचानक धर्म की ही गोद में पहुंचकर ठण्डी हो जाती है। पात्रों को संतुष्टि दे कर पुनः उसी पितृसत्तात्मक पुरुषसत्ता के जाल में फंसा देती है।

ऐसा लगता है कि कहानीकार का अभीष्ट उस कबीले के लोगों के लिए सम्मानजनक जीवन, बिना किसी संघर्ष के, प्राप्त कराना था, जो इस कहानी को एक अस्वाभाविक अंत की तरफ ढकेल ले गया। क्योंकि भारतीय समाज के स्तरों को देखते हुए यह सोचना स्वाभाविक है कि धर्म-परिवर्तन मनुष्य की (नारी शामिल है) की गरिमा स्थापित करने का माध्यम नहीं हो सकता।

रग्घू बाबा द्वारा नायक की पाण्डुलिपि जलवा दिये जाने के पीछे भी यही कारण नजर आता है, जो इस पुरुषसत्तात्मक समाज की उसी इज्जत की दुहाई से पैदा हुआ है। यौन शुचिता को इज्जत और सम्मान का पर्याय मान लिया जाना इस पितृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था में नारी की गरिमा के तार-तार होने की शुरुआत भी है, बुनियाद भी है। उसी इज्जत की दुहाई देकर, उसी बलात्कारी समाज की आंखों में इज्जत पाने और उसकी मुख्य धारा में शामिल होने के लिए होम कर दिया जाता है इस पितृसत्तात्मक समाज के बदबूदार कोढ़ को उजागर करने वाला दस्तावेज।

यहां यह देखना भी समीचीन होगा इस कोढ़ को उजागर होने से बचाने के लिए, लाज को पर्दों में ढंका रखे जाने के लिए कौन उतावला है? वह है रग्घूबाबा जिसके लिए कहानी की शुरुआत में ही कहा गया है कि 'हमने इस कुनबे में सिर्फ रग्घू बाबा को काम करते हुए देखा था। जो भालू नचाते थे, जिसे उन्होंने जंगल से पकड़ा था।' हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में अर्जन के लिए श्रम का काम मर्दों का है। स्त्रियाँ घर के अन्दर की व्यवस्था देखने के लिए ही होती हैं। इस लिहाज से पूरे कबीले में शास्त्रीय तौर पर मर्द एक ही है-रग्घू बाबा। इसलिए कबीले का वही एक मात्र पुरुष इस पुरुष सत्तात्मक समाज की लाज बचाने के लिए आगे आता और कबीले की पोल खोलते हैं दस्तावेज को जलवा कर राख करवा देता है।

पुरुष-मानसिकता से स्त्री का दर्द उकेरती यह कहानी स्त्री की जिस लाज को बचाने का दावा करती हुई इस प्लान्ड अन्त की तरफ चली जाती है वह दरअसल पुरुष की लाज है स्त्री की नहीं। स्त्री की लाज को तो पुरुष सदियों से अपने हाथों ही तार-तार करता आया है, इस कहानी में भी किया है। इज्जत की मूंछें तो पुरुष के ही होती हैं,

स्त्री के नहीं। जिस कहानी की घटनाओं को पुस्तकाकार होने से रोकने को बेचैन हैं रग्घू काका, उस कहानी की सभी घटनायें उनके सामने, उनकी जानकारी में जीवन भर घटती रही हैं। तब तो कभी नहीं रोका, न रोकने की कभी कोशिश की, न कभी एक शब्द कहा रग्घू काका ने। क्योंकि वह अलग-अलग स्त्रियों की अलग-अलग कहानी चल रही थी, घर के अंदर का पाप था। लेकिन जैसे ही नायक उस पर किताब प्रकाशित कराने की कोशिश करता है ठीक तभी आखिर कहां से आकर रग्घू काका ने समाज की मुख्यधारा का मर्दवादी चिन्तन सिर उठाकर आक्रोश में चीख उठता है-''तो तू हमें नंगा कर के हमारे घाव और उनसे बहते पीव दिखायेगा?''

''जा कर पूछ उन लोगों से जो इज्जतदार बने घूमते फिरते हैं, क्या वे बता पायेंगे अपने बारे में सच-सच, सही-सही कि उन्होंने और उनकी औरतों ने कहां-कहां, किस-किस का गू-खाया, अब इज्जतदार बने फिर रहे हैं। अपने मुलगे-मुलगियों को मुर्गे-मुर्गियों की तरह हलाल कर रहे हैं।'' ''भूरिया तो भाग गया लेकिन तू भाग कर नहीं जा सकता हमसे।''

जाहिर है कि न तो यह कबीले की स्त्री का नजरिया है। न मुक्ति के लिये लड़ती स्त्री का। यह कुल मिलाकर समाज की मुख्यधारा का मर्दवादी नजरिया है जो रचनाकार को अपने दबाव में लेकर रग्घू काका में घुस कर बैठ गया है।

मुख्य धारा का यह दबाव ही वह एनीमेशन साफ्टवेयर है जो सभ्यता के खोल में छुपी इस असभ्यता के विरुद्ध शुरू में उठी प्रतिरोध की तलवार को अन्त में आदर्शवादी संतुष्टि की फूल-माला में बदलकर भन्ते के गले में डाल देती है।

श्रीमती दीपक शर्मा की दो कहानियां 2014 में दिखीं-जून के वर्तमान साहित्य' में **'मेंढकी'** और हंस के मार्च अंक में **'ऊँची बोली'**। दोनों ही अपने आप में अनूठी हैं, और पितृसत्ता या पुरुषसत्ता के दायरे में अभिशप्त औरत की अस्वाभाविक, असामयिक मृत्यु पर खत्म होती हैं। 'मेढ़की' में आत्महत्या और ऊँची बोली में हत्या से। पर दोनों की नियति एक ही है, और वही है जो इस समाज में औरत की होती है-चाहे बेजान जीवन जिये चाहे खुद जीने से किनारा कर ले, या चाहे किसी बड़ी मूँछ की शान में ठिकाने लगा दी जाय।

'मेंढकी' तालाब में छलांग लगाकर मर गईं। तालाब की ही तरह घर-परिवार में उठी लहरें भी थोड़े समय में शान्त हो गईं। तालाब का पानी फिर पहले जैसा हो गया। समाज की ऊपरी सतह भी फिर जस की तस हो गई। 'मेंढकी' यानि निम्मो जिसको ससुराल की देहरी पर पैर रखते ही सास की तरफ से 'मेंढकी' उपनाम की सौगात मिली। उसकी सास को उसका कोई गुण दिखने से पहले उसके अंदर 'मेंढकी' दिखाई दी। सास को अगर घर के अन्दर शासन करना है, बहू की लगाम कसे रहना है तो उसके हर गुण के अन्दर अवगुण। देखना सीखना होगा। पितृसत्तात्मक समाज की यही परम्परा है। यहां घर के बाहर धर्म-दर्शन से लेकर साहित्य-ज्ञान-विज्ञान तक सबका अत्यंत विस्तृत अन्तरिक्ष है किन्तु हर घर के अन्दर अपने आंगन का अलग आकाश है। आंगन में पड़ोसी की पहुंच भी अबाध नहीं है। इसलिए हर घर के अन्दर की अपनी खास परम्परागत शासन-प्रणाली हैं। लेकिन एक सर्वमान्य सामान्य नियम यह रहा है कि बहू पर अंकुश रहे, उसके अवगुण खोज-खोज कर देखे जायें। बहरहाल यही वजह है कि निम्मो की सास को निम्मो मेंढकी दिखाई देती है और घर में उसका यही नामकरण हो जाता है। ''निम्मों की आंखें उन्हें लगतीं, कैसे बाहर की ओर निकली रहती हैं। निम्मों की जीभ लम्बी, जो मुँह के अन्दर कम और मुँह से बाहर ज़्यादा दिखाई दिया करती है।''

दीपक शर्मा शब्दों के मामलें में बहुत कंजूस हैं, वे गद्य को भी पद्य की तरह इतना नपातुला लिखती है कि उनके लिखे से एक भी शब्द हटाया नहीं जा सकता, वाक्य और वाक्यांश तो दूर की बात है। वे सीधे काम की बात से ही शुरुआत करती हैं-''निम्मो उस दिन मालकिन की रिहाइश से लौटी तो सिर पर एक पोटली लिये थी।''

''मजदूरी के बदले आज कपास मांग लायी हूँ'' निम्मो पैसे की जगह मजदूरी में कपास मांग कर लाई है तो सास के लिए यह मेंढकी की छोटी बुद्धि है।

निम्मो के अन्दर गलत का प्रतिरोध करने जवाब देने की आदत है। क्योंकि वह कलाकार पिता की दुलारी थी। सात बहनों में से केवल निम्मों में ही अपने बुनकर पिता की कलात्मकता के अंकुर फूटे थे। मरते समय वे निम्मो से ही बोले थे ''अपनी कारीगरी तेरे पास छोड़ जा रहा हूँ इसे बनाये रखना'' गलत का विरोध सच्चे कलाकार की सहज प्रवृत्ति होती है छोटी बुद्धि का कहे जाने और मेंढकी से तुलना किये जाने पर अपनी सहज प्रवृत्तिवश वह मेंढकी की क्षमताओं का बखान करने के बहाने अपनी ही तारीफ करती है।

''अम्मा जी, आप गलत बोल रही हो ''निम्मो हंसी-जब भी वह अम्मा से असहमत हो, हंसती जरूर ''मेंढकी की बुद्धि छोटी नहीं होती। बहुत तेज होती है। जिसे वह अपने अन्दर छिपाये रखती है। जगजाहिर तभी करती है जब उसकी जुगत सफल हो जाये। और जुगती वह बेजोड़ है। चाहे तो पानी में रह ले और चाहे तो खुष्की पर। चाहे तो बिल खोद कर जमींदोज़ हो ले और चाहे तो कूद कर पेड़ पर जा चढ़े। और यह भी बता दूँ कि मेंढकी जब कूदने पर आती है तो कोई अन्दाजा नहीं लगा सकता वह कितना ऊँचा कूद लेगी।''

निम्मो का पति, जो इस कहानी का नैरेटर भी है, नाकारा बेपढ़ा युवक है जो सिर्फ मालिक के कुत्तों की सेवाटहल करने का काम करता है, और जिसके कारण एक हीनताबोध, ग्रंथि के रूप में, उसके अन्दर मौजूद है। इस हीनताबोध को प्राकृतिक रूप से पुरुष के रूप में पैदा होने का सुयोग मिल गया है और निरक्षरता सोने पर सोहागा बन गई है, जिसके कारण एक हिंसक, श्रेष्ठता-बोध, एक क्रूर पुरुष-अहंकार इस हीनताग्रंथि का मुकाबला करने के लिये हरवक्त पत्नी के सामने तैयार रहता है।

''कूदेगी तू?'' निम्मो की पीठ पर मैंने लात जा जमाई टनाटन-''कूद कर दिखाना चाहती है तो कूद कूद अब कूद।''

बाद में जब इस दरी बुनने से होने वाली कमाई का अन्दाज लगता है तो सास खुश हो जाती है, और उस पर यह गिफ्ट भी कि दरी बुनने और पैसा बनाने का यह अतिरिक्त काम निम्मो घर का सारा

काम निपटाने के बाद अपने नींद के समय में करती। सास के लिए तो फिक्र की कोई बात नहीं थी पर पति को अपनी फिक्र सताने लगी-''तो क्या तीसों दिन इसी में लगी रहा करोगी?'' लेकिन सास को केवल नोट दिखाई देते हैं इसलिए वह निम्मो की तरफ से बोलती है-''अब उसकी बुनाई का लाभ हमीं को तो पहुंचना है। जितना रुपया बनायेगी, हमारे लिये ही तो बनायेगी।''

इसके बाद कहानी में आखिरी दिन का जिक्र है, जब कई दिन से घर के सारे काम निपटाते हुए, अपनी नींद तक का समय कला और पति के परिवार के आर्थिक उन्नयन के लिए अथक श्रम करती निम्मो की दरी बस पूरी ही होने वाली है, कि वहीं मालिक के कुत्ता-घर की जाली ठीक करते पति के हाथ से एक कील छटक कर दरी पर जा गिरती है। इसे उठा कर देने के लिए वह निम्मो से कहता है। निम्मो के हाथ दरी के फन्दों में उलझे हैं, इसलिए वह कहती है-''तुम्हारे पास यह एक ही कील है क्या? मैंने बताया तो है मुझे यह दरी आज ही पूरी करनी है। मालकिन कहती है कि इसे पूरा करने पर ही वह मुझे मेरा बकाया पकड़ायेगी।''

दरी के चक्कर में निम्मो कई दिनों से पति की इच्छायें पूरी नहीं कर पा रही थी जिससे धीरे-धीरे संचित होता आक्रोश पति को चैन नहीं लेने दे रहा था। अब अपनी आज्ञा की अवहेलना से उसे आक्रोश प्रकट करने का बहाना मिल जाता है, और निम्मो के मना करने, चिल्लाने, से और भी उत्तेजित होकर, उसकी दरी का ताना-बाना व बांस उठाकर फेंक देता है-''और आज से मेरे घर में बुनाई एकदम बंद''

''ऐसा कहोगे तो मैं ताल में जा कूदूंगी''-निम्मो दरी से उठ खड़ी हुई।

-''जा, कूद जा। कूद जा। कूद जा'' चिनग रही मेरी चिनगारियां बाहर छूट आयी।

तीन बार कहे जाने वाले तलाक के महावाक्य की तरह, यह तीन बार 'कूद जा' कहा जाना निम्मो के भीतर अत्याचार और अवहेलना सहती नारी के आक्रोश और एक कलाकार के दर्प दोनों को जगा देता है और निम्मो तालाब में जा कूदती है।

कथाकार ने कहानी का अत्यन्त संक्षिप्त अंत जिस स्थितप्रज्ञ संवेदनहीन, निरपेक्ष भाव से किया है वह इस पुरुषसत्तात्मक समाज की ठण्डी-क्रूरता के चरित्र को उतने ही प्रभावकारी तरीके से अभिव्यक्त करता है-''निम्मो की छलांग उसे ले डूबी। उसकी मौत को एक हादसे का नाम दिलाने में मालिक ने मेरी पूरी मदद की और मैं पुलिस की पूछताछ से साफ बच निकलने के कामयाब रहा।'' पूरा तंत्र जिसकी अन्तर्वस्तु पुरुषसत्तात्मक है, बड़ी आसानी से इस प्रसंग पर लीपापोती करके पर्दा डाल देता है। निम्मो की यह छलांग दरअसल आत्महत्या नहीं, उकसा कर की गई हत्या है। इस तरह स्त्री को आत्महत्या के लिए प्रेरित व मजबूर करके पुरुष सत्ता द्वारा कितनी हत्यायें की गई हैं अब तक, इसका हिसाब क्या कभी कोई दे पायेगा?

लेखिका ने स्त्री की देह की तुलना निम्मो के जरिये मेंढकी से करते हुए इस कहानी में एक अद्‌भुत बात की तरफ संकेत किया है-

''बेइलाज चल रहे मेरे पिता का दर्द बेकाबू हो जाता तो वह मेंढकों की खाल के जहरीले रिसाव का सहारा ले लिया करते। उस रिसाव को अपने घाव पर लगाते-लगाते चाट भी बैठते। कभी-कभी तो मेंढक की खाल को सुखा कर धुंधाते भी अपने नशे की खातिर।''

निम्मो द्वारा शुरू से वर्णित मेंढकी के किसी भी परिस्थिति में स्वयं को ढालकर रह लेने की उभयचर प्रकृति, ऊँचा कूदने की उसकी आन्तरिक शक्ति और बाद में उसके पति द्वारा बताई कई उसकी खाल की वाह्य ताकत, जो संतुलित प्रयोग में दवा तथा विकृत प्रयोग में जहर और नशा का रूप धर लेती है, प्रकृति और सभ्यता के उस द्वन्द्व की तरफ इशारा करती है जो निर्भया काण्ड और तीन साल की बच्ची के साथ बलात्कार जैसी घटनाओं को समाज में जन्म दे रहा है। पितृसत्तात्मक समाज और उसका पुरुषसत्तात्मक चरित्र औरत को अपने सामाजिक ताने-बाने के बन्धन में जकड़कर उसकी आन्तरिक सृजनात्मक शक्ति को कुंठित कर देता है। उसमें आरोपित वर्जनायें ही पुरुष के अंदर तमाम काम-कुण्ठाओं को जन्म देती हैं। ये कुंठायें नारी की खाल से नशा प्राप्त करती हैं और अंततः प्रकृति की कोमलतम और सुन्दरतम रचना का क्रूरतम तरीके से उपभोग करने के लिए पागलों की तरह उसे नष्ट-भ्रष्ट भी कर डालती हैं। पितृसत्तात्मक पुरुषसत्ता के इस स्वरूप को बदले बिना समाज की इन कुण्ठाओं से मुक्ति सम्भव नहीं है।

दीपक शर्मा की दूसरी कहानी 'ऊँची बोली' में नायिका की हत्या हो जाती है। इस कथा में नैरेटर नायिका का बेटा हैं।

''कुछ का अनुमान था कि अपनी हत्या के पहले माँ किसी अपराधी गिरोह के सामूहिक बलात्कार का शिकार हुई थी। तथा उन्हीं अपराधियों ने तिरसठ वर्षीय बृजलाल को भी मार डाला था। और एसयूवी के कल-पुर्जे अलग-अलग करके बेंच दिये थे।

अपनी अटकलबाजी में दूसरे स्रोत कह रहे थे कि माँ की हत्या अवैध गर्भ धारण का दुष्परिणाम थी, तथा उस हत्या को अंजाम देने वाले पेशेवर हत्यारे थे- बृजलाल की जानकारी में।''

नैरेटर की माँ उसी डाइग्नोस्टिक सेंटर पर रिसेप्शनिस्ट थी, जिसमें पिता टेक्निशियन थे।-''यह मात्र एक संयोग था कि जिस दिन रजत सिंह अपने बेटे के खून की जांच-रिपोर्ट लेने उस डाइग्नोस्टिक सेन्टर पर गया था। उस दिन माँ के केबिन में उनके साथ बैठने वाली रिसेप्शनिस्ट छुट्टी पर थी, और रजत सिंह वहीं अन्दर उसकी खाली कुर्सी पर जा बैठा था और बातों-बातों में उसने माँ को डाइग्नोस्टिक सेन्टर से मिलने वाली उनकी तनख्वाह से तिगुनी पर अपनी सेक्रेटरी बनने को राज़ी कर लिया था।''

माँ के रजत सिंह की सेक्रेटरी बनते ही घर की काया-पलट होने लगी। नई मोटर साइकिल, नया फ्लैट, फर्नीचर, टीवी, फ्रिज, बच्चे का नया स्कूल रहन-सहन सोच सब बदलता गया।

बेटे की आंखों उगे कांटेदार, पर संयत भाषा में पूछे गये सवाल के जवाब में माँ का जवाब था-''जानती हूँ, जानती हूँ'' माँ थोड़ी झेंप गई थीं, ''मूल से ज्यादा अपनी बोली लगवा रही हूँ। मगर जब मौका मिला है तो क्यों थोड़े में गुजारा करूं? ज्यादा क्यों न चाहूँ? 'कुछ भी' कर ले कैसे बहल जाऊँ? जब मुझे सब कुछ' चाहिये''

यह कथा स्त्री के प्रति सनातन सामन्ती सोच को आधुनिक पूंजीवादी उपभोक्तावाद के बाजार में खड़ी करके स्त्री को उसकी देह के शारीरिक मूल्य के प्रति सचेत करते बाजार का एक अंग बनने और फिर उसके आखिरी दुष्परिणाम तक पहुंचाने की कहानी कहती है। उपभोक्तवादी बाज़ार में सब-कुछ को माल बना डालने की सामर्थ्य है। आँसू को, मुस्कान को, हंसी को, खेल को, उत्सव को, धर्म को, अधर्म को, आँधी-तूफान को, झोपड़ी को-महल को, सोने-चांदी को, कूड़ा को, सबको।

चूंकि हर सम्पत्ति का मालिक पुरुष है इसलिए हर जगह खरीदार भी वही है और हर माल के साथ फ्री गिफ्ट रुप में नारी ही बिकती है। कभी उसकी मुस्कान, कभी आंसू, कभी देह। और जैसे माल की एक्सपायरी तिथि के बाद, या बाज़ार की प्रतियोगिता में कहीं बाधक सिद्ध होने लगने पर, माल को व्यापारी/उद्योगपति निर्ममता से नष्ट कर डालता है, वैसे ही इस कहानी की नायिका की हत्या हो जाती है और पितृसत्ता के वातावरण में यह उपभोक्ता-पूंजीवाद अपने रास्ते आगे बढ़ जाता है। कहानी की आखिरी पंक्तियां क्या इसी तथ्य की तरफ संकेत नहीं करती है?

-''तो क्या पप्पा सही कह रहे थे? माँ की सूरत ही उनको रजत सिंह के पास लाई थी? जिसने उनकी ऊँची बोली लगा कर माँ के अन्दर ज्यादा की ललक पैदा की थी? उन्हें 'थोड़े' से दूर ले जाकर 'सब कुछ पा लेने की ख्वाहिश दी थी? और दो सहायक नदियों की भांति पप्पा और दादी भी माँ के साथ उस खुले सागर की ओर बढ़ लिये थे?'' यह कथा इस बात की तरफ भी संकेत करती है कि स्त्री की मुक्ति और श्रम की मुक्ति एक दूसरे से जुड़ी है, और दोनों की मुक्ति साथ-साथ ही सम्भव है।

इन कहानियों के मध्य स्त्री को पुरुषवादी नजरिये से देखती और भोग के लिए वृद्धावस्था में भी लड़कियों के शरीर से चिपकती निगाहों को पर्त दर पर्त उघाड़ती प्रेमचन्द्र सहजवाल की 'दोस्ती', बेमेल विवाह के कारण असंतुष्ट चाची की अपने भतीजे से कामतृप्ति का बखान करती सीमा आजाद की कहानी 'मुआवजा', घर में सम्पत्ति के लिए ससुर से सम्बन्ध बनाने की होड़ में लगी बहुओं की कथा कहती विभा रानी की कहानी ''गंगा मैया के निर्मल धार'' जैसी कहानियाँ भी इस साल आयी हैं, जो भले ही समाज में व्याप्त सड़ांध को उजागर करना चाहती हों, लेकिन अपने विवरणों और कथ्य से वितृष्णा जगाने की जगह पाठक को केवल काम-कुंठाओं की दुनिया की सैर कराती हैं।

यहाँ अरुण प्रकाश की उनके एक लेख ''देह मन और स्वप्न'' में कही गयी यह बात बेहद याद आती है- ''स्त्री के गोपन को अगोपन करने का जो साहस कतिपय स्त्री लेखिकाओं में दिखता है उसी की खोल में वह कायर चालाकी बैठी है कि स्त्री की छवि वही रहे जो मीडिया ने बना रखी है नारी से नागरिक बनने का स्वप्न कहां है?''

स्त्री कथाकारों की भीड़ में अलग दिखती, प्रज्ञा पाण्डे की कहानी 'कछार' जो अक्तूबर 14 के हंस में छपी है अपने आप में एक बेमिसाल कहानी है जो औरत के प्रति औरतों की ही निर्ममता को एक गाथा की तरह कहानी में ढालती है। एक लोककथा जैसी नरमाई से पितृसत्तात्मक समाज की बखिया उधेड़ती यह कहानी प्रज्ञा पाण्डेय की असीम सम्भावनाओं को भी प्रकट करती है।

''विदाई पर रोना परम्परा है यह बात सारी औरतें जानती हैं। जो नहीं रोएगा उसको कठकरेजी कह दिया जायेगा, वे यह भी जानती हैं।''

''निगाह तो क्या बहिन, देह कोई पराया मर्द जो छुवे भी रहेगा तो आदमी भला वह जान न लेगा?'' पारबती बोली, ''उनको तो बहुत देह छूने का तजुर्बा न होता है!'' सब खिलाखिला कर ऐसे हंसने लगीं जैसे सबसे बड़ा कोई चुटकुला हो गया और बहुत मजेदार बात कह दी हो पारबती ने।

''तब भी क्या वह मर्दमारन ही मिली थी? अच्छे चाल-चलन की लड़कियां मर गई हैं क्या?''

''लो अब शुरू हुई दूसरी कहानी। अब दो मर्दमारन एक ही घर में रहेंगी। क्या होगा अब उस घर के मर्दों का?''

'और दुखन्ता फूआ की पंचायत में बैठी औरतें घूंघट से घूंघट सटा कर हंस पड़ीं। उन्होंने अपने बारे में यह जानने की जरा भी कोशिश नहीं की कि इस तरह मिलकर वे हंस रही है या रो रही हैं।''

औरतों के बारे में औरतों के द्वारा कही गई यह बातें आंगन के आकाश का वह आन्तरिक विमर्श हैं जो पितृसत्ता के विचारों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक प्रवाहित करती हैं। ऐसा विमर्श औरत द्वारा ही औरत की बेड़ियों को मजबूती प्रदान करता है। यह विमर्श पितृसत्ता द्वारा गढ़ी गई उस अनोखी स्वचालित मशीन का साफ्टवेयर है, जिसका उपयोग यह व्यवस्था अपनी मजबूती के लिये सदियों से करती आ रही है। इस विमर्श के द्वारा पितृसत्ता अपने लिए उपयोगी औरत की एक खास लुभावनी तस्वीर गढ़ती है, जिसमें एक बेटे या कई बेटों की माँ बन कर सुहागिन वेश में पति के कंधे पर श्मशान तक जाना ही औरत का परम लक्ष्य है।

प्रज्ञा पाण्डेय की यह कहानी पढ़कर राजेश जोशी की कविता 'एक स्त्री पीट रही है दूसरी स्त्री को' की पंक्तियां सामने आकर मन को बेचैन करने लगती है-

''स्त्री को जन्म देकर उदास है एक स्त्री
लड़की को जन्म देकर कांप रही है एक स्त्री
लड़की को जन्म देकर जच्चा घर में सिसक रही है एक स्त्री
इतनी जटिल बना दी गई है उसकी दासता
कि स्त्री ही सबसे क्रूर है
स्त्री के बारे में''

लेकिन इस अंधेरे में लू-शुन के वे शब्द हमें साहस बंधाते हैं जो उन्होंने अपनी कहानियों के प्रथम संग्रह 'ललकार' की भूमिका में लिखे थे। ''अगर कुछ की नींद उचट सकती है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि उस लौह कारागार को तोड़ने की कोई आशा नहीं है?''n

पता : 'आयाम', लेन नं 4, बैंकर्स कालोनी
परमानतपुर, जौनपुर-222002
मो. : 09838201907

इतिहास में स्त्री अस्मिता की तलाश

n डॉ. नलिन रंजन सिंह

यूँ तो स्त्री विमर्श के समकालीन सन्दर्भ मिथकों की पुनर्व्याख्या पर काफी जोर दे रहे हैं लेकिन इतिहास में स्त्री अस्मिता की तलाश का वस्तुनिष्ठ नजरिया अभी ठीक से विकसित नहीं हो पाया है। इसका एक प्रमुख प्रयास युवा इतिहासकार डॉ. नीलिमा पाण्डेय ने अपनी पुस्तक से किया है जिसका शीर्षक ही है-**'इतिहास में स्त्री अस्मिता की तलाश'**। पुस्तक के माध्यम से यहाँ ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में स्त्री विमर्श को देखने की कोशिश करेंगे।

"आज के स्त्री-विमर्श के दौर में जब स्त्री की स्वतंत्रता को स्वच्छंदता से समेकित करके देखा जा रहा है या उसे नारीवाद की जद में परिभाषित करने का प्रयास जारी है, एक अहम सवाल सहज ही उठ खड़ा होता है कि जिस प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति का निरन्तर महिमामण्डन किया जाता है उस संस्कृति में नारी का दर्जा क्या था? देवी का या दासी का? देवी और दासी दोनों ही शब्द अतिरेक दर्शाते हैं और स्त्री से उसके सामान्य नागरिक होने का हक छीन लेते हैं।" (पृ. 96) 'इतिहास में स्त्री अस्मिता की तलाश' पुस्तक में लेखिका के ये विचार एक बानगी हैं इस बात को समझने के लिए कि पुस्तक का 'विजन' क्या है? इस 'विजन' को आगे के एक वाक्य से और भी स्पष्ट तरीके से समझा जा सकता है- "प्राचीन भारत में स्त्री के महिमामण्डन अथवा उसकी अवमानना से ज्यादा जरूरी है कि स्त्री की स्थिति का तटस्थ मूल्यांकन हो और इतिहास का निष्पक्ष उद्घाटन और पुनर्मूल्यांकन।" इन पंक्तियों को पढ़कर बरबस ही विनय दुबे की एक कविता याद आ जाती है-"**मैं जब कविता लिखता हूँ/और कविता में स्त्री लिखता हूँ/तो स्त्री को स्त्री लिखता हूँ। विचार या विचारधारा नहीं लिखता हूँ।**" अगर एक वाक्य में कहा जाय तो- 'एक मुकम्मल औरत की पहचान- उसके पूरे वजूद, उसकी पूरी अस्मिता के साथ'-'इतिहास में स्त्री अस्मिता की तलाश' का लक्ष्य है। लेखिका नीलिमा पाण्डेय इस लक्ष्य को भेदती नज़र भी आती हैं क्योंकि ऐतिहासिक और मिथकीय आख्यानों में स्त्री का जो रूप हमें मिलता है उसका ज़्यादातर अतिरेकी मूल्यांकन ही हुआ है और लेखिका इस अतिरेकी मूल्यांकन के बरक्स एक तटस्थ मूल्यांकन प्रस्तुत करती हैं। इस मायने में यह एक महत्वपूर्ण पुस्तक है। ऋग्वैदिक ऋचाओं से चलकर वे थेरीगाथा, जातकों, पुराणों, महाभारत, वर्णाश्रम व्यवस्था, चर्यागीतों, भक्ति आन्दोलन से होते हुए लोकगीतों तक पहुँचती हैं। पुस्तक के ग्यारह अध्याय पृथक भी हैं और ऐतिहासिक विकास के क्रम में एक-दूसरे से जुड़े भी।

दरअसल स्त्री विमर्श के मौजूदा दौर में महिला सशक्तिकरण का नारा जोर पकड़ा हुआ है। इसमें तरह-तरह का लेखन सामने आ रहा है। कोई पुरुष सत्ता के उत्खनन का प्रलाप कर रहा है तो कोई विलाप, कोई गाली-गलौज, आरोप-प्रत्यारोप, चरित्र हनन, आत्मश्लाघा, विवाहेत्तर सम्बन्धों या आत्मदया का अरण्य रोदन कर रहा है। महिला सशक्तिकरण के नाम पर 'सब कुछ जायज है' के अन्दाज में तथाकथित बोल्ड लेखन की लाठी भाँजी जा रही है। दूधनाथ सिंह ठीक लिखते हैं- "एकाएक कन्धे उचकाने वाले अँग्रेज़ीदाँ कुछ लोग विदेशी पैसों के बल पर सक्रिय हुए और भारतीय स्त्री को सरेआम बाज़ार में उछालकर उसकी इज्ज़त और बेबसी का धंधा और दलाली करने लगे। ये नये किस्म के 'पिम्पूस' हैं जिनका इन दिनों बड़ा ज़ोर है। लेकिन इनके प्रयत्नों से कोई बलात्कार, स्त्री के ऊपर होने वाले अत्याचारों की लम्बी सूची में कहीं-कोई कमी आती नहीं दिखती। हाँ, सरकारी और ग़ैरसरकारी पैसे से कमाने-खाने वाले ये लोग, इंसाफ़ दिलाने के ये नक़ली प्रवक्ता, दूसरों का हित-साधन करने के बहाने स्वयं अपना हित-साधन ज़रूर कर रहे हैं। अब यह 'स्त्री-विमर्श' साहित्य, संस्कृति और राजनीति के फ़ैशन में है।" (महादेवी, पृ. 93) इसी 'साहित्यिक फ़ैशन' का कमाल है कि स्त्री-विमर्श 'देह-विमर्श' की शक्ल अख्तियार करता जा रहा है। इसे 'स्त्री-विमर्श का रीतिकाल' कहा जाय तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। ऐसे समय में 'इतिहास में स्त्री अस्मिता की तलाश' ताजा हवा के झोंके की तरह है। इतिहास और मिथक के अंतर को समझना और उपलब्ध ऐतिहासिक एवं मिथकीय स्रोतों के आधार पर उसका सटीक विश्लेषण करना एक इतिहास के विद्यार्थी के लिए ही अधिक सम्भव है। पुस्तक की लेखिका प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व विषय की शिक्षिका हैं और साहित्य में उनकी अभिरुचि है। स्वाभाविक है कि उनका विश्लेषण अखबारी नहीं है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में दी गई लम्बी संदर्भ सूची और हर तथ्य का क्रमांकित होना पुस्तक की तथ्यपरकता प्रमाणित करता है।

'इतिहास में स्त्री अस्मिता की तलाश' की बड़ी ख़ासियत है उसका वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण। लेखिका को "उम्मीद है कि जिन संदर्भों को पुस्तक में उठाया गया है वे पाठकों को स्त्री से जुड़े हुए पूर्वाग्रहों से मुक्त करेंगे जो समाजीकरण की प्रक्रिया में उनके इर्द-गिर्द बुने जाते हैं। इतिहास के प्रति वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण प्रस्तुत करना ही पुस्तक का उद्देश्य है।" (फ्लैप से) वस्तुनिष्ठता प्रमाणिकता और तटस्थता की माँग करती है जो इस

पुस्तक में आरम्भ से अन्त तक है। मसलन हम पहले अध्याय को ही लेते हैं। शीर्षक है-'ऋग्वैदिक ऋचाओं में स्त्रीः एक विश्लेषण'। ऋग्वेद में स्त्रियों को लेकर समाज में अनेक मत प्रचलित हैं। अधिकतर मत स्त्रियों की महानता की गाथा गाते हैं। ये मत भाषणबाजी के खूब काम आते हैं। लेकिन पुस्तक इस धारणा को बदल देती है। आर्थिक ढाँचे के समानान्तर समाज की पितृसत्तात्मक मनोवृत्ति का अध्ययन करते हुए समाज में स्त्री की प्रस्थिति को वे स्पष्ट करती हैं जिससे पता चलता है कि 'स्त्रीधन' के अन्तर्गत विवाह के समय मिलने वाले उपहार-भेटों को सम्मिलित किया गया था। 'स्त्रीधन' की यह परिभाषा परोक्षतः सम्पत्ति के अन्य स्रोतों को स्त्री के लिए प्रतिबन्धित करती है। जाहिर है कि 'स्त्रीधन' का संकीर्ण दायरा स्त्री को सम्पत्ति अधिकारों से वंचित करने के लिए बनाया गया था। न केवल ऋग्वेद बल्कि पूरा वैदिक साहित्य स्त्रियों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार एवं उत्तराधिकार के सवालों पर मौन है। वैदिक साहित्य की नारी द्वेषात्मक ऋचाएँ बताती हैं कि पशुचारी पृष्ठभूमि वाले इस समाज में पितृसत्ता की जड़ें मजबूत थीं। ऋग्वेद के तीसरे मण्डल में इन्द्र की उपासना में लिखी गयी ऋचा स्पष्टतः कहती है, 'पुत्री विवाह के पश्चात पितृकुल का त्याग कर देती है इसलिए पैतृक सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं है।' ऋग्वेद के दसवें मण्डल में द्यूतक्रीड़ा पर लिखी गयी ऋचा में पति के द्वारा पत्नी को दाँव पर लगाने का उल्लेख है। (पृ. 4) लैंगिक सम्बन्धों में ऋग्वेद में संतान प्राप्ति से सम्बन्धित प्रार्थनाएँ मिलती हैं। निरन्तर युद्धरत ऋग्वैदिक पशुचारी समाज का पुरुष संतान को महत्वपूर्ण मानना स्वाभाविक था। ऋग्वेद की अनेक ऋचाएँ पिता और पुत्र के आत्मीय सम्बन्ध को उजागर करती हैं। माता-पुत्र, पिता-पुत्री, के ऐसे उल्लेख/उद्धरण ऋग्वेद में नहीं हैं। (पृ. 5) इन संदर्भों को उठाते हुए नीलिमा पाण्डेय मुख्य मुद्दे पर आती हैं। ऋग्वेद में स्त्रियों द्वारा लिखी गई ऋचाओं के आधार पर ही सबसे अधिक महिमा गान किया जाता है। वे इन ऋचाओं की विषय वस्तु प्रस्तुत करती हैं और लिखती हैं-"ऋग्वेद में उपस्थित इन ऋषिकाओं का हवाला देते हुए यह बार-बार स्थापित करने का प्रयास किया गया है कि वैदिक कालीन भारत में स्त्री का सम्माननीय स्थान था। वे सुसंस्कृत एवं सुशिक्षित थीं और उन्हें समाज में बराबरी का दर्जा मिला हुआ था। सर्वाधिक चर्चित नाम रोमशा, घोषा, अपाला और लोपा मुद्रा के हैं। इन स्त्रियों की चर्चा उनके मंत्र रच लेने की सामर्थ्य की वजह से की जाती है और निष्कर्षतः कहा जाता है कि स्त्रियाँ पुरुषों की बराबरी में शिक्षित, सुसंस्कृत थीं। किन्तु इन स्त्रियों के मंत्र रच लेने की योग्यता से अधिक महत्वपूर्ण उनकी स्वाग्रही प्रकृति है, यौनिकता की मुखर अभिव्यक्ति है जो उन्हें अनुगामिनी स्त्री के खाँचे से बाहर एक स्वतंत्र सहज स्त्री की पहचान देती है। प्रश्न यह है कि क्या हमारा पितृसत्तात्मक समाज (मंत्र रचने की योग्यता का महिमामण्डन करने के साथ-साथ) इन स्त्रियों की ऋचाओं की विषयवस्तु से भी इत्तेफाक रखता है? ऋग्वैदिक स्त्री को उसकी स्वतंत्र यौनाभिव्यक्ति की सहमति देता है, उसे सहजता से लेता है? इन स्त्रियों की ऋचाओं की विषय वस्तु भी ऐसी कोई दावेदारी प्रस्तुत नहीं करती जिससे माना जाये कि स्त्री की स्वतंत्र, स्वाग्रही प्रकृति प्रशंसनीय थी। ऋग्वेद में विभिन्न स्थितियों, परिस्थितियों में जीवन निर्वाह करने वाली स्त्रियाँ मिलती हैं पर उन सभी की सामाजिक प्रस्थिति एक जैसी है। समाज में उनका दर्जा दोयम है। वे पुरुष से निचले पायदान पर अवस्थित हैं। ऋग्वेद की अधिकांश ऋचाएँ ऐसा ही आभास कराती हैं। (पृ. 6-7)

स्त्री-पुरुष समानता के संदर्भ में आजकल एक बात सामान्य तौर से कही जाती है कि आर्थिक और सामाजिक समानता स्त्रियों का जन्म सिद्ध अधिकार है। यह सच है कि आर्थिक समानता ही वह रास्ता है जिस पर चलकर सामाजिक समानता की मंजिल को पाया जा सकता है। स्त्रियों की आत्मनिर्भरता का मुद्दा भी इसी से जुड़ा हुआ है। कदाचित् यही कारण है कि नीलिमा पाण्डेय ने अगले अध्याय में स्त्रियों की आर्थिक प्रस्थिति की ऐतिहासिक पड़ताल की है। ब्राह्मण साहित्य से आरम्भ करते हुए वे राष्ट्रवादी इतिहास लेखन और पश्चिमी इतिहासकारों द्वारा इतिहास लेखन के विरुद्धों और द्वन्द्व की चर्चा करती हैं। यह भी स्पष्ट करती हैं कि किस प्रकार पूर्वाग्रही दृष्टिकोण ही प्रमुख हो गया। पितृसत्तात्मक एवं पितृवंशीय समाज की जकड़न इन कुरीतियों के मूल में थी जिसने स्त्रियों पर तमाम अपात्रताएँ थोपकर विभिन्न कुरीतियों के माध्यम से उनकी सामाजिक, सार्वजनिक गतिविधियों को प्रतिबंधित किया। यहाँ यह बता देना जरूरी है कि लेखिका ने पुस्तक की भूमिका में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि-"अध्ययन के लिए उपलब्ध साहित्यिक कृतियों में से अधिकांश पुरुषों द्वारा लिखी गयी हैं।" अर्थात् लेखिका ने 'सिमोन द बउवा' के नज़रिये का ही विकास किया है कि-"अब तक औरत के बारे में पुरुष ने जो कुछ भी लिखा, उस पूरे पर शक किया जाना चाहिए क्योंकि लिखने वाला न्यायाधीश और अपराधी दोनों ही है।" (सेकेण्ड सेक्स)

आर्थिक प्रस्थिति को स्पष्ट करने के लिए वे मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति, कात्यायन स्मृति, अर्थशास्त्र, जीमूतवाहन के दायभाग और विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा से संदर्भ उठाती हैं। पुरातत्व से जुड़े अभिलेखों की चर्चा अगले हिस्से में की गई है। तीसरी शताब्दी ई.पू. से लेकर वे भानुगुप्त के एरण अभिलेख तक आती हैं। मौर्य काल, शुंगकाल, कुषाणकाल और गुप्तकाल के अभिलेखों से वे स्त्री की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए बताती हैं कि कौशाम्बी के लघु स्तम्भ लेख में दूसरी पत्नी का सम्बोधन बहुपत्नीत्व का प्राचीनतम अभिलेखीय साक्ष्य प्रस्तुत करता है। स्पष्ट है कि महान अशोक के समय भी पुरुष एक से अधिक स्त्रियाँ रखते थे और माता का स्थान सम्माननीय होते हुए भी सामाजिक रूप से स्त्रियों का स्थान पुरुषों की तुलना में कमजोर था। भानुगुप्त का एरण अभिलेख सती प्रथा का प्राचीनतम अभिलेखीय साक्ष्य है। अभिलेख सतीत्व को महिमामण्डित करता है। स्वर्णयुग पर टिप्पणी करते हुए वे लिखती हैं-"स्पष्ट है कि स्वर्णयुग ने स्त्रियों को कोई स्वर्णिम वर्तमान या भविष्य नहीं दिया। पूर्ववर्ती कालों की भाँति उनकी स्थिति यथावत् अर्थात् दोयम दर्जे की बनी रही।" (पृ. 22)

भरहुत दान अभिलेख से वे बौद्धों के स्त्रियों के प्रति व्यवहार को सामने लाती हैं और बताती हैं कि ब्राह्मण समाज की अपेक्षा बौद्ध समाज में स्त्री का जीवन कम मुश्किल था। इस तथ्य को और स्पष्ट करने के लिए वे थेरीगाथाओं और जातक कथाओं को लेकर अलग से बात करती हैं। थेरीगाथाओं को वे इसलिए महत्वपूर्ण मानती हैं कि इनकी रचना स्त्रियों द्वारा की गई है। ये स्त्रियाँ सभी वर्णों से सम्बन्धित थीं इसलिए लगभग हर परिवेश-परिस्थिति की जानकारी इनसे मिलती

है। संघ का रवैया प्रवेश के मामले में स्त्रियों को लेकर समतावादी था किन्तु समाज के साथ सामंजस्य बिठाकर चलने की चाहत के कारण स्त्री के परिवार की अनुमति अनिवार्य मानता था। इस अनिवार्यता के कारण बौद्ध धर्म भी अपने प्रारूप में पितृसत्तात्मक सोच से प्रभावित था। थेरियों द्वारा रचित तिहत्तर कविताओं के माध्यम से नीलिमा पाण्डेय ने एक महत्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह अध्याय पुस्तक का सबसे विशिष्ट अध्याय कहा जा सकता है क्योंकि इसके माध्यम से लेखिका का अनुवादक-कवि रूप भी सामने आता है। संदर्भित गाथाओं का कविता रूप में अनुवाद अद्‌भुत है। कुल बीस पृष्ठों में बीस संदर्भों का अनुवाद हमें थेरीगाथाओं के मर्म से परिचित कराता है। लेखिका की क्षमता को देखते हुए कहा जा सकता है कि यदि वे थेरियों द्वारा रचित सभी कविताओं का अनुवाद इसी कविता फॉर्म में करके अलग से पुस्तिका के रूप में प्रकाशित करायें तो वह पाठकों-शोधार्थियों के लिए बहुत उपयोगी होगी।

जातक कथाओं के माध्यम से स्त्रियों की सामाजिक प्रस्थिति बताने के लिए वे अभिजात वर्ग की स्त्रियों (रानियाँ एवं राजकुमारियाँ) का अध्ययन प्रस्तुत करती हैं। राजा-रानी जातक कथाओं के महत्वपूर्ण पात्र हैं। "इन कथाओं में स्त्रियों की प्रशंसा प्रायः कम ही मिलती है। प्रशंसा के स्थान पर उन्हें विभिन्न प्रकार की समस्याओं के मूल कारण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। स्त्रियों को सम्बोधित करने वाला जातकों का प्रिय शब्द दुश्चरित्र स्त्री (Wicked Women) है जो समाज में स्त्रियों के प्रति व्याप्त दुर्भावना का ही प्रतीक है। (पृ. 56) जातक कथाओं में कहीं स्त्री को व्यभिचारी, परपुरुषगामिनी तो कहीं संन्यासी जीवन के लिए खतरा बताया गया है। राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उन्हें माध्यम बनाया गया है और यह भी कहा गया है कि स्त्रियों को नियंत्रित एवं सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। सुजाता जातक सात प्रकार की पत्नियों का उल्लेख करके दासी पत्नी को श्रेष्ठतम मानता है। यह आदर्श स्त्री को उसके नागरिक-सामाजिक अधिकारों से वंचित करता है। जातकों के स्त्री सम्बन्धी दृटिकोण की परख मनुस्मृति और अर्थशास्त्र के उद्धरणों से भी की गई है क्योंकि वे जातकों के समकालिक ग्रन्थ हैं। जातक और धर्मशास्त्रीय विधान-दोनों स्त्री के प्रति नकारात्मक रवैया रखते हैं किन्तु जातकों में व्यभिचारी, परपुरुषगामिनी स्त्री की भर्त्सना, निन्दा, अवमानना करते हुए चेतावनी देकर माफ कर दिया जाता है जबकि धर्मशास्त्रीय विधान कठोर दण्ड का प्रावधान करते हैं।

अगले अध्याय 'कलियुग में स्त्री' में पुराणों में उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर स्त्री की सामाजिक स्थिति को जानने का प्रयास किया गया है। पुराणों की रचना स्त्रियों एवं शूद्रों के लिए की गई बतायी जाती है। इसलिए इनका रुख धर्मशास्त्रीय निदर्श की तुलना में कम कठोर है। स्वाभाविक है कि यह स्त्रियों के लिए नये अध्याय खोलता है। समाज तब भी पितृसत्तात्मक था किन्तु स्त्रियों की सीमित मुक्ति भी कम मायने नहीं रखती। हालाँकि पितृसत्ता के दबाव के कारण पुराणों में दोहरा मानदण्ड दिखाई देता है। यह द्वैध संक्रमण काल की देन है। फिर भी यह दुःखद है कि स्त्रियों को चल सम्पत्ति माना गया और शूद्र के साथ वर्गीकृत किया गया। राजनीति पर पुरुषों का एकाधिकार था और स्त्रियों को नीतिगत मामलों से दूर रखा गया था। कह सकते हैं कि यह समय लैंगिक संदर्भों में एक वैविध्यपूर्ण दृश्य विधान प्रस्तुत करता है और स्त्रियों की अवस्था में जो परिवर्तन दिखाई देते हैं उसके पीछे ब्राह्मणीय समाज व्यवस्था में कबायली लोगों का बड़ी संख्या में शामिल होना जान पड़ता है क्योंकि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था पर आधारित ब्राह्मण समाज की तुलना में मातृदेवी का पूजक कबायली समाज अधिक समतावादी था।

नीलिमा पाण्डेय महाभारत में स्त्री अस्मिता की अनुगूँज को भी रेखांकित करती हैं और स्त्री की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का प्रश्न उठाती हैं। इसके लिए महाभारत की मूल कथा और उसमें शामिल तमाम द्वितीयक कथाओं को वे आधार बनाती हैं। महाभारत और रामायण का मुख्य घटनाक्रम बहुपत्नी विवाह के इर्द-गिर्द घूमता है। राज्य के उत्तराधिकार समस्या के मूल में यही वजह है। कैकेयी और सत्यवती राजा/पति के जीवन में आने वाली दूसरी स्त्रियाँ/पत्नियाँ हैं। महाभारत में वर्णित स्त्री चरित्रों को लेखिका दो भागों में बाँटती हैं। पहला वर्ग उनका है जो पितृसत्ता के मानकों के अनुरूप व्यवहार करती हैं और दूसरा वर्ग उन स्त्रियों का है जो स्वाग्रही हैं और अपने प्रति होने वाले अन्याय का विरोध करती हैं। वे स्त्री की परम्परागत छवि को तोड़ती प्रतीत होती हैं। शकुन्तला, देवयानी, शर्मिष्ठा, सत्यवती, अम्बा, हिडिम्बा, पर द्वेषि और अनुसुया दमन का प्रतिकार करने वाली, स्वाग्रही और व्यक्तिगत सोच एवं निर्णय लेने वाली स्त्रियाँ हैं। अम्बिका और अम्बालिका परम्परागत स्त्रियाँ हैं। गांधारी एवं माद्री का चरित्र भी पितृसत्ता के खाँचे में फिट बैठता है। कुन्ती और द्रौपदी का चरित्र वैविध्यपूर्ण है। ये कहीं परम्परागत हैं, कहीं महत्वाकांक्षी, कहीं मानिनी तो कहीं स्वाग्रही। कुल मिलाकर महाभारत की अधिकांश स्त्रियाँ लेखिका को पसंद हैं। यद्यपि इस समय भी स्त्री को चल सम्पत्ति माना जाता था किन्तु स्वतंत्र निर्णय लेने वाली स्त्रियाँ धर्मशास्त्रीय विधानों को बार-बार तोड़ती हैं। वास्तव में 'स्त्री की स्वतंत्र छवि के प्रति पितृसत्ता दुराग्रह रखती है। यही समस्या की जड़ में है।' (पृ. 92) वह या तो स्त्री को देवी के रूप में देखना चाहती है या दासी के। यही समस्या वर्णाश्रम व्यवस्था की भी रही है। इसीलिए लेखिका ने इस पर अलग से विचार किया है।

वर्णाश्रम व्यवस्था में स्त्री की स्थिति बयान करने के लिए वे समाज में प्रचलित विवाह की तीन प्रथाओं-बहुपति प्रथा, पुनर्विवाह और सती को आधार बनाती हैं। ऋग्वैदिक समाज में बहुपति प्रथा का प्रचलन था। यम-यमी, प्रजापति, सूर्या-अश्विन कुमार, मरुत-रोदसी आदि संदर्भ बताते हैं कि इस प्रथा को लेकर समाज में सहजता थी। अन्य कई संदर्भ यह स्पष्ट करते हैं कि बहुपति प्रथा के अलावा बहुपत्नी प्रथा और एक पत्नी प्रथा भी प्रचलन में थी। यानी प्रारम्भिक आर्य समाज ने स्त्री की यौनिकता पर कठोर प्रतिबन्ध नहीं लगाये थे। किन्तु ऐतेरेय ब्राह्मण तक यह स्थिति बदल गई। जहाँ कहा गया है कि पति अनेक पत्नियाँ रख सकता है पर पत्नी को यह अधिकार नहीं है। यह पितृसत्ता की जड़ों को मजबूत करने का आरम्भिक कदम माना जा सकता है। पुनर्विवाह के सम्बन्ध में अथर्ववेद से सूचना मिलने लगती है। धर्मसूत्रों से पुनर्विवाह के लिए निर्धारित परिस्थितियों का पता चलता है। नियोग की चर्चा संतान प्राप्ति हेतु की गई है। किन्तु धर्मसूत्रों, स्मृतियों और उन पर की गई टीकाओं से पता चलता है कि विशिष्ट परिस्थितियों में भी स्त्री को पुनर्विवाह की अनुमति आसानी से नहीं

मिलती थी। समाज स्त्री के पुनर्विवाह को सहज भाव से स्वीकार नहीं करता था। परिणाम यह हुआ कि पति की मृत्यु के बाद सती प्रथा जैसी कुरीति का आरम्भ हुआ। यह प्रथा कठोर पितृसत्तात्मक समाज की उपज है। धर्मशास्त्रीय प्रबन्ध ने धीरे-धीरे स्त्री को उसके शारीरिक, सामाजिक और आर्थिक अधिकारों से वंचित कर दिया और पुरुष के अधीन बना दिया। फिर भी धर्मशास्त्रों में सती के संदर्भ नहीं मिलते। लेखिका का मानना है कि-"व्यक्तिगत सम्पत्ति की कठोर अवधारणा, विधवा जीवन पर जबरन थोपा गया अध्यात्म और पवित्रता सम्बन्धी कर्मकाण्ड, स्त्री से जुड़ी चरित्र की परिभाषा और एक निष्ठा की अव्यवहारिकता की हद तक अपेक्षा, यौन शुचिता का महिमामण्डन कुछ ऐसे मिले जुले कारक थे जिन्होंने सती जैसी क्रूर और अमानवीय प्रथा के उद्भव के लिए पृष्ठभूमि तैयार की।" (पृ. 104-105) सती प्रथा के उद्भव के कारणों पर प्रकाश डालने के बाद वे स्त्री के एक और अभिशप्त कर्म वेश्यावृत्ति की पड़ताल करती हैं। यहाँ भी उनका विश्लेषण नैतिक-अनैतिक के आधार पर न होकर वेश्यावृत्ति व्यवसाय के सामाजिक-आर्थिक संदर्भों से जुड़ा है।

इसमें वैदिक, उत्तर वैदिक, बौद्ध साहित्य और धर्मशास्त्रीय साहित्य में आए संदर्भों को उठाने के बाद कौटिल्य के अर्थशास्त्र की विस्तार से चर्चा की गई है क्योंकि अर्थशास्त्र से वेश्याओं के विभिन्न वर्गों की सूचना मिलती है। यद्यपि अर्थशास्त्र में उनकी स्थिति बहुत अच्छी दर्शाई गयी है किन्तु यह विवेचन राज्य के फ़ायदे-नुकसान के पैमाने पर है। यही हाल पुराणों का है जो उनको एकमात्र मुनाफ़े के उद्देश्य से देखते हैं। महाभारत और रामायण में भी गणिका और वेश्या शब्द मिलते हैं। महाभारत में तो ऐसे अनेक संदर्भ उपस्थित हैं जो स्त्री को जिंस और चल सम्पत्ति के रूप में देखते हैं जहाँ स्त्री की स्थिति बदतर और अपमानजनक है। ऐसा लगता है कि किसी जड़ या निर्जीव वस्तु की बात की जा रही है। वात्स्यायन का 'कामसूत्र', शूद्रक का 'मृच्छकटिकम्', दामोदरगुप्ता का 'कुट्टनीमाता', कल्हण की 'राजतरंगिणी', क्षेमेन्द्र की 'समयमातृका' एवं 'नीलमत्तपुराण' वेश्याओं से जुड़े विवरण देते हैं। इनमें 'कुट्टनीमाता' के संदर्भ महत्वपूर्ण हैं जहाँ वेश्याओं के सम्मान में कमी मिलती है। इसमें पेशे से छाँट दी गयी ऐसी वेश्याओं के उल्लेख हैं जिन्हें बदली हुई परिस्थिति में कई बार भुखमरी की स्थिति से गुजरना पड़ता था और पेट पालने के लिए चोरी-चकारी, छल-कपट, भीख आदि का सहारा लेना पड़ता था। यही वेश्यावृत्ति पेशे का कटु यथार्थ था।

मध्यकाल में बौद्धों के पतन के बाद तंत्रों का उदय होता है। बौद्ध सिद्धों के पचास चर्यागीत तांत्रिक दस्तावेज माने जाते हैं। इन चर्यागीतों में स्त्री की स्थिति बेहद महत्वपूर्ण है। जनजातीय क्षेत्रों में प्रायः मातृदेवी की पूजा की जाती थी जिससे मातृतांत्रिक रीति-रिवाज मान्य हुए। चर्यागीतों में प्रेम की अभिव्यक्ति दैहिक है, आत्मिक या भावनात्मक नहीं; इसलिए इसमें स्त्रियों की सक्रिय भागीदारी मिलती है जो उनके बराबरी के स्थान की ओर संकेत करती है। चर्यागीतों में वर्णित स्त्रियाँ स्वतंत्र हैं, पराश्रित नहीं। वे आत्मनिर्भर हैं और प्रसन्न हैं। यद्यपि वर्णित स्त्रियाँ निचले तबके से हैं फिर भी वे ब्राह्मण संस्कृति के स्थापित प्रतिमानों की अवहेलना करती हैं। निःसंदेह तंत्रवाद ने लैंगिक भेदभाव को कम किया। बौद्ध सिद्धों के चर्यागीतों का सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यांकन करने के बाद नीलिमा पाण्डेय भक्ति की अभिव्यक्ति और स्त्रियों की भूमिका पर प्रकाश डालती हैं। इसके लिए उन्होंने दक्षिण भारत के भक्ति आन्दोलन की चार स्त्रियों का चयन किया है। ये स्त्रियाँ हैं- औवेय्यार, कारइक्काल अम्मैइयार, अण्डाल और अक्का महादेवी। औवेय्यार अविवाहित रहकर ईश्वर से वृद्ध जीवन माँगकर वृद्धा स्त्री के रूप में रहती है तो कारइक्काल अम्मैइयार शिव से प्रार्थना कर रूपवती स्त्री से पिशाचिनी रूप में ढल जाती है। ये संदर्भ महत्वपूर्ण हैं। वृद्धा स्त्री और पिशाचिनी स्त्री के रूप में दोनों पुरुष समाज के आकर्षण के दायरे से मुक्त हो जाती हैं। अण्डाल इस मायने में महत्वपूर्ण है कि बारह अलवार भक्तों की परम्परा में अकेली स्त्री है और किसी पुरुष की बजाय विष्णु से प्रेम करती है। अक्का महादेवी वैवाहिक सम्बन्ध त्यागकर शिव भक्त बनती है और आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश के साथ विवस्त्र रहने का चुनाव करके लिंगभेद को अर्थहीन कर देती है। ऐसा करने से सामाजिक और आध्यात्मिक दोनों हलकों में वह बागी के रूप में जानी जाने लगती है। इस प्रकार विवाह बंधन को नकार कर और स्त्रियोचित शालीनता को त्यागकर इन चारों भक्त स्त्रियों ने अपने-अपने तरीकों से पितृसत्ता से आक्रान्त जड़ समाज को भरपूर चुनौती दी।

पुस्तक के अंत में भोजपुरी एवं अवधी लोकगीतों के माध्यम से लोकगीतों में स्त्री की सामाजिक प्रस्थिति का आकलन किया गया है। इन गीतों में स्त्री की संवेदना, उसका दर्द और उसका प्रतिरोध मुखरित हुआ है। लोकगीतों में पुत्र जन्म की लालसा, उसका उत्साह, पुत्र न होने पर जीवन का निःसार होना, पुत्री होने पर दुःख-ऐसे संदर्भ हैं जो बताते हैं कि लिंग भेद जन्म से ही आरम्भ हो जाता है। पुत्री के विवाह में आने वाली तकलीफ़ों और दहेज की समस्या से त्रस्त माँ एक लोकगीत में यहाँ तक कह देती है कि यदि पता होता कि कोख में लड़की पल रही है तो उसे कोख में ही मार देती। भ्रूण हत्या की समकालीन समस्या से इसे जोड़ा जा सकता है। अनमेल विवाह, बाल विवाह, विधवा समस्या पर अनेक लोकगीत मिलते हैं। इनमें भी सम्मान रक्षा की अपेक्षा का भार स्त्री ही उठाती है। सौतिया डाह, ननद-भाभी संघर्ष, सास-बहू तकरार में आपसी द्वेष से भरे लोकगीत मिलते हैं जिनमें स्त्रियाँ अपनी महत्ता परिवार में अपने पुरुष सम्बन्धी की महत्ता के आधार पर तय करती हैं। इसी प्रकार भक्ति के लिए गाए जाने वाले लोकगीतों में पुरुषों की महत्ता सामने आती है। यहाँ भी परिवार में पुरुष सदस्यों की संख्या में बढ़ोत्तरी के गीत हैं, यद्यपि इन्हें गाने का काम स्त्रियाँ करती हैं। इसके मूल में वह भावना काम करती है जो समाज में पितृसत्ता ने रूढ़ की है।

स्पष्ट है कि 'इतिहास में स्त्री अस्मिता की तलाश' समकालीन स्त्री-विमर्श के दौर में तमाम धुँधलकों को साफ करती है। पूरी पुस्तक में इतिहास दृष्टि एकदम तटस्थ और स्पष्ट है। जहाँ कहीं भी स्त्री की स्थिति थोड़ी भी अच्छी है उसकी खुलकर प्रशंसा और जहाँ स्त्री हाशिए पर है उस समय-समाज की पितृसत्तात्मक सोच की आलोचना। लेखिका की दृष्टि कहीं भी एकांगी नहीं है, बल्कि वह उन स्त्री चरित्रों को प्रमुखता देने के पक्ष में हैं जिन्हें प्रतिरोधी और स्वाग्रही प्रवृत्ति के कारण इतिहास में उचित स्थान नहीं मिला या भुला दिया गया। n

पता : 7, स्टाफ कालोनी, जयनारायण पी.जी. कालेज
स्टेशन रोड, लखनऊ-226001
मो. : 09415576163

आयोजक : सौरभ शेखर

परिचर्चा

अभिव्यक्ति, अस्मिता और अभिमान

सह आयोजक : शोभा मिश्रा

हिंदी में स्त्री लेखन के विकास को अगर संक्षेप में समझना हो तो अभिव्यक्ति, अस्मिता और अभिमान के ये तीन सूत्र पर्याप्त हैं। विशेष कर कहानी के परिदृश्य में तो ये सूत्र और भी सटीक साबित होते हैं। स्वतंत्रता आन्दोलन के समानांतर चली स्त्री-अभिव्यक्ति की जद्दोजहद साठ और सत्तर के दशक और बाद की कहानी में स्त्री अस्मिता की पुरजोर वकालत के रूप में सामने आती है। मगर नब्बे के दशक में चली भूमंडलीकरण की बयार ने हिंदी में स्त्री कहानी की सूरत भी बदली। यह और अनुगामी समय एक ऐसा दौर है जिसमें हिंदी में स्त्री लेखन ने अॅसर्ट करना शुरू किया। यह आत्माभिमान भरे स्त्री लेखन का दौर तो जरूर है, मगर इसी के बरक्स रचनाधर्मिता, पितृसत्ता और राजनीति से जुड़े बुनियादी सवाल अभी भी अनुत्तरित हैं। इस परिचर्चा में समकालीन लेखिकाओं का मानस इन्हीं बुनियादी सवालों के दायरे में टटोलने की कोशिश की गई है। ये सवाल न सिर्फ मौजूदा हिंदी साहित्य के नजरिये से बल्कि इसकी भावी दिशा और गति के लिहाज से भी प्रासंगिक हैं। 'लमही' के लिए इस परिचर्चा को तेजस्वी युवा आलोचक ***सौरभ शेखर*** *ने आयोजित किया है। निम्नलिखित 10 प्रश्नों के उत्तर सौरभ शेखर और युवा लेखिका एवं एक्टिविस्ट* ***शोभा मिश्रा*** *ने कथा लेखिकाओं से प्राप्त कर हमें उपलब्ध कराया है।*

प्रश्न 1 : कहा जाता है कि अभिव्यक्ति की बराबरी से बड़ी कोई बराबरी नहीं हो सकती। दुनिया भर के जनतांत्रिक आंदोलनों का अंतिम आदर्श भी यही अभिव्यक्ति की बराबरी रहा है। हिंदी जगत में स्त्रियों द्वारा रचे जा रहे साहित्य की प्रचुरता और विपुलता के मद्देनजर क्या आपको लगता है कि आज एक स्त्री के लिए अभिव्यक्ति के समान अवसर हैं और वह निर्द्वन्द्व हो कर मनचाहा रच और अभिव्यक्त कर पा रही है?

प्रश्न 2 : साहित्य को स्त्री, दलित, पिछड़ा जैसे खांचों में रख कर पढ़ना और समझना मुझे उन्हें मुख्यधारा से परे धकेलने का एक षडयंत्र ज्यादा लगता है। मगर, कुछ लोग अनुभवों और यथार्थ की प्रमाणिकता की दृष्टि से वर्गीकरण और रेखांकन को युक्तिसंगत भी ठहराते हैं। आप अपने लेखन पर चस्पा 'स्त्री लेखन' के लेबल से कितनी सहज या असहज महसूस करती हैं?

प्रश्न 3 : आधुनिक स्त्री रचनाधर्मिता में जाहिर तौर पर कॉमन थ्रेड पितृसत्ता के विरुद्ध संघर्ष और प्रतिरोध है। हिंदी साहित्य में लेखिकाओं ने भावनात्मक, शारीरिक, सामाजिक और आर्थिक स्तरों पर पितृसत्ता की जकड़न, उसकी प्रविधियों और उसके पाखंडों का उद्घाटन और उदभेदन बहुत कुशलता से किया है। यहाँ तक की स्त्री यौन शुचिता की खोखली अवधारणाओं की भी धज्जियाँ उड़ाई गई हैं। मगर, कुटिल पितृसत्ता जिस प्रकार आज भी राजनीति और संस्कृति के क्षेत्र में महिलाओं के लिए लक्ष्मण रेखाएं खींच रही है, उससे हिंदी जगत की लेखिकाएं आँखें फेरे क्यों दिखाई देती हैं?

प्रश्न 4 : व्यापक स्त्री हित से जुड़े राजनीति और अर्थनीति के ज्वलंत प्रश्न, जैसे विधायिका में महिला आरक्षण, मंत्रिमंडलों, नौकरियों और शैक्षिक संस्थाओं में सानुपातिक प्रतिनिधित्व, इत्यादि महिलाओं के रचनात्मक सरोकारों में अपेक्षित स्थान क्यों हासिल नहीं कर पाते हैं?

प्रश्न 5 : 'मातृत्व' एक ऐसा गुण है, जो स्त्री को श्रेष्ठ कृति बनाता है। सो, स्वाभाविक रूप से दुनिया भर के स्त्री-साहित्य में इसे 'सेलिब्रेट' किया जाता रहा है। मगर कुछ पश्चिमी नारीवादियों (फेमिनिस्ट्स) ने यह महसूस किया है कि मातृत्व के प्रति भावुक सम्मोहन को बढ़ावा देना किसी स्तर पर मर्दवादी राजनीति का एक आयाम भी हो सकता है। आप इस निष्कर्ष से कितनी सहमत हैं?

प्रश्न 6 : समाज में स्त्रियों के संगठित दमन चक्र के कमजोर पड़ने और स्त्री स्वातंत्र्य की सशक्त छवियों के समानांतर ईर्ष्या और कुंठा की लहरें भी दिखाई पड़ रही हैं। इस का नतीजा है कि यौन हमलों और हिंसा की बाढ़ सी आ गई है और कार्य स्थलों पर और अन्यत्र स्त्री-पुरुष रिश्ते असहज होते चले जा रहे हैं समाज में गहराती लैंगिक कटुता क्या आपको चिंतित करती है?

प्रश्न 7 : आज पारंपरिक साहित्य की तुलना में सोशल मीडिया का स्त्री-लेखन ज्यादा चर्चाएँ बटोर रहा है। सोशल मीडिया की अराजकता, उसका औसतपन, उसकी क्षणभंगुरता और उसके आभासी चरित्र की आलोचनाएँ और आक्षेप अपनी जगह हैं, मगर अब उसे नजरअंदाज करना नामुमकिन है। साहित्य में सोशल मीडिया के विवादास्पद हस्तक्षेप को गंभीर लेखन और साहित्य में कहाँ देखती हैं आप?

प्रश्न 8 : साहित्य के बारे में शुरू से एक मासूमियत भरी स्थापना रही है कि स्तरीय साहित्य अपने बूते जिंदा रहता है। मगर हकीकत यह है कि आज जो रचना साहित्यिक परिचर्चा, गोष्ठी, जलसा, विमोचन, समीक्षा, पुरस्कार के जुगाड़ तंत्र में अपनी जगह नहीं बना पाती, पाठक उस तक पहुँच भी नहीं पाता, चाहे वह जितनी भी उच्च कोटि की हो। एक स्त्री के नजरिये से साहित्य की यह धक्कम-पेल आपको हताशाजनक लगती है या चुनौतीपूर्ण?

प्रश्न 9 : एक सवाल जो मुझे हमेशा परेशान करता है कि आखिर हिंदी के स्त्री लेखन से 'हास्य' और 'विनोद' लगभग निष्कासित क्यों है? कटाक्ष और व्यंग्य अगर है तो उसकी प्रकृति हास्य-मूलक नहीं है। ऐसा क्यों?

प्रश्न 10: अपनी आगामी लेखकीय योजनाओं के बारे में बताएं।

n रमणिका गुप्ता

उत्तर 1 : मैं तो ये मानती हूँ कि अभिव्यक्ति की ताकत ने ही जानवर से मनुष्य को मनुष्य बनाया! अगर उसमें अभिव्यक्ति की ताकत नहीं होती तो वह जानवर की तरह ही रहता! आज भी हमारे देश में बहुत से ऐसे लोग हैं, जो जानवर की तरह ही रहने को अभिशप्त हैं। ऐसी स्थिति में समाज ने उन्हें रख छोड़ा है या रहने पर मजबूर कर दिया है कि वे जो बोल कर अपनी पीड़ा भी बता नहीं पाते। जहां तक स्त्रियों का सवाल है, कुछ टेक्नोलॉजी की बढ़त, कुछ मानवता के मुद्दों पर ज्यादा जोर देने, कुछ विश्व की स्थिति या फिर विश्व भर में लोकतान्त्रिक संस्थाओं के आ जाने के कारण, स्त्रियों की अभिव्यक्ति के अवसर बढ़ने की मुहिम चली है। पर यह दृष्टिकोण बदलने के लिए पर्याप्त नहीं है। यह कितनी कामयाब हुई है, इसके तोलने या विवेचन की दरकार है! अलग-अलग देशों से अलग-अलग स्थितियां हो सकती हैं। भारत के सन्दर्भ में मध्यमवर्गीय समाज व दलित समाज की स्त्रियां भी अब बोलने लगी हैं। शिक्षा के चलते वे लिखने भी लगी हैं!

अभिव्यक्ति को दो तरह से बांटना होगा! एक तो है बोलना और दूसरा है लिखना! लिखने वाली स्त्रियों का प्रतिशत बहुत कम है, फलतः उनकी अभिव्यक्ति की ताकत भी उस अनुपात में बहुत कम है। ऐसे भी हर वह औरत, जो लिखती-पढ़ती है जरूरी नहीं कि वह लिखती ही हो। हर पुरुष भी जो पढ़ा-लिखा है, जरूरी नहीं कि लिखना जाने या लेखक हो। जैसे लेखकों की संख्या कम है, उसी तरह लेखिकाओं की संख्या भी कम है! उसके दो कारण हैं-एक तो स्त्रियों में अशिक्षा, दूसरा राजनीति और तीसरा समाज की वर्जनाएं व प्रतिबन्ध। हमारे संविधान को अभी समाज ने स्वीकार नहीं किया है! उसने स्त्री को पुरुष के बराबर नहीं माना है, भले संविधान में बराबरी का प्रावधान दर्ज है।

और फिर जो स्त्रियां लिख भी रही हैं, उन पर लांछन लगते हैं! मैत्रेयी पुष्पा पर लांछन लगा दिया गया! उनके लिए 'छिनाल' शब्द का इस्तेमाल किया गया! स्त्री जब आत्मकथा लिखती है, तो सच लिखती है! जब कोई स्त्री कई पुरुषों के बिस्तर में आने की बात लिखती है, तो उसमें पुरुष भी तो शामिल होता है ना? फिर केवल स्त्री को ही छिनाल क्यों कहा जाता है? ऐसे भी सच बोलने वाली स्त्री को लोग पसंद नहीं करते! फिर हिंदी में तो आत्मकथाएं लिखने की परम्परा ही नहीं रही। यह तो महात्मा गांधी ने सत्य से हमारा साक्षात्कार कराया। अभी दलितों और स्त्रियों ने आत्मकथाएं लिखनी शुरू की हैं! पहले अगर किसी ने लिखा भी तो उसमें अपने ऐश्वर्य, सामर्थ्य, वर्चस्व का

ही चित्रण किया। ऐसी रचना आत्मकथा नहीं होती। आत्मकथा सच्चे मायने में वही होती है, जिसमें आपकी पीड़ा के साथ-साथ, आपने जो भोगा है, आपका जो शोषण हुआ, उसे सच्चाई से चित्रित किया जाय! जिसमें आपकी कमजोरियां भी दर्ज हों और संघर्ष भी, जैसे महात्मा गांधी ने किया।

इसलिए जो स्त्रियां सच लिखती हैं, उन पर लांछन लगते ही हैं! जब तक वे पति के आने का इंतज़ार करती स्त्रियों की ऐसी ही कहानियाँ लिखती रहीं, गृहिणी होने के नाते अपने फर्जों को गिनाती या दर्शाती रहीं अथवा माँ के नाते ममता का ढिंढोरा पीटती रहीं...किसी ने आपत्ति नहीं की। लेकिन जैसे ही वे सच लिखने लगी, आपत्ति होने लगी! उन पर अघोषित प्रतिबन्ध लगने लगे! संविधान में प्रतिबंध नहीं है लेकिन समाज ने तो लगा रखा है प्रतिबन्ध। स्त्रियां भी स्त्रियों को क्रिटीसाइज करने लगती हैं क्योकि वे स्वयं भी पुरुष अनुकूलित ही नहीं पुरुष वर्चस्व से आतंकित भी हैं। इसलिए मेरी राय में अभिव्यक्ति के समान अवसर होने के बावजूद अभी भी औरत निर्द्वन्द्व होकर, मनचाहा रच या लिख नहीं पा रही। विरले ही कुछ लेखिकाएं लिख रही हैं और झेल रही हैं चुनौतियां।

उत्तर 2 : इसमें मैं कुछ डिफर करती हूँ। ऐसे मैं केवल स्त्री पर ही नहीं विभिन्न विषयों और मुद्दों पर लिखती हूं। फिर भी स्त्रीवादी कहलाने में मुझे कोई दिक्कत नहीं। मुझे अपने स्त्री होने पर गर्व है, इसलिए मेरे लेखन पर स्त्री का लेबल लगने पर शर्मिंदा होने का सवाल ही नहीं उठता। स्त्री होने के कारण स्त्री-व्यथा और स्त्री-समस्या का विशेष जानकार होना अच्छी बात है वह उपलब्धि है मेरी। ऐसे इसका एक और पहलू भी है। पुरुष लेखकों को यह भ्रम आज तक है कि कोई स्त्री उनके समकक्ष लिख ही नहीं सकती, जैसे कि लेखन केवल उन्हीं का अधिकार है। उन्हें हमारे लेखन पर स्त्री लेखन का लेबिल लगा कर संतोष मिलता है कि स्त्रियां उनकी टक्कर में नहीं हैं। यह कि उनका लेखन अलग कैटेगरी का है। इस भ्रम को तोड़ना जरूरी है। यदि साहित्य मानवता का दर्पण है और मानवता ही दलित, अदलित आदिवासी, स्त्री-पुरुष, काला-गोरा, ऊंचा-नीचा में बटी है, तो साहित्य एक जैसा कैसे होगा? उनकी समस्यायें तो तथाकथित मुख्यधारा, जिसमें केवल उच्च जाति, वर्ण या वर्ग के लोग ही हैं से भिन्न ही होंगी। उनकी दृष्टि भी अलग होगी। इस तथाकथित मुख्यधारा के लोग जो 10 प्रतिशत हैं, पढ़ते-लिखते आए हैं सदियों से और 90 प्रतिशत जो अवर्ण हैं, उन्हें इन 10 प्रतिशत सवर्णों ने तो पढ़ने ही नहीं दिया। आबादी में आधी आबादी स्त्रियों की भी शामिल है। फिर 10 प्रतिशत मुख्यधारा कैसे हुई? वह तो अल्पधारा हैं! मुख्यधारा तो 90% वे लोग हैं, जिन्हें अनपढ़ रखा गया इस देश में। अब वे लिखने लगे हैं! फिर उनकी पहचान तो अलग होगी ही न।

एक बात और कहना चाहूंगी समुद्र बहुत बड़ा होता है, जो नदियों के मिलने से बनता है! नदी मिल जाती है समुद्र में, तब वह भी समुद्र बन जाती है, लेकिन नदी की अपनी पहचान तो बनी रहती है है न जहां वह बहती है? नदी तो खत्म नहीं हो जाती? नदी न हो, तो समुद्र भी नहीं होगा। जब मानवता में दलित, अदलित, अवर्ण-सवर्ण या लिंग भेद के खांचों वाली सोच मिट जाएगी, तो साहित्य में भी भेद खत्म हो जाएंगे। सारी धाराओं, विभिन्न नस्लों, जातियों, पिछड़ों, दलितों से मिलकर ही तो मानवता बनती है। इनकी अपनी पहचान कायम रखते हुए अगर ये सब मानवता में मिलते हैं, तो ज्यादा भाईचारा कायम हो सकता है!

अगर कोई षड़यंत्र रचा गया है, तो वह तथाकथित सवर्ण निर्मित मुख्यधारा ने रचा है। उन्होंने मानवता के नाम पर षड़यंत्र करके गैर सवर्णों को पहचान तक नहीं दी। स्त्रियों के लेखन को आप स्त्री का लेबल लगा दीजिये या कुछ लगा दीजिये, है तो वह मानवता का साहित्य ही न! मानवता का वह पक्ष, जिसे आपने स्त्री कहकर निग्लेक्ट किया, लेखिकाएं उसे उभारती हैं! वह साहित्य नहीं तो क्या है? स्त्रियां अपनी पहचान का साहित्य लिख रही हैं और पुरुषों से बढ़कर लिख रही हैं! कोई भी पुस्तक आती है, तो पुरुष लेखक की तुलना पुरुष लेखक से तो की जाती है पर लेखिकाओं से नहीं। मुझे लेबल लगने में कोई एतराज़ नहीं है। मैं दलित साहित्य पर भी काम करती हूँ और आदिवासी साहित्य पर भी। स्त्री के मुद्दे पर लिखती हूँ और पूरी वंचित जमातों पर भी, जिन्हें मुख्याधारा ने नेग्लेक्ट किया, उपेक्षित किया। मैं उन्हें आगे लाने का प्रयत्न कर रही हूँ! उस पर आप कोई भी लेबुल लगाएं, क्या फर्क पड़ता है? बात तो मानवता की ही होती है न।

उत्तर 3 : मेरे विचार से यह आरोप सही नहीं है। स्त्रियां पितृसत्ता के विरुद्ध भी लिखती हैं और उससे इतर सामाजिक सरोकारों, सामाजिक अन्याय व अन्य विविध विषयों पर भी लिखतीं हैं! ये कहना गलत होगा कि वे केवल पितृसत्ता के विरुद्ध ही लिख रहीं हैं। स्त्रियों ने अपने लेखन में आदिवासी, दलित और वंचित समाज के मुद्दों पर लिखा है। सच्चाई यह है कि चूंकि वह साहित्य स्त्रियों द्वारा सृजित है, इसलिए उसे स्त्री-साहित्य कह दिया जाता है। इससे इतर वे प्रेम, प्रकृति, परस्पर रिश्ते, ट्रेड यूनियन, विदेश गए भारतीयों के सांस्कृतिक द्वंद्व, राजनीतिक आर्थिक विभेद, धार्मिक संकीर्णताओं, पुरानी परंपराओं व अंधविश्वासों की जकड़न के खिलाफ या नई पीढ़ी की सोच आदि कई विषयों पर भी लिखती हैं। यह सच है कि पुरुषों की तुलना में लेखिकाएं कम हैं पर जो हैं उनका दायरा व्यापक है, आयाम बड़ा है। स्त्री मुद्दे पर जो लिखा हो उसे ही आप स्त्री-साहित्य कह सकते हैं। मैंने पहले भी कहा-लोग स्त्री को अपने बरक्स लेखक के रूप में स्वीकारने को तैयार नहीं हैं। इसीलिए यह प्रश्न उठाए जाते हैं।

राजनीति को देखें तो अभी तक महिला-आरक्षण का बिल पास नहीं हुआ है। स्त्री को पुरुष मानसिकता किसी भी क्षेत्र में आगे बढ़ने नहीं दे रही।

मैत्रेयी पुष्पा, स्त्रियों पर भी लिख रहीं हैं और दूसरे मुद्दों पर भी। उनकी आत्मकथा 'अलमा कबूतरी' पूरे कबूतरा आदिवासी समाज की कथा है। चित्रा मुदगल अपने आपको स्त्रीवादी नहीं कहती हैं। वे दूसरे मुद्दों पर लिख रहीं हैं और स्त्रियों पर भी। ट्रेड यूनियन संघर्ष के विभिन्न पहलुओं पर उन्होंने लिखा है। कृष्णा सोबती, नासिरा शर्मा, निर्मला पुतुल, मृदुला गर्ग, कुसुम अंसल, अनिता भारती, अर्चना वर्मा, अनामिका, सरोजनी श्रीवास्तव, जय वर्मा, सुधा ओंम ढींगरा, सुधा अरोड़ा, जाकिया जुबैरी, ग्रेस कजूर, मीरा आदि लेखिकाएं स्त्री मुद्दों के साथ-साथ तमाम और दूसरे मुद्दों पर भी लिख रहीं हैं! सुषम बेदी,

कविता वाचक्नवी, दिव्या माथुर आदि विदेश में रहकर लिख रही हैं! लेखिकाएं अनुवाद भी कर रही हैं! उनके लेखन का मूल्यांकन न करना भी पुरुषों की एक राजनीति है। ये पितृसत्ता का वर्चस्व है! किसी भी क्षेत्र में पुरुष स्त्रियों को आगे नहीं बढ़ने देना चाहता! ये बात ठीक है कि स्त्री का स्त्री मुद्दे पर लिखना उनके ज्यादा नज़दीक पड़ता है, इसलिए वे स्त्री मुद्दों पर ज्यादा लिख रही हैं और पाठकों का भी ध्यान उनकी उन रचनाओं पर ज्यादा जाता है। सच तो यह है कि पुरुष मानसिकता उन्हें स्त्री तक ही सीमित कर देना चाहती है।

स्त्री मुद्दा सब में एक कॉमन थ्रेड होने का अर्थ यह नहीं कि दूसरे मुद्दे उनके लिए वर्जित हैं। वे उन पर लिख रही हैं। लिख सकती हैं और लिखेंगी भी! और लिखा भी है...लेखिकाओं ने आँखें नहीं फेरी हैं...आप उनकी चर्चा और मूल्यांकन नहीं कर रहे हैं। मैं किस किस का नाम लूं? मैंने खुद भी स्त्री के अतिरिक्त हर मुद्दे पर लिखा है। हाशिए के वंचित समाज पर, प्रेम समाज, राजनीति और प्रकृति पर भी लिखा है। अधिकारों से वंचित समाज पर भी लिखा है।

उत्तर 4 : कौन नहीं कर पातीं हैं? कौन? स्त्रियां नहीं कर पाती हैं या पुरुष उन्हें हासिल करने नहीं देते? सवाल तो फिर वहीं आ जाता है! इसके लिए संगठन की दरकार है! भारत में अधिकांश स्त्रियां गृहिणी हैं, वे सही नागरिक भी नहीं बन पाईं हैं। उनके लिए सारा संसार सिर्फ उनका घर ही होता है। घर के बाहर क्या हो रहा है, उन्हें नहीं मालूम! ज्यादातर स्त्रियां वोट भी डालने जाती हैं, तो पति से पूछ कर कि किसे वोट दें? अभी तक पढ़ी-लिखी स्त्रियां भी अंधविश्वासों से मुक्त नहीं हो पायी हैं! पढ़ी-लिखी डॉक्टर बनी महिलाओं की भी यही स्थिति है। अगर उन्हें बेटा नहीं हुआ है, तो वे पूजा-पाठ या जादू-टोना का सहारा लेने लग जाती हैं, जबकि तथ्य यह है कि लड़का होने के लिए पुरुष के **'Y'** का होना जरूरी है! यानी उस डॉक्टरनी की पढ़ाई-लिखाई बेकार गयी! पुरुष भी ये जानते हुए कि बेटा उन्हीं के कारण होता है, तब भी दूसरा विवाह करने के बारे में सोचते हैं। सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक चेतना का अभाव और अन्धविश्वास के प्रभाव और रूढ़िवादी मानसिकता से स्त्रियां तो क्या, पुरुष भी मुक्त नहीं हो पाए हैं! क्या यह समाज की, विशेषकर जागरूक व पढ़े लिखे पुरुषों की जिम्मेवारी नहीं बनती कि वे स्त्रियों को जागरूक करें, नागरिक बनने में उनके सहायक, सहयोगी बनें?

दरअसल पुरुष अपनी सत्ता को गंवाना नहीं चाहता। फलतः वह स्त्रियों को नौकरी में आरक्षण नहीं देने में कोताही करता है। अभी तक आरक्षण का बिल लटका पड़ा है! अनुपात में स्त्रियां कम संगठित हैं, उनका संगठित होना बहुत जरूरी है और गृहणियों को नागरिक बनाना भी बहुत जरूरी! स्त्री यह नहीं चाहती है कि वह पुरुष की जगह ले ले। स्त्री तो चाहती है कि वह पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर, अपना कर्त्तव्य निभाते हुए, अपना हक हासिल करे। पुरुष चाहता है कि वह उसकी दासी बनी रहे और जो वह कहे, वही करती रहे। हर पुरुष के बारे में मैं यह नहीं कहती, लेकिन हज़ार में कोई एक पुरुष ही होगा, जो चाहेगा कि स्त्री आज़ाद रहे, शायद दस हजार में एक ही हो!

संगठन के अभाव और चेतना के अभाव में इन मुद्दों पर संगठित रूप से प्रदर्शन, आंदोलन, जो कभी पहले शुरू हुए थे, आज नहीं हो रहे। सरकार भी ध्यान नहीं दे रही। सरकारें बदल रही हैं लेकिन बदलाव की राजनीति नहीं कर रहीं। बदलाव की राजनीति होगी और समाज भी बदलना चाहेगा, तो ही स्त्री की स्थिति में सुधार आएगा! इसलिए स्त्रियों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता, स्त्रियों की इस स्थिति के लिए समाज दोषी है।

उत्तर 5 : काफी हद तक यह सही है। मातृत्व के इस गुण को कब सराहा है पुरुष ने? स्त्री का माँ बनना उसका एक स्पेशल गुण है, जो पुरुष में नहीं है! लेकिन वह माँ के इस गुण का ही सर्वाधिक गुहादोहन करता है! स्त्री के मातृत्व को पुरुष के साथ नत्थी कर दिया गया है। मातृत्व के गुण को सराहे जाने का मतलब होता है बच्चा पैदा करने को सराहा जाना, न कि किस विशेष रिश्ते में बंधे पुरुष से बच्चा पैदा होने पर ही इस गुण को सराहना! अन्यथा उसे नकारना और धिक्कारना। गुजरात के एक आदिवासी क्षेत्र में, बिना शादी के बच्चा पैदा हो जाता है। उसे नाजायज़ नहीं माना जाता! मातृसत्ता का एक प्रदेश है मेघालय, वहाँ बच्चा नाजायज़ नहीं होता। हमारे समाज में विवाह से इतर पैदा होने वाले बच्चे को नाजायज़ माना जाता है, जिसमें बच्चे का कोई दोष नहीं होता। तब पुरुष और समाज स्त्री के मातृत्व गुण को क्यों नहीं स्वीकार करता? दरसल मातृत्व के गुण को पुरुष समाज ने कभी सराहा ही नहीं। जब सराहा तो अपनी ही पैदा की हुई औलाद के संदर्भ में।

दूसरा यह कि पुरुष माँ की ममता को ब्लैकमेल करता है! तलाक लेने पर बच्चे का क्या होगा, इसका डर स्त्री को सताता रहता है! जबकि बच्चा, माँ-बाप दोनों की जिम्मेदारी होता है! बच्चे को नौ महीने पेट में रखने के कारण बच्चे के प्रति माँ में ममता ज्यादा होती है। यह स्वाभाविक भी है। स्त्री की इसी ममता को भंजाता है पुरुष। यह मर्दवादी चाल है। वह स्त्री को ममता का हवाला देकर आज़ाद नहीं होने देता। बहुत सी स्त्रियां सिर्फ यह सोचकर पुरुष से अलग नहीं हो पातीं कि बच्चों का क्या होगा? इस सोच को पश्चिम या पूरब की राजनीति कहकर खारिज नहीं किया जा सकता! यह विश्व-पुरुष की सोच है। पश्चिम की राजनीति के अनुसार आज सुप्रीम कोर्ट ने बिना ब्याह के साथ रहने और उस रिश्ते से पैदा बच्चों को भी मान्यता दे दी है। बिन ब्याह वाले बच्चों को भी भारत में मुआवजा देने की बात हो रही है। यह अच्छी बात है। बच्चों के मोह में पड़कर औरत उसकी दासी बने रहना कबूल करती रही है! बच्चे के प्रति भावुक सम्मोहन तो दरअसल स्त्री-पुरुष दोनों में होता है, पर पुरुष ने चूंकि स्त्री को घर तक सीमित कर दिया, उसे अपने पर आश्रित बना दिया, इसलिए वह स्त्री को ममता का बार-बार अहसास दिला कर डराता रहता है। यह साजिश आज की नहीं, जब आदिम समाज ने कृषि को अपनाया, तभी से चली आ रही है।

ऐसी भी अगर पश्चिम का कोई विचार अच्छा हो, तो उसे सिर्फ इसलिए ही नकारना नहीं चाहिए कि वह पश्चिम से आया है! हमारे देश का कोई संस्कार बुरा है, तो सिर्फ इसलिए स्वीकारना नहीं चाहिए कि वह हमारे देश का है! जातिवादी प्रथा हमारे देश की है, हम इसे नकार रहे हैं, संविधान ने भी उसे नकारा है। पश्चिम ने हमें डेमोक्रेसी सिखाई, तो क्या वह बुरी है? तो अगर पश्चिम का नारीवादी आन्दोलन यह

कहता है कि मर्दवादी समाज स्त्री की ममता को भुनाता है, तो वह सही कहता है! मैं सहमत हूँ इससे!

उत्तर 6 : आज हमारा ट्रांजीशन का समय है। पुरानी संस्कृति नए युग की मानवतावादी बराबरी भाईचारे और आज़ादी की नव संस्कृति को पचा नहीं पर रही है। समाज का जो वर्ग इस व्यवस्था से सुविधाएं लेते रहा है-वह वर्ग कटुता पैदा कर रहा है। उनका जो शिकार था, आज वह जाग रहा है। इसलिए द्वन्द्व तो होगा ही। यह एक चुनौती है। आज कटुता चिंता का नहीं बल्कि बहस का विषय है। इसका कारण पुरुष है समाज है, स्त्री नहीं। स्त्री को लिंग के आधार पर हमने दोयम दर्जा दे रखा है, भारत में यह भेदभाव केवल स्त्रियों के प्रति ही नहीं है। दलितों के लिए भी हमारा सभ्य समाज ईर्ष्या और कुंठा से ग्रस्त है! हाशिये के समाज या कमज़ोर समाज को ऊपर लाने या बराबरी का दर्जा देने की बात होगी, तो जो समाज इस व्यवस्था में फायदा उठता आ रहा है, ईर्ष्या करेगा ही! उस ईर्ष्या की परवाह करके क्या हम न्याय के लिए लड़ना छोड़ दें? लैंगिंग कटुता भी वंचित समाज यानी स्त्री नहीं लाती। पुरुष-जिसकी सुविधाएं छिन रही हैं, वह पैदा करता हैं।

स्वीडेन की स्त्रियों ने कहा कि हम खाना बनाते हैं, हमारा भी मूल्यांकन करो और वहां मूल्यांकन हुआ। वहां घरेलू स्त्रियां अपने हक की लड़ाई लड़ रही हैं। वे अपने घरेलू काम का मूल्यांकन और मुआवज़ा मांग रही हैं। हमारी स्त्री घर के सारे कपड़े धोती है, तो धोबी का काम करती है। खाना बनाती है, तो दाई का काम करती है। बच्चे पालती है तो आया का काम करती है और सौदा लाती है, घरेलू का काम करती है। पति के साथ रात को बिस्तर में सोती है, तो वेश्या का काम भी करती है। इतने सारे काम करने के बाद किसी स्त्री से पूछो कि क्या करती हो, तो कहेगी "कुछ नहीं!" वह नौकरी करेगी, तभी उस 'कुछ नहीं' को काम करना मानेगी। आज यदि वह इस 'कुछ नहीं' से 'कुछ' बनना चाहती है, तो घर में कटुता बढ़ जाती है। इसमें स्त्री का क्या दोष? वह क्या करे? वह तो अपना हक मांग रही है! इसलिए लैंगिग कटुता मुझे चिंतित नहीं करती है! बहुत बड़ी चुनौती है यह स्त्रियों के लिए। स्त्रियों को स्वीकार करके, अपने अधिकारों की लड़ाई लड़नी पड़ेगी! और यह उन पुरुषों के लिए भी चुनौती है, जो सामाजिक न्याय के लिए लड़ रहे हैं। पुरुष स्त्रियों को अधिकार दिलाने के लिए उनका साथ दें और समाज में बराबरी दिलायें तो कटुता दूर होगी। पुरुष भी कंधे से कंधा मिलाकर स्त्रियों के साथ चलें ताकि उस मुक्त स्त्री के साथ मिलकर एक नयी संस्कृति की रचना की जा सके और बराबरी की नई दुनिया कायम हो।

मनुष्य बेसिकली एक जानवर है और उसमें ईर्ष्या और छीनने की प्रवृत्तियाँ रहती हैं! सभ्य मनुष्य में ये प्रवृत्तियाँ नहीं होतीं! अगर पुरुषों को, सभ्य मनुष्य बनना है तो उन्हें इस कटुता और ईर्ष्या को त्यागना होगा!

उत्तर 7 : सोशल मीडिया से प्रचार बहुत हो जाता है, इसलिए लोग उसकी तरफ ज्यादा झुक रहे हैं! सोशल मीडिया से ज्यादा गंभीर लेखन नहीं हो सकता, मुझे ऐसा लगता है, उसके लिए पुस्तक पढ़ना बहुत जरूरी है! आप एकांत में पुस्तक पढ़ते हैं, तो उस पर कुछ सोचते हैं। कम्प्यूटर पर बैठकर पढ़ने या लिखने और पुस्तक पढ़ने या लिखने में बहुत अंतर है। लेकिन आज लेखक भी प्रचार चाहता है और प्रचार के लिए सोशल मीडिया का सहारा लेता है। प्रचार हेतु-वह भी इलीट समाज के प्रचार का यह सक्षम माध्यम जरूर बन रहा है। सोशल मीडिया कई बार अराजक भी हुआ है, अराजक इस मायने में कि-कई ऐसी बहसें हुई हैं, जो दुखद हैं! पहले सीनियर लेखकों के प्रति आदर होता था। जूनियर लेखक उनसे सीखने की कोशिश करते थे! आज बड़े-बड़े लेखकों पर सोशल मीडिया के माध्यम से आक्षेप लगाए जा रहे हैं! अरे इन सीनियर लेखकों ने भी तो अपने समय में बदलाव के लिए संघर्ष किया है, दिशा दी है। भले आज का समय उनसे भी आगे निकल आया है पर उनका निरादर तो नहीं करना चाहिए। किसी का आप के विचारों से मतभेद हो सकता है लेकिन अपनी बात तो तर्क पूर्ण तरीके से रखें। मन भेद की हद तक तो मत जाइये।

अनामिका पर ही बहस चलाई लोगों ने! मैं उसका सख्त विरोध करती हूँ! अनामिका ने कैंसर की पीड़ित एक औरत के बारे में कविता के माध्यम से अपनी संवेदनाएं व्यक्त कीं। उस पर बहस चली, जो अर्थपूर्ण नहीं लगी। गोष्ठियों में आमने-सामने बहस कीजिये, वह अधिक सार्थक और जीवन्त होती है। उन गोष्ठियों में जिन्हें कम्प्यूटर चलाना नहीं आता या जिनके पास कम्प्यूटर नहीं है, वे भी भागीदारी कर पाते हैं। कम्प्यूटर पर बहस केवल इलीट की बहस बन कर रह जाती है। सोशल मीडिया की बहस हमें किसी नतीजे पर नहीं ले जा रही। आपस में बैठकर जो बहस होती है, उससे संगठन बनता है। कहीं ऐसी बहसें चन्द लोगों का शगल न बन कर रह जाएं, इनसे इस खतरे की संभावना भी है।

उत्तर 8 : केवल स्त्री के नज़रिये से ही क्यों? यह तो स्त्री-पुरुष दोनों के लिए एक समान समस्या है। एक स्त्री के नजरिये से नहीं, एक मनुष्य के नज़रिये या एक लेखिका के नज़रिये से इस पर बात होनी चाहिये। ये सही है कि आज समाज में समय के अभाव के चलते लोगों के पास मिलने-जुलने का समय नहीं है! इसलिए लोग टेक्नोलॉजी का सहारा लेते हैं और सोशल मीडिया के माध्यम से बहुत सारे काम करते हैं। पहले वाला सोशल मीडिया का प्रश्न और ये प्रश्न दोनों एक दूसरे के कहीं जुड़े भी हैं और अलग भी!

हकीकत यह है कि पहले बहुत कम लोग लिखते थे। दरबारों या साहित्य प्रेमी धन्ना सेठों के द्वारा आयोजित साहित्य गोष्ठियों में साहित्य पनपता था या फिर लोक में। आज लेखक व पाठक गोष्ठियों में मिलते है। वहां एक-दूसरे को लोग जान पाते हैं। लेकिन अब लिखने वाले बहुत ज्यादा हो गए हैं! विमोचन होता है तो उसमें लोग जुट जाते हैं। गोष्ठियों में, जलसों में इनकी समीक्षा होती है, तो लोग जान जाते है कि फलां पुस्तक आई है और कैसी है! कई बार महँगी पुस्तकें लोग खरीद नहीं पाते! पहले भी अप्राप्त होती थीं पुस्तकें! कइयों की तो पांडुलिपियों पर ही चर्चा होती थी! गोष्ठियां होना लेखक और पाठक दोनों के लिए अच्छा है। प्रत्यक्षतः यह कोई बुरी बात नहीं लगती। लेकिन इसमें प्रायोजित प्रसार (Projected Publicity) का खतरा भी है, जो जेनुयिन रचनाओं को पछाड़ सकता है। स्तरीय लेखन अपने बलबूते लेखक के घर में, जिन्दा तो रह जाता है लेकिन जब उसे कोई पढ़ेगा ही नहीं, तो वह स्तरीय है या नहीं ये कोई कैसे जानेगा? जानने

के लिए पुस्तक का व्यापक रूप से पढ़ा जाना जरूरी है! और पढ़े जाने के लिए पुस्तक का सस्ता तथा उपलब्ध होना भी जरूरी है! सस्ता होने के लिए सरकार या प्रकाशकों के स्तर पर एक नीति निर्धारण की जरूरत होगी। वे ही पुस्तकों के दाम घटा सकते हैं। ये सारी इन्टरकनैक्टिड चीज़ें हैं! इसलिए शॉर्टकट करके लेखक व प्रकाशन गोष्ठियों में उसकी समीक्षा या विमोचन करा के लोगों को सूचना दे देते हैं। ये सब सूचना के आदान-प्रदान का एक ढंग है! और आज के भीड़-भाड़ के जमाने में यह जरूरी हो गया है! अच्छा है या बुरा मैं इस पर कोई कमैन्ट नहीं करुँगी। आप इसे नसैसरी ईविल (Necessary Evil) कह सकते हैं।

जैसे आज मोबाइल जरूरी हो गया है! रिक्शेवाले के लिए भी मोबाइल जरूरी है! कुछ लोग कहते हैं मोबाइल के ज्यादा इस्तेमाल से कान में कैंसर हो जाता है लेकिन फिर भी उसका इस्तेमाल होता है! बिजली जरूरी है! करंट लग जाने के डर से बिजली का इस्तेमाल तो बंद नहीं कर सकते! कहने का मतलब है विकल्पहीनता की स्थिति में किसी भी प्रक्रिया को एहतियात के साथ इस्तेमाल करना पड़ता है।

रही पुरस्कार की बात! इसमें कोई शक नहीं कि पुरस्कार भी एक जुगाडू तंत्र बन रहा है। मेरे ख्याल में पुरस्कार या तो उत्साह बढ़ाने के लिए अथवा अच्छी रचना के लिए देने चाहिए! आजकल लोग गुटबाजी करके भी पुरस्कार दे रहे हैं! इसके खिलाफ लड़ना पड़ेगा! पुरस्कार अपने में गलत नहीं होते, उन्हें देने वाले गलत हो सकते हैं। इसी तरह से गोष्ठी कराना, परिचर्चा कराना, विमोचन कराना, समीक्षा कराना...ये अपने में गलत नहीं हैं! इसका कौन इस्तेमाल करता है, कैसे इस्तेमाल करता है उस पर डिपेंड करता है! आज कि तारीख़ में ये सब जरूरी हैं! ये चुनौतियां हैं, हताशा नहीं है! स्त्री क्यों हताश होगी? वह भी उस चुनौती का मुकाबला करेगी! जब स्त्री बराबरी चाहती है, तो उसे हक के लिए लड़ाई लड़नी ही पड़ेगी-बराबर की चुनौतियां भी स्वीकारनी होंगी-स्त्री होने के नाते प्रिविलेज (Priveldge) नहीं।

उत्तर 9 : लगता है हमारी जिंदगी से ही हास्य और विनोद खत्म हो गया है। दरअसल हिंदी लेखन में हास्य इस हद तक नीचे गिर गया है कि कवियों और शायरों ने बीबी को भी हास्य की पात्र बना दिया। कवि सम्मेलनों और गोष्ठियों में कभी बीवी, तो कभी साली साला और कभी-कभी शौहर और ब्याह भी प्रायः हंसाने के विषय बनाकर प्रस्तुत किए जाते हैं। आज के हास्य और व्यंग्य में स्वाभाविकता नहीं रही। जबरन हँसाने की कोशिश की जाती है। कटाक्ष और व्यंग ऐसा हो जो हँसाये भी और दिल पर चोट भी करे! हँस कर बिखर नहीं जाए! आज हंस कर या हंसी में बिखरने वाला, हँस कर खत्म होने वाला साहित्य लिखा जा रहा है! शरद जोशी जी, परसाई जी, जनमेजय जी जैसा लेखन नए लोगों में नज़र नहीं आता। मंचीय लोगों में तो बिलकुल नज़र नहीं आता। वे तो केवल तालियां बजवाकर अपना या रिश्तों का मज़ाक उड़ाते हैं! हंसी कभी कभी खटकती जरूर है।

उत्तर 10 : हमारी कई योजनाएं हैं! हमारा संगठन है रमणिका फॉउन्डेशन! यह एक ट्रस्ट है। इसी की दूसरी अनुषंगी ईकाई है, आखिल भारतीय आदिवासी साहित्यिक मंच (All India Tribal Literary Forum (AITLF) उसके माध्यम से हम आदिवासियों की लोककथाएं, लोकगीत, शौर्यगाथाएं और समकालीन लेखन जमा कर अनुवाद करवा रहे हैं! कई किताबें छप गईं और कई आने वाली हैं! कई सेमीनार हुए हैं, उनकी दस्तावेज़ी रिपोर्टें तैयार हो रही हैं कि हमारे संगठन ने कितने आदिवासी दलित और स्त्री सम्मलेन करवाए-तब से लेकर आज तक आदिवासी, स्त्री, दलित साहित्य ने कहां तक कितनी यात्रा तय की इसका दास्तावेजीकरण भी हो रहा है। रमणिका फाउंडेशन ने साहित्य अकादमी के सहयोग से दिल्ली में 2 जून 2002 को संपन्न आखिल भारतीय आदिवासी लेखक सम्मेलन में आदिवासी-साहित्य का नामकरण किया था। उसमें नौ राज्यों के आदिवासी लेखक शामिल हुए थे। तब से दलित-साहित्य की तरह आदिवासी-साहित्य भी जाना जाने लगा है। इससे पहले आदिवासियों का साहित्य आदिवासी-साहित्य के नाम से नहीं जाना जाता था।

इधर 2003 से हम लोग एक परियोजना के तहत स्त्री-मुक्ति, स्त्री सशक्तिकरण की कथाओं का चालीस भाषाओं से हिंदी में अनुवाद भी करवा रहे हैं! उसमें आदिवासी महिलाओं के साथ-साथ हर जाति व वर्ग की, हर उम्र की महिलाओं की रचनाएं शामिल हैं।

हमारी एक वेबसाइट 'युद्धरत आम आदमी' की www.yuddhrataamaadmi.com के नाम से हैं। दूसरी रमणिका फाउंडेशन नाम से पुनः बनवाई जा रही है। युद्धरत आम आदमी की वेबसाइट पर पत्रिका के सारे अंक अपलोड हैं, ताकि शोधार्थी या पाठक पत्रिका को निःशुल्क डाउनलोड करके पढ़ सकें।

लेखन में मेरी दूसरी आत्मकथा छपने के लिए चली गई है और तीसरी आत्मकथा हजारीबाग से दिल्ली तक लिखनी शुरू की है। झारखण्ड के 17 आदिवासी कवि जो हिंदी में लिखते हैं की पाण्डुलिपि तैयार करके हम छपने के लिए भेज चुके हैं। भारत के और दूसरे आदिवासी कवि, जो हिंदी में लिखते हैं और ऐसे कवि भी, जो अपनी भाषा में भी लिखते हैं, हिंदी में अनुवाद करवा रहे हैं। अब तक हम टोटल 44 भाषाओं में अनुवाद करवा चुके हैं! 'हाशिए उलांघती औरतः कहानी', परियोजना के तहत हम कुल मिलाकर आठ खंड निकाल चुके हैं! बाकी 22 खंड अभी आने हैं। पांच भाषाओं के खण्ड आ चुके हैं। अभी तमिल बंगाली, मलयालम, नार्थ-ईस्ट की 15 भाषाओं की तथा उड़िया भाषा की कथाओं के हिन्दी अनुवाद के खण्ड मार्च 2015 तक आ जाएंगे। इधर मेरी दो कविता पुस्तकें भी आ रही हैं-'मैं हवा को पढ़ना चाहती हूँ' और 'कोयले की चिंगारी' के नाम से। मेरी रचनावली भी प्रकाशनार्थ जा चुकी है। मेरी कुछ किताबों के अंग्रेजी में अनुवाद हुए हैं, वे भी सम्पादित हो रही हैं। मेरा लेखन जारी है। हमारी संस्था के माध्यम से कहानियों, कविताओं, लोक-कथाओं, सृजन मिथकों, शौर्यगाथाओं, लिजिन्द्रियों यानी आदिवासी और लोक विरासत के संकलन, चयन, संपादन, अनुवाद व प्रकाशन का काम जारी है। एक आदिवासी लाइब्रेरी की स्थापना का प्रयास भी हो रहा है।n

मो. : 09312039505

ईमेल : ramnika01@gmail.com

n ममता कालिया

उत्तर 1 : आपने एक बहुत ज़रूरी सवाल उठाया है। पिछले दो दशकों में महिला लेखन का अतिरेक एक विस्फोट की शक्ल में सामने आया है। सभी विधाओं में स्त्रियों ने विपुल लेखन किया है बिना यह चिन्ता किये कि आलोचक उन्हें उठाते हैं या गिराते हैं अथवा बस उपेक्षा करते हैं। उनके लेखन में विषय के कोष्ठक टूटते जा रहे हैं, सेक्स, सेन्सेक्स, राजनीति, धर्मनीति ये सब उनके लेखन क्षेत्र में आते हैं। विषय व विधा के चयन में उन्होंने सदियों से ज़ंग लगे ताले तोड़े हैं।

उत्तर 2 : बिल्कुल नागवार लगता है। यह एक वाहियात विभाजन है।

उत्तर 3 : राजनीति और संस्कृति वे क्षेत्र हैं कि इनमें प्रवेश किए बिना इनकी कोठरी का काजल हाथ नहीं आता। आप स्वयं गिन लीजिये इन दोनों क्षेत्रों में महिलाओं की उपस्थिति का प्रतिशत क्या है।

उत्तर 4 : साहित्य और एन.जी.ओ. में यही अन्तर होता है। ज्वलंत सामाजिक सरोकारों की सैद्धांतिकी मात्र ज्ञात होने से वह सृजनात्मक कथासूत्र की पीठिका नहीं बन सकती। जिन रचनाओं में ऐसे सवालों का एजेंडा होता है, प्रायः वे विस्मरणीय और व्यर्थ सिद्ध होती हैं।

उत्तर 5 : पूर्व और पश्चिम दोनों छोरों पर मातृत्व एक घिसा-पिटा, तार-तार विषय है जिस पर कलम उठाने के पूर्व सोचना पड़ता है। पेशेवर नारीवादियों की यह धारणा नितांत अमानवीय है कि पुरुष मातृत्व को भी अपना मोहरा बना लेता है।

उत्तर 6 : मुझे समाज में फैलती यौन हिंसा और हमलों के समान्तर व्यथित और चिन्तित करते हैं। यह तब है जब हमारा दावा है कि साक्षारता और शिक्षा का प्रतिशत बढ़ गया है। पुरुष वर्ग में महिलाओं की सक्रियता और सजगता, कार्यक्षमता और कामयाबी के कारण असुरक्षा की भावना गहरे बैठ गई है। इस पर लेखिकाओं ने लगातार लिखा है। यह एक लम्बा अभियान है। इसे जारी रखना होगा।

उत्तर 7 : सोशल साइट्स पर कोई कालजयी साहित्य पढ़ने के लिए नहीं जाता। ज़्यादा से ज़्यादा उसे स्फुट लेखन कहा जा सकता है। मेरा मत है कि सोशल संजाल पर किया गया लेखन कभी भी गम्भीर लेखन का स्थानापन्न नहीं बन सकता।

उत्तर 8 : सार्थक समर्थ तथा स्तरीय लेखन ने कभी भी बाज़ार की शर्तों पर समझौता नहीं किया। एक अच्छी रचना की जिजीविषा और जीवनरेखा सशक्त होती है उसे न कोई दबाव मिटा सकता है न हटा। पाठक को इधर बहुत बुद्धू मान कर प्रचार जगत अपने हथकंडे बना रहा है। जलसा, विमोचन, चर्चा-परिचर्चा अक्सर फिसड्डी किताबों के लिये किये जाने वाले आयोजन हैं जिनका खर्च भी मूर्ख व महत्वाकांक्षी लेखक उठाता है। गम्भीर लेखक इस भीड़ से अलग रह कर अपना काम करता है।

उत्तर 9 : क्योंकि पुरुषों में सेंस ऑफ ह्यूमर की कमी है, स्त्रियों ने अपनी विनोदप्रियता को दबा रखा हुआ है। इस्मत चुगताई और कृष्णा सोबती ने अनेक बार अपने विट का रचनात्मक प्रयोग किया है। कटाक्ष और व्यंग्य बहुत सी साथी रचनाकारों के सम्पूर्ण कृतित्व में हैं, मन्नू भंडारी, मृदुला गर्ग, सूर्यबाला, दीपक शर्मा, गीताजंलिश्री।

उत्तर 10 : एक उपन्यास से भिड़ रही हूँ। वक्त की कमी से चिढ़ रही हूं अपनी अराजकता से लड़ रही हूं। ▫

मो. : 09212741322

ईमेल : mamtakalia011@gmail.com

n सुधा अरोड़ा

उत्तर 1 : अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता लोकतंत्र की नींव है और यह हमारा मौलिक संवैधानिक अधिकार है लेकिन उसके अपने वृत्त और दायरे हैं। सामाजिक संरचनाओं, वर्चस्वों और सांस्कृतिक रूपों से ये तय होते हैं।

स्त्री हो या पुरुष, आपकी अभिव्यक्ति जबतक सत्ता में कोई खलल पैदा नहीं करती, वह स्वीकार्य है। जहां यह अभिव्यक्ति सत्ता को चुनौती देती है, अलिखित प्रतिबंध हमारे सामने आ खड़े होते हैं। आप जाति, वर्ग, वर्ण विभेद, सांप्रदायिकता पर चोट करें तो आपको कठघरे में खड़ा कर दिया जाता है। मीना कंदसामी ने 2012 में बीफ़ फेस्टिवल के बारे में लिखा तो उसे रेप और मार डालने की धमकियां दी गईं। सलमान रश्दी और तसलीमा नसरीन का लेखन आखिर प्रतिबंधों के दायरे में क्यों आ जाता है। सोनी सोरी और भंवरी देवी को न्याय आखिर क्यों नहीं मिलता?

लेखन और साहित्य के क्षेत्र में देखें तो अब वह समय नहीं रहा जब स्त्रियां अपना नाम छिपाकर फ़र्ज़ी नामों से लिखा करती थीं या फिर कविताओं में बिंबों और उपमाओं में छिपा कर अपनी पीड़ा को अभिव्यक्त करती थीं। हमारी पीढ़ी तक आकर समय बदला पर एक

सेल्फ़ सेंसरशिप हमारे सामने बनी रही-हम कुछ भी ऐसा लिखने से बचते थे जो परिवार के किसी भी सदस्य को नागवार गुज़रे।

कुछ मध्यवर्गीय परिवारों में आज भी इस तरह की बंदिशें होंगी, पर एक बड़ा तबका बेखौफ़ लिख रहा है। आज एक स्त्री को अभिव्यक्ति के लिये न सिर्फ अवसर मिल रहे हैं बल्कि उसे रियायत भी मिल रही है। उसके लिये छपना, एक पुरुष लेखक से ज़्यादा, आसान है। लेकिन एक विसंगति पर नज़र डालें-आज स्त्रियों को अपनी तथाकथित यौनिकता पर लिखने की पूरी आज़ादी है। यही नहीं, इस अभिव्यक्ति पर पुरुष वर्ग की उसे भरपूर सराहना और प्रोत्साहन भी मिलता है। संपादक-प्रकाशक वर्ग में पुरुषों का आधिपत्य है। आप अपनी अभिव्यक्ति में पितृ सत्ता के सही ठिकानों पर सटीक चोट करिये, वह तथाकथित प्रगतिशील और बौद्धिक वर्ग को भी स्वीकार्य नहीं होगा। लेकिन उन्हें लेखिकाओं के खुलेपन से लिखने पर कतई कोई आपत्ति नहीं है। ऐसे खुलेपन को ही तो पुरुषवर्ग प्रोमोट करना चाहता है। आपत्ति उन्हें तब होती है जब उनके अपने आधिपत्य स्थल पर निशाना साधा जाये। ऐसी अभिव्यक्ति उनके गले नहीं उतरती।

ऐसे अधिपतियों को प्रसन्न करने के लिये, थोथी बगावत के चलते, अपने लेखन से ऐसी सनसनी फैलाना कि आप दो चार कहानियां लिखकर ही अपने खुलेपन के लिये चर्चित हो जायें, युवा महिला लेखन के लिये यह रवैया ठीक नहीं है। भारतीय समाज में स्त्री की ज़मीनी सच्चाइयों और समस्याओं से ऐसे युवा वर्ग की कोई वाकफ़ियत ही नहीं है।

अफगानी लेखक और फिल्म निर्देशक अतीक रहिमी की किताब याद आ रही है-संगे सबूर (सब्र का पत्थर) जिसमें एक महिला कोमा में गये अपने मृत पति के सामने उन सारी बातों का खुलासा करती है जो वह उसके सामने कभी नहीं कह पाई। हमें इस अनकहे को कहना है। उन बातों को क्या कहना जो न बदलाव को रेखांकित करें, न बदलाव की बात करें बल्कि यथास्थिति को और मज़बूत बनायें।

उत्तर 2 : वैसे तो कला के किसी भी प्रकार को जाति, वर्ग, वर्ण, लिंग, समूह की सीमाओं में बांधकर नहीं देखा जाना चाहिये। मानव जीवन और उसकी विसंगतियों और विशिष्टताओं का आकलन हर तरह के घेरे और वाद से परे है। अच्छा साहित्य मानव जीवन के कई पहलुओं को अपने में समेटकर चलता है। इसे अगर दलित, आदिवासी, ग्रामीण, महानगरीय, स्त्री के खांचों में रखकर जब देखा जाता है तो सिर्फ़ इसलिये कि इस विभाजन से, हमें एक बड़े परिदृश्य को समझने में आसानी होती है।

आज मुझे स्त्री लेखन के टैग से बिल्कुल कोई असुविधा या परहेज़ नहीं है लेकिन एक वक्त था जब स्त्री लेखन के खांचे में डाला जाना मुझे भी अपना अपमान लगता था। कोई महिला लेखन विशेषांक का आयोजन होता तो मैं उसमें कहानी भेजना नहीं चाहती पर यह उस समय की नासमझी और अपने को लेखिका समझे जाने के थोथे दंभ का दौर था। अब मैं असहज महसूस नहीं करती। जब अपने पर स्त्री होने के ताप और शोलों को झेला तब समझ में आया कि स्त्री की यातनाओं और विसंगतियों को कोई पुरुष तो क्या, स्वयं स्त्री भी नहीं लिख सकती अगर वह स्वयं उन आग के घेरों में से नहीं गुज़री है। फिर एक पुरुष कितनी भी संवेदनशीलता दिखाये, वह स्त्री की कचोट और पीड़ा की सिर्फ़ कल्पना ही कर सकता है, प्रामाणिक बयान नहीं कर सकता। स्त्रियां भी नहीं कर सकतीं अगर उनमें पर्याप्त संवेदना नहीं है।

आखिर स्त्री लेखन से परहेज़ क्यों-कि हमें खानों में मत बांटिये, कि हम पुरुष लेखन के समकक्ष खड़े हैं। स्त्रियों की तकलीफ़ पुरुषों से काफी अलग है और उसका दारोमदार हमारे सोशल सिस्टम पर है। इस पर महिला रचनाकार इंगित नहीं करेगी तो कौन करेगा। महिला लेखन को अलग से समझे जाने की ज़रूरत है। मुझे इस बात की बेहद खुशी है कि आज जगह जगह महिला अध्ययन केंद्र और डॉक्यूमेन्टेशन सेंटर बन रहे हैं। यह आज के समय की मांग और ज़रूरत है।

उत्तर 3 : अपने समय में अक्क महादेवी, जूनी, ललद्यद, मीराबाई ने विद्रोह किया। सिमोन द बुवा ने स्त्री होने की विसंगतियों को रेशा रेशा समझा और उसका विश्लेषण किया। आज का आधुनिक समय हमें ऐसा लगता है कि स्त्रियों को आज़ादी दे रहा है और उनके पक्ष में खड़ा है पर दरअसल ऐसा है नहीं। धर्म और जाति, खाप के नाम पर, राजनीति और संस्कृति उसे नियंत्रित कर रही है। मोबाइल, कपड़े, प्रेम विवाह पर निर्देशों की फ़ेहरिस्त दी जा रही है। अफसोस इस बात का है कि एक ऐसा समूह अस्तित्वमान है जिसने अपने अनुरूप चलने वाली स्त्रियों की एक बहुत बड़ी जमात पैदा की। उसके सारे व्यवहारों को निजी स्तर पर तो स्वतंत्र कर दिया लेकिन सांस्थानिक स्तर पर नियंत्रण में रखा। मसलन एक युवा लड़की एक सीमा तक अपने मन के कपड़े तो पहन सकती है लेकिन सत्ता में अपने पर हुए अन्याय का विरोध नहीं कर सकती। बुनियादी सवाल वही है कि विषम आर्थिक विभाजन में आज लड़कियों की जमात छूट, आज़ादी और अलिखित प्रतिबंधों, आचारसंहिताओं के दोराहे के एक ऐसे चक्रव्यूह में फंसी है कि वह अपनी स्थिति को पहचान नहीं पा रही। यह एक कठिन संक्रमण काल है।

लेखिकायें इससे मुंह फेरे नहीं खड़ी हैं पर हर लेखिका की अपनी सीमाएं हैं। वह अपने अनुभवों के दायरे के भीतर ही रचना कर सकती है। और कई विषय रचना के नहीं, बहस, आलेख और विचार के विषय होते हैं। उन पर कहानी किस्से नहीं लिखे जा सकते। राजनीतिक सामाजिक आर्थिक विसंगतियों पर वैचारिक आलेख भी लिखे जाने चाहिये। आम तौर पर साहित्य में ऐसे चिंतनपरक आलेख बहुत क्लिष्ट और दुरूह भाषा में ही लिखे जाते हैं और आम पाठकों तक उनकी पहुंच नहीं होती।

उत्तर 4 : इन विषयों पर कथा साहित्य में लेखिकाओं ने कलम ही नहीं चलाई, ऐसी बात नहीं है। मन्नू भंडारी का महाभोज, मृदुला गर्ग का अनित्य, ममता कालिया का दौड़, अनीता भारती की कुछ कहानियां और भी बहुत कुछ जो शायद मैंने नहीं पढ़ा। बहुत से विषय छूट ज़रूर गये हैं पर यह भी सच है कि इनमें से कई विषय बहस, परिचर्चा और आलेखों के विषय हैं। रचनात्मक लेखन सायास नहीं किया जाता। संवेदनात्मक स्तर पर अगर कोई विषय आपको उद्वेलित नहीं करता तो हाथ में एक थीम थमाकर आप उसपर रचना नहीं कर सकते।

उत्तर 5 : मातृत्व के प्रति भावुक सम्मोहन को बढ़ावा देना सिर्फ़ मर्दवादी राजनीति का नहीं, हमारे पूरे परंपरागत समाज का एक

तयशुदा पैटर्न है जिसे बदलने और समझने में लंबा समय लगेगा। मातृत्व के महिमामंडन और त्रासदी पर ही मेरी कहानी 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' है जिसपर वरिष्ठ रचनाकार-चिंतक मुद्राराक्षस जी ने एक लंबा चिंतनपरक आलेख लिखा है और इस मुद्दे पर विस्तार से चर्चा की है-''विचित्र बात है, सदियां बीतती है स्त्री को यह सवाल पूछते कि जीने का अर्थ क्या है और सदियों से एक ही उत्तर वह सुनती है-मां बनना। आखिर मातृत्व महिमामंडन के इस अतिरेक का रहस्य क्या है? महाभारत सहित सभी धर्म पुस्तकों, धर्म-शास्त्रों में स्त्री को लेकर घोर निंदनीय बातें कही गई है और अक्सर खासी अश्लील भाषा में भी। ऐसी स्थिति में मातृत्व के महिमामंडन के अतिरेक का कारण क्या हो सकता है? इसका कारण देख पाना ज्यादा कठिन नहीं है। पुरुष निरंतर यह कोशिश करता रहा कि स्त्री-पुरुष निर्भरता को अपना संस्कार बना ले, वह एक वेश्या की ज़रूरत भी पूरी करे और निःशुल्क दासता भी करे, गाय, बकरी या कुतिया की तरह घर से बंधी रहे और मर्द की ज़रूरत के अनुसार पुत्र पैदा करने वाली एक मशीन बनी रहे। इस दयनीय स्थिति में स्त्री संतुष्ट और खुश भी रहे। मां अपनी बेटी को, बेटी अपनी बेटी को इसी जीवन पद्धति का उपदेश भी देती रहे। हिन्दू धर्म ने तो स्त्री की इस भूमिका का आश्चर्यजनक व्याख्यान किया है।''

मातृत्व स्त्री के जीवन की एक बड़ी नियामत होने के साथ-साथ सबसे बड़ी बेड़ी है। एक स्त्री में ही प्रजनन शक्ति है, वह एक शिशु को जन्म देती है और उसे पालती पोसती है। लेकिन जब उसे इसी शक्ति के साथ इस कदर बांध दिया जाये कि वह उसे ही अपना प्राथमिक और सर्वोच्च काम मानने लगे तब समस्याओं का उठ खड़ा होना स्वाभाविक है। प्रकृति ने भी उसे मातृत्व की सूक्ष्म संवेदनाओं और भावनाओं से लैस किया है। इसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है पर उसके मातृत्व के प्रति सम्मोहन को जब उसी के खिलाफ़ हथियार बनाकर इस्तेमाल किया जाये तो उसका सामाजिक परिस्थितियों में ध्वस्त हो जाना स्वाभाविक है। पूरे विश्व में असंख्य उदाहरण हैं जहां स्त्रियां सिंगल पेरेंट का दायित्व निभा रही हैं। भारत में निम्न कामकाजी वर्ग से लेकर मध्यवर्ग तक आपको हर तीसरे घर में स्त्री टूटी हुई या साथ रहकर भी बिखरी हुई शादी में सिर्फ़ अपने कोख से जने बच्चों के भावनात्मक लगाव के तहत अपनी सारी इच्छाओं-आकांक्षाओं को होम करती हुई अपने बच्चों को मां और पिता दोनों का रोल निभाती हुई एक स्वस्थ माहौल देने की जद्दोजेहद से जूझ रही है। पिता या तो किसी दूसरी औरत में लिप्त है या अपने कॅरियर और महत्वाकांक्षाओं के तहत अपने ही बच्चे में कोई दिलचस्पी नहीं लेता। बच्चे अन्ततः एक मां का सरोकार बनते हैं।

हाल ही में एक प्रख्यात महिला निर्देशक तहमिनेह मिलानी की एक ईरानी फिल्म द फ़िफ़्थ रिविज़न (The fifth revision) मातृत्व के मसले को बेहद खूबसूरती से उठाती है। एक ज़हीन, हर विषय में जीनियस, कॉलेज की एक खूबसूरत छात्र किस तरह परिस्थितियों की लगातार शिकार होती चली जाती है और अन्ततः एक ग़लत शादी में पड़ने के बाद और दो बच्चों की मां बनने के बाद अपना सब कुछ भुलाकर किस तरह उन बच्चों को सही शिक्षा और अच्छे संस्कार देने के लिये, अपने पति की मौत के बाद, बच्चों की कस्टडी पालने के लिये बदहवास सी पूरी कायनात में एक छत और सुरक्षा तलाशती भटकती है-इसका हरेक दृश्य हमारे रोंगटे खड़े कर देता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि स्त्री भावना और संवेदना से परिचालित होती है-मातृत्व जिसका प्रमुख धारक है। पुरुष अपने वर्चस्व और अहंकार के चलते इसी भुरभुरे कमज़ोर पक्ष पर वार करता है। विश्व भर में तलाक के बाद बच्चों की कस्टडी के लिये चलते मुकदमे एक बच्चे को किस कदर खिलौना बनाकर खेलते हैं, अमानवीयता का यह बहुत सटीक उदाहरण है जिसमें स्त्री इस शतरंज की चालों का शिकार होती रहती है।

उत्तर 6 : पुरुष चाहे कितना भी आधुनिक और प्रगतिशील हो जाये, उसके भीतर एक सामंती पुरुष गहरी जड़ें जमाये बैठा है जो उसकी सोच पर अंकुश ही नहीं लगाता, उसे संकुचित भी करता है। असंख्य कॉमरेड पत्नियों की शिकायत है कि उनके कॉमरेड पति, अपने ही सिद्धांत और स्थापनाओं से परे, सिर्फ पति होकर रह गये, कॉमरेड (यानी सहयोगी) नहीं रहे।

घरेलू हिंसा और मानसिक प्रताड़ना पर मैंने बहुत लंबे आलेख लिखे हैं बल्कि मेरी एक पूरी किताब ही इस मुद्दे पर है-एक औरत की नोटबुक। उसकी बातों को फिर दोहराना नहीं चाहती। यह ज़रूर कहूंगी कि सारा असामंजस्य और असंतुलन सामाजिक व्यवस्था में ही है जिसके कारण पुरुष अपनी वर्चस्ववादी भूमिका से बाहर आकर सोच ही नहीं पाता। बचपन से ही उसे सत्ता, ताकत और स्त्री से बेहतर होने की घुट्टी इस कदर पिला दी जाती है जिसका असर, बालिग होने के बाद भी, उसके ज़ेहन में बरकरार रहता है और अन्ततः अपने और अपने परिवार के लिये वह ऐसा त्रासद माहौल खड़ा कर देता है जो ध्वंस की ओर ही ले जाता है।

संगठित दमन चक्र कमज़ोर नहीं पड़ा है। इसी के चलते लड़कियों और स्त्रियों ने अपनी चुप्पी तोड़ी है। बदला सिर्फ यह है कि इस चुप्पी के टूटने से हमारा ध्यान इस ओर गया है। जो पहले दबा-ढका था, अब खुलकर सामने आया है। यह सब कुरीतियां, स्थितियां दशकों से चली आ रही हैं। पर अब हमने इसे साहित्य का हिस्सा बनाया है।

ये स्थितियां निश्चित रूप से चिंता का विषय है इसलिये इन पर रचनात्मक लेखन नहीं, पर वैचारिक लेखन मैंने भरसक किया ही है। मुझे 16 दिसम्बर 2012 का निर्भया दामिनी कांड याद आता है। 29 दिसम्बर को उसकी मृत्यु के बाद जब तक मैंने उस पर अपनी आपत्ति दर्ज़ नहीं कर ली, मैं कोई और काम कर नहीं पाई। ''अब हम आंसुओं से नहीं, अपनी आंख के लहू से बोलेंगे''-शायद कविता के मापदंड पर खरी उतरने वाली कविता न हो पर इसे जिस तरह पत्र-पत्रिकाओं ने बार बार उठाया, उदयपुर के एक नुक्कड़ नाटक में भी इसके अंशों का इस्तेमाल किया गया-साबित करता है कि साहित्य को सामाजिक विसंगतियों से सीधे मुठभेड़ करनी ही होगी।

इसी तरह पिछले साल बांद्रा टर्मिनस पर प्रीति राठी पर एसिड अटैक हुआ और एक महीने बाद उसने दम तोड़ दिया, इस हादसे ने मुझे बहुत विचलित किया और जब तक मैंने एक लंबा आलेख-एसिड अटैक : प्रेम की प्रतिहिंसा नहीं लिख लिया मैं बेहद परेशान रही।

हाल ही में सुनंदा पुष्कर की आत्महत्या ने मुझे बहुत बेचैन कर दिया पर अपनी भावनाओं पर ज़्यादा प्रहार करना अपने लिये भी खतरा साबित हो सकता है इसलिये मैंने अपनी कलम को उधर का रूख करने से रोके रखा। आज का समय हमें दरख़्तों, चांद-सितारों, हवाओं-घटाओं के बीच रूमानी किस्म की चीज़ें लिखने की मोहलत कहां देता है।

पर ऐसे मुश्किल समय में भी कुछ रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में बारीकी से प्रेम की संवेदना को बचा रखा है तो यह काबिले तारीफ़ है। मैंने तो अब तक सिर्फ़ एक प्रेम कहानी लिखी है-उधड़ा हुआ स्वेटर और वह भी शुद्ध अर्थों में प्रेम कहानी नहीं है।

उत्तर 7 : सोशल मीडिया इस निगाह से ज़रूर प्रभावी है कि आज लेखकों को संपादकों की बाट जोहने की बहुत ज़रूरत नहीं रह गई है। अपनी रचनात्मक प्रतिभा के लिये उनके पास प्रभावी विकल्प है। कई जगहों पर सोशल मीडिया लेखन से ज्यादा प्रमोशन का काम कर रहा है। पर यह माध्यम जितना भी सक्रिय हो पर गंभीर लेखन का विकल्प बनने में इसे समय लगेगा।

उत्तर 8 : पूरे विश्व में इसके उदाहरण मौजूद हैं कि कई बार एक लेखक के जाने के बाद उसकी बेहद महत्वपूर्ण अप्रकाशित रचनाएं सामने आई हैं और वे क्लासिक और कालजयी साबित हुई हैं। पहले भी पल्प और ट्रैश खूब लिखा गया है और खूब बिका भी है। अच्छे साहित्य की परख के लिये अच्छे प्रकाशक, समझदार संपादक और ज़हीन पाठकों का होना बहुत ज़रूरी है। इससे भी ज़्यादा एक ऐसे जागरूक समाज की ज़रूरत है जो ईमानदार रचनात्मक अभिव्यक्ति की कद्र करना जानता हो।

आज तो दिशाभ्रम देने वाले संपादकों, प्रकाशकों और समीक्षकों की पूरी जमात खड़ी हो गई है। रचनाकार होने का मतलब सिर्फ़ अपना परचम लहराना रह गया है। सब कुछ महत्वाकांक्षा की भेंट चढ़ गया है। इसलिये आपका सवाल बल्कि कमेंट और आपकी चिंता बहुत सही और सटीक है। हताशा होना स्वाभाविक है। आज के समय में वैसे भी पूरी सामाजिक संरचना गड़बड़ा गयी है। एक पुस्तक विमोही पीढ़ी तैयार हो गई है जो सिर्फ़ नेट और गूगल देखती है। लायब्रेरी में छात्र जाते ही नहीं हैं। किताबें अलमारियों में बंद पड़ी रहती हैं। किताबों की दूकानें बंद हो गयी हैं। आंखों के लिये दूसरे मोहक विकल्प मौजूद हैं जो दिमाग़ को कोई खुराक नहीं देते। आज बच्चों को पढ़ने के संस्कार ही नहीं मिलते हैं। घर से लेकर विश्वविद्यालयों तक परिदृश्य पूरी तरह बदल गया है।

एक समय था जब हमारी किताब जिस प्रकाशन से छपती थी, वे प्रकाशक ही हमें डाक से समीक्षाओं की ज़ेरॉक्स भेजा करते थे। न हम पत्रिका के संपादक को जानते थे, न समीक्षक को। आज अखबार और पत्रिकाएं लेखक को ही कहती हैं कि अपनी किताब की समीक्षाएं करवा के भेजें। ऐसी स्थितियां हमारे समय में अकल्पनीय थीं।

मैंने पिछले लगभग पांच दशकों में अपनी एक भी किताब का कभी विमोचन नहीं करवाया, न कभी चर्चा रखवायी। अगर लेखक यह सब करने लगेगा तो लिखेगा कब? उसकी सारी ऊर्जा तो मार्केटिंग में ही चुक जाएगी।

'कथादेश' अक्टूबर 2014 के अंक में मैंने यह लिखा था-ज़ाहिर है, लेखन का अब कोई ठोस मानक नहीं रह गया है, जिसका लाभ उठाकर फूहड़ और सनसनीखेज लेखन के जरिये रातों रात चर्चित होने वाले रचनाकारों की बाढ़ आई हुई है। आज के समय में भी कुछ लोगों का पिछड़ जाना इस लिहाज से कोई अनहोनी बात नहीं है। लेखन की दुनिया अब ऐसे लोगों से भर चुकी है, जिनका लेखन भले ही औसत दर्ज़े का हो लेकिन वे जोड़-तोड़ के महारथी हैं और वक्त पर फायदे के लिए किसी को भी सीढ़ी बना सकते हैं। चापलूसी की दुनिया में यही सिक्का कारगर होता है। अर्थशास्त्रीय कथन के अनुसार नकली सिक्के असली सिक्कों को चलन से बाहर कर देते हैं। ब्रिटेन के एक नामी अर्थशास्त्री के इस कथन के पीछे एक इतिहास है। किसी जमाने में ब्रिटेन में नकली और पुरानी करन्सी का वर्चस्व बढ़ गया और इतना बढ़ गया कि मुद्रा का अवमूल्यन रोकना असंभव होने लगा। गहन शोध के बाद पता चला कि वहाँ लोगों ने असली सिक्कों को गलाकर गहने आदि बनवाना शुरू कर दिया है। जब सिक्कों में सोने की मात्रा घटी तो मूल्य तेजी से गिरने लगा। लगभग यही हाल आज हिन्दी साहित्य का हो गया है।

आज मार्केटिंग का ज़माना है। ज्योतिकुमारी नाम की लेखिका (!) को बेस्ट सेलर घोषित किया गया तो यह किसकी करामात थी-एक कुंठाग्रस्त संपादक की। दोयम दर्ज़े की किताबें अच्छे प्रोमोशन और मार्केटिंग के चलते सम्मान और पुरस्कार भी पा लेती है जबकि अच्छी किताबें मुंह ताकती रह जाती हैं। सनसनी फैलाने वाले लेखन को साहित्य का तमगा दिया जा रहा है।

मुझे एक बहुत पुरानी बात याद आ रही है। एक शोध संस्थान में साबुन की क्वालिटी की जांच हो रही थी। पाया गया कि क्वालिटी के लिहाज़ से सबसे बढ़िया साबुन है -मैसूर का चंद्रिका साबुन। लेकिन सबसे ज्यादा चलता था-लक्स जिसे कोई फिल्म तारिका इस्तेमाल नहीं करती थी पर महंगी कीमत पर विज्ञापन ज़रूर दे देती थी। लगता था जैसे पूरे हिन्दुस्तान में एकमात्र सौंदर्य साबुन लक्स या पिअर्स है।

उत्तर 9 : स्त्री लेखन में सपाट रूप में हास्य विनोद होना कतई ज़रूरी नहीं है। हास्य और विट में फर्क है। विट के बिना रचना में पठनीयता नहीं आती। कहानियों में ही नहीं, किसी भी गद्य रचना में-वह चाहे संस्मरण हो या आलेख यह विट मौजूद होना निहायत ज़रूरी है। अच्छी रचनाओं के शिल्प में आप इसे अलग से महसूस किये बिना भी पाते हैं। कृष्णा सोबती की 'ऐ लड़की' कहानी लें, पूरे संवाद किस कदर कसे हुए हैं और गहराई में जाकर कहानी को परखें तो उसके छिपे हुए अर्थ सामने आते हैं। मन्नू भंडारी की कहानी स्त्री सुबोधिनी एक

गंभीर विषय को इतने मजाहिया ढंग से प्रस्तुत करती है कि पढ़ते हुए भी आप हंस पड़ते हैं। इसी कहानी पर आप हिमानी शिवपुरी की एकल प्रस्तुति देखें तो कहानी में छिपा तंज हंसी हंसी में खूबसूरती से उजागर हो जाता है। मन्नू जी की कई कहानियों में जैसे त्रिशंकु या नायक, खलनायक, विदूषक में भी हास्य व्यंग्य की भरपूर छटा है।

ममता कालिया तो विट की मास्टर हैं। हालांकि कई बार इसकी अति उन्हें चुटकुलेबाजी की सीमा पर पहुंचा देती है। मृदुला गर्ग की कहानियां बल्कि उनके पूरे लेखन में ही कटाक्ष की तीखी शब्दावली है। सूर्यबाला को हम कैसे भूल सकते हैं। सीधे सीधे हास्य-व्यंग्य और कटाक्ष लिखने पर उनका एकाधिकार है।

मैंने भी कहानी के कथ्य के लिहाज़ से अपनी भाषा में 'हास्य-विनोद' का तंज दिया है। सात सौ का कोट और बोलो, भ्रष्टाचार की जय ऐसी ही कहानियां हैं। इधर की दो कहानियों-'राग देह मल्हार' और 'भागमती पंडाइन का उपवास' में खास तौर पर एक नया प्रयोग किया और गंभीर विषय को चुहलबाजी करते हुए आंका। मेरे लिये यह मुश्किल काम था पर यह एक चुनौती भी थी कि आंसू बहाऊ विषय की गंभीरता भी बनी रहे और इतनी लंबी कहानी पढ़ने में ऊब भी न हो। इस कहानी को पढ़ने के बाद मैत्रेयी पुष्पा का फोन आया-सुधा, तुम्हारी कहानी पढ़कर मैं पूरा वक्त हंसती ही रही और बार बार राजेंद्र जी को बताती रही तो उन्होंने कहा कि सुधा को फोन करो न, मुझे क्यों बता रही हो। दिल्ली की शोभा मिश्रा ने आधी ही कहानी के बीच में कहा-मैं अपनी हंसी रोक नहीं पा रही थी तो सोचा आधी में ही आपको फोन तो कर लूं। लेकिन ऐसा विटी शिल्प मैं कहानी 'उधड़ा हुआ स्वेटर' या 'बुत जब बोलते हैं' में नहीं लिख सकती थी। हर कहानी के कहन के अनुरूप कसाव होता है और उसमें भाषा की अपनी स्पेस होती है।

नई पीढ़ी की लेखिकाओं में आकांक्षा पारे काशिव और इंदिरा दांगी की भाषा में ज़बरदस्त ह्यूमर है। दरअसल यह विट ही आपके लेखन के शिल्प पक्ष को समृद्ध करता है वर्ना कहानियां अपठनीय होकर रह जायें। कहानियों में पठनीयता इस विट और ह्यूमर के माध्यम से ही आती है।

उत्तर 10 : बेहद आलसी हूं मैं। योजना बनाकर काम नहीं करती। आज तक मांग पर मैंने कोई चीज़ नहीं लिखी। हां, संपादक के स्नेहपूर्ण आग्रह से कई बार अधूरी रखी चीज़ें पूरी हो जाती हैं जैसे विजय राय जी के मई से लेकर अक्टूबर 2014 तक लगातार आग्रह ने यह मुश्किल कहानी 'बुत जब बोलते हैं' मुझसे लिखवा ही ली।

इधर मुझे फ़िल्म और धारावाहिकों का माध्यम भी खींच रहा है। अपने कामों से फ़ुर्सत पाते ही मुझे इस माध्यम के लिये ज़रूर लिखना है पर अब उम्र का तकाज़ा है-लिखने के सपने और स्वास्थ्य के यथार्थ में रस्साकशी चलती रहती है। बहुत कुछ चाहते हुए भी कर नहीं पाती। ▫

मो. : 09757494505
ईमेल : sudhaarora@gmail.com

n नीला प्रसाद

उत्तर 1 : आपके प्रश्न के पहले वाक्य पर ही ठिठक गई। कई बार कहे जा रहे से सहमति बनाना मुश्किल लगने लगता है। मुझे तो यह लगता है कि बराबरी से जीने की आजादी सबसे बड़ी आजादी है, अभिव्यक्ति की बराबरी जिसका एक घटक है। अभिव्यक्ति की बराबरी जीवन में बराबरी ले आए, यह नहीं भी हो सकता है। हां, अभिव्यक्ति की बराबरी यदि मिल गई हो, तो जीवन मनलायक जी पाने की संभावना के द्वार खुल सकते हैं। यहां यदि अभिव्यक्ति की बराबरी को बराबरी से लेखन की आजादी से जोड़ा जा रहा हो, तब भी मेरी मान्यता यही रहेगी। अभिव्यक्ति की बराबरी स्त्री को मुक्त या आजाद नहीं करती, उसका जीवन नहीं बदलती, इसीलिए उसे अंतिम आदर्श कहना ज्यादती है।

आज स्त्रियां भी प्रचुर मात्र में रच रही हैं पर इसका सीधा संबंध अभिव्यक्ति के समान अवसरों से नहीं है। पहले तो यह कि स्त्रियां प्रचुर मात्र में लिख रही हैं-यह अपने आप में ही भ्रामक हो सकता है। क्या पुरुषों के मुकाबले स्त्रियों के लेखन का प्रतिशत बहुत ज्यादा है? या कि 25-50 वर्ष पहले की तुलना में अधिक स्त्रियां लिखने लगी हैं? इसका संबंध अभिव्यक्ति की आजादी पा लेने से है या बढ़ती शिक्षा दर के साथ अभिव्यक्ति की काबिलियत पा लेने से? क्या लेखन की चाहत रखने वाली हर स्त्री आज इस स्थिति में है कि काबिलियत के बावजूद वह मनचाहा लिखने को स्वतंत्र हो? मुझे तो ऐसा नहीं लगता। परिवार, परवरिश और परिस्थितियां आज भी स्त्री को मनचाहा रचने से रोकती हैं। सिद्धांत रूप में कुछ भी लिखने की आजादी होते हुए भी व्यावहारिक तौर पर वास्तविक आजादी नहीं। साथ ही इस सच को दरकिनार करना भी मुश्किल है कि आजादी के उपयोग की काबिलियत भी पैदा करनी पड़ती है। मनचाहा रचने और अभिव्यक्त कर पाने की स्थितियां आज भी सुगम नहीं, से मेरा तात्पर्य उन पितृसत्तात्मक कारकों की ओर इशारा करना है जिनका संबंध हमारी सामाजिक संरचना, परिवार की भावनाओं को आहत होने से बचाने, सच लिखने के साहस का अभाव, संपादकों या दूसरे पुरुषों को खुश करने की नीयत से उनकी पसंद का लिख मारने की जोर मारती इच्छा या असहायता, लिखने के बाद पैदा होने वाली स्थिति से निबटने में अक्षमता आदि में निहित है। ये स्थितियां उनकी मेंटल कंडिशनिंग ऐसी कर देती हैं कि वे ग्लास सीलिंग की शिकार हो जाती हैं। समान अवसरों का उपयोग निर्द्वन्द्व होकर करने से चूक जाती

हैं। कहने को तो स्त्री और पुरुष दोनों ही अपनी रचनाओं के कारण कठघरे में खड़े किए गए हैं तस्लीमा नसरीन हों, शीबा फहमी, मृदुला गर्ग, महाश्वेता देवी कि सलमान रुश्दी, यशपाल, मंटो-पर इस पुरुष सत्तात्मक समाज में आमतौर पर स्त्रियां मनचाहा लिख पाने में ग्लास सीलिंग का शिकार अधिक होती हैं। चुप्पी जितनी तोड़ी जाती है, उससे अधिक मौजूद रह जाती है। परम्पराओं और सोच के ढर्रे का विरोध यदि कठघरे में खड़ा कर सकता है तो जाहिर है कि दायरे तोड़ती रचना के लिए द्वंद्व से होकर गुजरना पड़ेगा, साहस भी दिखाना होगा। कुछ लेखिकाओं ने यह साहस दिखाया है, दायरे तोड़े हैं, पर कितनी ही लेखिकाएं द्वंद्व का शिकार होकर मनचाहा रचने से रह गई होंगी-ग्लास सीलिंगऔर मेंटल कंडिशनिंग की शिकार होकर।

उत्तर 2 : मेरी मान्यता भी यही है कि साहित्य को स्त्री, दलित, पिछड़ा जैसे खांचों में बांटने से उसकी एकात्मकता नष्ट होती है। क्या साहित्य का इतिहास दलितों, पिछड़ों, स्त्रियों द्वारा रचित साहित्य के लिए अलग-अलग लिखा जाए? क्या दलितों, वंचितों, स्त्रियों के बारे में लिखने के लिए दलित, पिछड़ा या स्त्री होना आवश्यक है? सबों का जवाब इस बारे में नकारात्मक ही होगा। साहित्य अनुभूत सत्य की दास्तान है। यह सत्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अनुभव जनित हो सकता है। यह तो लेखक की परकाया प्रवेश की क्षमता और लेखन कौशल पर है कि वह पात्रों की दुनिया में पाठक को कितने गहरे ले जा सका। मामला सतह के भीतर जाने पर और जटिल होने लगता है। जिस तरह सभी लेखिकाओं को स्त्री मुद्दों की सही समझ नहीं, उसी तरह किसी वर्ग विशेष का होना मात्र लेखन के यथार्थपरक होने की गारंटी नहीं। यहां तक कि अकसर मामला इसके उलट भी होता आया है। प्रेमचंद तभी कथा सम्राट बन पाए।

जहां तक स्त्री लेखन की बात है-मात्र स्त्री होने के कारण रेखांकित किया जाना मैं कतई पसंद नहीं करती। यह मुझे असहज करता है। मैं सिर्फ और सिर्फ स्त्रियों के बारे में लिखना भी पसंद नहीं करती। पर दिल से मैं वंचित तबके के साथ हूं-जिनमें स्त्रियां भी शामिल हैं। स्थिति और परिप्रेक्ष्य विशेष की मांग हो तो मैं प्रो-वुमन हो जाती हूं। मुझे नारीवादी होने या कहलाने से परहेज नहीं पर मैं चाहती यही हूं कि मुझे बतौर रचनाकार आंका जाए, बतौर स्त्री रचनाकार नहीं।

उत्तर 3 : इस विषय विशेष पर लिखने के लिए विषय की समझ के साथ उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अनुभव जरूरी है। यानी कि दूसरे के भोगे से भी सत्य समझा और रचनाओं में व्यक्त किया जा सकता है, पर यह जिस समझ, संवेदनशीलता और कौशल की मांग करता है वह हर एक के बूते की बात नहीं। आप गौर करेंगे तो पाएंगे कि हिन्दी लेखिकाओं ने अधिकतर सामाजिक या भावनात्मक विषयों पर कलम चलाई है। मैंने अधिकतर इसीलिए कहा कि मुझे भान है कि इससे इतर भी लिखा गया है-पर बहुत कम। कारण मेरी समझ से यही है कि उनके अनुभव और कार्यक्षेत्र के दायरे में यही विषय आते हैं। राजनीति और संस्कृति के क्षेत्र से आने वाली रचनाकार हिन्दी के पास बहुत कम हैं। महाश्वेता देवी और रमणिका गुप्ता जैसी लेखिकाओं ने अपने अनुभवों से लिखा। मन्नू भंडारी ने लिखा, तो किरण सिंह ने भी। हिन्दी में पुरुषों द्वारा लिखा राजनीतिक साहित्य भी कम ही है। पितृसत्ता के विरुद्ध संघर्ष और प्रतिरोध हर स्त्री अपने ढंग से करती है-निजी जीवन हो या लेखन। मुझे नहीं लगता कि हमेशा इतने सचेत ढंग से विषय उठाए जा सकते हैं कि इन विषयों पर किसी ने नहीं लिखा, तो इन्हें उठाया ही जाए। जिन मामलों में ऐसा हुआ है, वहां कई बार लेखन बहुत सतही होकर रह गया है- और यह सिर्फ लेखिकाओं नहीं, लेखकों के बारे में भी है। मुझे उम्मीद है कि आने वाले समय में स्थिति बदलेगी।

उत्तर 4 : मैंने कहा न आने वाले समय में-और वह दिन अधिक दूर भी नहीं-स्थिति बदलेगी। स्त्री हित से जुड़ी राजनीतिक स्थितियां सामाजिक चेतनता विकसित होने के साथ लेखिकाओं की चिंता का विषय होंगी तो उनके अनुभव के दायरे में भी। अभी तो आप पूरे देश के तौर पर सोचें तो स्त्री बहुत बेसिक चीजों को हासिल करने की चिंताओं से ही जूझ रही है-भोजन, स्वच्छता, स्वास्थ्य, शिक्षा उसके बाद सामाजिक प्रतिष्ठा, आत्मसम्मान, बराबरी का जीवन, भावनात्मक संतुष्टि प्रबंधन में जो नीड हायरआर्की पढ़ाई जाती है, उसी तरह। एक-एक कर सीढ़ियां तय करते जैसे-जैसे आप पायदान तय करते जाते हैं, आपकी जरूरतें, सोच के दायरे और संतुष्टि देने वाले कारक बदलते जाते हैं। ऐसा नहीं है कि सरोकार नहीं हैं-व्यक्तिगत और सामाजिक तौर पर ये सरोकार स्त्री के जीवन में शामिल हो रहे हैं तो निश्चित ही लेखन में भी होंगे। यह बीज के फूट कर पौधा बन सकने से पहले की स्थिति है।

उत्तर 5 : पहले तो यह कि मातृत्व स्त्री को श्रेष्ठ कृति बनाता है या मातृत्व ही श्रेष्ठ कृति बना सकता है-यह एक प्रीकंसीव्ड नोशन है, दे दी गई मान्यता, थमा दी गई सोच है। भारतीय समाज ने तो खासकर स्त्री के मां रूप का इतना महिमामंडन धार्मिक, सामाजिक और भावनात्मक स्तरों पर किया है कि होश संभालते ही लड़की इस सोच से जकड़ जाती है कि उसके जीवन की प्राथमिकता खुद को एक अच्छी पत्नी और मां बनने के लिए तैयार करना है। परवरिश के दौरान ही दे दी गई यह मान्यता इस कदर उसकी सोच का हिस्सा हो जाती है कि उसकी सभी महत्वाकांक्षाएं इन दो भूमिकाओं को निभाने के इर्द-गिर्द ही घूमती आगे बढ़ती हैं। उसे पता होता है कि अंततः वह मां बनने को ही पैदा हुई है। बच्चे पैदा करके उनका लालन-पालन उसी का कर्तव्य है। इस मान्यता और पुरुषों द्वारा इसके सौ प्रतिशत समर्थन से लड़की के पांवों में बचपन से बेड़ियां पड़ चुकी होती हैं। बाद में गृहस्थी, बच्चे और नौकरी के बीच पिस रही स्त्री का जीवन बहुत कठिन हो जाता है। यह पितृसत्तात्मक सोच सिर्फ परिवार के पुरुष ही नहीं, स्त्री सदस्य भी उसे थमाती हैं। उसे बता दिया जाता है कि मां बनकर ही वह खुद को पूर्ण माने। इससे पुरुष के कई मतलब सधे हैं-वह स्त्री को घर-गृहस्थी-बच्चों के लालन-पालन का दायित्व थमा, खुद आगे बढ़ने, अपनी महत्वाकांक्षाएं पोसने को स्वतंत्र रहा है। अमूमन हर स्त्री जब तक इस मर्दवादी राजनीति को समझती है-उसका कुछ बन पाने और अपनी महत्वाकांक्षाएं साध पाने का समय गुजर चुका होता है। भारत में भी स्त्रियों के बीच इस स्थिति से बेचैनी बढ़ती जा रही है-इसीलिए इसे पश्चिमी नारीवाद कह कर इससे किनारा नहीं किया जा सकता।

निष्कर्ष यह कि मैं मातृत्व के भावुक सम्मोहन से पैदा होते खतरों से सहमत हूं। चाहती यह हूं कि स्त्री मां बने, मातृत्व से मिलने वाले भावनात्मक सुख को छोड़े नहीं, पर किसी अतिरिक्त गुणगान के बिना-ताकि वह परवरिश की जिम्मेदारी में पति का सहयोग पा सके और मातृत्व निजी महत्वाकांक्षाएं पूरी करने में उसके पांवों की बेड़ी साबित नहीं हो।

उत्तर 6 : निश्चित तौर पर। घर और बाहर दोनों जगहों पर यह मेरी प्रत्यक्ष चिंता का कारण है। पुरुषों को समय के साथ सहयोगी की भूमिका में उतरते देखने की ख्वाहिश इस स्थिति से टूटती नजर आ रही है। कारण पर नजर डालें तो वही परवरिश के दौरान दी गई मान्यता कि लड़की या स्त्री को किसी भी स्थिति में पुरुष के अधीन, उसका कहा मानने वाली और स्वतंत्र अस्तित्व या सोच नहीं रखने वाली होना चाहिए। स्वतंत्र व्यक्तित्व और सोच वाली स्त्री पुरुष को लुभाती है, तो आतंकित भी करती है। ऐसी स्त्री उसकी जीवन संगिनी या कार्यक्षेत्र में कोलीग बन जाए, तो रिश्ते असहज होते देर नहीं लगती। पुरुष उसे अधीनता स्वीकार करने को मजबूर करना चाहता है-हमलों और हिंसा से। मैं लगातार इस सोच का समर्थन करती लिख रही हूं कि पुरुष सोच बदलने की जिम्मेदारी बतौर मां-एक स्त्री की है। वह परवरिश के दौरान समानता की सोच बेटे में पैदा कर सकती है और बेटी को सिखा सकती है कि वह अधीनता स्वीकारने को नहीं बनी। जिस बेटे की ऐसी सोच नहीं, वह कठिन और हिंसक पति, पिता या बॉस साबित होता है-हिंसा चाहे शारीरिक हो या भावनात्मक।

उत्तर 7 : पहले तो यह कि सोशल मीडिया या नेट पर का सारा साहित्य विवादास्पद या औसत नहीं है। हां, काफी मात्रा में औसत, क्षणभंगुर, महत्वाकांक्षाएं पोसने की नीयत से परोसा गया कूड़ा मौजूद है। पर यह सिर्फ स्त्रियों के लेखन के बारे में क्यों कहा जा रहा है? ढेरों-ढेर तथाकथित (पुरुष) लेखक भी तो अपने कूड़े के साथ मौजूद हैं। वरना फेसबुक पर अपनी मित्रता सूची में मौजूद कवियों द्वारा कविता के नाम पर परोसी और मेरे मेल पर भारी मात्रा में भेजी जा रही स्वरचित और चुराई पंक्तियों को कविता मानने के दुराग्रह से भयभीत मुझे उन्हें अनफ्रेंड करना या नाम के साथ कवि शब्द देखते ही उनका फ्रेंड रिक्वेस्ट डिलीट करने की जहमत से नहीं गुजरना पड़ता। कवि ही क्यों, थोक के भाव में ऐसे लेखक भी हैं जो अपनी रचनाओं का कूड़ा दूजे के सर डालते रहते हैं। इसीलिए मैं सोशल मीडिया पर मौजूद लेखन के बारे में जो कह रही हूं उसे स्त्री-पुरुष दोनों पर लागू समझा जाना चाहिए।

जैसा कि मैंने शुरुआत में कहा सोशल मीडिया या नेट पर उपलब्ध जो साहित्य चर्चा बटोर रहा है-चाहे वह पुरुष का लिखा हो या स्त्री का-सारा का सारा कूड़ा नहीं है। चर्चा में आकर या लाया जाकर अपनी मौत खुद मर जाने वाली रचनाओं को मुख्यधारा का गंभीर साहित्य मानने वालों की भूल या समझ पर तो सिर्फ खेद ही व्यक्त किया जा सकता है। सोशल मीडिया या इंटरनेट आज पाठकों तक सुगमता से तत्काल पहुंचने का माध्यम बनता जा रहा है। इस पर कभी-कभी तो इतना उत्कृष्ट लिखा भी मिल जाता है कि उन संपादकों, प्रकाशकों से झगड़ा करने का मन होने लगता है जिन्होंने इन्हें पत्रिका में जगह देने या पुस्तक रूप में छापने से इनकार किया। आज जो प्रकाशकों के अपने कॉकस हैं और निजी हित सधे बिना किसी को आगे नहीं लाने की नीयत है, उसका विकल्प भविष्य में सोशल मीडिया या इंटरनेट बनता जाएगा-इसमें मुझे संदेह नहीं। लेखकों द्वारा गंभीर साहित्य कहे जा सकने वाले ई बुक्स अपलोड की जाएंगी और पाठकों द्वारा डाउनलोड करके पढ़ी जाएंगी-कीमत अदा करके भी। भारत जैसे देश में यह एकदम निकट भविष्य नहीं है पर रास्ता उधर जा जरूर रहा है।

उत्तर 8 : आपने जिस हकीकत का जिक्र किया, उससे मैं सहमत हूं। बतौर स्त्री मैं इस स्थिति से इतनी हताश हूं कि कई बार लिखना छोड़ देने का विकल्प ज्यादा सही लगने लगता है। लगने लगता है कि जब हिन्दी साहित्य न तो मुझे रोटी दे सकता है, न मेरी सोच को समर्थन, न ही हिन्दी साहित्य पढ़ने वाले लोगों की निरंतर सिकुड़ती दुनिया में खुद को जानने वालों और अपने लिखे या सोच से प्रभावित हो सकने वालों की संख्या मुझे खुश कर सकती है तो क्यों न अपनी पहली पहचान-चीफ मैनेजर एच.आर. से ही संतुष्ट हो लूं। पर फिर लिखने को बेचैन करता कोई एक क्षण आता है और अपनी शर्तों पर, बिना कोई समझौता किए, लेखन में डटे रहने की फिर से ठान लेती हूं। मेरी मान्यताएं और वैल्यू सिस्टम मुझे परिचर्चा, गोष्ठी वगैरह प्रायोजित करने की चुनौती स्वीकार करने से रोकते हैं, चाहे इसका कारण मेरा बदलते वक्त के साथ न बदल पाना ही क्यों न समझा जाए! लगने लगता है कि यह सौ प्रतिशत सच नहीं कि जलसा, गोष्ठी और प्रायोजित समीक्षाएं ही लेखक को स्थापित कर सकती हैं। यह सब समीक्षकों के दरबार में भले उसे स्थापित कर दें, पाठकों के दरबार में नहीं कर पातीं। और फिर हमारे हिन्दी जगत में इक्का-दुक्का ऐसे समीक्षक आज भी मौजूद हैं न, जो अपने मन से मुझ जैसी गुमनाम लेखिका की किताब की समीक्षा कर डाल, मुझे चकित कर देते हैं। ऐसे संपादक भी मौजूद हैं जो मुझ जैसी अलग-थलग रहने वाली, मुख्यधारा से दूर लेखिका की रचना प्रकाशित करते संकोच नहीं करते। जुगाड़ तंत्र के समानान्तर गंभीर पाठकों की दुनिया का अस्तित्व अभी समाप्त नहीं हुआ है, यह सच है तो यह भी पूरी तरह सच है कि कई उत्कृष्ट रचनाएं पाठकों तक पहुंच ही नहीं पातीं।

उत्तर 9 : आँचल में दूध और आंखों में पानी वाली स्थिति हो तो हंसी जीवन से निष्कासित रहती है। अभी आँचल में दूध और आंखों में पानी पर ही लेखन चल रहा है। आंखों के आंसू सूखने दीजिए-स्त्री (अपने लेखन में) हास्य-विनोद करती नजर आने लगेगी।

उत्तर 10 : मेरी लेखकीय योजनाओं का कोई महत्व तो है नहीं कि उन्हें बताए जाने पर किसी को कोई फर्क पड़े, फिर भी पूछा है तो इतना बता सकती हूं कि अगले दो कहानी संग्रह तैयार हो गए हैं-उनकी किस्मत में जीवन पाना रहा तो बाजार का मुंह देख लेंगे। तीन साल पहले एक उपन्यास लिखना शुरू किया था। कई ड्राफ्ट हुए, पर उसे मनचाही शक्ल अभी तक मिली नहीं है।n

मो. : 09899098633

ईमेल : p.neela1@gmail.com

n सारा राय

उत्तर 1 : यह सच है कि स्त्रियाँ आजकल बहुत कुछ, बहुत खुल कर लिख रही हैं, हर तरह के विषयों पर, चाहे वह घर-बार के मसले हों, चाहे देश विदेश के, राजनीति और लोकतंत्र के मुद्दे हों या ऐतिहासिक साँस्कृतिक संदर्भ हो, पुरुष सत्तावादी व्यवस्था के साथ टकराव, या यौन सम्बन्ध और स्त्री अस्मिता, सभी पर औरतें वाचाल हैं। लेकिन जिस क्षण आप 'बराबरी' की बात करते हैं, इस अभिव्यक्ति के बगल में दूसरी प्रतिछाया चुपचाप आकर खड़ी हो जाती है। किससे बराबरी? पुरुष से? तुलना किसी अनुपस्थित अनजान से तो की नहीं जाती! मुझे तो इस प्रश्न में ही दोष नज़र आता है इसके पूछते ही आप स्त्री की नाकाबंदी कर देते हैं। आखिर हम पुरुष लेखन की बात तो नहीं करते। तो स्त्री लेखन पर यह मेहरबानी क्यों? अभिव्यक्ति की बराबरी से ज़्यादा रचने की स्वतन्त्रता का सवाल अहम है और यह प्रश्न स्त्री और पुरुष दोनों के ही सामने खड़ा है। क्या पुरुष लेखन भी वाकई स्वतन्त्र है? स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का सवाल हमेशा से लेखक की आँख की किरकिरी बना रहा है; जिस काल से हम गुज़र रहे हैं, उसमें यह मसला और भी मायने इख़्तियार कर लेता है।

उत्तर 2 : दूसरे शब्दों में आप पहला सवाल ही दोहरा रहे हैं। यह सच है कि स्त्रियों द्वारा लिखे साहित्य को खाँचों में रखकर देखने की प्रवृत्ति आम है। और इसका कारण, जैसा कि आपने कहा, औरतों के अलग तरह के अनुभव और युग युगान्तर से उनपर थोपी हुई असमानता ही है। स्त्रियों द्वारा रचे एक खास तरह के साहित्य को हम प्रतिवाद के साहित्य की तरह देख सकते हैं। यह महत्त्वपूर्ण है और इसका लिखा जाना लाज़मी भी; इसे लिखा जाना चाहिये और लिखा जा भी रहा है। लेकिन मुझे किसी भी तरह के सामान्यीकरण या सरलीकरण से आपत्ति है।

अनुभव की विशिष्टता स्त्रियों की ही नहीं होती, न ही हर स्त्री का रचा साहित्य विरोध का साहित्य होता है स्त्री लेखन, दलित लेखन, आदिवासी लेखन इस तरह से तो हम न जाने कितने टुकड़ों में टूटते चले जायेंगे, गुटों में बँटते जायेंगे। और इसका एक बुरा परिणाम साहित्य का अप्रिय राजनीतिकरण होगा, जो कमोबेश हो ही रहा है। हर लेखक का लिखा, चाहे वह स्त्री हो, चाहे दलित, चाहे आदिवासी, एक खास अनुभव के जगत से उत्पन्न होता है। गुटों में बाँटकर हम उसकी बारीकी और विशिष्टता पर आघात करते हैं, एक सूक्ष्म तन्तुजाल को प्रत्यक्ष और स्थूल बना देते हैं।

जहाँ तक मेरा निजी सवाल है, हाँ, मैं स्त्री हूँ और लेखक भी हूँ। मेरे लेखन की नींव नारीत्व में है। स्त्रियों के प्रश्न और परेशानियाँ मुझे विचलित करती हैं। ज़ाहिर है मेरी नज़र स्त्री की है और आवाज़ पर भी स्त्री होने का प्रभाव है। महिला सरोकार मेरे व्यक्तित्व में गहरे बसे हैं। लेकिन जब मैं लिखने बैठती हूँ तब मुझपर अपने जेन्डर की चेतना हावी नहीं रहती। न ही अपने ऊपर किसी तरह के लेबल चिपकाने की आवश्यकता महसूस करती हूँ। कोई चिपकाये, तो यह उसका मसला है, मेरा नहीं।

उत्तर 3 : स्त्रियाँ आज जो भी लिख रही हैं, उसका प्रसंग केवल पुरुषों तक तक सीमित हरगिज़ नहीं है। पैमाने बहुत बदल गये हैं। समय आगे बढ़ चुका है। स्त्री लेखन, बल्कि स्त्रियों द्वारा लेखन का दायरा, उनका अनुभवों के साथ साथ, आजकल बेहद विस्तृत हो चुका है। ऐसा कहना कि स्त्री लेखन मूलतः पितृसत्ता का विरोध है, कुछ मात्रा में सच है। लेकिन उतना भी सच नहीं। औरतें चाहे नीलकंठ की उड़ान के बारे में लिखें, चाहे परमाणु बम के बारे में, यह अधिकार उनका है, आज़ादी उनकी है। वह अपने कटघरे में बैठकर लिखने के लिये बाध्य बिल्कुल नहीं है। जैसा कि किसी ने, किसी और संदर्भ में कहा था, 'It's not all about men!' जहाँ तक राजनीतिक और साँस्कृतिक लक्ष्मण रेखाओं के खींचे जाने का सवाल है, तो क्या यह स्त्रियों की ही ज़िम्मेदारी है कि इसके खिलाफ लिखें और लड़ाई लड़ें? यह तो एक सभ्य समाज को रचने की, उसे रूप देने की लड़ाई है और इसमें सभी को, बिना लिंग भेद किये, कार्यरत्त रहना चाहिए।

उत्तर 4 : आप साहित्यिक सृजन की बात कर रहे हैं या नारेबाज़ी की?

उत्तर 5 : मेरी समझ में, मातृत्व ऐसा गुण है जो केवल महिलाओं को ही नहीं, पुरुषों को भी ग्रहण करने का प्रयास करना चाहिए। इसमें लिंग की बात नहीं है; मैं उन भावों की ओर संकेत कर रही हूँ जिनके मिश्रण से मातृत्व की भावना उत्पन्न होती है-यानी कोमलता, शक्ति, साहस, प्रेम, सहानुभूति, दया, त्याग, संयम, आत्मलोपन, समर्पण...मातृत्व मानव जाति के सबसे आदिम, अप्रतिम, अनिवार्य भावों में से हैं। आज की हिंसापूर्ण दुनिया में इसकी घोर आवश्यकता है। हाँ, इसका राजनीतिक और सामाजिक स्तर पर दुरुपयोग भी हुआ है, जो कि निंदनीय और दुर्भाग्यपूर्ण है। यह विषय एक बहुत बड़ी, सामाजिक -ऐतिहासिक लड़ाई का हिस्सा है। यह लड़ाई अभी जारी है, समाप्त तो बिल्कुल नहीं हुई।

उत्तर 6 : हाँ, आज की स्थिति सचमुच चिंताजनक है। यौन अपराधों का सैलाब आया हुआ है। इसके कारण बहुत जटिल हैं और उसी पितृसत्तात्मक सामाजिक बोध से जुड़े हुए हैं जिसका आपने ज़िक्र किया है। एक अंतहीन सा प्रतीत होता शोषण और दमन का चक्र जो

कि सदियों से चला आ रहा है, खासकर दलित और आदिवासी औरतों को रौंदता हुआ। अब मध्यवर्ग की स्त्रियाँ भी इसकी (यौन हमलों की) चपेट में आने लगी हैं। क्या हमें इसे एक आशापूर्ण संकेत समझना चाहिये कि बलात्कार और औरतों पर हिंसा की घटनाओं की रिपोर्टिंग पहले से ज़्यादा हो रही है? पिछले वर्षों में यौन हमलों के खिलाफ विरोध के जुलूस और स्त्री सशक्तिकरण आन्दोलनों ने गति पकड़ी है। यौन हमले इसकी एक प्रतिक्रिया भी समझे जा सकते हैं। मगर यह कहना कि यौन अपराध महिला सशक्तिकरण की ही प्रतिक्रिया हैं, एक बेहद पेंचीदा मसले का नगण्यीकरण होगा। एक व्यापक शिक्षा का अभाव जो कि पितृसत्तात्मक मनोवृत्तियों में परिवर्तन आने नहीं देता, पूंजीवाद का विकृत रूप, उससे उत्पन्न होती नैतिक उदासीनता और सामाजिक वर्गों के बीच गहराती खाइयाँ सामूहिक निराशा से भरपूर एक गहन रात्रि जिसमें संवेदना, सहानुभूति और समानता पनप नहीं पाते इससे बढ़कर दृष्टिविहीनता क्या हो सकती है, कि आबादी के आधे हिस्से के अधिकारों का लगभग लोपन हो गया है, वे नज़र ही नहीं आते? यह अंधापन तकरीबन जिनेटिक हो जाने की हद तक समाज में फैल चुका है और अपना वीभत्स चेहरा बार-बार दिखाता रहता है।

उत्तर 7 : सोशल मीडिया की सर्वव्यापी पहुँच और प्रभाव को आज के ज़माने में नकारा तो बिल्कुल नहीं जा सकता। एक ऐसे समय में जब सब कुछ इतनी तेज़ी से परिवर्तित होता जा रहा है और स्मृतियों की स्मृतियाँ ही शेष रह जाती हैं, तात्कालिक ही प्रधान है। सोशल मीडिया की तात्कालिकता (चाहे इसे क्षणभंगुरता कह लें) आज के यथार्थ को पकड़ने के लिये उपयोगी साबित हुई है। यहाँ तक कि हर छोटी से छोटी घटना पर फौरन कमेन्ट करना मध्य वर्ग की एक बुनियादी ज़रूरत सी बन गयी है। सोशल मीडिया पर लेखन का लक्ष्य और प्रलोभन भी शायद यही तात्कालिकता है...जो लिखा जाता है उसका तुरन्त प्रसारण होता है, पाठक के साथ उसी क्षण रिश्ता बनता है, फौरन संतोष मिलता है। मगर जितनी जल्दी पाठक का ध्यान ऐसे लेखन की और खिंचता है, उतनी ही जल्दी उसके बिखर जाने का भी खतरा रहता है।

साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है और हम आज कह सकते हैं कि सोशल मीडिया साहित्य का दर्पण बन गया है; एक आइना जिसमें साहित्य का अक्स दिखायी पड़ता है। उसकी नक़ल प्रतिबिम्बित होती है। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि सोशल मीडिया पर लिखा सब कुछ पढ़ने योग्य नहीं। विचारों और अलग अलग दृष्टिकोणों को सार्वजनिक क्षेत्र में पहुँचाने और उनके आदान-प्रदान के लिये एक प्लैटफार्म की तरह भी उसे देखा जा सकता है। कहना पड़ेगा कि गम्भीर साहित्य की परिभाषा भी बदलती जा रही है और उसको तय करने वाले प्रतिमान भी। समाज में एक मंथन चल रहा है और हर तरह के प्रयोग-सोशल मीडिया और ऑनलाइन पत्रिकायें भी इसमें शामिल हैं-सार्वजनिक रूप से उपयोग में लाये जा रहे हैं। इनपर लिखा साहित्य समय की परीक्षा में सफल होगा या नहीं, यह तो समय ही बतायेगा।

उत्तर 8 : साहित्यिक परिचर्चा, समीक्षा, पुरस्कार, जलसे इत्यादि ज़रूरी तो हैं ही कि लिखे गये का उचित आँकलन हो पाये, उसपर चर्चा भी अवश्य हो और पाठक उस कृति की ओर आकर्षित हों। इस सब से लेखक की हौसला अफज़ाई होती है, प्रोत्साहन मिलता है। मगर यह कोई राजनीतिक अखाड़ा नहीं है, न सत्ता बाज़ार जहाँ बोली लगती है और अच्छी रचनाओं का चुनाव उनकी श्रेष्ठता न होकर, लेखक का किसी खास गुट में शामिल होना, पुरस्कार दाताओं की पैरवी करना, या किन्हीं अन्य कारणों से होता है। गत वर्षों में साहित्य बाँचने की संस्कृति में ही गिरावट आयी है। इसके भी कारण जटिल हैं और साधारण जीवन की बढ़ी हुई गति से ही उत्पन्न होते हैं। पाठकों के पास समय कम होता जा रहा है जिसमें वह ढेर सारी रचनायें देखकर अपने लिये उनमें से चुनाव कर सकें कि क्या पढ़ना है, क्या नहीं। पुस्तक समीक्षा, आलोचना, पुरस्कार, जलसे-इन सब से इस काम में मदद मिलती है। बहुत हद तक वे साहित्यिक समझ (लिटरेरी टेस्ट) को भी गढ़ते हैं। इनमें बाज़ार और राजनीति भी अपना असर छोड़ते हैं, फिर भी, बहुत कुछ है जो अब भी ऊँचे स्तर का होने की वजह से पुरस्कार समितियों इत्यादि की नज़र के सामने आता है। लेकिन पुरस्कृत कृतियाँ तो कम ही होती हैं। इनके अलावा भी काफ़ी कुछ लिखा जा रहा है जो न तो पुरस्कृत होता है, न चर्चित, फिर भी पारखी पाठक अपने शान्त कोने में बैठकर इसे पढ़ ही लेते हैं और उसके साथ आत्मीय रिश्ता बनाते हैं। आज के साहित्यिक परिवेश में स्त्री के नज़रिये या पुरुष के नज़रिये की बात नहीं है, उच्च साहित्य रचने की है, जो कि असली चुनौती है। यह काम न तो हताशाजनक होता है, न ही उसे किसी होड़ में शामिल होने के लिये हड़बड़ी रहती है।

उत्तर 9 : हास्य का अभाव न केवल महिलाओं द्वारा रचे साहित्य में है, बल्कि यह ऐसी शैली है जिसका हिंदी लेखन में कम उपयोग हुआ है, कुछ गिनी चुनी रचनाओं के अलावा। व्यंग और कटाक्ष का ज़रूर हुआ है, गहरे बैठे हुए सामाजिक रोगों और मूल्यों के पतन इत्यादि की और अप्रत्यक्ष ढंग से ध्यान आकर्षित कराने के लिये हमारे यहाँ हास्य की परम्परा क्यों नहीं रही है, मैं कह नहीं सकती। जब कि उर्दू साहित्य में यह परम्परा जीवित है और हास्य का उपयोग स्वाभाविक तौर पर होता रहा है। हो सकता है हम अपने आप को अत्यन्त गम्भीरता से देखते हों!

उत्तर 10 : आगामी योजनाओं को अगर इच्छाओं की तरह देखूँ, तो बहुतेरी हैं! रोज़ बरोज़ नयी कहानियाँ के, किसी लम्बे बयान के टुकड़े मुझपर अपनी पकड़ मज़बूत करते रहते हैं, मगर मुझे कोई भी चीज़ पूरी करने में समय बहुत लगता है। अभी एक कहानी संग्रह पर काम कर रही हूँ। फिर कोई लम्बी चीज़, शायद उपन्यास शुरू करने का मन है।n

मो. : 08004797093
ईमेल : sararai11@gmail.com

n डॉ. कविता वाचक्नवी

उत्तर 1 : यह 'समान अवसर' एक सापेक्ष शब्द है, समान से आपका अभिप्राय, सभी स्त्रियों में परस्पर समान अथवा पुरुषों की तुलना में समान है, यह अस्पष्ट है। इसलिए इसके उत्तर भी दो होंगे। जो लेखिकाएँ मुख्यतः आज सक्रिय लिख रही हैं उनके पास कमोबेश परस्पर लगभग समान अवसर हैं। किन्तु यदि प्रश्न का निहितार्थ पुरुषों की तुलना में आँकना है तो कहना होगा कि कदापि नहीं। अभिव्यक्ति के अवसर को यदि आप रचने के अवसर मात्र के अर्थ में देखते हैं तो भी, और यदि रचनात्मकता लेखन साहित्य-सृजन आदि को रचे जाने और पाठकों तक पहुँचने की पूरी प्रक्रिया के रूप में देखते हैं तो भी विविध स्तरों पर, विविध विधाओं में, विविध क्षेत्रों, विविध आयु वर्गों व विविध पृष्ठभूमि वाली हिन्दी-जगत की स्त्रियों के सर्वाधिक बहुलता वाले इस कालखण्ड में भी उनके पास पुरुषों की तुलना में न तो रचने के समान अवसर हैं, न ही पाठकों तक पहुँचने के।

उत्तर 2 : वस्तुतः यह पाठक पर निर्भर करता है कि आनुपातिक दृष्टि से अधिक पाठक किसे मुख्यधारा मानते हैं। मेरे तईं गत लगभग पन्द्रह वर्ष से मुख्यधारा का साहित्य बहुधा स्त्रियों द्वारा लिखा जा रहा साहित्य है। रमणिका जी, मृदुला जी, चित्रा जी, मैत्रेयी आदि व इनकी समकालीन अनेक वरिष्ठ लेखिकाओं ने जहाँ केंद्रीय विधा के स्तर पर परिदृश्य को बदला, वहीं मुख्यधारा में पुरुषों के वर्चस्व को तोड़ा और स्त्रीलेखन को मुख्यधारा का साहित्य के रूप में स्थापित किया। स्त्री, दलित और पिछड़ा आदि वर्गीकरण प्रवृत्तियों के आधार पर जब तक होता रहे तब तक यह अध्ययन की सुविधा एवं दृष्टि से आवश्यक व महत्वपूर्ण है किन्तु यदि यह वर्गीकरण व्यक्ति के आधार पर होता है तो यह लेखक के साथ अन्याय से अधिक साहित्य, शिक्षा व पाठक के साथ अन्याय है। इतने पर भी मुझे निजी तौर पर अपने लेखन के 'स्त्री-लेखन' कहने-कहलाने से कोई कष्ट या असहजता अनुभव नहीं होती। इसके दो कारण हो सकते हैं पहली तो विविध विधाओं में लिखी गई अनेक रचनाओं के पाठकों द्वारा कदापि मुझे ऐसा अनुभव नहीं करवाया गया, दूसरी मैं अभी उस स्तर की लेखक नहीं हुई कि आलोचक मुझ पर अपना समय जाया करें और मेरे लेखन को वर्गीकृत करें या किसी खाते में रखें, शायद इसलिए भी। वैसे किसी लेखक को लिखने के बाद अपने लेखन के लिए स्वयं किसी तमगे या वर्ग की तलाश मुझे बहुत गलत और बुरी लगती है। लेखक को आलोचना में कोशिश कर अपने लिए जगह तलाशने-बनाने जैसा लगता है, जो अनुचित है। फिर भी यदि आलोचना स्त्री-लेखन को मुख्यधारा से इतर मानती है तो यह पक्षपात, पूर्वाग्रह व वर्चस्ववादी पितृसत्तात्मक राजनीति ही कहा जाएगा, विशेषतः जब मुख्यधारा में पुरुषों का वर्चस्व लगभग समाप्त हो चुका है।

उत्तर 3 : कुछ सीमा तक सहमत हूँ, इन अर्थों में कि कुटिल पितृसत्ता अभी भी जारी है और लेखिकाएँ कुछ अर्थों में आँखें फेरे हैं। इसके उत्तर में दोनों पक्षों के किए पर विचार करना होगा। पहली बात तो यह कि हिन्दी की लेखिकाएँ जिस पृष्ठभूमि से आती हैं, वहाँ स्त्री मूलतः उन स्थितियों के उद्घाटन के लिए भी दीक्षित नहीं होती। अतः उद्घाटन प्रतिकार की पहली सीढ़ी कहा जा सकता है और रोचक यह है कि यह उद्घाटन घटने के बाद होने वाली क्रिया है, जबकि विरोध तो घटने से रोकने की, प्रतिकार की क्रिया होता है। इस तरह आप देख सकते हैं कि भुक्तभोगी होने के बाद स्त्रीवर्ग के भोगे हुए यथार्थ का उद्घाटन और चित्रण तो स्त्रियाँ कर रही हैं किन्तु आनुपातिक दृष्टि से प्रतिकार की प्रविधियों का सन्निवेश होना अभी शेष है। रही क्षेत्र-विशेष की बात तो हिन्दी में अधिकांश लेखक साहित्य को राजनीति से दूर रखते आए हैं, यद्यपि विचारधारा के स्तर पर वे राजनीति-प्रेरित रहे हैं, उनका वर्चस्व भी लम्बे समय तक रहा किन्तु प्रत्यक्षतः वे राजनीति से सीधे नहीं जुड़े रहे, बल्कि कहना न होगा कि वे राजनीति का मोहरा भी बनते चले आए हैं और साहित्य की राजनीति भी इतनी अधिक होती चली आई है कि साहित्य ही लाभ की तुच्छ राजनीति का अखाड़ा, दलदल व पर्याय बन गया है किन्तु राष्ट्रीय राजनीति के लिए जिस प्रकार के प्रशिक्षण व तैयारी की आवश्यकता होती है, उसका नितान्त अभाव प्रत्यक्ष स्त्री व पुरुष लेखकों में देखा जा सकता है। ऐसे में लेखिकाओं की स्वयं क्योंकि राजनैतिक महत्वाकांक्षाएँ और सम्पृक्ति नहीं होती और सम्भवतः इसलिए भी कि वे दैनन्दिन जीवन और स्त्रीपुरुष सम्बन्धों के विविध पक्षों से अधिक जुड़ी हुई होती हैं। यों भी स्त्रियाँ जीवन और सम्बन्धों के अधिक निकट इसलिए होती हैं, कि उनकी संरचना ही ऐसी होती है, इसलिए भी वे शायद राजनीति में महिलाओं की अधिक सक्रिय व सतेज भूमिका के पक्ष में लिखने की अपेक्षा जीवन और सम्बन्धों पर लिखना बेहतर समझती हों। एक बात और जोड़ना चाहूँगी, कुटिलता से पार पाना स्त्री की दैहिक संरचना के अर्थों में सदा से कठिन रहा है और राजनीति का जिस प्रकार व जितना अधिक अपराधीकरण हुआ है उस स्तर के आपराधिक वातावरण की पहचान, उसका उद्घाटन, प्रतिकार या उस पर साधिकार लिखना आदि यह कुछ अधिक ही की अपेक्षा लगता है अभी। इसे आप सकारण आँख फेरना नहीं कह सकते।

उत्तर 4 : इसका उत्तर भी पिछले उत्तर में ही काफी कुछ निहित है। यह जोड़ना यहाँ चाहूँगी कि जो लेखिकाएँ, यथा रमणिका जी, सुधा अरोड़ा जी इत्यादि, लेखिका होने के अतिरिक्त अपने जीवन में एक्टिविस्ट भी हैं, उनके लेखकीय सरोकारों में स्त्री के सामाजिक व संस्थागत जीवन की उपस्थिति उपलब्ध होती है। फिर भी यह कहना आपत्तिजनक नहीं माना जाना चाहिए कि वर्तमान स्त्री-लेखन में सरोकारों की व्यापकता आनी अभी काफी शेष है। उसके बहुत-से कारण हो सकते हैं, जिनके विस्तार में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, किन्तु यह तथ्य है।

उत्तर 5 : इसमें कोई राय नहीं कि मातृत्व स्त्री को श्रेष्ठ कृति बनाता है, किन्तु उस से भी बढ़कर स्त्री को ऐसा अपार सुख देता है

जो संसार में उसे कोई और नहीं दे सकता, पुरुष भी नहीं, स्त्री को कई मानसिक व्याधियों से निकालता है और उसे अपने 'कर्ता' होने के गौरव से भरता है, इसमें कोई दो राय हो ही नहीं सकतीं। दूसरी ओर पश्चिमी नारीवादियों की बात रहने भी दी जाए तो इसी मातृत्व को आधार बनाकर ही पुरुष स्त्री पर सारे दबाव और बन्धन लगाता है। यद्यपि प्राकृतिक व संरचनात्मक दृष्टि से भी मातृत्व के साथ स्त्री पर बहुत से बन्धन और दबाव आ जाते हैं, उन बन्धनों में बँधी स्त्री को कमजोर समझ और उसके मातृत्व को उसकी कमजोरी समझ शासन करने वाली मानसिकता इसे उस अवसर के रूप में प्रयोग करती आई है जिसे स्त्रियों के शोषण के लिए अनुकूल समझा गया। बहुत बचपन में पढ़े अमृता जी के एक उपन्यास (अथवा कहानी) का एक अंश तब से मेरे मन में गड़ा हुआ है, जिसमें एक पुरुष पात्र दूसरे पुरुष पात्र को समझा रहा है कि औरत को यदि मारना है तो बाँध कर मारो। दूसरा पात्र बाँध कर मारने का अर्थ नहीं समझ पाता इसलिए बाँधने का औचित्य भी नहीं, तब पहला पात्र उसे समझाता है कि स्त्री के साथ हिंसा कर बदनाम होने की अपेक्षा उस से एक सन्तान उत्पन्न कर लो और फिर स्त्री आजीवन तुम्हारा सारा शोषण सहती रहेगी, कहीं नहीं भाग सकती। यह उदाहरण मैंने इसलिए दिया कि यह तथ्य आज से लगभग चालीस-पचास वर्ष पहले भी समाज जानता था और पहचानता था। आज पश्चिमी नारीवादी ही यह बात नहीं कह रहे हैं, अपितु यहाँ योरोप में तो बड़ी संख्या में एकल मातृत्व वाली स्त्रियाँ सब ओर मिल जाएँगी। यह एकल मातृत्व स्त्रियों ने स्वेच्छा से चुना है। वे किसी शुक्राणु-बैंक से किसी अनजान-अज्ञात व्यक्ति के शुक्राणु प्रत्यारोपित करवा माँ बनती हैं और अपनी सन्तान को जन्म देती हैं। यह पुरुषों द्वारा मातृत्व की आड़ में किए गए शोषण की प्रतिक्रिया भी है और साथ ही पुरुषों से होने वाले बुरे अनुभवों से बचने की जुगत भी। योरोप में यह कोई असाधारण घटना नहीं है। मैं कई बार पुरुष व स्त्री के सम्बन्धों के मिटते चले जाने से चिंतित भी होती हूँ कि ये पुरुष अपनी पत्नी ही नहीं अपितु सन्तान की कीमत पर भी अपने शोषण को जारी रखना चाहते हैं। कैसी मानसिकता है कि वे अपनी पत्नी, अपनी सन्तान सबकी बलि लेकर क्या अर्जित करते हैं, केवल स्त्री पर मालिकाना अधिकार। यह सब कितना शर्मनाक है। क्यों नहीं पुरुष अपनी इस तुच्छ मानसिकता को छोड़ समाज को इस तरह बिखरने और विकृत होने से बच जाने देते? घरों में स्त्रियों के ही नहीं अपितु बच्चों के भी जीवन बर्बाद होते देखे हैं मैंने, पुरुषों की कुण्ठाओं से उपजी स्थितियों के चलते।

उत्तर 6 : बहुत अधिक। मुझे स्त्री-पुरुष रिश्तों में आती असहजता जितना चिन्तित करती है, उस से अधिक चिन्तित करता है पूरे समाज में उत्पन्न होता असन्तुलन । समलैंगिकता भी कहीं न कहीं स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में जन्मे विद्रूप की ही परिणति है कि स्त्रियों में पुरुषों के प्रति व पुरुषों में स्त्रियों के प्रति सहज आकर्षण मरने लगा है। एकल मातृत्व भी इसी लैंगिक कटुता का प्रतिफल हैं, सेक्स ट्वायज भी इसी लैंगिक कटुता का ही रूप हैं, बलात्कार और हिंसा तो इसका कारण भी हैं और इसका परिणाम भी। एक स्त्री होने के नाते ही नहीं अपितु एक माँ होने के नाते मुझे परिवार के बच्चों का परिवारों से विमुख होना सर्वाधिक सालता है। बीस वर्ष पहले नॉर्वे में बसने जाने पर जिस प्रकार परिवार टूटे देखे और युवक-युवतियों का मादक पदार्थों की ओर जुड़ाव देखा उन सारे अनुभवों के बाद वर्तमान की लगभग सभी सामाजिक समस्याओं (आर्थिक को छोड़कर) के लिए केवल और केवल इसी लैंगिक कटुता को दोषी पाती हूँ। बिना प्रेम के निभती लाखों-करोड़ों गृहस्थियाँ हम सबने भारत में बखूबी देखी हैं, कितना कष्टप्रद है यह सब...कि इसकी व्याख्या भी नहीं कर सकती, किसी को सहज विश्वास नहीं होगा। उन्हीं का प्रतिफल है भारतीय युवाओं का असंतुलित मनोविज्ञान, आक्रोश और कुण्ठा, माता-पिता दोनों की नकार और उनके प्रति असंवेदनशीलता।

उत्तर 7 : यह बात समझना बहुत आवश्यक है कि सोशल मीडिया एक मंच है, एक माध्यम है और यह हम सब जानते हैं कि मंच व माध्यम का अच्छा-बुरा होना कुछ नहीं होता, जो कुछ होता है वह उसके प्रयोक्ताओं पर निर्भर करता है। यही स्थिति एक पत्रिका की भी हो सकती है कि किसी के हाथ में पत्रिका का माध्यम व अवसर लग गया पर उस पत्रिका में गम्भीर कुछ भी नहीं छपता या किसी पत्रिका में गम्भीर सामग्री छपती है। अनगिनत पत्रिकाएँ ऐसी होंगी जो आपको अपनी रुचि व स्तर की नहीं लगेंगी और आप उन्हें नहीं पढ़ते, कुछ आपको अपनी रुचि व स्तर की लगती हैं इसलिए आप उन्हें पढ़ते हैं। तो इन कारणों से आप हिन्दी की पत्रकारिता को धिक्कार या नकार तो नहीं देते न? न ही उसे कोई बाहर का, अस्पृश्य या विवादास्पद हस्तक्षेप का माध्यम घोषित करते हैं। बिल्कुल यही स्थिति सोशल मीडिया की भी है। बस, यह एक खुला व निःशुल्क माध्यम है। इसका शुल्क समय व तकनीक की जानकारी है केवल, न कि पारम्परिक माध्यम व पारम्परिक शुल्क। भारत में विशेषतः हिन्दी समाज में तकनीक से परिचय अभी बहुत दूर की कौड़ी है, इसलिए अभी हिन्दी का लेखक वर्ग इसे अराजक, औसत व क्षणभंगुर (?) समझता है। सच तो यह है कि यह माध्यम सर्वाधिक दीर्घजीविता का माध्यम है, सर्वाधिक तेज है और सर्वाधिक व्यापक भी। जिसे कुछ लोग अराजक समझते हैं, उसे मैं सर्वाधिक लोकतान्त्रिक कहती हूँ। मैं अपनी ही कहूँ तो लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व मैंने प्रण किया था कि मैं किसी पत्रिका या किसी सम्पादक को कदापि अपनी पहल पर रचना नहीं भेजूँगी, जब तक कि स्वयं सम्पादक अथवा कोई बहुत सम्मानित व्यक्ति अपनी पहल पर मुझे रचना भेजने को न कहे। और मैंने अपना यह प्रण पूरी तरह निभाया भी (इक्का-दुक्का घटनाएँ इसका अपवाद हो सकती हैं)। आप कल्पना कर सकते हैं कि किसी लेखक के लिए यह आत्महत्या है, जिसे मैंने स्वेच्छा से वरा। किन्तु मेरे लेखक को इस आत्महत्या से बचा कर पाठकों से सीधा जोड़ने वाला माध्यम है इन्टरनेट और सोशल मीडिया। यह सच है कि इस पर हजारों-लाखों-करोड़ों लोग लिख रहे हैं, पर वे तो पहले भी कहीं अपना-अपना लिखते आए हैं, बस तब आपको, हमें या समाज को उनका पता न चलता था क्योंकि अभिव्यक्ति के सभी संस्थानों पर इने-गिने लोगों का आधिपत्य व नियन्त्रण था और शेष तक किसी की पहुँच ही न थी, तो पता कैसे चलता कि उन लाखों लोगों में कौन हल्का लिख रहा है और कौन स्तरीय। आज निस्संदेह लिखने वालों की संख्या भी बढ़ी है तो वह इसलिए क्योंकि सोशल मीडिया ने अभिव्यक्ति के संस्थानों पर से वर्चस्ववादी शक्तियों के अंकुश को नकार एक वैकल्पिक माध्यम दे दिया है और इस तरह अधिक अवसर होने के चलते लोगों में अभिव्यक्ति के प्रति उत्साह भी है और इसलिए

आधिक्य भी। इसमें भी कोई दो राय नहीं कि सोशल मीडिया पर लिखने वाला हर व्यक्ति लेखक है ही यह माना जाए। अस्सी प्रतिशत से अधिक वहाँ केवल अभिव्यक्ति और संवाद की इच्छा से हैं और उनके लिखे को कदापि साहित्यिक लेखन नहीं कहा जा सकता। किन्तु उसे आप साहित्यिक हस्तक्षेप समझते ही क्यों हैं? उस से विचलित या प्रभावित होने की तब तक कोई आवश्यकता ही नहीं जब तक रचना का स्तर और गुणवत्ता स्वयं नहीं बोलते। आपके-हमारे सामने एक अधिक विशद, विस्तृत और व्यापक फलक एवं अवसर हैं अब, कि प्रतिभा को चीन्ह पाएँ, इसमें मुझे कुछ भी आपत्तिजनक नहीं लगता। कष्ट उन्हें अवश्य है और होगा जिन्होंने अभिव्यक्ति के संस्थानों पर नियन्त्रण बना रखा था अब तक और सौगातें बटोरते चले आए हैं, लाभ लेते आए हैं। अब उनका अंकुश टूट रहा है, भले ही वे संपादक हों या लेखक। सोशल मीडिया में पाठक और लेखक आमने-सामने हैं और सोशल मीडिया ऐसा टूल है (दुर्भाग्य से हिन्दी लेखक अभी इसकी शक्ति नहीं जानते) कि पाठक को लेखक का पूरा व्यक्तित्व, उसका चरित्र आदि सब बिना बताए भी पता चल जाता है और इस आधार पर वे लेखक को सिरे से खारिज भी कर सकते हैं, कर देते हैं, अब दुराव सम्भव नहीं कि पाठक केवल लेखन से ही लेखक को जानता था और व्यक्तिगत जीवन में कुछ भी, कैसा भी करते हुए आप पाठक को मोह सकते थे। इस माध्यम पर वह सम्भव नहीं। कई बड़े नामधारी हिन्दी लेखकों की 'मोनोपली' टूटी है यहाँ। स्त्रियाँ बिना सम्पादक की शर्तें माने भी लिखने व पाठकों तक पहुँचने में सफल हो सकती हैं, नेट पत्रिकाओं व वेबजीन्स का अम्बार लगा पड़ा है। कविताओं व साहित्य के कोश निशुल्क उपलब्ध हैं पढ़ने-पढ़ाने को, अकूत साहित्य वहाँ सदा के लिए डिजिटल रूप में सुरक्षित हो गया है, विश्व के प्रत्येक कोने से पाठक कुछ भी 'कहीं भी' कभी भी पढ़ सकता है। और भी अनेकानेक लाभकारी परिवर्तन हुए हैं, अनुवाद, भाषा व लिपि की दृष्टि से तो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, अपने एक लम्बे लेख में विस्तार से इन व ऐसे अन्य अनेक पक्षों पर एक-एक कर कुछ वर्ष पहले लिखा भी था, उन सब को विस्तार से यहाँ नहीं बताया जा सकता। बस यही कि ये सब साहित्य के लिए नकारात्मक हस्तक्षेप कैसे कहे जा सकते हैं? क्या केवल इसलिए कि एकाधिकार व वर्चस्व को चुनौती मिली है या 80-85 प्रतिशत को देखकर हमें उसके स्तरीय न होने से कष्ट होता है। क्या बीस बरस पहले समाज का 80-85 प्रतिशत वर्ग लेखक था? नहीं! तो यह वही वर्ग है। उन्हें उनकी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का लाभ उठाते देख चिन्तित होने की भला क्या आवश्यकता है? और क्यों?

उत्तर 8 : हताशाजनक भी और चुनौतीपूर्ण भी, बल्कि स्पष्ट कहूँ तो हताशाजनक कम और चुनौतीपूर्ण अधिक। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि मेरा नजरिया हर स्त्री लेखक का नजरिया नहीं हो सकता, न होना चाहिए क्योंकि हर किसी का मनोविज्ञान अलग होता है। कुछ स्त्रियाँ ऐसी भी मैं जानती हूँ जिन्होंने लेखन सदा के लिए इसलिए छोड़ दिया क्योंकि वे सम्पादकों व लेखकों के मध्य स्वयं को सुरक्षित नहीं पाती थीं और न समझौते कर सकती थीं। बहुत-से ऐसे भी लेखक-लेखिकाओं को जानती हूँ जिन्होंने अपनी महत्वाकांक्षाओं के लिए खूब समझौते किए और किसी का भी, कैसा भी प्रयोग करने से नहीं हिचकिचाए, जो सम्पादक समझते थे कि वे उनका इस्तेमाल कर रहे हैं वस्तुतः वे भी प्रयोग होते गए उनके माध्यम से लेखकों-लेखिकाओं ने वह सब किया, कर रहे हैं जिसका आपने उल्लेख किया है, निजी सम्बन्धों से लेकर जाने कहाँ तक। इसलिए ऐसे में मेरे जैसे व्यक्ति के लिए जिसके पास न कोई पद है, न प्रकाशन, न किसी एक से भी कोई सम्पर्क या मैत्री है कि मेरे लिए कोई कुछ करे, न मैं किसी वर्ग-विशेष, विचार-विशेष या 'स्कूल'-विशेष की हूँ कि कोई मुझे प्रमोट करे, न मेरा कभी भी साहित्य आदि में कोई गॉड-फादर है, न कोई जान-पहचान, न दिल्ली या हिन्दी क्षेत्र में कभी रहने-बसने का मौका मिला, न मैं किसी को घर आमन्त्रित करती या उपहार आदि दे सकती हूँ, सिवाय उन एकाध लोगों को आदर-सम्मान देने के जिनकी विद्वत्ता और नैतिक शुचिता अभिनन्दनीय हो, न मैं दावतें-सिगरेटें या बोतलें देती-छूती हूँ, बल्कि इन सब से भी बढ़कर परिवार व मूल्यों के प्रति अक्खड़ प्रतिबद्धता व ऐसा न करने वालों का डंके की चोट पर खुला विरोध आदि वे कारण हैं, जो मुझे साहित्य की परिधि से निष्कासित करने और तन्त्र से बहिष्कृत करने के लिए बहुत पर्याप्त हैं, रहे हैं। मुझे साहित्य की चौखट पर पैर भी धरने न देने वालों की चहुंदिशी भीड़ में विरलों के लिए ही यह अनुमति देना वश का है जो निस्संदेह अत्यधिक निष्पक्ष व ईमानदार हों, तभी वे मुझ जैसी नितान्त अ-लाभकारी व्यक्ति को भी अवसर देने से नहीं हिचकिचाए या हिचकिचा सकते। क्या यह सब मुझ जैसी अनाम स्त्री को हताश करने के लिए पर्याप्त नहीं होना चाहिए? किन्तु है ठीक इस से उलटा, एकाध अवसरों को छोड़ मुझे कभी हताशा नहीं हुई और अपने उपर्युक्त 'दुर्गुणों व कमियों' (?) को ही शक्ति समझ आगे बढ़ने व अपनी राह चलते रहने का अपने पिताजी का दिया आदर्श हरदम सामने रहता है और डिगने न देने की शक्ति देता है। यह तो रही व्यक्तिगत हताशा या चुनौती की बात। किन्तु सच कहूँ तो साहित्य के भविष्य व भविष्य के साहित्य की दृष्टि से ये आपकी बताई व हम सब की देखी-समझी स्थितियाँ बहुत निराश करती हैं... इच्छा होती है हिन्दी वालों को पढ़ना-मिलना पूरी तरह छोड़ दूँ शोध और शिक्षा तक को बर्बाद कर दिया है इन स्थितियों ने...क्या लाभ है ऐसे लेखन-पठन-पाठन का? तब ऐसे में उबरने (चुनौती) और डूबने (हताशा) दोनों को ही अनुभव नहीं करती। बस कर्तव्य की भाँति अपना काम किए चले जाने को आधार बना लेती हूँ। सोशल मीडिया और उस माध्यम द्वारा मुझ से सीधे जुड़े पाठक ही वह शक्ति हैं जिन्होंने मेरे अस्तित्व को पूरी तरह बनाए-बचाए रखा है। अन्यथा इन स्थितियों का क्या प्रभाव हुआ होता कह नहीं सकती।

उत्तर 9 : साहित्य में विधाओं की दृष्टि से कहानी आज केन्द्रीय विधा है। उसके बाद स्थान आता है उपन्यास का। दोनों क्षेत्रों में महिलाओं की भरपूर उपस्थिति है। कविता तो यों भी हाशिये पर है, आलोचना और संपादन में महिलाओं के नाम हैं ही, निबन्ध, ललित निबन्ध आदि तो वैसे भी सभी तरह से सिरे से जैसे लुप्त ही होते जा रहे हैं...हास्य केवल मंचीय कवियों के पास बचा है (स्तरीयता का प्रश्न उस पर भी मुँह बाए खड़ा है)। व्यंग्य तब तक व्यंग्य है ही नहीं जब तक उसमें मिठास और हास्य का पुट नहीं है, इसलिए जो कुछ वह है उसे व्यंग्य तो नहीं ही कहा जा सकता। रही स्त्री लेखन में इन विधाओं

की बात तो अभी स्त्री लेखन की उम्र ही कितनी हुई है...तनिक सब्र करें...स्त्रियों को भी कुछ हँसने-हँसाने के अवसर दें...वे हास्य भी उत्कृष्ट रच कर दिखाएँगी और तब पुरुषों का रचा भौंडा हास्य हाशिये पर चला जाएगा। आपने कहा कि औरतें केवल कहानी लिखती हैं तो उन्होंने कविता रच कर दिखा दी, आपने कहा कि वे आलोचना नहीं लिखतीं तो उन्होंने वह भी लिख कर दिखा दी, अब आप कह रहे हैं वे राजनीति नहीं लिखतीं तो यह बात अर्धसत्य है क्योंकि राजनैतिक सरोकार स्त्री लेखन में अपने अलग अन्दाज में आने प्रारम्भ हो गए हैं। अब नया यह आक्षेप कि हास्य नहीं रचतीं...भाई यह आलोचना इतनी डिमांडिंग क्यों है कि बस कुछ न कुछ माँगती ही रहती है! आप यह कब देखेंगे कि स्त्री क्या लिख रही है, या बस यही संकल्प है कि आँख मूँद कर यही रट लगाते रहेंगे कि स्त्री यह नहीं लिख रही...वह नहीं लिख रही।

उत्तर 10 : बहुत सारी पाण्डुलिपियाँ बस्तों में बन्द पड़ी हैं, चाहती हूँ उन्हें सलीके से लगाकर प्रकाशित करवाऊँ, अपना एक कहानी संकलन, एक कविता संकलन, एक लेख-संग्रह, एक साक्षात्कारों की पुस्तक (इन सब की सामग्री तैयार है, पर इस तरह तैयार नहीं कि प्रकाशक को थमा सकूँ) तो इन्हें तैयार करना है। 'भाषा प्रौद्योगिकी और हिन्दी कम्प्यूटिंग' विषयक एक पुस्तक की योजना दो-तीन वर्ष से अधर में लटकी है, उसकी सामग्री पूरी कर प्रकाशन के लिए देना चाहती हूँ। पत्र-पत्रिकाओं व अपनी वेबसाईट आदि के लिए समय-समय पर लिखना भी होता है, कुछ पत्रिकाओं ने नियमित स्तम्भ लिखने का वादा लिया हुआ है, जिन्हें हाँ कह कर भी प्रारम्भ तक नहीं कर पाई, उन्हें प्रारम्भ करना चाहती हूँ। गत वर्ष रमणिका जी के 'हाशिये उलाँघती औरत' शीर्षक (40 भाषाओं के 25 खण्डीय स्त्री-संकलन) के 'प्रवासी कहानियाँ' खण्ड का सम्पादन किया तो उसी दौरान अपनी एक अन्य योजना पर काम शुरू किया था। वह योजना है कि विश्व के सभी महाद्वीपों के हिन्दी लेखकों के कहानी संकलन को तीन-चार खण्डों में लाने की, बस उसकी शर्त यह है कि जो लेखक जिस देश में रहता है, वहाँ के स्थानीय मुद्दों पर उसे लिखना है, उन कहानियों में स्थानीयता उभर कर आनी चाहिए, अमेरिका में बैठ कर आप भारत या भारतीयों या भारत के मुद्दों व समस्याओं की कहानी न लिखें, जिसके कारण हिन्दी आलोचना अब तक ऐसी-तैसी करती आई है, जो कुछ हद तक सही भी है। इसलिए लेखकों को गत वर्ष भेजे पत्र में यह चुनौती पूरा करने का आह्वान किया था कि वे तत् तत् देशीय शिक्षा, समाज, सम्बन्ध, राजनीति, मेडिकल आदि-आदि किसी भी मुद्दे को आधार बना अपने देश को हिन्दी में अभिव्यक्त करें, कुछ कहानियाँ आईं भी, किन्तु विशद योजना है व अपने पारिवारिक एवं विश्वविद्यालयीय दायित्वों के बीच नियमित लेखादि लिखने के साथ-साथ इन्हें निभाना समयाभाव में दुरूह भी। ऊपर से पैसा देकर कदापि कहीं नहीं छपना का अपना संकल्प भी याद रहता है तो प्रकाशक न मिल पाने की अपनी सीमा भी जानती हूँ। इसलिए इन्हें योजनाओं की अपेक्षा स्वप्न कहना अधिक उचित है। तो इस प्रकार योजनाओं के नाम पर कुछ स्वप्न ही हैं अपने पास! बस!! n

पता : kavita-vachaknavee@gmail-com
फोन : +44 –751 788 2725

n मधु अरोड़ा

उत्तर 1 : अभिव्यक्ति की आजादी को लेकर कहने को तो बहुत कुछ कहा जा रहा है। माना कि जनतांत्रिक आंदोलनों का अंतिम आदर्श भी अभिव्यक्ति की बराबरी ही रहा है, यह सुनने में अच्छा और आकर्षक लगता है, पर यह भी सच है कि इस अभिव्यक्ति को कुचला भी गया है वरना जलियावाला वीभत्स कांड नहीं हुआ होता। अब रही बात, हिंदी जगत में स्त्रियों द्वारा रचे जा रहे साहित्य की विपुलता को लेकर...किसी हद तक तो समान अवसर हैं, पर यह भी सच है कि यह अवसर स्त्री को दिया ही नहीं गया, उसने सतत संघर्ष करके हासिल किया है। आज भी सामाजिक, पारिवारिक दबावों के चलते मनचाहा नहीं लिख पाती। आपको एक बात बता दूं कि स्त्री जब अपने आसपास के माहौल से पात्र उठाती है तो सवाल दागा जाता है कि कहीं मैं तो तुम्हारे पात्र का निशाना नहीं हूं लेकिन शायद पुरुष इन तरह के सवालों से मुक्त होते हैं। सनद रहे अब स्त्री समाज का जो सच लिख रही है, एक तरह से सच बोलने का ख़तरा मोल ले रही है।

उत्तर 2 : सर्वप्रथम, मैं साहित्य को खांचों में रखकर नहीं पढ़ती। कोई कहानी, उपन्यास खुद को पढ़वा ले जाय, यह जरूरी है। राजनीतिक आरक्षण का असर साहित्य में दिख रहा है, जो साहित्य के लिये शुभ संकेत नहीं है। रही बात लोगों की तो, तो लोगों ने अपनी सुविधा के लिये, अपनी पहचान के लिये खांचों को स्वीकार कर लिया है और मुझे लगता है कि इस तरह उन्होंने अपनी सीमाएं खुद ही तय कर ली हैं। रही बात, मेरे लेखन को लेकर तो 'स्त्री-लेखन' जैसा लेबल चस्पां तो नहीं ही हुआ है और फिर अभी शुरुआत की है। स्त्रियों से जुड़ी समस्याओं, संघर्षों पर नजर है, होनी भी चाहिये। मेरी कोशिश होती है कि मेरी रचनाओं के स्त्री पात्र गलत बातों के आगे झुकनेवाले न होकर निर्णय लेने वाले हों।

उत्तर 3 : स्त्री-विमर्श ने एक तरह से यह सकारात्मक कार्य किया है कि स्त्री पितृसत्तात्मकता के खिलाफ खड़ी हुई और लिखा भी है। एक सवाल मेरे मन में भी हमेशा रहा है कि स्त्री की यौन शुचिता के तो मानदंड भी बना लिये हैं, पर यही शुचिता पुरुष वर्ग की ओर से अपेक्षित होगी, ऐसा कभी सोचा गया है या इस पर लिख गया है? अब जहां तक राजनीति और संस्कृति के क्षेत्र में महिलाओं के लिये लक्ष्मण रेखाएं हैं और लेखिकाएं आंखें फेरे हैं, तो साफ है कि राजनीति में वे महिलाओं के दोहन से वाकिफ हैं। आज के परिप्रेक्ष्य में तो आप देख रहे हैं कि सत्ता की कुर्सी तक जाने के लिये पहले हमबिस्तर होना

मांगा जाता है। कथाकार चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'आंवा' में राजनीति की नंगई दिखाई देती है। यह उपन्यास मेरे मनपसंद उपन्यासों में से एक है।

उत्तर 4 : दरअसल आरक्षण वगैरा के चक्कर में पड़ी नहीं कभी...। आरक्षण की श्रेणी में भी नहीं हूं। जो भी मिला, मेरिट पर ही मिला और मेरिट में आने के लिये कड़ी मेहनत की है। महिलाओं के रचनात्मक सरोकारों में ये बातें न आने का कारण यह भी हो सकता है कि कितनी महिलाएं इस त्रासदी से गुजरी हैं। इस सवाल का उत्तर संक्षिप्त नहीं हो सकता है। पूरा मकड़जाल है इसके पीछे...। कभी कहानी लिख पाई तो जरूर लिखूंगी।

उत्तर 5 : यदि शादी की है तो मां बनना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। कम से कम भारत में मां बनने को पश्चिमी नजरिये से नहीं देखा जाता। वहां वैवाहिक स्थित हमेशा असुरक्षित रहती है। कारण उनको ही पता होंगे। वे हर बात में आजादी चाहती हैं और बच्चों को रुकावट मानती होंगी तभी वे मातृत्व को स्वीकार नहीं कर पातीं। वे अपने जीवन में किसी भी तरह का अवरोध नहीं चाहतीं, इसलिये ऐसा सोचती हैं ऐसा मेरा मानना है।

उत्तर 6 : यौन हमलों में टी.वी. चैनलों का बहुत बड़ा हाथ है। क्राइम पेट्रोल जैसे सीरियल का युवा मानस पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। कार्य स्थलों पर और अन्यत्र स्त्री-पुरुष रिश्तों का असहज होते जाना अति महत्वाकांक्षी होना है। आज हर चीज की कीमत मांगी जाती है यदि समझौता दोतरफा है तो असहजता की स्थिति नहीं आती, पर इकतरफा है तो समस्या होती है। अब रही बात, लैंगिक कटुता की तो मैं जिस शहर में रहती हूं, वहां व्यस्तता इतनी है कि इन बातों पर सोचने की फुर्सत ही नहीं है।

उत्तर 7 : वक्त़ वक्त़ की बात है। हर दशक के बाद समय बदलता है, साहित्य का स्वरूप बदलता है तो सोशल मीडिया को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता, गंभीर लेखन की जो जगह है, वह तो बनी रहेगी। सोशल मीडिया का विवादास्पद हस्तक्षेप एक लहर है, समय के साथ खत्म या कम हो जायेगी।

उत्तर 8 : मैं एक स्त्री होने के नाते हिंदी साहित्य का संक्रमणकाल मानती हूं। कुछ कुछ भटका हुआ सा। बदलते समय के साथ शायद लेखक खुद को बदल नहीं पा रहे। कुछ लेखक पुरानी परिपाटी पर चलने और चलाने के हिमायती हैं, तो नये लेखक परिपाटी को तोड़कर नया रचने की प्रक्रिया में है। नयेपन की स्वीकारोक्ति में कुछ तो समय लगेगा। मैं इसे चुनौतीपूर्ण मानती हूं।

उत्तर 9 : स्त्री के जीवन का एक कड़वा सच सामाजिक, पारिवारिक दबाव कई बार उसे हंसने की इजाजत ही नहीं देते। उत्तरदायित्वों से इतनी लाद दी जाती है कि वह हंसना भी भूल जाती है। स्त्री लेखन भी तब करती है जब पारिवारिक कामों को पूरा कर लेती है। तो हास्य कैसे आयेगा वैसे यह एक अलग मुद्दा है।

उत्तर 10 : मैं दरअसल गत तीन-चार सालों से ही हिंदी लेखन में सक्रिय हुई हूं। इन सालों में पांच पुस्तकें अपने खाते में ले ली हैं। आगामी समय में कहानी संग्रह तो रहेंगे ही, साथ ही मुंबई पर एक उपन्यास लिखने की दिली तमन्ना है पर उसमें मुंबई का संघर्ष नहीं बल्कि 1960 के आसपास मुंबई में जो दंगे हुए, उस समय मुंबई कैसी थी और 21वीं सदी में मुंबई कैसी है, उस पर ध्यान केन्द्रित करना चाहूंगी। हालिया हालात तो गूगल सर्च में मिल जायेंगे, पर उन हालात का गूगल में भी रिकार्ड नहीं है, जो मैंने अपनी मासूम आंखों से देखा है। तब तो इन बातों को नहीं समझ पाई पर जब आज सोचती हूं तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उन बातों को अपने उपन्यास में लाना चाहूंगी, बस। ऐसी ही कुछ लेखकीय योजनाएं हैं अब ये योजनाएं कितनी फलीभूत होती हैं, यही देखना है। कारण स्पष्ट है कि लिखना देर से शुरू किया और वक्त़ बहुत कम है। शरीर की उर्जा साथ छोड़े, उससे पहले कुछ सार्थ लिखने का मन है बाकी हरि इच्छा। n

मो. : 09833959216
ईमेल : shagunji435@gmail.com

---

n आशा प्रभात

उत्तर 1 : हाँ, अवसर तो समान कहा जा सकता है उनकी अभिव्यक्ति के लिए पूर्णतः नहीं तो आंशिक भी नहीं किन्तु स्थितियां समान नहीं हैं। आज भी उनकी अभिव्यक्ति द्वंद्व व असमंजस से मुक्त नहीं है। मनचाहा रचने की उनकी उमंग तो तब शिथिल पड़ जाती हैं जब अपने सामाजिक दायरे के यथार्थ पर वे दृष्टिपात करती हैं तब यथार्थ निर्द्वंद्व रचने को तड़पता उनका लेखक मन अचानक धराशायी हो जाता है। निर्द्वंद्व हो कुछ कहने का अवसर पहले से बेहतर है। हां, यथार्थ बोध की कटुता से उत्पन्न चोट आपको हर काल में झेलनी पड़ेगी, ऐसी अभिव्यक्ति मुखर भी हो सकती है और फुसफुसाहट में भी हो सकती है।

उत्तर 2 : किसी भी रचना का मूल्यांकन कि यह दलित द्वारा दलितों के लिए, पिछड़ों द्वारा पिछड़ों के लिए या स्त्री द्वारा स्त्री के लिए रची गई है, कहना अन्याय है। आज जब दलित, पिछड़े या स्त्रियां कलम को अभिव्यक्ति का औजार बनाकर अपनी पीड़ा, अपने भोगे हुए यथार्थ को शब्द दे रही हैं तो उसे मात्र लेखन या साहित्य तसलीम क्यों

नहीं किया जा रहा? खांचों में बांटकर उसे हाशिये पर धकेलने या नज़रअदांज करने की साजिश क्यों की जा रही है? किसी भी लेखन के अनुभव की अभिव्यक्ति को एक खास दायरे में रखकर उसे नकारने की प्रवृति से बचना ही साहित्य के प्रति न्याय होगा। मैं इससे कदापि इत्तेफाक नहीं करूंगी कि मेरे लेखन पर मात्र स्त्री लेखन का लेबल चस्पां हो क्योंकि लेखिकाओं के लेखन में न तो मात्र रांड रोदन है न वह समर्पण या अति समर्पण वाली प्यार मोहब्बत। वहां भोगा हुआ यथार्थ है। उनके लेखन का कैनवास भी विस्तृत हुआ है। हां, भोगा हुआ अनुभव स्वतः स्फूर्त जिद्दी बच्चे-सा लाख वर्जनाओं के बावजूद यदा-कदा कूद ही आता है उनके लेखन में जिस अनुभव से सामान्यजन (पुरुष वर्ग) वंचित हुआ करता है। रचनाकार का वर्गीकरण करके उसके लेखन मूल्यांकन करना अमूल्यन की पहली सीढ़ी है और यह प्रक्रिया नये मठाधीशों को जन्म भी देती है।

उत्तर 3 : बेगम अख्तर कहा करती थीं कि स्त्री के पास ही ईश्वर का दिया दो आशीर्वाद है। एक है तन की नजाकत, दूसरा मन की ताकत। किसी भी क्षेत्र में प्रभाव और परिणाम इस बात पर निर्भर करता है कि स्त्री अपने इन दो अतुल्य आशीर्वाद का उपयोग कैसे करती है। हिन्दी की जेनुइन लेखिकाओं ने कभी भी उन पाखंडियों का समर्थन नहीं किया या कर रही हैं जो महिलाओं को पुनः बेड़ियों में जकड़ने का षडयंत्र कर रहे। कहीं-कहीं तो लेखन ही नहीं अपने कार्यों द्वारा भी इसका प्रतिरोध करती रही है। कर रही हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि किसी भी रामायण में जिस लक्ष्मणरेखा का जिक्र तक नहीं है वह कितना बड़ा हथियार बन गया स्त्रियों में भयादोहन का। लेखिकाएं अपनी रचनाओं द्वारा इसका विरोध तो कर रही हैं किंतु आधुनिक ग्लैमर लड़कियों और स्त्रियों को अपनी चकाचौंध से अंधा भी कर रहा जिसका अनुकरण वे आंखें बंद कर रहीं और अपने स्व का शोषण आसानी से होने दे रही हैं। अब बात आती है कि लेखिकाएं आंखें फेरे क्यों दिखायी दे रही हैं इन सब से? तो मैं इतना ही कहना चाहूंगी कि आज उन दरवाजों पर जहां से स्त्री की आकांक्षाओं की उड़ान होनी है, वहां का सजग प्रहरी पुरुष ही है। हम सभी जानते हैं कि मीरा की सार्थकता केवल विष का प्याला पीने में नहीं है अपितु चितौड़गढ़ की प्राचीरों को वैसे लांघ जाने में है जैसे वे मिट्टी के घरौंदे हों।

उत्तर 4 : विधायिका, कार्यपालिका या शिक्षण संस्थाओं में महिलाओं के लिए तथाकथित सुरक्षित या रक्षित स्थान हाथी दांत की बनी हुई वह ऐशट्रे है जिसमें केवल जूठी राख गिराई जाती है। यह स्पष्ट हो चुका है कि प्रतिभा पाटिल के राष्ट्रपति बनने से कोई सार्थक संकेत नहीं जाता परन्तु किरण बेदी के अपने कार्यकाल के प्रथम चरण में ही गणतंत्र दिवस की परेड का नेतृत्व करने की मांग एक संदेश जरूर देती है। निजी कॉरपोरेट जगत में बिना किसी आरक्षण के महिलाओं ने अपनी सार्थकता, सशक्त व्यवस्था, सफल संचालन एवं अपनी इकाई को संकट से निकाल सफलता की राह पर स्थापित करने का उदाहरण प्रस्तुत किया है। फिर भी यदि महिला मंत्री की डिग्री नहीं है तो प्रश्न खड़े होंगे और राज्य के मुख्यमंत्री (यदि वह पुरुष है) के अनपढ़ होने पर भी उसे अनुभव की बंडी पहना दी जायेगी। आज भी स्त्रियों का अपनी देह पर अधिकार नहीं है अभी भी वे समानता के अधिकारों के लिए संघर्षरत हैं वे और कमोवेश यही उनका लेखन भी बन रहा है किन्तु ऐसा भी नहीं है कि इनसे इतर के विषयों पर उनकी कलम नहीं उठी है। हां, उस अनुपात में नहीं उठी है जिस अनुपात में अपेक्षित है। टुकड़ों-टुकड़ों में अधिकार पाने वाली स्त्री टुकड़ों-टुकड़ों में ही तो रच सकती है, स्थितियों को।

उत्तर 5 : मातृत्वबोध जहां स्त्री को सबल बनाता है वही उसे दुर्बल भी बनाता है और इसे ही हथियार बना कर समाज उसे लांक्षित, प्रताड़ित भी करता रहा है तथा अदृश्य सीखचों में कैद भी। पश्चिम अभी मां के द्वारा लालन-पालन को ही सीख रहा है ऐसे में पश्चिम भावुक सम्मोहन को परिभाषित कैसे कर पायेगा। मातृत्व का भावुक सम्मोहन मर्दवादी राजनीति के षड्यंत्र का एक हिस्सा हो सकता है परन्तु कोई भी पुरुषत्व जीवन चक्र की इस शक्ति को स्वयं में समाहित नहीं कर सकता। मां के त्याग का विकल्प विवशता नहीं बल्कि अपना सर्वस्व बलि चढ़ाने की अद्भुत नैसर्गिक शक्ति है। या देह की शास्त्रीय विलक्षणता है जो औरत को पुरुष से श्रेष्ठ ही बनाती है गुलाम या स्वामी नहीं। पृथ्वी के सारे जीवों में मादाएं इस आशीर्वाद व शाप से ग्रसित हैं फिर भी वे इस संवेदना के धन को त्यागना नहीं चाहेंगी। व्यावहारिक जगत में दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं-एक रानी लक्ष्मीबाई का। जब वह पुत्र को अपने पीठ पर बांध कर रणक्षेत्र में उतरी, दूसरा जब झारखण्ड राज्य की पुलिस पदाधिकारी श्रीमती अनुपमा सक्सेना ने अपने दिवंगत पति अजय सिंह की अर्थी को कंधा दिया था। यह उदाहरण विश्व में कहीं अन्यत्र नहीं मिलेगा।

उत्तर 6 : बेशक चिन्तित करती हैं और विशेष चिन्तित करती है कि स्त्रियां अपने सोच व आचरण में समय के साथ कदम ताल कर रहीं किन्तु पुरुष आज भी तालाब के जल की भांति वही के वही ठहरे हुए हैं। सत्ता के सुखभोगी कैसे चाहेंगे कि जो कारक है वह उन्हें उन सुखों से वंचित करने की साजिश करे। उनके पुरुषार्थ को ललकारे। वे तो अपने परमशत्रु के उस मर्म पर चोट करना चाहेंगे ही जहां से वह फौरन धराशायी हो जाए। दहलीज से बहार निकलना छोड़ दे। उनसे होड़ करना छोड़ दे और अपनी बौद्धिकता को दफन कर दे। जिद्द को समेट ले। तथा इस आक्रामक प्रवृत्ति के बढ़ावे में समाज का तटस्थ हो जाना भी एक बड़ा कारण नजर आ रहा है। महिलाओं के विरूद्ध आक्रमण और यौन अपराध पुरुषों के असंयम और कुंठा का प्रतिफल है, इसका निदान कठोर विधान में नहीं है। जब तक अपराधियों का सामाजिक बहिष्कार नहीं होता तब तक सशक्त विधान अशक्त बने रहेंगे। महिलाओं के विरूद्ध आक्रमण से सामाजिक प्रतिक्रिया तो खूब होती है परन्तु सार्थक चिन्तन और विचारों का पूर्वाग्रह से मुक्त आदान-प्रदान नहीं होता। संचार और संवाद जगत में घटना की चर्चा व्यापक होती है परन्तु अपराध करने वालों की सचित्र निंदा एवं उनको मिले हुए दंड की भी चर्चा होनी चाहिए।

उत्तर 7 : निःसंदेह सूचना प्राद्यौगिकी ने लेखक की मदद खूब की है। उसकी तुलना में लेखन उपेक्षित हुआ है। यानि जो लेखन सोशल मीडिया में छा जाता है उसी को लिखने वाला लेखक कहलाता है। आज की पृष्ठभूमि में यह अस्वाभाविक नहीं है। यह भी सत्य है कि पारंपरिक रचनाएं रचकर भी आज गंभीर लेखन प्रचार-प्रसार का मोहताज है। सोशल मीडिया के लाभार्थी वे जन हैं जिनके पास गंभीर लेखन पढ़ने का समयाभाव है या समझ नहीं है और हम यह भी नहीं कह सकते कि उनका प्रभाव दर्शकों पर नहीं पड़ रहा है। नूतन तकनीकी प्रचारतंत्र वर्ग चेतना को कुंद कर रहा है और उन्हें यथास्थिति में बनाए रखने में मददगार हो रहा है। मात्र अपने स्वार्थ के लिए बाज लेखक इसे औजार की तरह इस्तेमाल कर रहे हैं। उनका मानना है कि जब तक पाठक उस कृति को समझेंगे, उसकी लाखों प्रतियां बिक चुकी होंगी। तो इसका प्रत्यक्ष फायदा उन्हें होगा ही। इसका एक पहलू यह भी है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि गंभीर लेखन के पाठक पहले पत्र द्वारा (आज फोन पर ही अधिकांश प्रतिक्रियाएं मिलती हैं) अपनी पसंदगी-ना पसंदगी जताते थे। वह पत्र मात्र निज का होता था। बहुत हुआ तो कोई पत्र पत्रिका में छपकर दो-चार पाठकों तक उसका असर पहुंचाता था। इसके लिए आज पूरा विश्व खुला पड़ा है। एक साथ इतने पाठकों से जुड़ने का सुख त्यागना, संन्यासी-सा मन चाहिए। किन्तु गंभीर लेखन का पाठक वर्ग आज भी कम नहीं हुआ है वरन इतनी मात्रा में पुस्तकें नहीं छपती या बिकतीं। लेखन या गंभीर लेखन को सोशल मीडिया की अवहेलना नहीं करनी चाहिए बल्कि उसे आत्मसात करते हुए साहित्य में अपना योगदान देते रहना ही श्रेष्ठ विकल्प है जैसे सड़क की कोलाहल के कारण हम अपनी मंजिल नहीं बदलते सोशल मीडिया के कारण हम अपनी दिशा क्यों तय करें।

उत्तर 8 : आपका यह प्रश्न ही अपने आप में उत्तर भी है और यह सब कुछ चुनौतीपूर्ण है।

उत्तर 9 : स्त्रियों का समय और मार्ग निर्धारित है। उनके लिए परिवेश को उन्मुक्त भाव से देखना बहुत टेढ़ी खीर है। बिखरी हुई विसंगतियों को विनोद, व्यंग्य तक लाना क्या व्यवहारतः संभव लगता है? हास्य या विनोद शास्त्रों में नहीं सामाजिक परिवेश में छिपा होता है। अतः स्त्री लेखन में इसकी कमी दिखायी देती है। इस कमी को उसके सामर्थ्य से नहीं जोड़ा जा सकता है। फिर सच तो यह भी है, यदि द्रौपदी के हास्य को हास्य समझा गया होता तो महाभारत होता ही नहीं।

उत्तर 10 : मैं जनक नंदिनी (सीता पर आत्मकथात्मक उपन्यास) शीघ्र प्रकाश्य 'साहिर का समग्र' साहिर लुधियानवी की समग्र रचनाओं का लिप्यातंरण, राजकमल प्रकाशन से शीघ्र प्रकाश्य तथा दो कहानी संग्रह उर्दू एजूकेशनल पब्लिशिंग हाउस से जल्द आ रहा है, एक मौलिक संग्रह है 'हौसला' तथा दूसरा हिन्दुस्तान में हिन्दी के हिन्दी में चर्चित कहानियों का अनुवाद 'हमअस्र हिन्दी कहानियां'। कुछ कहानियों पर काम कर रही हूं। n

मो. : 09470449526

ईमेल : asha_prabhat@rediffmail.com

n स्वाति तिवारी

उत्तर 1 : अभिव्यक्ति का मलतब विचारों का प्रकाशन है। व्यक्तित्व के समायोजन के लिए मनोवैज्ञानिकों ने अभिव्यक्ति को मुख्य साधन माना है। बीसवीं सदी में जिसमें बौद्धिक क्रान्ति या विस्फोटक विद्रोह दुनिया में एक बड़ा बदलाव लाया जिसमें शिक्षा के तेजी से होते विस्तार, भूमण्डलीय ज्ञान-विज्ञान के साथ सूचनाओं के त्वरित आदान-प्रदान ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यूरोप के फेमिनिज्म की धारा में भारत में शिक्षित वर्ग में नई दृष्टि नई सोच विकसित की। महिलाओं ने अपने अधिकारों के लिए संगठित होने और सामूहिक रूप से अपनी बात रखने की शुरुआत की। इसी सबके चलते स्त्री की स्थिति में बहुत बड़ा परिवर्तन आया है। शिक्षा, स्वतंत्रता, अपनी अस्मिता की पहचान, उच्च पदों पर काम करते हुए उपजे आत्म विश्वास ने स्त्री को निखारा है। स्त्री की अभिव्यक्ति की ही इस यात्रा में बड़ी अहम भूमिका रही है। स्त्री की थैरीगाथाओं से शुरू हुई अभिव्यक्ति ने ही आज तमाम जनतांत्रिक आन्दोलनों को पार करते हुए अभिव्यक्ति की बराबरी ना भी कहीं तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का एक महत्वपूर्ण मुकाम हासिल किया है आज स्त्रियों द्वारा रचा जा रहा विपुल साहित्य इसी का प्रमाण है। रहा सवाल निर्द्वंद्व होकर मनचाहा रचने और अभिव्यक्त करने का तो उसके लिए स्त्री को स्त्री के लिए अनुकूलित किए गए परिवेश समाज और आत्म द्वंद्व से स्वयं के विवेक का इस्तेमाल करते हुए 'स्वतंत्रता' के अर्थ स्वयं तय करना अभी शेष हैं। साहित्य या अभिव्यक्ति जिसे मानवीय विवेक का हरकारा कहा जाता है उसमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता या बराबरी के सार्थक मायने स्त्री को स्वयं करने हैं-वह कर रही हैं।

उत्तर 2 : वर्तमान साहित्य विशेषकर कथा साहित्य में निरपेक्ष रूप से विचार किया जाता है जैसे आज की कहानी, नई कहानी, यथार्थ कहानी, दलित कहानी, स्त्री की कहानी या दलित विमर्श, स्त्री विमर्श इत्यादि पर मुझे लगता है कि कथा-साहित्य को खांचों में बाँट कर नहीं देखा जाना चाहिए। कहानी किसी की भी हो वह मर्म है जीवन का। इसी मर्म को अपने अनुभवों को लेखक अपने तयी समेटता है। यथार्थ

पर रची रचनाएं प्रामाणिक ज्यादा होती है वे इस दृष्टि से रेखांकित और मूल्यांकित होनी चाहिए विभाजित या विखण्डित नहीं। मैंने हमेशा अपने अनुभवों के आधार पर लिखा, लेखक होने से पहले मैं स्त्री हूँ। मेरी संवेदना मेरे अनुभव मेरे हैं। स्त्री लेखन को लेखन नहीं मानती मैं मीडिया में स्त्री मुद्दों पर खूब लिखा और खूब प्रकाशित भी हुआ। मैंने किसी लेबल के चस्पा होने ना होने से प्रभावित नहीं होती, किसी भी लेखक को होना भी नहीं चाहिए। लिखते रहना हमारा कर्म है हमारा चिन्तन है, हमारी पहचान यही समय के साथ बचा रहेगा-लेबल खुद ब खुद मिट जायेंगे। मेरी एक कहानी नया ज्ञानोदय में आयी थी। पस्त-पराजित लोगों ने पूछा आपने 20 साल का लड़का बनकर यह कहानी कैसे लिखी? मेरी कई कहानियों में पुरुष केन्द्र में हैं। अंतराल, अब कोई वर्जना नहीं हंस में प्रकाशित हुई थी पुरुष को केन्द्र में रखकर लिखी गई कहानी-मैं खाँचे में कहाँ खड़ी हूँ-खाँचे से बाहर हूँ। लेखक सिर्फ लेखक है-यही सबसे महत्वपूर्ण है।

उत्तर 3 : आपका प्रश्न खुद कह रहा है कि आधुनिक स्त्री रचनाधर्मिता में 'कॉमन थ्रेड' पितृसत्ता के विरुद्ध संघर्ष और प्रतिरोध हैं। आप स्वयं स्वीकार कर रहे हैं कि हिन्दी साहित्य में लेखिकाओं ने भावनात्मक, शारीरिक, सामाजिक स्तरों पर पाखण्डों का उद्घाटन और उभेदन कुशलता से किया है। यौन सुचिता की खोखली अवधारणाओं की भी धज्जियाँ उड़ाई है वो कौन से हिन्दी जगत की लेखिकाएँ आँखें फेरे हैं? दरअसल लेखिकाएँ अपना काम कर रही है जरूरत आँखे खोल कर देखे जाने की है।

उत्तर 4 : इस्लामिक देशों में स्त्री की जो स्थितियाँ है उनसे या दुनियाँ की अन्य सभ्यताओं या संस्कृतियों से भी अगर तुलना करें तो हम देखते है कि भारत में महिलाओं ने हर क्षेत्र में अपेक्षित स्थान हासिल किया है राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री, राजनायक, जज, वकील, डाक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर, अंतरिक्ष तक हर क्षेत्र में भारतीय महिलाओं ने अपनी योग्यता साबित की है। पूर्णतः सिर्फ स्त्री ही स्त्री इन जगहों पर दिखाई देंगी तो संतुलन फिर बिगड़ जायगा। स्त्री कभी भी पूर्ण वर्चस्व नहीं चाहती वह अपनी स्पेस चाहती है। स्त्री के रचनात्मक सरोकार क्या हैं? जो हैं उनमें उसने अपेक्षा से ज्यादा स्थान बनाया है।

उत्तर 5 : मातृत्व एक मानवीय गुण है जो किसी में भी हो सकता है। जननी होना एक जैविक प्रक्रिया है जो सिर्फ स्त्री के पास स्वयं हैं। किन्तु मातृत्व एक अर्जित योग्यता है जैसे यशोदा का मातृत्व माना गया हैं। मुझे लगता है यशोदा से बड़ा मातृत्व कोई नहीं है। चूंकि मातृत्व करुणा सम्बलित न्याय दृष्टि हैं एक ऐसी सम्वेदना दृष्टि जिसमें सारे मानवीय मूल्यों का निचोड़ हैं। मातृत्व को नारीत्व का पर्याय मानने से यह आन्तरिक रूप से स्त्री की पहचान निर्धारित करने लगता है। जबकि हम सब जानते है कि यह कोई आन्तरिक प्रवृत्ति नहीं बल्कि सामाजिक संरचना है। विज्ञान की दृष्टि से कोई पुरुष जननी नहीं हो सकता पर हृदयगत भावों से कोई ममतामयी हो सकता है। मातृत्व के दायित्व को निभा सकता है। हमारी समाजीकरण की प्रक्रिया में माना जाने लगा कि चूंकि स्त्री माँ बन सकती है, वह सर्जक हैं, अतः उसके मानवीय मूल्य पुरुष के मूल्यों पर भारी पड़ते है-तो ये मूल्य पुरुष सीख सकता है। मातृत्व भाव भावुक सम्मोहन नहीं एक सामाजिक संवेदना का भाव है। यदि मातृत्व की दुहाई देकर स्त्री को उसकी अपेक्षित योग्यताओं से खारिज किया जाता है यह उचित नहीं। इसके प्रति यदि इस बात को लेकर मर्दवादी राजनीति होती है तो वह उचित नहीं है।

फ्रायड के अन्य आलोचक अस्मिता के निर्माण में माँ की भूमिका पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। डोरोथी डिन्नरस्टीट ने अपनी पुस्तक 'दमरपेड एंड द मिनोटाउर' (जलपरी और दानव) में मातृत्व के अनुभवों का बहुत संवेदनशील चित्र प्रस्तुत किया हैं।

उत्तर 6 : यौन हिंसा सामाजिक असंतुलन का परिणाम है। स्त्री मुक्ति देह से नहीं वैचारिकता से मिलनी चाहिए पितृसत्ता हमारी सामाजिक व्यवस्था है जबकि स्त्री अस्मिता का जन्म आर्थिक, सामाजिक और राजनीति गैर बराबरी से मुक्ति के रूप मे हुआ। दमन से बचना है तो संघर्ष, प्रतिस्पर्धा, प्रतियोगिता में पड़ना नहीं है बजाय इसके स्त्री पुरुष को साथ साथ रहते हुये अपनी अपनी पहचान के साथ जीना चाहिए। स्त्री को खूंटा नहीं एक घर, एक स्वतंत्र धरती और आकाश दीजिये। स्त्री को अपने लिए निर्णय लेने के अधिकार दीजिये। यौन हमले और हिंसा स्त्री के साथ समाज की अस्मिता को भी तार-तार करते है।

उत्तर 7 : सोशल मीडिया ने स्त्री को अभिव्यक्ति का एक मंच और अपनी बात कहने का अवसर दिया है वहाँ उसके लिए भरपूर स्पेस हैं यह स्पेस आभासी हो चाहे क्षणभंगुर, हल्का हो या औसत महत्वपूर्ण यह है कि अपनी बात कहने की स्वतंत्रता हो तो व्यक्त कर देने से कुण्ठाएं निकल जाती हैं। मन हल्के हो जाते हैं। सोशल मीडिया पर 'चालिए पर की औरतें' खूब चर्चा और बहस में रहा। अगर औरतें मीडिया की इस स्पेस का उपयोग कर रही हैं तो कष्ट क्या है? जो क्षणिक अभिव्यक्तियाँ हैं वे समय के साथ चली जाती हैं पर जो साहित्य है जो गंभीर लेखन है वह कालजयी है वह हमेशा रहेगा साहित्य में मैं सोशल मीडिया को मैं हस्तक्षेप नहीं मानती मुझे लगता है वह सिर्फ सूचनाओं और प्रतिक्रियाओं का स्क्रीन है वह साहित्य में शामिल नहीं है-अपनी बात कहिए और बस।

उत्तर 8 : कालजयी साहित्य कछुए की चाल से चलेगा तब भी खरगोश से आगे निकल जाता है। परिचर्चाएं, गोष्ठी, जलसे, विमोचन, समीक्षाएं, समय की मांग हैं। मैं इनका विरोध नहीं करती पर वे लेखक या रचना का सिर्फ प्रचार कर सकती हैं उसे स्थापित नहीं। सब जानते

हैं हर चमकती चीज सोना नहीं होती पर चूंकि यह विज्ञापन का युग है अतः इनको मैं प्रचार-तंत्र का हिस्सा ही मानती हूँ। लिखने रहने वालों को देखना होगा कि रामचरित मानस, प्रेमचन्द की कृतियाँ प्राचीन साहित्य आज भी हैं जबकि तब जलसे-जुलूस नहीं होते थे। जो अच्छा है वह रहेगा शेष खप जायगा। रहा सवाल ऐसे पुरस्कारों का तो हम सब इसके आगे और पीछे की कहानियाँ खूब सुनते हैं उनका हश्र भी देख रहे हैं। पर मेरा तब भी मानना है कि पुरस्कार लेखक को और जिम्मेदार बनाते हैं। उसके लेखन का कुछ तो मूल्यांकन करते ही हैं। हमेशा कृति पुरस्कृत होनी चाहिए पर प्रचार सारा प्रायोजित लेखक ले जाते हैं। कृति गौण हो जाती है-यह उचित नहीं।

उत्तर 9 : हृदय के आस्वाद के नौ रस प्रसिद्ध हैं। और हृदय के आस्वाद को आलौकिक आनंद माना गया है। इसका सीधी सम्बन्ध भावानुभूतियों से। पर स्त्री लेखन में यह कम दिखायी देता है-यह सच है। पूरी तरह गायब है यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि सरोजिनी प्रीतम, सुभद्राकुमारी के लेखन में यह देखा जा सकता है। 'हास्य और विनोद' स्त्री के जीवन में कितना है? है भी या नहीं? यह जानने और समझने के बाद आपका यह प्रश्न स्वयं ही खारिज हो जाता है। कटाक्ष और व्यंग नहीं स्त्री लेखन में सच्चाई है यथार्थ है जो मिला है वह लौटाया है-कटाक्ष व व्यंग नहीं करती वह। केवल सच्चाई पर ऊंगली रखती है। स्त्री जो भारतीय समाज में भद्दी गालियों से अपमानित होती है, जो उपेक्षित-प्रताड़ित होती है जो हिंसा और उत्पीड़न की शिकार है-जो स्वयं विनोद की वस्तु है-उससे हास्य की अपेक्षा बेमानी लगती है।

उत्तर 10 : मेरा लेखन भी मेरी तरह सहज व सरल है। जब जैसे सरोकार और पात्र मिलते हैं वहीं लिखने के लिए बाध्य करते हैं। योजनाबद्ध लेखन कामकाजी स्त्री के लिए थोड़ा मुश्किल होता है, वह निर्धारित समय की मांग करता है-भोपाल गैस त्रासदी पर 'सवाल आज भी जिन्दा हैं' लिखते हुए फिर कोई कहानी नहीं लिख पायी पर यह भी एक अनुभव रहा। इन दिनों एक उपन्यास प्रकाशनाधीन है। और दो आधे-अधूरे हैं, बस उन्ही पर काम करना है। घर, नौकरी, समाज के दायित्वों के बाद का समय ही लेखन के लिए है। वही मेरा अपना है। इन दिनों मध्यप्रदेश के कथाकारों की कहानियों पर एक संग्रह सम्पादित कर रही हूँ। भोपाल के प्रवासी पक्षियों पर लिख रही हूँ। स्त्री-विमर्श की पुस्तक शिल्पायन से आ रही है। अपने पिता से मिले लोक संज्ञान और अपनी लोक चेतना पर पचास पृष्ठ लिखे हैं। कहानी के रूप में शायद वह भी पूरा कर पाऊँ। मध्यप्रदेश लोककथाओं का पुनर्लेखन भी एक प्रोजेक्ट है मेरा। ▫

मो. : 09424011334
ईमेल : stswatitiwari@gmail.com

▫ रजनी गुप्त

उत्तर 1 : यह सचमुच आज के लोकतांत्रिक परिवेश में सबसे बड़ी उपलब्धि है कि हमें अभिव्यिक्ति की बराबरी हासिल हैं। हिंदी के समकालीन साहित्यिक परिदृश्य को देखकर ऐसा आभास जरूर होता है कि लेखिकाओं द्वारा रचे जा रहे साहित्य में एक लेखिका को लेखक के बराबर बेबाकी से अभिव्यक्ति के प्रचुर अधिकार मिले हैं जो कि काफी हद तक सही भी है जोकि कुछ वरिष्ठ लेखिकाओं द्वारा लिखी आत्मकथाओं द्वारा द्रष्टव्य है मगर मेरा मानना है कि एक सच वह होता है जो सबको नजर आने लायक सच होता है परंतु कार्पेट के नीचे अभी भी काफी मोटी धूल जमी हो सकती है जिसे हटाने का साहस सबमें नही होता यानी अनकहे दबावों व अनदेखी अंदरूनी सचाइयों की कालिमा को रचनात्मक स्तर पर उघाड़ने का साहस अभी भी सौ प्रतिशत नही है सो अवसरों की समानता के बावजूद मनचाहा रच पाना या मनचाही अभिव्यक्ति की राह में अनगिनत अड़चने हैं। खुलापन कितना भी क्यों न दिखता हो मगर एक झीनी सी पारदर्शी चादर यहां भी साफ नज़र आती है जिसके चलते हकीकत आधी अधूरी ही अभिव्यक्त हो पाती है।

उत्तर 2 : मेरा मानना है कि कोई भी पाठक जब साहित्य पढ़ता है तो उसे दलित व स्त्री जैसे खांचों में रखकर कभी नही पढ़ता, न ही उस नजरिए से बांधकर समझता होगा। जो भी पाठक जब रचना से गुजरता है तो सबसे पहले वह रचनात्मक स्तर पर मिलने वाले पठनीयता के अनिर्वचनीय अहसास से जरूर गुजरता है जहां पाठक को अनुभवों की प्रामाणिकता नजर आती है एवं वे आज के जीवन के यथार्थ को बखूबी देखते हुए रचना से मिलने वाले अकथ कथा के आनंद में डूब जाते हैं सो ऐसे वर्गीकरण समालोचक अपनी सुविधा या सहूलियत के हिसाब से तय करते है, आम पाठक इन वर्गीकरणों से परे जाकर रचना के जरिए रचनाकार के अंतस तक पहुंचता है। मुझे यदि कोई किसी वर्गीकरण में बांधकर देखे तो असहज तो नहीं लगता मगर मैं चाहती हूं कि मुझे महज स्त्री लेखन की सीमा रेखा की कैद न किया जाए। हां, अगर मैंने आधी दुनिया के अधूरेपन को पूरी ताकत से व पूरी रचनात्मक ईमानदारी से उकेरा है और इसे ही यदि स्त्री लेखन की सीमा में बांधकर देखा जाए तो यह रचनात्मक बंधन मुझे स्वीकार्य नहीं होगा।

उत्तर 3 : यह बहुत सटीक सवाल आपने यहां किया कि आधुनिक स्त्री रचनाधर्मिता में कुटिल पितृसत्ता आज भी जिस प्रकार राजनीति और संस्कृति के क्षेत्र में महिलाओं के लिए लक्ष्मण रेखाएं खींच

रही है, उससे स्त्री लेखिकाएं आंखें फेरे क्यों दिखाई देती है, मगर ये पूरी तरह सच नही है। मैंने अपने उपन्यास 'ये आम रास्ता नहीं' में राजनीति के छद्म को बेनकाब किया है और स्त्री की निजता व अंदरूनी ताकत को नया आयाम देने का रास्ता निकाला है। संस्कृति के क्षेत्र में जो मूलतः पतन हो रहा है या जिस तरह स्त्री को घेरने की चालें या नयी युक्तियां निकाली जा रही है, मैं उससे बखूबी वाकिफ हूं और मेरा आगामी उपन्यास इस नई पीढ़ी के खोखले जीवन मूल्यों व पुरुष सत्ता की इन चालाकियों पर कट्टरता से प्रहार करेगा।

उत्तर 4 : राजनीति में महिलाएं विषय पर तो मैं एक उपन्यास (जिसके बारे में ऊपर लिखा है) लिख चुकी हूं। इसी तरह नौकरियों में स्त्री की दशा व दिशा पर भी मेरे उपन्यास 'कहीं कुछ और' व 'एक न एक दिन' में काफी तीखेपन से लिखा था मगर महिला आरक्षण, मंत्रिमंडल में स्त्री के प्रतिनिधित्व पर रचनाएं आनी बाकी है जो कभी न कभी किसी न किसी के द्वारा जरूर आएगा। शैक्षिक संस्थाओं में कार्यरत स्त्री पर तो पहले भी कुछ उपन्यास लिखे गए है।

उत्तर 5 : मातृत्व के प्रति भावुक सम्मोहन को बढ़ावा देना 'इससे मैं सहमत नहीं। मेरे लिए मातृत्व प्रकृति का सबसे सुंदर व नायाब तोहफा है जो स्त्री को पूर्णता देता है जिसके वगैर मेरा जीवन व लेखन भी आधा अधूरा होता या मैं जीवन के कई सुंदर सजीले व खूबसूरत अहसासों से वंचित रह जाती। सचमुच मातृत्व स्त्री को श्रेष्ठ कृति बनाता है जिससे रचनात्मक स्तर पर भी हमारा लेखन व दृष्टि संवर्धित होती है।

उत्तर 6 : बाहर से देखने पर ऐसा आभास होता है एवं कुछ हद तक स्त्री स्वातंत्र्य की सशक्त छवियों के बरक्स समानांतर ईर्ष्या व कुंठा की लहरें भी यतकिंचित नजर आ सकती है मगर ये सब वहां पर है जहां लड़कियों के अंदर प्रचुर आत्मविश्वास विकसित नहीं हो पाया या वे आत्म निर्भर सही मायनों में नही हो पायी, उनकी सोच में जब तक सही मायनों में आजादी का अहसास नही होगा तब तक वे ऐसी हो सकती है। खासतौर पर नई पीढ़ी में बाहरी दिखावे की प्रवृत्तियां तेजी से घर करती जा रही है जो इस भूमंडलीकरण व बाजारवाद की चपेट में आकर खोखले दिखावे की जीवन शैली अख्तियार करती जा रही है या अंधानुकरण जिसे हम कह सकते है। पर कार्यस्थल पर स्त्री पुरुष रिश्तों में असहजता तो नही दिखती मुझे। बल्कि वे पहले की वनिस्त ज्यादा दोस्ताना दिखते है। दरअसल ये संक्रमण की स्थिति है सो इस प्रक्रिया में थोड़ा अंतर्विरोध तो जरूर दिख सकता है मगर जल्द ही उनकी सोच में गंभीरता आएगी और वे स्वनिर्णय में मजबूती पकड़ेंगी।

उत्तर 7 : साहित्य में सोशल मीडिया को नजरअंदाज करना तो नामुमकिन है मगर इसे गंभीर साहित्य के खाते में अभी तो फिलहाल नही डाला जा सकता। यहां चर्चाएं कम, कुचर्चाएं ज्यादा है, विवादास्पद बयानवाजी ज्यादा है या ऐसे बयान देकर अपने को केंद्र में रखने की कुचालें ज्यादा है या फिर अपने अपने गुटों, संपादकों या अपने पसंदीदा लेखकों को प्रखरता से उभारना या किसी खास किस्म के समूहवाद को बढ़ावा देना भी खूब प्रचलन में है। मुझे लगता है, ये महज एक ऐसा मंच है जहां हम एक सीमा तक शेयरिंग तो कर सकते है मगर इसे प्रिंट मीडिया का पर्याय तो नहीं माना जा सकता।

उत्तर 8 : साहित्य की धक्कमपेल चुनौतीपूर्ण तो है मगर हताशाजनक नहीं, इसलिए भी कि आप देख ही रहे हैं कि पिछले कुछ सालों से एक खास तरह के लेखकों को नया लेखक कहकर कई पत्रिकाओं ने दर्जनों विशेषांक निकाले, खूब धूमधाम से इनके लेखन की रचनात्मक बारातें निकाली गईं मगर आज वे लेखक कहां हैं। उन दर्जनों में से महज 6 या 7 लेखक ही अपनी रचनात्मक चमक-दमक या गुणवत्ता बरकरार रख पाए हैं सो उनकी धूमधाम से निकाली गई समीक्षाएं, पुरस्कार, विमोचन, परिचर्चाएं आदि चमक-दमक को समय का बड़ा चक्का एक न एक दिन खारिज कर ही देता है। समय की लंबी धारा में वही बचेगा जो समय को कायदे से पकड़कर तैरने की कला में सिद्धहस्त होगा।

उत्तर 9 : आखिर हिंदी के स्त्री लेखन में हास्य व विनोद लगभग निष्कासित क्यों है, यह सवाल बेहद प्रासंगिक बन पड़ा है। कटाक्ष के जरिए बड़ी बात कह देने की कला हमें जरूर होनी चाहिए मगर ऐसा पर्याप्त रूप से नहीं है। मुझे ऐसा लगता है कि सालों से स्त्री के जीवन में इतने कहे अनकहे दबाव, देखी अनदेखी विसंगतियां या कदम कदम पर दुश्वारियों की दास्तानें इतनी ज्यादा उनकी चेतना पर हावी रही हैं जिसके चलते उनका खुला या उन्मुक्त बर्ताव या बातचीत का अंदाज भी बदलता गया है (खुलकर बोलने वालों या लिखने वालों को अक्सर कठघरे में खड़ा किया जाता रहा) या कदम-कदम पर सालों से उसकी कंडीशनिंग इस तरह की जाती रही हैं (लड़कियों की तरह रहा करो, ये क्यां कि मुंह फाडकर हंसती हो या इस तरह मजाक करती हैं कहीं स्त्रियां) कि वे आमजन की तरह खुलकर बेखौफ ढंग से हंस बोल नही सकती, खुलकर जोर से पुरुषों की तरह मजाक नही कर सकती या सहज तरीके से उसके बोलने के इतने ज्यादा अनर्थकारी मायने निकाल लिए जाते हैं कि देर सवेर वे सहज ढंग से बोलना बतियाना या हंसते हुए कटाक्ष करते हुए अपनी धारदार बात कहने का सलीका भूलती गई। जो इक्का दुक्का ने ऐसा बोलने बतियाने का साहस किया भी, उसे तमाम जोखिम भरे रास्तों से गुजरना भी पड़ा या तमाम तरह की लानत मलामत की गई से वे धीरे धीरे सोच समझकर बोलने की आदी होती गई। ऐसा प्रशिक्षण उन्हें हर समय दिया जाता रहा तभी तो सीमोन ने कितनी सटीक टिप्पणी की थी औरत पैदा नही होती, बना दी जाती है। सो जिस जीवन शैली में लेखिकाएं सालों से जकडबंदिशों में रहती आयी हैं, उनके उठने बैठने, बोलने बतियाने पर बंदिशों की बाड़ रही हैं सो यदि वही उनके लेखन में भी एक खास किस्म का मैनेरिज्म नजर आए तो आश्चर्य कैसा।

उत्तर 10 : मेरा नया उपन्यास 'अंधोतमः' जो जेल में कैद बेगुनाह औरतों के जीवन पर केंद्रित है, वह आगामी पुस्तक मेले 2015 में आ रहा है। आगामी उपन्यास जो युवा दंपत्तियों की तेज जीवन शैली पर केंद्रित हैं, उस पर काम चल रहा है जिसमें नवयुवक नवयुवतियों के बनते बिगड़ते दांम्पत्य व करियर के बीच के द्वंद्व को केंद्र में रखा गया है। इस पर काम जारी है जो संभवतः 2016 में आएगा। n

मो. : 09452295943

ईमेल : gupt.rajni@gmail.com

n महुआ माजी

उत्तर 1 : अभिव्यक्ति के समान अवसर तो स्त्री-पुरुष दोनों के लिए हैं। पर यह पूरी तरह से व्यक्ति-विशेष पर निर्भर करता है कि वह कितना निर्द्वंद्व होकर मनचाहा रच और अभिव्यक्त कर पाता है। यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि लेखिका किस परिवेश और पारिवारिक पृष्ठभूमि से आयी है। यह लेखिका के व्यक्तित्व तथा सोच पर भी निर्भर करता है कि वह कितना खुल कर लिखे। हिंदी में ऐसी लेखिकाएं भी हैं जो हमलों के डर से बोल्ड लेखन की हिम्मत नहीं कर पातीं और ऐसी भी हैं जो किसी की परवाह किये बगैर मनचाहा लिखती रही हैं। यह सिलसिला हमसे वरिष्ठ लेखिकाओं के समय से ही चलता आ रहा है। अंग्रेजी की तरह बांग्ला साहित्य में भी लेखिकाएं हिंदी साहित्य की लेखिकाओं की तुलना में ज्यादा बोल्ड लेखन करती हैं। बंगाल में घर-घर में साहित्यिक पत्रिकाएं पढ़ी जाती हैं पर उन्हें स्वाभाविक रूप में लिया जाता है। वैसे मेरी समझ में आर्थिक और सामाजिक गैर बराबरी ज्यादा भयावह है क्योंकि उसके चलते अभिव्यक्ति की बराबरी पर भी फर्क पड़ता है। उन असमानताओं की वजह से ही अभिव्यक्ति की बराबरी एक छद्म में बदल जाती है।

उत्तर 2 : मैं खुशकिस्मत हूं कि मेरे लेखन पर 'स्त्री लेखन', 'दलित लेखन' वगैरह-वगैरह का लेबल नहीं लगा है। मैं लेखन की विविधता पर विश्वास करती हूं। 'मैं बोरिशाइल्ला', 'मरंगगोडा नीलकंठ हुआ' जैसे उपन्यासों में मैंने व्यापक फलक पर अलग-अलग समाज का विश्लेषण किया है। अनायास ही उनमें हर तरह के विमर्श समाहित होते चले गये हैं लेकिन अलग से कोई उन्हें स्त्री विमर्श, दलित विमर्श आदि के खांचे में नहीं डाल पाया।

उत्तर 3 : हम संक्रमणकाल में हैं। पितृसत्ता सदियों पुरानी है। एक झटके में उखाड़ नहीं सकते। कुछ समय पहले तक स्त्रियों के मामले में स्त्रियां भी पुरुषों की तरह ही सोच रखती थीं।(कहीं-कहीं आज भी है)। अब शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ धीरे-धीरे उन्होंने स्त्रित्व की परिभाषा बदलना शुरू किया है। बात लैंगिक आजादी की हो या यौनिक आजादी की, तमाम लक्ष्मण रेखाओं के बावजूद उनकी बराबरी की लड़ाई जारी है। क्योंकि वे जान चुकी हैं कि लैंगिक बराबरी हासिल करेंगे तो दूसरी आजादी भी अपने आप हासिल होंगी जिनमें यौन स्वतंत्रता भी शामिल है।

उत्तर 4 : ये कमी तो है। जिसका खमियाजा व्यापक स्त्री समाज को उठाना पड़ रहा है। मैं तो ये कहूंगी कि इन मुद्दों को न सिर्फ महिलाओं के रचनात्मक सरोकारों में अपेक्षित स्थान मिलना चाहिए बल्कि जो नहीं है उसका रोना न रोकर या दूसरों पर दोषारोप न करके खुद उसका बीड़ा उठाना होगा। एक लेखिका और समाजशास्त्री की हैसियत से पिछले वर्षों में झारखंड के आदिवासी बहुल दुर्गम इलाकों में काम करने के दौरान मुझे उनकी समस्याओं को करीब से देखने जानने का मौका मिला। इस दौरान मैंने पाया कि जब भी कोई व्यक्ति, चाहे वह पत्रकार हो या साहित्यकार या शोधार्थी, उनके पास जाता है, उनसे मिलकर उनकी समस्याओं के बारे में जानकारी लेता है, उनकी तस्वीर खींचता है। उनके मन में यह आशा जगती है कि अब जरूर उनकी समस्याओं का अंत होगा। उनकी जिंदगी बेहतर होगी। पर अमूमन ऐसा नहीं होता। लोग अपनी किताबों में, अखबारों में, शोधपत्रों में उनके बारे में लिखकर नाम और पैसा तो कमा लेते हैं पर उन्हें कोई लाभ नहीं मिलता। उनकी स्थिति पहले जैसी ही रहती है। अतः अब वे तस्वीर खींचवाने या अपने बारे में सूचना देने से खीझने लगे हैं। उनका कहना है कि वे अपना काम-धाम छोड़कर लोगों को समय क्यों दे? क्यों अपनी पीड़ाओं की नुमाइश करें? जनजातीय महिलाओं की इन्हीं भावनाओं को समझते हुए वास्तव में उनके लिए कुछ कर पाने की उम्मीद में ही मैंने महिला आयोग के अध्यक्ष पद की जिम्मेदारी ली। उनकी बेहतरी का भरपूर प्रयास किया। इसी कड़ी में महिला नीति के प्रारूप को कैबिनेट से पास करवाया शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र में व्यापक आरक्षण की घोषणा करवाई और अब महिला नीति को विधान सभा से पारित करवाकर उसे धरातल पर लाने के लिए रांची विधानसभा क्षेत्र से विधायक का चुनाव लड़ रही हूं।

मुझे लगता है, लेखिकाओं को अपना दायरा और व्यापक करना होगा। कांशीराम ने दलितों के संदर्भ में कहा था कि सत्ता 'मास्टर की' है। अपने अधिकारों को हासिल करने के लिए हमें सत्ता में आना ही होगा। अपने अधिकारों के प्रति सचेत होना होगा।

उत्तर 5 : एक दौर में नारीवादियों को जरूर यह महसूस हुआ था कि मातृत्व के प्रति भावुक सम्मोहन को बढ़ावा देना मर्दों की एक चाल है। पुराना नारीवाद इसे नकारता था पर मौजूदा नारीवादी विचारकों का दृष्टिकोण हमें मातृत्व के प्रति संवेदनशील बनाता है। अब यह मानने में किसी को गुरेज नहीं कि मातृत्व स्त्री को पुरुषों से बेहतर बनाता है। समाज में उनके योगदान को महसूस करते हुए उन्हें मातृत्व अवकाश का दिया जाना बदलते नजरिये का ही परिचायक है।

उत्तर 6 : जब स्त्री चारदीवारी में थी, हमले झेलती थी। बलात्कार के अधिकतर मामले, जिनमें करीबी रि तेदारों की भूमिका होती थी, घरों के अंदर चुपचाप सह लिए जाते थे। पर अब स्थिति बदली है। आज समाज में स्त्रियों के संगठित दमन चक्र के कमजोर पड़ने के बावजूद स्त्रियां खुद आगे बढ़कर रिपोर्ट दर्ज करवाने लगी हैं।

ईर्ष्या और कुंठा की लहरें ज्यादा दिनों तक टिकती नहीं और न ही विशेष क्षति पहुंचा पाती हैं।

यौन हमलों को रोकने के लिए सोच बदलना जरूरी है। और इसकी शुरूआत घर से करनी होगी। अगर अपने घर की मां, बहन,

पत्नी या बेटी को सम्मान देने की आदत पड़ जाए तो बाहर की औरतों का असम्मान करना आसान नहीं होगा। लैंगिक कटुता इसलिए है कि पुरुषों के सदियों से अर्जित विशेषधिकार का हनन हो रहा है। औरत तो बदली है, मर्द को बदलना बाकी है। आज की लड़की बराबरी चाहने लगी है। वह बॉस भी बनने लगी है। एक लड़की को अपने बॉस के रूप में कैसे देखे, उससे कैसे आंख मिलाए, यह पुरुष को सीखना है। समाज में गहराती लैंगिक कटुता के लिए पुरुष को चिंतित होने की जरूरत है, महिलाओं को नहीं।

उत्तर 7 : जब सोशल मीडिया नहीं था तब भी साहित्य की दुनिया में औसत लेखन और गंभीर लेखन में मुठभेड़ हुआ करती थी। सोशल मीडिया का सभी लेखन क्षणभंगुर होता है या कि गंभीर यह निर्णय लेना भी संभव नहीं। फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि सोशल मीडिया ने विचारों का जनतंत्र पैदा किया है। लेखकों की संपादकों पर निर्भरता कम हुई है।

उत्तर 8 : मैं अब भी यहीं मानती हूं कि यदि रचना में दम हो तो उसे कोई रोक नहीं सकता। चाहे उसे परिचर्चा, गोष्ठी, जलसा, विमोचन, समीक्षा, पुरस्कार का लाभ मिले या न मिले। प्रारंभ में उपेक्षा मिलने के बावजूद कुछ रचनाएं लंबे समय में अपनी जगह बनाती हैं और कुछ तो प्रारंभ से ही पाठकों आलोचकों की नजर में चढ़ जाती हैं। रेणु के लेखन को रामविलास शर्मा जैसे बड़े आलोचकों ने बड़ा नहीं माना था। मुक्तिबोध के जीवनकाल में उनके स्वस्थ रहने के दौरान उनकी कोई किताब छप तक नहीं पायी थी। दूसरी तरफ कुछ स्तरीय रचनाएं जो प्रारंभ से ही चर्चित हो जाती हैं अकारण ही शक के दायरे में आ जाती हैं। लेकिन लंबे समय में भी जब उनकी लोकप्रियता कम नहीं होती, तब जाकर उन्हें स्थायी मान्यता मिलती है।

उत्तर 9 : सिर्फ स्त्री लेखन से ही नहीं, हिंदी के समूचे लेखन से ही हास्य और विनोद की मात्रा कम होती जा रही है। कटाक्ष और व्यंग्य की प्रकृति का भी हास्य-मूलक न होना यह सवाल पैदा करता है कि कहीं भारतीय समाज से ही हास्य विनोद कम तो नहीं होता जा रहा है? क्या सामूहिकता में कमी इसकी वजह है? या नया आधुनिक समाज हास्य से ज्यादा विडंबना पर जोर देता है? यह भी हो सकता है कि साहित्य में हास्य विनोद की शैली में चीजों को प्रकट करने से लेखक इसलिए भी बचते हैं कि इससे गंभीर चीजों का अगंभीर होने का खतरा बना रहता है। एक संभावना यह भी हो सकती है कि हिंदी के लेखकों में हास्य-विनोद की शैली में लिखने की काबलियत ही न हो।

उत्तर 10 : मैं अपने तीसरे उपन्यास पर काम कर रही हूं। इस उपन्यास के पूरा होने पर मैं नॉन फिक्शन में एक किताब लिखने की सोच रही हूं। महिला आयोग में काम करते हुए इन दिनों बहुत करीब से विभिन्न समाज तथा समुदाय की महिलाओं की पीड़ा, उनकी मानसिकता, उनमें आए बदलाव और उनके अपने करीबियों से रिश्ते में आए दरार को देखने समझने का मौका मिल रहा है। उन अनुभवों का उपयोग मैं अपनी किताब में करना चाहती हूं ताकि व्यापक स्त्री समाज को इसका लाभ मिल सके। ▫

मो. : 09835113111
ईमेल : mahua_maji123@yahoo.co.in

n जयश्री राय

उत्तर 1 : यदि सिर्फ हाँ और ना में जवाब देना हो तो इस प्रश्न के पहले हिस्से का जवाब हाँ होना चाहिए। निश्चित तौर पर आज स्त्री और पुरुष रचनाकारों के लिए अभिव्यक्ति के समान अवसर उपलब्ध हैं। लेकिन अन्य संदर्भों से अलग कर के सिर्फ इस हाँ या ना से किसी तरह का निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा। दरअसल इस प्रश्न का दूसरा हिस्सा इसके साथ मिलकर इसे पूर्णता प्रदान करता है। इस संदर्भ में जो बुनियादी प्रश्न मेरे दिमाग में आता है वह यह कि क्या रचनात्मक अभिव्यक्ति निर्द्वन्द्व होती है या रचनात्मक अभिव्यक्ति का निर्द्वन्द्व होना संभव है? मुझे लगता है ऐसा नहीं है। सच तो यह है कि समय, समाज और परिस्थिति के प्रति असंतोष से उत्पन्न द्वंद्व की रचनात्मक अभिव्यक्ति ही साहित्य है। यदि इस निर्द्वन्द्व होने का मतलब बेखौफ होने या इस जैसा कुछ और है तो यह एक अलग बात है। यह सच है कि आज स्त्रियाँ अपनी अनुभूति और अपने सपनों को अकुंठ भाव से लिख रही हैं। लेकिन इससे जुड़ा एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या स्त्रियों की इस अकुंठ अभिव्यक्ति को समाज उसी अकुंठ भाव से स्वीकार कर रहा है? मैं यहाँ जिस अकुंठ अभिव्यक्ति की बात का रही हूँ हम उसे सामान्यतया सुनने के अभ्यस्त नहीं रहे हैं। निश्चित तौर पर स्त्री मन की ये नई वैचारिकतायें परंपरा के साथ फल-फूल रही पितृसत्तात्मक व्यवस्था को असहज और बेचैन करती हैं। परिणामतः स्त्री अभिव्यक्ति के प्रति उनका रवैया कठोर, आलोचनात्मक और कई बार उपहासपरक भी होता है। पितृसत्ता के साथ गहरे अनुकूलन के कारण कई बार स्त्री आलोचक भी इसका शिकार होती हैं। लेकिन कोई भी बदलाव कभी अचानक नहीं होता। बदलाव एक सतत और धीमी प्रक्रिया है। और फिर इन आलोचनाओं के समानान्तर हमारी अभिव्यक्ति को स्वीकारने और समझने वाली शक्तियाँ भी तो हमारे समाज में मौजूद हैं ही। इसलिए कुल मिलाकर मैं स्त्री अभिव्यक्ति और इसके भविष्य के प्रति काफी आशान्वित हूँ। पर हाँ, यहाँ मैं यह भी स्पष्ट करना चाहती हूँ कि स्त्री मन की अकुंठ अभिव्यक्ति को अराजक होना न समझा जाय।

उत्तर 2 : स्त्री, दलित, पिछड़ा, आदिवासी के नाम पर साहित्य की खांचेबंदी नहीं होनी चाहिए, यह एक घोर सैद्धान्तिक अवधारणा है जो कई बार सुनने-सुनाने में अच्छी भी लगती है। लेकिन जब हाशिये पर जीने वाले कुछ समूहों के साथ उसकी जाति, नस्ल, लिंग, आदि के

नाम पर दोयम दर्जे का व्यवहार किया जाएगा, उसे मुख्यधारा का हिस्सा तक मानने से इंकार किया जाएगा ऐसे में उन समूहों की अभिव्यक्ति खुद ब खुद एक सामूहिक और संगठित चेतना, आंदोलन या धारा के रूप में अपनी पहचान अर्जित करेगी। हमेशा से अत्याचार का शिकार जब कोई समूह संगठित हो कर अपने हक और हुकूक की लड़ाई लड़ता है तो पहले से सत्ता पर काबिज लोगों को यह आसानी से मंजूर नहीं होता और वे इन आवाजों को कभी षड्यंत्र तो कभी कलाहीनता तो कभी किन्हीं और नामों से संबोधित कर उसे कमजोर करने का हर संभव प्रयास करते हैं। मैं अस्मितामूलक विमर्शों को हाशिये पर जीने को मजबूर समाज और समूहों को मुख्यधारा में शामिल करने के उपक्रम के रूप में देखती हूँ। यदि आप इसे षड्यंत्र कहेंगे तो आपके पहले प्रश्न का क्या औचित्य रह जाएगा जहां आपने स्त्री अभिव्यक्ति के लिए समान अवसर उपलब्ध होने की बात की है। ऐसे प्रश्न इसीलिए तो उठते हैं न कि किन्हीं खास तरह की संकीर्णताओं और हदबंदियों के आधार पर ही मनुष्य-मनुष्य के बीच विभेद का एक तंत्र संचालित किया जाता रहा है।

मैंने जो कुछ लिखा है या जो लिख रही हूँ उसका एक बड़ा हिस्सा स्त्री मुद्दों से संबन्धित है। यकीन मानिए मैं वह सब शायद इस शिद्दत से नहीं सोच-लिख पाती यदि मैं स्त्री नहीं होती। इसलिए स्त्री होना या स्त्री के रूप में पहचाना जाना मेरे लिए गर्व का विषय है, संकोच का नहीं। पर हाँ, स्त्री होने के कारण अपनी रचनाओं के मूल्यांकन में मैं किसी रियायत की मुखापेक्षी नहीं हूँ। और पूरी दृढ़ता से यह भी कहना चाहती हूँ कि हमारी उपलब्धियों को हमारे स्त्री होने से जोड़ कर न देखा जाय। मूल्यांकन के नाम पर ऐसी फब्तियाँ हमें निराश और आहत करती हैं।

उत्तर 3 : यह सच है कि स्त्रियाँ पुरुष बर्चस्व की आचार संहिताओं को अपनी रचनाओं के माध्यम से लगातार चुनौती दे रही हैं। इस चुनौती को छोटा कर के आंकने, स्त्री अभिव्यक्ति के इस आंदोलन के आगे तरह-तरह की बाधाएँ उत्पन्न करने या तथाकथित धर्म और समाज के ठेकेदारों के द्वारा रोज नई लक्ष्मण रेखायें खींचने की कोशिशें को भी मैं एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया मानती हूँ। सत्ता और साम्राज्य पर जिसकी पकड़ ढीली हो रही है, वह विचलित तो होगा ही। लेकिन यह निष्कर्ष आपने कैसे निकाल लिया कि हिन्दी की लेखिकायें इन प्रवृत्तियों या साजिशों से आँखें फेरे बैठी हुई हैं? यदि ऐसा होता तो आज साहित्य में स्त्री-विमर्श इस तरह अलग से रेखांकित नहीं हो रहा होता न हम-आप इस तरह की परिचर्चा का हिस्सा बन रहे होते। लेकिन हाँ, यदि यह निष्कर्ष किसी लेखिका विशेष के साहित्य को ध्यान में रख कर निकाला गया है तो मैं यही कहूंगी कि समय की तस्वीर विशेषों के यथार्थ से नहीं सामान्यों के यथार्थ से बनती है। समाज के हर व्यक्ति से हम बिल्कुल एक ही तरह के व्यवहार की उम्मीद नहीं कर सकते।

उत्तर 4 : रचनात्मक सरोकार एक बड़ी सामाजिक-राजनैतिक लड़ाई का ही हिस्सा होते हैं। जरूरी नहीं कि सामाजिक-राजनैतिक आंदोलनों के मुद्दे हूबहू और तात्कालिक रूप से रचनात्मक साहित्य में भी दर्ज हो जायें। किसी घटना या सरोकार का महत्व त्रिआयामी होता है-सूचनात्मक, विश्लेषणात्मक और रचनात्मक। खबर, आलेख और साहित्यिक रचनाएँ क्रमशः इन तीनों गतिविधियों को अलग-अलग तरीके से भाषा और संवेदना के अलग-अलग स्तरों पर व्यक्त और दर्ज करती हैं। खबर में जो घटना अपने स्थूल रूप में नजर आती है वही घटना किसी रचना में अपने सूक्ष्मतम रूप में उपस्थित होती है। अभिव्यक्ति के इन तीनों स्वरूप का अपना अलग महत्व है। किसी को किसी से कम कर के नहीं आँका जा सकता न इन तीनों में एक दूसरे का प्रतिस्थानापन्न या प्रतिरूप ही खोजा जा सकता है। ये तीनों मिल कर एक बड़े सामाजिक संघर्ष की भूमिका तैयार करते हैं। क्या आपको नहीं लगता कि साहित्य में स्त्री मुद्दों और संवेदनाओं का जो प्रकटीकरण हो रहा है उनका आपके प्रश्न में उल्लिखित मुद्दों से कहीं न कहीं एक जरूरी संबंध बनता है? जिन्हें हम स्त्रियों के निजी और व्यक्तिगत मुद्दे मान लेते हैं वे भी उसी राजनैतिक संघर्ष का हिस्सा हैं जिनकी बात आप कर रहे हैं। 'पर्सनल इज पोलिटिकल' से मुक्त होकर ऐसे राजनैतिक प्रश्नों को स्त्रियों के संदर्भ में नहीं देखा जा सकता। रही बात किसी खास तात्कालिक घटना विशेष की रचनात्मक अभिव्यक्ति की तो इसके लिए हमें थोड़ा इंतजार करना चाहिए। खबर से रचना तक का सफर समयसाध्य भी होता है।

उत्तर 5 : मातृत्व निश्चित तौर पर स्त्रियों को विशिष्ट बनाता है। सृजन की क्षमता प्रकृति का एक अमूल्य वरदान है। यह स्त्रियों के लिए गौरव का विषय है। लेकिन यह भी सच है कि मातृत्व को समय-समय पर पितृसत्ता स्त्रियों के पैरों की बेड़ी की तरह इस्तेमाल करती रही है। हमारे यहाँ भी सैद्धान्तिक रूप से स्त्रियों को देवी के रूप में प्रतिष्ठित किया जाना और हकीकत में त्याग और ममता के नाम पर स्त्रियों को घर की दहलीज के भीतर कैद कर के रख देना पितृसत्ता की उसी साजिश का हिस्सा है। लेकिन अब लोग इस साजिश को समझने लगे हैं। मातृत्व को किसी कोरी भावुक अवधारणा की तरह अब नहीं समझा जा सकता। जिसे पितृसत्ता स्त्रियों की कमजोरी समझ कर उसका फायदा उठाती है। आज जरूरत है कि स्त्रियाँ उसे अपनी मजबूती की तरह पहचानें और रेखांकित करें। मातृत्व के नाम पर पितृसत्ता द्वारा स्त्रियों को ब्लैकमेल करने का खेल अब और नहीं चलने वाला। आज और कल की स्त्रियां इसे समझने लगी हैं। कैरियर, पारिवारिक जिम्मेवारी और मातृत्व के द्वंद्व की आधुनिक कहानियों को इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए।

उत्तर 6 : हाल के दिनों मे न सिर्फ सार्वजनिक जगहों पर यौन हिंसा की घटनाएँ बढ़ी हैं बल्कि कार्यस्थलों पर भी स्त्री उत्पीड़न के मामले प्रकाश में आने लगे हैं। कुछेक मानसिक रूप से विकृत और विक्षिप्त लोग हमेशा ही संवेदनशील मुद्दों को भी भुनाने में कसर नहीं छोड़ते। लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं है कि समाज में स्त्री-पुरुष के बीच सामान्य तौर पर कोई ऐसी विभाजक रेखा खिंच गई है जिसे

लैंगिक कटुता कह के संबोधित किया जाय। यहाँ कटुता और अपराध के बीच के अंतर को समझना जरूरी है। यदि समाज लैंगिक कटुता की तरफ बढ़ रहा होता तो 'निर्भया प्रकरण' के बाद पूरे देश में स्त्री उत्पीड़न के खिलाफ आंदोलन का-सा माहौल नहीं खड़ा होता। क्या वह आंदोलन सिर्फ स्त्रियों का आंदोलन था? नहीं न!

स्त्री उत्पीड़न की घटनाओं के समानान्तर एक सच यह भी है कि पुरुषों में भी सकारात्मक बदलाव आ रहे हैं। स्त्रीवादी आंदोलन और साहित्य दोनों को आज इस अतिरेकी अवधारणा से भी मुक्त होने की जरूरत है कि पुरुष स्वभावतः और अनिवार्यतः खल होता है। स्त्रीवाद का उद्देश्य पुरुषों के समानान्तर स्त्रियों की स्वतंत्र और अलग दुनिया का निर्माण नहीं बल्कि स्त्री-पुरुष के सहयोग और सहकार से एक खूबसूरत दुनिया का सृजन है। इस का प्रभाव आप इधर की हिन्दी कहानियों में भी देख सकते हैं। पुरुष के अनिवार्यतः खल चेहरे से अलग होते हुये आज की कहानियाँ मित्र-पुरुषों को पहचानने का काम भी कर रही हैं। जाहिर है, यह इसीलिए संभव हो पा रहा है क्योंकि अब समाज में भी बदलाव के ऐसे उदाहरण मिलने लगे हैं।

उत्तर 7 : इसमें कोई संदेह नहीं कि आभासी दुनिया और सोशल मीडिया ने हमारे सामने अभिव्यक्ति के असीमित अवसर उपलब्ध कराये हैं। जब एक साथ इतने सारे लोग अपनी छटपटाहट और बेचैनी को अभिव्यक्त करने को आगे बढ़ेंगे तो उसके साइड इफेक्ट्स भी होने तय हैं। लेकिन क्या पत्र-पत्रिकाओं में औसत दर्जे की सामग्री नहीं छपती? चूंकि सोशल मीडिया का कोई रेग्यूलेटर नहीं है, अपेक्षाकृत यहां का माहौल ज्यादा अराजक है। लेकिन उसकी क्षमताओं और संभावनाओं पर कहीं से शक नहीं किया जा सकता है। कल तक सम्पादन के नाम पर जो अराजकता या एकाधिकार के उदाहरण मिलते थे इस मीडिया ने निश्चित तौर पर उसका अतिक्रमण किया है, यह एक सकारात्मक बात है। लेकिन इस मीडिया का बेहतर और रचनात्मक इस्तेमाल हो सके इसके लिए एक रेग्यूलेटरी अंकुश की जरूरत मैं जरूर महसूस करती हूँ।

जहां तक गंभीर साहित्यिक लेखन और दूसरी चालू चीजों का प्रश न है तो वह प्रिंट मीडिया में भी है और यहाँ भी रहेगा। किसी मीडिया को किसी खास तरह के साहित्य तक ही तो सीमित नहीं किया जा सकता है न! हाँ हमें क्या चाहिए यह हम अपनी अभिरुचि और प्राथमिकता के हिसाब से जरूर तय कर सकते हैं।

उत्तर 8 : रचना और आलोचना के अंतर्संबंधों पर बात करते हुये यह अक्सर कहा जाता है कि अच्छी रचनाएँ आलोचना का मुखापेक्षी नहीं होतीं, अपनी जगह खुद ब खुद बना लेती हैं। यह बात सुनने में जितनी अच्छी लगती है क्या सच में अब वह उतनी ही अर्थवान रह गई हैं? संबंध और जुगाड़ के दम पर जो इतिहास लिख दिया जाता है या जिसे इतिहास का हिस्सा बनने से रोक दिया जाता है, भविष्य में उसकी भरपाई कौन करेगा? आज लाभ और लोभ के इतने केंद्र-उपकेंद्र बन चुके हैं कि आलोचना और प्रशंसा लेन-देन का व्यावसायिक चरित्र ग्रहण कर चुकी है। कोई किसी को सेमिनार में आमंत्रित कर रहा है तो कोई किसी पर सेमिनार आयोजित कर रहा है। कोई अपनी किताब बिकवाने का लालच दे रहा है तो कोई शोध करवाने की जुगत भिड़ा रहा है। आभासी संसार ने हालांकि आलोचना के बने-बनाए साम्राज्य में एक बड़ी सेंधमारी की है लेकिन प्रायोजित चर्चाओं और छद्म खाता धारकों के वेश में वहाँ भी एक नए तरह की अराजकता लगातार अपना किला मजबूत करती जा रही है। साहित्य के नए मठ और गढ़ रोज बन और ढह रहे हैं और हम इस प्रायोजित झूठ को ही सच मानकर उत्साहित या निराश होने को अभिशप्त हैं। प्रकाशकों का हस्तक्षेप आलोचना, समीक्षा, सम्मान आदि में लगातार बढ़ता जा रहा है। प्रकाशकों की दिलचस्पी किताबों के संस्करण और पुनर्मुद्रण में नहीं रोज नए टाइटल्स छापने में है। इन सब के बीच साहित्य का असली पाठक जिसकी कोई लेखकीय या प्रकाशकीय महत्वाकांक्षा नहीं है लगातार उपेक्षित हो रहा है। जानबूझकर आज एक ऐसा तंत्र विकसित किया जा रहा है जिसमें किताब, खरीद, कमीशन और मुनाफा तो है पर उसमें पाठक और रॉयल्टी के लिए कोई जगह नहीं है। यह पूरे हिन्दी समाज की समस्या है और इससे लेखकों का तो प्रत्यक्ष हित भी जुड़ा हुआ है। इसे स्त्री-पुरुष की समस्या की तरह नहीं देखा जाना चाहिए।

उत्तर 9 : अव्वल तो यह कि आपकी इस चिंता को मैं सिर्फ स्त्री लेखन से जोड़कर नहीं देखना चाहती। हास्य और विनोद की जगह पूरे साहित्य में ही संकुचित होती गई है। रही बात स्त्रियों की तो जिनके जीवन में ही हास-परिहास की जगह लगातार सीमित होती जा रही हो उनके साहित्य में वह कहाँ से आयेगा। सिर्फ हास्य के लिए हास्य की उपस्थिति तो शायद पहले भी कभी हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा में नहीं रही है। व्यंग्य और कटाक्ष का उद्देश्य सिर्फ गुदगुदाना नहीं हो सकता इसलिए उसकी मूल प्रकृति हास्यमूलक हो भी नहीं सकती। हाँ हँसाते-हँसाते किसी दुखती नब्ज पर उंगली रख देने वाली रचनाएँ प्रचुरता में भले न हो पर उनका अकाल भी नहीं है।

उत्तर 10 : मैं रचनात्मक लेखन बहुत योजनाबद्ध हो कर नहीं कर पाती। यह बहुत ही स्वतःस्फूर्त होता है। कुछ कहानियाँ सालों पहले शुरू की पर एक-आध पेज के बाद जो छूटीं सो आज तक अधूरी ही पड़ी हैं, वहीं इसी बीच कई कहानियाँ कब अचानक मेरी उंगली पकड़ कर खुद को लिखवा ले गईं मुझे पता भी नहीं चला। फिर भी आपने पूछा है तो दो-एक कहानियाँ कुछ पत्रिकाओं में स्वीकृत हैं। सोमालिया और कुछ अन्य अफ्रीकी देशों की औरतों की कुछ खास तरह की समस्याओं को लेकर एक उपन्यास पर भी काम कर रही हूँ जिसे शायद जल्दी ही पूरा कर पाऊँ। n

मो. : 09822581137
ई-मेल : jaishreeroy@ymail.com

n गीताश्री

उत्तर 1 : मौजूदा दौर में स्त्री के लिए समान अवसर तो हैं, लेकिन मनचाहा लिखने को स्वतंत्र नहीं है। यह वक्त सेंसरशिप का है, आजाद, बेखौफ स्त्री लेखकों के ऊपर तमाम तरह की घोषित अघोषित पाबंदिया लगाई जा रही हैं। आचार संहिता तैयार किया जा रहा है कि वे क्या लिखें और क्या न लिखें। बड़े बड़े आलोचक मंच पर खड़े होकर दहाड़ रहे हैं कि स्त्रियों को भूमंडलीकरण के दुष्प्रभावों से बच कर लिखना चाहिए। नए नए नियम गढ़े जा रहे हैं कि स्त्री लेखन को पतन से कैसे बचाया जाए। आखिर स्त्रियों की इतनी हिम्मत कैसे हुई कि वे यौनाकांक्षा के बारे में इतना खुलकर लिखें। ऐसी लेखिकाओं के खिलाफ दुंदुंभि बज चुकी है। ''मारो मारो काटो काटो'' की तर्ज पर उन्हें हांकने की कोशिश की जा रही है। गली के पिल्ले भी भौंक रहे हैं। यकीन न हो तो छोटे मोटे नवजात आलोचकों को देखिए जिनके पेट में मरोड़ उठ रहा है। कुछ लोग तो ऐसे हैं जो अभी अभी आलोचना में पैदा हुए हैं पर उनके निशाने पर स्त्री लेखन है। जहां-तहां मौका मिलते ही खिलाफ में एक लेख ठोक देते हैं या किसी बड़े साहित्यकार से स्त्री लेखन को गरियाने वाला सवाल पूछ लेते हैं। अब बड़ा साहित्यकार बेचारा कैसे असहज सवालों के सहज जवाब दे। लिखित जवाब देने में 'पॉलिटिकली करेक्ट' होना पड़ता है न। आप उन्हीं से अलग से पूछिए तो 'ऑफ दी रिकार्ड' उनकी भाषा कुछ और होगी, जवाब अलग होगा। हाल के दिनों में कई ऐसे इंटरव्यू प्रायोजित किए गए हैं जिनमें जानबूझ कर प्रसंग से हट कर स्त्री लेखन पर असहज सवाल पूछे गए हैं। इस समय सारे विमर्शकारी लेखन को कठघरे में खड़ा करने की कोशिश की जा रही है जिसमें स्त्री लेखन सबसे ज्यादा हमले झेल रहा है। दलित लेखन संगठित हो चुका है, स्त्री लेखकों में संगठन की भावना नहीं है आपस में ही घोर अंतर्विरोध दिखाई पड़ता है। सबके सुर अलग अलग हैं। आपस में ही एक दूसरे के लेखन को खारिज करने की कोशिशें चल रही हैं। 'हम उत्तम तू छी छी' की तर्ज पर थोड़ा खुलकर लिखने वालों को स्त्रियां ही हांक रही हैं। उनसे हंकवाया जा रहा है। ऐसा नहीं कि उनमें अपना विवेक नहीं है। उनके भीतर भी कूट-कूट कर भरा जा रहा है कि समकालीन पीढ़ी की महिला लेखिकाओं ने साहित्य की गरिमा को नष्ट कर दिया है। हाय हाय साहित्य की शुचिता रसातल में जा रही है। सबसे मजेदार बात ये कि कुछ वरिष्ठ लेखिकाएं खुद ही सबकुछ खुल कर लिख चुकी हैं, वे भी नई पीढ़ी के साहसिक लेखन के विरुद्ध आवाज उठाने वालों में शामिल पाई जा रही हैं। ऐसे माहौल में क्या रचेंगी नई लड़कियां मनचाहा। नई लेखिकाओं के मन में भी गलतफहमियां भरने की कोशिश की जा रही है। हमारे बाद वाली पीढ़ी तो पूरी तरह भ्रमित हो चुकी है। साहसी लेखन के तिरस्कार को देखकर उनकी हिम्मत टूट रही है। वे अपने समय का सच, जटिलताएं, समस्याएं, सपने, आकांक्षाएं, ये सब नहीं लिख पा रही हैं। उन्हें भी तिरस्कार का भय है, वे फटी-फटी आंखों से साहित्य के कुएं में मेढकों को देख रही हैं और फिलहाल ठिठक गई हैं। इससे कोई साहित्य का भला नहीं होने वाला। विश्व साहित्य कहां से कहां बढ़ गया, हिंदी पट्टी इसीलिए पिछड़ी हुई है। उसकी सूई वहीं अटकी है। पाठक नया पढ़ने को तैयार है पर साहित्य जगत ही छाती कूटने में लगा है। स्त्री ने अपनी यौनाकांक्षा के बारे में लिख दिया तो वह देहमुक्ति कहां से हो गई।

उत्तर 2 : आपको लगता होगा। मुझे नहीं लगता। मुख्यधारा क्या होती है? क्या बिना उपधाराओं के पूरी तस्वीर बनाती है। भारतीय राजनीति को देख लें। वहां दलित राजनीति का सिक्का राष्ट्रीय स्तर पर चलता है या नहीं। एक वक्त ऐसा भी आया था जब बिना दलित राजनीति के केंद्र में सरकार नहीं बन सकती थी और आज भी दलितों की बात किए बिना वोट बैंक पर कब्जा नहीं जमा सकते। आप उनको मुख्यधारा से अलग करके कैसे देख सकते हैं। साहित्य में भी वही बात समझिए। आप अलग से चिन्हित करके देखते हैं। देखिए, कोई हर्ज नहीं पर मुख्यधारा स्त्री लेखन और दलित लेखन के बिना मुकम्मल कैसे होगा, ये तो बताइए। कौन बचा फिर केंद्र में। चार पांच लोग, जो महाग्रंथ लिख कर खुद को मुख्यधारा का पुरोधा मान बैठे हैं। कौन तय करेगा कि मुख्यधारा से बाहर कैसे है स्त्री लेखन या दलित लेखन? खांचों में भी आपने ही बांटा है। अब खांचे में ही धूम मच रही है तो नीचा दिखाने के लिए मुख्य धारा की बात करके ललचाना, ये ठीक है क्या? मैं तो जरा भी असहज महसूस नहीं करती। मुझे गर्व है कि जो मैं हूं, जैसा मैं चाहती हूं और जैसा लिखना चाहिए, मैं लिख पा रही हूं। आप खांचे बनाते रहिए, फिट करते रहिए, दाखिल खारिज का पुराना खेल हमें विचलित नहीं करता।

उत्तर 3 : आपके इस सवाल में ही कई जवाब हैं। मुझे अलग से कहने की जरूरत नहीं। आपने सही कहा है कि आधुनिक स्त्री का लेखन पितृसत्ता के खिलाफ संघर्ष और प्रतिरोध है। आप यह स्वीकार रहे हैं कि लेखिकाओं ने उनके पांखडों का उद्घाटन और उदभेदन अच्छे से किया है। बहुत अच्छा है। इस स्वीकारोक्ति पर फिदा होने का मन करता है। आपने बड़ी चतुराई से यौन शुचिता की खोखली अवधारणा की ओर संकेत किया है, वह हम समझते हैं। यहां दो बातें स्पष्ट होनी चाहिए कि यौन शुचिता पर बात करने या उसे इतना तवज्जो देने की जरूरत साहित्य जगत को क्यों महसूस हो रही है। पुरुष सत्ता के लिए कभी यौन शुचिता जैसी कोई अवधारणा नहीं रही। स्त्रियों पर सारे पहरे रहे। उसे कैद भी मिली इसी कारण। आज वही नैतिकता के ठेकेदार स्त्री विमर्श को देह-विमर्श में बदल कर लोगों को गुमराह कर रहे हैं। अपनी अस्मिता और अपनी आजादी को लेकर स्त्री की सारी लड़ाई को हल्का करने की ऐसी निकृष्ट कोशिश कहीं नहीं देखी गई। आप लोग यौन शुचिता पर बात करना बंद करिए। देहमुक्ति का राग अलापना भी बंद होना चाहिए। स्त्री अगर अब तक दबी कुचली अपनी दैहिक

कामनाओं की बात करती हैं तो आप उस पर देहमुक्ति की पैरोकार का ठप्पा लगा कर ठिकाने लगाना चाहते हैं। वाह आप चीख-चीख कर कहते हैं कि सारा दोष भूमंडलीकरण है क्योंकि उसने ही स्त्री को बाजार दिया, उसकी देह को प्रोडक्ट में बदल दिया।

प्लीज, आप लोग अपने दिमाग से जाले साफ करिए फिर आपको समझ में आएगा कि स्त्री अपनी यौनाकांक्षा पर बात करते हुए एक से अनेक की ओर बढ़ने की पैरोकारी नहीं कर रही बल्कि वह कह रही है कि स्त्री को देह मत मानो, उसे मनुष्य के रूप में देखने की कोशिश करो। सोचिएगा कि क्यों इसी देश में स्त्रियां प्राचीन काल से बाजार में बैठ रही हैं, देह का धंधा तो दुनिया का सबसे प्राचीनतम धंधा है। तब कहां था आज का बाजार। मल्टीनेशनल कंपनियों ने तो उनको दूसरे अवसर दिए, रोजगार दिया, उनके हुनर के मुताबिक अवसर दिए। प्राचीन काल में औरतों के लिए सिर्फ कोठे थे, आपके मनबहलाव के लिए घुंघरुएं, उनकी आवाजें, उनकी अदाएं सबकुछ। पहले से ही हुस्न का बाजार फैला हुआ था। आप फालतू में बाजार को गाली मत दें एक स्त्री को इतनी आजादी होनी चाहिए कि वह अपनी मॉडल बने, हीरोइन बने, अंग-प्रदर्शन करे, उसकी देह हैं तो उसका हक होना चाहिए। आप अपनी प्रतिष्ठा से जोड़ कर न देखे। वह जीवन भर देह बचाती घूमे कि पुरुष की नाक न कटने पाए। उसने देह पर हक मांगा, चाहा, आपकी कुत्सित भावनाओं ने इल्जाम लगाया कि वे पुरुष सत्ता की तरह ही देह की आजादी चाहती हैं। बड़ी हास्यास्पद समझ है। हां यह स्वीकारती हूं कि राजनीति में महिलाओं की रुचि कम है। लेखिकाओं पर यह भी आरोप चस्पां होता है कि वे राजनीतिक चेतना संपन्न नहीं होतीं। ऐसा नही है। बात ये है कि राजनीति स्त्री का अंतिम लक्ष्य है, उसके पहले संघर्ष के इतने चरण हैं कि पहले उसमें आने वाली बाधाओं को पार कर लें फिर अंत तक पहुंचे।

उत्तर 4 : देखिए, पत्रकारिता में हमने इन सवालों पर बहुत लिखा है और सत्ता की खूब बखिया उधेड़ी है। कहानी की दुनिया के बारे में अभी मेरा ज्ञान सीमित है। जितनी मुझे जानकारी है उस आधार पर आपकी बात से आंशिक रूप से सहमत हूं। हाल ही में वरिष्ठ साहित्यकार रजनी गुप्त का एक उपन्यास 'ये आम रास्ता नहीं है'- आया है। इसमें वह सब है जिसकी ओर आपका इशारा है। बात ये हैं कि अभी स्त्री को बहुत से जरूरी सवालों से जूझना पड़ रहा है, उसके सामने अभी परिवार और समाज में अपने अस्तित्व की, पहचान की जंग जारी है, यही मुसीबत इतनी भारी है कि इससे इतर ध्यान जाता ही नहीं। यह चिंताजनक है और इस पर हमने सोचना शुरू कर दिया है। मैं सिर्फ अपनी बात कह सकती हूं, किसी और का पता नहीं। लेकिन हम कुछ लोग हैं जो इस तरफ रूख करने पर गंभीरता से सोच रहे हैं। ये सारे वे क्षेत्र हैं जहां स्त्री की पहुंच उतनी नहीं रही है। अनुभव संसार और उसकी पहुंच का दायरा भी सिकुड़ा हुआ था।

उत्तर 5 : दो साल पहले जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल में बालीवुड के मशहूर गीतकार प्रसून जोशी ने मातृत्व पर सनसनीखेज बयान देकर हंगामा खड़ा करवा दिया था। उन्होंने कहा था कि हम मातृत्व को इतना ग्लैमराइज्म करके देखते हैं कि उसके खोल में स्त्री की सारी कामनाएं छिप जाती हैं। वह उसी खोल में घुट कर रह जाती है, कभी बाहर नहीं आ पाती। उनके कहने का लब्बोलुआब यही था कि हमें मां का इतना महिमामंडन नहीं करना चाहिए कि वह अपने स्त्री होने को भूल जाए। कुछ लोगों को यह बात बहुत चुभी थी। प्रसून जोशी ने कहा था सो ज्यादा विरोध नहीं हुआ। किसी पुरुष ने कहा था सो ज्यादा लोग नाराज नहीं हुए। ऐसा ही एक बयान मैंने दिया था कुछ साल पहले कि स्त्री को दो चीजों ने आज भी गुलाम बना रखा है किचन और कोख। इस बयान पर स्त्रियों की तीखी प्रतिक्रिया आई और पुरुषों को लगा कि यह तो संतति को संकट में डालने वाली बात हो रही है। स्त्रियों ने कहा कि मां बनना स्त्री नैसर्गिक सुख है, हमें उसको नहीं छोड़ना है। मत छोड़ो, मां कहके मर्दवादियों ने आपको ऊंचे सिंहासन पर बिठा कर आपके स्त्री होने को ही बिसरा दिया है। मस्त रहो माता जी। 'जै माता दी' के देश में औरतों को भरमाना क्या मुश्किल।

भारत में स्त्री विमर्श की कई धाराएं हैं जिनके अलग-अलग वैचारिकी है। आपस में कहीं मैच नहीं करते विचार। पूरा विमर्श या तो विभ्रम में पड़ा है या तय नहीं कर पा रहा कि किस रास्ते को फाइनल करे। पश्चिम में तो एकमत है कि कोख स्त्रियों की मर्जी पर छोड़ा गया है, वे चाहें तो बच्चा पैदा करें, न चाहें तो न करें। परिवार दवाब नहीं डालता, सरकारे जरूर चिंतित हैं। कई देशों की जनसंख्या घट रही हैं और बूढ़े ही बूढ़े नजर आते हैं, बच्चे दिखते ही नहीं। भारतीय परिवेश में कोख से आजादी कभी नहीं मिलेगी और यह जानते हुए कि कोख ने गुलामी और गुमनामी में बहुत सी प्रतिभाशाली महिलाओं को ढकेला है, कोख के पक्ष में हूं। नैसर्गिक सुख जैसी कोरी भावुकता में नहीं पड़ते हुए, अलग कारणों से। शायद बच्चों से लगाव की वजह से, शायद उस परिवार की अवधारणा में अब भी यकीन कहीं न कहीं बचा हुआ है। पर यह सच है कि खाना बनाना और बच्चे पालने की एकतरफा जिम्मेवारी सिर्फ औरतों की है। ठीक उसी तरह से कि परिवार का पोषण करने की जवाबदेही पुरुषों की होती है। भारतीय समाज में दोनों अपना काम करते हैं। करियर और बच्चों की चाहत ने स्त्री को सुपर वीमेन में बदल दिया है। हमारा सामाजिक ढांचा ऐसा है कि मातृत्व थोपने के लिए किसी राजनीति की जरूरत ही नहीं। जैसे स्त्रियों को विवाह से मुक्ति नहीं, वैसे ही मातृत्व से मुक्ति नहीं।

उत्तर 6 : बहुत चिंताजनक स्थिति है। कुछ साल पहले एक मैगजीन ने खोजी कवर स्टोरी की थी कि खाप पंचायतों में लड़कियों को मारने का फरमान के पीछे क्या क्या कारण हैं। सामाजिक मानसिक कारणों के साथ साथ सबसे बड़ा कारण आर्थिक था जो सीधे-सीधे लड़कियों की शिक्षा और जागरुकता से जुड़ता है। हरियाणा के उस कट्टरपंथी समाज की लड़कियां पढ़ लिख कर आगे बढ़ रही हैं, वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो रही हैं, उनके लड़के बेरोजगार हैं, दिल्ली के करीब होने से उनकी संपत्ति का बहुत मोल बढ़ा और कई किसान रातोरात मालामाल हो गए। उनके खेतों में मॉल और कालोनियां उगा दी गईं। उन्हें बदले में अपार दौलत मिली। लड़कों को पढ़ाई से ज्यादा नई नई गाड़ियों, पब और अय्याशी में ज्यादा मन लगने लगा। बूढ़े होते पिता आज भी खाट पर बैठ कर हुक्के गुड़गुड़ाते हैं, फरमान जारी करते हैं और अपनी पढ़ी-लिखी बेटियों से डरते हैं। वहां बुजुर्गो से ज्यादा युवा लड़के खाप में सक्रिय हैं। उन्हें डर है कि लड़कियां उनसे अपना हिस्सा

न मांग बैठे। बहुत क्रूर एप्रोच होती जा रही है। कुछ साल पहले अचानक से खाप पंचायतों के फैसले भयानक हो गए थे और सगोत्रीय जाति में प्रेम विवाह करने वाली लड़कियां अचानक कत्ल की जाने लगीं। उधर देशभर में लड़कियों पर यौन हमले शुरू हो गए। स्त्री की स्वतंत्रता से जलने वाले पुरुषों ने अचानक समूह में यौन हमले शुरू कर दिए। अकेली लड़की से निपट पाना अब उतना आसान नहीं रहा था। इसलिए पिछले कुछ सालों में आप देखेंगे कि कितने सामूहिक बलात्कार के मामले सामने आए हैं। स्त्री की अपनी अस्मिता की छटपटाहट और आजादी की चाहत ने पुरुष सत्ता के भीतर गहरा आक्रोश भर दिया है। ऊपर से ये स्त्री विमर्श इतनी चोट कर रहा है कि मर्दवादी ताकतें तिलमिला गई हैं। उन्हें अपनी सत्ता हिलती हुई दिखाई दे रही है। कहीं कहीं तो दुर्ग ढहा दिए गए हैं। रोजगार के अवसर में बराबरी की भागीदारी ने भी उन्हें चौकन्ना कर दिया है। स्त्रियों के हित में बनाए जा रहे नए नए कानून ने भी उन्हें बौखला दिया है।

उत्तर 7 : सोशल मीडिया का बड़ा उपकार है कि उसने कई प्रतिभाशाली औरतों को उनके दड़बे से निकाल कर बड़े मंच से जोड़ दिया। कुछ लोगों को वे स्त्रियां फूल-पत्ती पर कविता लिखने वाली लगती हैं, जिन्हें कल तक कोई पहचानता नहीं था, कोई पत्रिका छापती नहीं थी, कोई मंच बुलाता नहीं था, ब्लाग और सोशल साइट ने उन्हें अवसर दिए कि वे अपनी रचना को सामने ला सकें। किसी को पसंद न आए तो न पढ़े। इन्हीं में से कई शानदार लेखिकाओं का पता हमें मिलता है। साहित्य इतना पिछड़ा क्यों रहे या ऐसी सोच क्यों बने कि तकनीक से हस्तक्षेप से उसको कोई नुकसान पहुंच सकता है।

ये गंभीर लेखन क्या बला है? कोई भी लेखन अगंभीर नहीं होता। रस्किन बांड ने कहा था कि लेखन का फैसला करना ही सबसे गंभीर होता है। हर वह लेखन गंभीर होता है जो समय और सरोकारों की बात करता है। आज सोशल साइट पर साहित्य का ज्यादा ही प्रचार प्रसार हो रहा है। कई समूह हैं जो अच्छी रचनाएं, दुर्लभ रचनाएं आपस में शेयर कर रहे हैं। स्त्री लेखन की चर्चा के पीछे वजह सिर्फ सोशल मीडिया नहीं बल्कि स्त्री का लेखन है। बहुत सी स्त्रियां लिख रही हैं। खूब लिख रही हैं और साहस के साथ लिख रही हैं। इतनी स्त्रियां किसी कालखंड में लेखन में नहीं थीं। साहित्य के इतिहास में यह समय स्त्रियों के लेखन के लिए याद किया जाएगा, देखिएगा। अगर ऐसा नहीं होता तो यह साहित्य के साथ सबसे बड़ी बेइमानी होगी।

उत्तर 8 : पहले यह समस्या थी कि समीक्षा, मंच, पुरस्कार, जलसा आदि के जरिए साहित्य पाठकों तक पहुंच पाता था। अब ऐसा नहीं है। अब कौन रोक सकता है लेखक को पाठक तक पहुंचने से? सोशल साइट पर लेखक पाठक आमने सामने हैं। उनमें सीधा संवाद हो रहा है। मोबाइल ने साहित्यकारों की उपलब्धता आसान कर दी है। जुगाड़तंत्र से पुस्कार तो मिल सकते हैं, पाठक नहीं। चर्चा मिल सकती है, ख्याति नहीं।

उत्तर 9 : मैं दावे के साथ नहीं सकती कि पर आप कह रहे हैं तो चलिए मान लेते हैं कि स्त्रियों में 'सेंस ऑफ हयूमर' कम होता है। जिनमें है भी तो वे उसे लेखन में तब्दील नहीं कर पातीं। देखिए जिनके दामन में सदियों की यातना भरी हो जो शोषण के दुष्चक्र से बमुश्किल निकल रही हैं, वे शहंशाहों की तरह हास्य बोध कहां से लाएं। पहले लिखने दें-दासता की पीड़ाएं। ये कम है क्या कि वे अपने ऊपर बनाए गए 'वाहियात चुटकुलों' पर हंस लेती हैं। सारे चुटकुले मर्दो ने स्त्रियों को केंद्र में रख कर बनाए। आज कल उल्टा हो रहा है। अब स्त्रियों की तरफ से भी मर्दो को केंद्र में रखकर चुटकुले बनाए जा रहे हैं पर मुझे संदेह है कि वे कोई स्त्री बनाती होगी। बाजार का खेल है पर है तो समय का सच। स्थितियां पलटी तो जरुर हैं और स्त्रियों में भी हास्यबोध बढ़ा है। लेखन में इस्तेमाल कम हो रहा है। होगा होगा एक दिन जरा हमें अपनी तकलीफों से निजात तो पाने दें। कुछ पहरे हट जाएं तो देखिए, कैसे हास्य बोध प्रकट होता है।

उत्तर 10 : योजनाएं नहीं बनातीं। वे सब ध्वस्त हो जाती हैं। मैं बहुत डिस-आर्गेनाइज्ड पर्सन हूं। 'जाना था जापान पहुंच गए चीन' की तरह जीने वाले हम, कुछ पता नहीं क्या करेंगे। फिलहाल बता दूं कि मेरा दूसरा संग्रह आने वाला है। उसके बाद एक साल कहानी लेखन से तौब्बा। उपन्यास पर काम कर रही हूं। कविता संग्रह और स्त्री विमर्श की किताबें तैयार हैं। यात्रा संस्मरण पर एक किताब लिख रही थी जो बीच में छूट गयी। उसे पूरा करना जरूरी है। कुछ किताबों का संपादन भी करुंगी जो मेरा मूल काम है। आलोचना में भी हाथ आजमाने का मन है। पत्रकारिता से बचे हुए समय में जो बन पड़ेगा...करेंगे। ▫

मो. : 09818246059, 08860080245
ईमेल : geetashri31@gmail.com

n नीलाक्षी सिंह

सवाल मैंने पढ़े। अच्छे हैं। पर एक लेखक को अपने विचारों से कभी समझौता नहीं करना चाहिए। जबसे मैंने कलम उठाया कभी एक पल के लिए भी अपने आपको स्त्री या युवा नहीं महसूस किया। हर वक्त इंसानी आंसू और पसीने के खारेपन में ज़मीन से जोड़े रखा और मानवीय उल्लास और उत्कंठा ने आसमान की तरफ हाथ फैलाने की उमंग दी। ऐसे में अपने वजूद को किसी संकीर्ण चौखटे में बांधकर इंसानी आजादी पर आँच क्यों आने दी जाय। बेशक भेजे गये सवाल महत्वपूर्ण हैं। पर शायद ज़मी नहीं ये मेरी। मेरे लिए लिखने की चुनौतियां अलग हैं और कलम उनसे भिड़ने को उत्सुक। इसलिए विनम्रतापूर्वक माफी चाहूंगी। अन्यथा न लेंगे, आशा है। n

मो. : 009835745525
ईमेल : neelakshi17@yahoo.co.in

n प्रत्यक्षा

उत्तर 1 : स्त्री को अपनी जगह खुद बनानी पड़ती है। कोई भी अधिकार या अवसर किसी के देने की प्रतीक्षा की बजाय उसे अपने लिये खुद क्लेम करना पड़ता है। मुझे लगता है आज के समय में जो स्त्रियाँ साहित्य रच रही हैं उन्होंने अपने लिये ये जगह बना ली है। उनकी अभिव्यक्ति आजाद है, उनके साहित्य के मसले किसी के अनुमोदन या किसी स्वीकृति के मोहताज नहीं। साहित्य एक ऐसा प्लैटफॉर्म है जहाँ अपनी इच्छा अनुसार हम उड़ान भर सकते हैं। किसी बंदिश किसी अंकुश से बेपरवाह। शायद जो सामाजिक जीवन में कई बार बराबरी न मिल पाये उसकी भरपाई हम और और ज्यादा साहित्य में कर सकते हैं। हम ऐसी दुनिया रच सकते हैं जो आने वाले समय का पूर्वगामी हो। एक तरह से एक दुनिया खड़ी करने की तैयारी भी। और ऐसा हम कर पा रहे हैं, कुछ और करने की जरूरत है निडर और बेपरवाह हो कर, सच्चे और ईमानदार होकर।

उत्तर 2 : मुझे हर लेबल से दिक्कत है। मैं स्त्री लेखिका हूँ , युवा (जो कि अब हूँ भी नहीं फिर भी इस लेबल का शिकार हूँ) स्त्री लेखिका हूँ, एक खास तबके वर्ग से आती हूँ, इन सब का कोई मतलब नहीं, मैं सिर्फ लेखक हूँ। इस बात का वास्ता और किसी बात से नहीं। मेरे लिखाई की योग्यता या उसका संदर्भ आज के समय की लिखाई के बरक्स होना चाहिये। मेरा रिश्ता आज के समय के हर लेखन से है। साहित्य की इस दुनिया में मैं एजलेस जेंडरलेस होना चाहती हूँ , कई बार फेसलेस भी। अगर मेरी कोई पहचान हो तो सिर्फ मेरे लेखन के जरिये। साहित्य के इतर मैं स्त्री हूँ एक तरह के गुरूर से भरी स्त्री जो चीजों को अपने हिसाब और मर्जी से करने की हुनर सीखने की कोशिश में है।

उत्तर 3 : आपने खुद ही अभी कहा कि पितृसत्ता की जकड़न को बहुत कुशलता से स्त्रियाँ तोड़ रही हैं। फिर आँखें फेरने की बात कहाँ रही? अपने लेखन में महिलाओं ने इन मसलों को बार-बार केन्द्र पर रखा है कई बार बहुत ऑवर्ट तरीके से नहीं भी फिर भी हमारे लेखन में उसकी एक भीतरी धार हमेशा बहती है, इसलिये कि यही निरंतर हमारा जीवन रहा है। हजारों साल के शारीरिक, मानसिक और आर्थिक दमन की कहानी इतनी आसानी से खत्म नहीं होती। एक गुम हुई स्मृति की तरह अब भी हम अपने दादी नानी और पूर्वज स्त्रियों के कठिन जीवन को याद रखते हैं। यह एक तरह का सामूहिक स्मृति गीत है। इन सब चीजों से आँखें फेरना अपनी प्रकृति से नजर फेरना है। हम जो लिख रहे हैं वह किसी के बनाये खाँचे में बँध कर नहीं लिख रहे। कोई मर्दवादी दुनिया ये तय नहीं कर रही कि महिलायें क्या और कैसे लिखेंगी। हाँ ये जरूर कई बार होता है कि पितृसत्तात्मक साहित्य समाज ये तय करता कि महिलाओं की किस रचना को हाईलाईट किया जाये जो कि कई बार रूढ़िबद्ध लेखन ही होता है। मैं ये मानती हूँ कि इस तरह का अंकुश साहित्य समाज की कमी है। वो कहीं से भी स्त्री लेखन को परिभाषित नहीं करता। इस मामले में शायद पुरुषों को अपने नजरिये में बदलाव लाने की जरूरत है। जेंडर पर स्थापित खाँचों को बढ़ावा देने का काम भी पुरुषों ने ही किया है। कोई स्त्री लेखिका खुद को किसी खाँचे में नहीं बाँधती।

उत्तर 4 : महिलाओं ने अपनी रचनात्मक जगह बनाई है और उस जगह को अपने हिसाब से सिरज रही हैं। ऐसा नहीं है कि अर्थनीति, नौकरी, राजनीति पर स्त्री लेखन नहीं हुआ है। मैंने खुद ही आदिवासियों के शोषण और सामाजिक दमन पर कई कहानियाँ लिखी हैं, जंगल का जादू, शाहरुख शाहरुख, दिलनवाज, आईने में...इसी तरह और लोगों ने भी लिखा है। बात दरअसल ये है कि एक स्टीरियोटिपिकल नजरिये से स्त्री लेखन देखा और समझा जाता है और उनकी उन्हीं रचनाओं को तव्वजो दी जाती है जो इस खाँचे में फिट बैठे, मसलन प्रेम, परिवार ,स्त्री मुक्ति, स्त्री विमर्श इत्यादि। इसके परे जो लेखन है उसे हमेशा हाशिये पर रख दिया जाता है। उस पर कोई फोकस नहीं पड़ता। अगर समग्र भाव से स्त्री लेखिकाओं की रचनायें देखी जायें तो पुरुष लेखकों से ज्यादा रंग उनमें दिखाई देगा।

उत्तर 5 : स्त्रियाँ अपने मातृत्व भाव में विशिष्ट हैं। मर्दवादी और स्त्रीवादी नजरिये से इतर ये हर एक स्त्री का अपना चुनाव हो, उसे चुनने की आजादी हो मातृत्व कोई भावुकता से उपजा भाव नहीं यह सृष्टि को चलाने का एक बायलॉजिकल टूल है। स्त्रियों को अपने मापदंड रचने चाहिये। मर्दवादी नजरिये को स्वीकार करने या तोड़ने में फिर ट्रैप्ड होना बहुत सी उर्जा नष्ट करना हैं। चीजों को मापने के औजार हमें बदलने होंगे। अपने शरीर से एक राग स्थापित करना होगा, आराम से, गंभीरता और सौम्यता से।

उत्तर 6 : ये बहुत ही चिंताजनक स्थिति है। हाल में मैं ऑस्लो में मोल्दे लिटरेचर फेस्टीवल में शिरकत करने गई थी। वहाँ हम स्त्रियों के शोषण पर बहुत बातें करते रहे। आयलिन मैं और मीरा बेकस्त्रेम लौरंत्जॉन। ये जरूरी नहीं आर्थिक स्वतंत्रता से ही बराबरी मिल जाये। हाँ, उसके होने से सहूलियत जरूर होती है। आयलिन ने अपनी दादी की कहानी बताई जो टर्किश हैं, जिन्होंने पाँच शादियाँ की, हर बार खुद तलाक दिया जबकि न तो वो पढ़ी लिखी हैं न कुछ कमाती हैं। कहती है उनसे ज्यादा लिबरेटेड औरत उसने नहीं देखी। आयलिन का वैसे ये ख्याल है कि औरतों की हालत में बहुत सुधार नहीं हुआ है, कि जैसे अब फिर से कोई साजिश हो रही है उन्हें दबाने की। बताती हैं कि कई लोग कहते हैं कि औरत कम कपड़े पहने तो उसका बलात्कार होगा ही। मैं चकित हूँ। बताती हूँ हमारे यहाँ ऐसी बातें कहना आम है। ऐसा नार्वे में भी होता है इस पर मुझे आश्चर्य है। मीरा कहती है कि जो लड़कियाँ ड्रग एडिक्ट हैं, जो नशे में बेसुध रात को सड़कों पर अधनंगी हालत में घूमती हैं, उनके बारे में ऐसा कहा जाता है। आयलिन आधी टर्किश है और ज्यादा समय त्रुम्सो में रहती है। वो डाक्यूमेंटरी फिल्में बनाने का

काम करती है और कई ऐसी फिल्मों का जिक्र करती है, एक जो पाकिस्तानी लड़कों के सेक्शुअल अब्यूज की कहानी ट्रक ड्राइवरों के हाथ। और ये कि ये ड्राईवर्स कितनी सहजता से ऐसी हरकत कुबूल करते हैं। मैं याद करती हूँ अफ्रीका और मध्य एशिया के देशों में फीमेल सरकम्सिशन पर एक फिल्म। आयलिन शायद भारत आये हिजड़ों पर कोई डाक्यूमेंटरी जैसा प्रोजेक्ट है। मैं और आयलिन ज्यादा पैशोनेट हैं मीरा संयत है और उसके पास हमारी हर बात का एक काउंटर है। वो दूसरा नजरिया पेश करती है। मैं भारत में स्त्रियों की स्थिति बताती हूँ और आयलिन कहती है यहाँ भी एक तरह से वैसी ही स्थिति है, शायद उतना ऑब्वियस नहीं, उतना दमनकारी नहीं लेकिन स्त्रियों की स्थिति हर जगह दोयम ही है। इस बातचीत को मैं यहाँ इसलिये बता रही हूँ कि कई बार हमारे नजरिये में पश्चिमी देशों में स्त्रियाँ बेहतर स्थिति में होती हैं। वहाँ की बातचीत आई ओपनर थी। स्त्रियों के प्रति बढ़ती हिंसा का क्या सामाजिक समीकरण है ये बहुत ही गूढ़ और जटिल मसला है। ऐसा लगता है जैसे मनुष्यता नष्ट हो रही है, सब्र खत्म हो रहा है, दुनिया बदतर हो रही है।

उत्तर 7 : सोशल मीडिया एक अलग जानर है। उसके डिमांड्स अलग है। यहाँ तारीफ और सफलता आपकी योग्यता की बजाय आपके सोशल स्किल्स की वजह से मिलती है। वहाँ एक तरह का भाईचारा और बहनापा है, वहाँ सब दीदी, भैया, बाबू हैं। वहाँ सनसनी और उद्दंद उच्छंखलता पर हजार लाईक्स हैं, वहाँ भी गुटबाजी है। औसतपन है लेकिन कई बार कोई कौंध भी है, अचानक उस भीड़ में अलग कोई रौशनी की जगह भी है, इतनी सारी मूर्ख और दंभी सेल्फ प्रोमोशन के साथ अचानक कोई गंभीर चिंतन भी है, ठहराव की धारा भी है। गंभीर लेखन के लिये अपने भीतर चीजों को पकने देने का जो अभाव है, त्वरित कमेंट्स और तारीफ में खुद को सार्थक मान लेने की जो लालसा है वही गंभीर लेखन को खारिज करता चलता है। लेकिन सोशल मीडिया एक तरह का सामाजिक सोशयोलॉजिकल स्टडी है। वह आज के समय का चौपाल है। वहाँ रहकर शायद इस तरह का ऑबजर्वेशन एक लेखक के लिये जरूरी औजार।

उत्तर 8 : मैं ऐसी दुनिया से अब निर्लिप्त हूँ। एक वक्त था जब तकलीफ होती थी। अब एक तरह का संतोष है कि जो लिखती हूँ उसमें खुशी मिलती है। इतना काफी है। कड़वा सच है कि हिंदी का पाठक समाज दस हजार से ज्यादा नहीं। इस घेटोआईज्ड दुनिया के लिये इतने तिकड़म को मैं हास्यास्पद समझती हूँ। बदले में ये जरूर लगता है कि ऐसा क्या किया जाय जिससे लोग हिंदी साहित्य के प्रति आकर्षित हों। इस मसले पर लगातार सोचती हूँ, अपने लेखन में क्या नया करूँ जिससे मुझे सृजन का सुख मिले, कैसे पागलपन दीवानेपन से लिखूँ कि आजतक जो नहीं लिखा था, जैसे नहीं लिखा था, जो सोचा भी ना था, उसे लिख डालूँ। शायद पुरस्कार तंत्र से अगर सब निर्विकार हो जायें तो हिन्दी साहित्य का भला ही होगा। फिर जो इनमें लिप्त हैं, मुझे आश्चर्य होता है कि लेखकीय संवेदनशीलता, गरिमा और गँभीरता उनमें क्यों कर होगी।

उत्तर 9 : हाँ, ये मैं भी सोच रही थी। हम कुछ पागल दीवाने बिंदासपने में क्यों नहीं कुछ रच रहे। शायद इसलिये कि हमारे जीवन में, हमारे समाज में हयूमर के लिये बहुत कम जगह है। हम जीवन की मार से पिसे हुये लोग हैं। हम में खुद पर हँसने की काबिलियत भी नहीं। रोजी रोटी पोजिशन, गुटबाजी, अपना फायदा दूसरे का नुकसान में हम लिप्त रहते हैं। स्त्रियाँ ही नहीं पुरुष भी इस तरह की लिखाई कहाँ कर रहे हैं। हास्य के नाम पर हम सिर्फ फूहड़ और हास्यास्पद हो रहे हैं। सही अर्थों में हम पतनशील भी नहीं हो पाते। इस्मत आपा की तरह का खिलंदड़ापन भी हमने अपने लेखन में खो दिया है।

उत्तर 10 : एक अधूरा उपन्यास पूरी करने की कोशिश में हूँ, एक घुमक्कड़ी कथा जो लगभग पूरा होने की कगार पर है। एक अंग्रेजी उपन्यास भी अधरास्ते है, कुछ विदेशी कवियों की कृतियों का अनुवाद भी कर रही हूँ। एक ग्राफिक उपन्यास मन में है और बहुत सी हवाओं में लटकी, नींद के अधजगे में जन्मी कहानियों के अस्पष्ट धुँधले सूत्र भी। ▫

मो. : 09910378169
ईमेल : pratyaksha@gmail.com

---

n अल्पना मिश्र

उत्तर 1 : हिंदी साहित्य में भी दुनिया के तमाम साहित्य की तरह स्त्रियों ने अभिव्यक्ति के लिए ही गाना और लिखना शुरू किया था। एक दौर ऐसा भी रहा है हमारे यहाँ, जब स्त्रियाँ नवजागरण के टोन से अलग जमीनी हकीकत से अपनी बात कह रही थीं। इतना साहस वहॉ दिखाई पड़ता हैं बावजूद इसके कि उन्हें, उस समय लेखक का दर्जा नहीं दिया जा रहा था। तब से यह सिलसिला अपनी निरन्तरता में चलता रहा है। बीच बीच में यह होता रहा है कि तमाम ऐसी चीजों को प्रमोट करने या पितृसत्ता के मनोनुकूल लेखन को ही स्त्री लेखन मनवाने की कोशिशें साहित्य के वर्चस्वशाली लोगों द्वारा की जाती रही है। पर जन सामान्य पाठक अभी भी जीवित है और वह उन चीजों को खारिज करता है। मुझे अफसोस होता है कि आज जब हम तकनीकी रूप से अधिक उन्नत समय में खड़े हैं, तब ये कोशिशें और बढ़ी हैं और पितृसत्ता की इच्छानुसार लेखन खूब होने लगा है। पर इस थोड़े से नकारात्मक तरीके को छोड़ दें तो पूरी दुनिया में स्त्रियों ने बड़ी सच्चाई से कलम पकड़ी है और लेखन के मार्फत बड़ी मजबूत लड़ाई लड़ी है।

हिंदी में भी यह सच्चाई है। स्त्रियां अपने व्यापक सरोकारों और दृष्टि के साथ लिख रही हैं। हालांकि हमारा समाज अभी भी ऐसा है जो एक अदृश्य सेंसर की तलवार स्त्री के ऊपर लटकाए रखता है। यदि इस सेंसर का शिकार हो कर स्त्रियां लिखती हैं तो निश्चित ही वे बेहतर काम नहीं कर पायेंगी।

उत्तर 2 : मैं यह नहीं मान सकती कि स्त्रियों, दलितों और पिछड़ों को मुख्यधारा से परे धकेलने का षड़यंत्र है। अगर ऐसा होता तो जब से स्त्रियों ने लिखना शुरू किया था, उन्हें लेखक का दर्जा देने में इतनी हिचकिचाहट क्यों थी? क्यों उनके लेखन को घर परिवार का घरेलू लेखन कह कर दरकिनार करने की कोशिश की जाती रही। और उन्हें शुरू से ही मुख्यधारा में शामिल क्यों नहीं किया गया? न दलितों को, न ही पिछड़ों को। यह पिछले बीस वर्षों से ही अधिक गति में क्यों आया? नारीवाद को भी नकारात्मक तरीके से ही लिया गया था। समाज के भीतर तो यह प्रायः एक गाली की तरह प्रयुक्त होता है। दरअसल देरिदा के विखंडन को समझने की जरूरत है। शायद आपको याद हो कि 90 के बाद हिंदी में कैसी खोज मची थी-दलित लेखक लाओ, स्त्री लेखिकाओं, विमर्शों पर बात करनी है। फिर अपनी-अपनी तरह से यह हुआ भी। बहुत से ऐसे लेखक लाए गए, जिन्होंने प्रायः विमर्श नहीं पढ़ा था। पढ़ने की जरूरत भी नहीं समझते थे। प्रभा खेतान ने परिश्रम किया। उन्होंने पढ़ा भी, समझा भी और स्त्री पर बहुत बेहतर लिखा भी। दलितों ने भी इसे समझना शुरू किया और बेहतर लिखा। जो नहीं समझे, वे सीमित दायरे का शिकार हुए। केवल अनुभव से बात नहीं बनती, अनुभव के साथ समझ की भी बड़ी भूमिका है। फिर भी यह हुआ कि पूरे स्त्री विमर्श को 'देह विमर्श' में रीड्यूज करने की बाकायदा कोशिश हुई। यह बाजार की तर्ज पर अधिक हुआ, स्त्री विमर्श की तर्ज पर कम।

जहाँ तक मेरी बात है तो आज मैं ऐसे समय में लिख रही हूं जिसे मैं विमर्शों के बीत जाने के समय के रूप में देखूंगी। यहां स्त्री दृष्टि महत्वपूर्ण है, चेतना महत्वपूर्ण है और जैसा कि मैं हमेशा कहती रही हूं कि स्त्री को अर्थ तंत्र, राजनैतिक व्यवस्थाओं, सांस्कृतिक इतिहास और समाज विज्ञान से काट कर नहीं देखा जा सकता है। उसका जीवन इन सब के बीच से, इन सब को मिला कर बना है। उसकी दृष्टि भी इन सरोकारों को देखेगी। इसलिए आज के दौर में अलग से 'स्त्री लेखन' कहना बेमानी है। मेरे दौर के लेखक ऐसा नहीं कह रहे हैं। ये पुराने लोगों की 'रट' जैसा है, धीरे धीरे आदत जायेगी। आलोचना इसीलिए पीछे छूट गई है। अब देखिए मैने अपने उपन्यास 'अन्हियारे तलछट में चमका' में व्यापक स्त्री सरोकारों की बात उठाई है। स्त्री की दृष्टि से पूरी दुनिया की समस्याओं की बात की है, युवाओं की बात की है, नये बनते समय में छूट गए लोगों की बात की है, शिक्षा व्यवस्था की बात की है। स्त्री की अपनी भाषा में कहन की बात की है। पर कहां इसे खोला जा पा रहा है। वही घिसी पिटी बातें हैं बस।

उत्तर 3 : ऐसा नहीं है। स्त्रियों की दृष्टि ने अपना बड़ा विस्तार पाया है। पूर्व में भी आप कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, चित्रा मुद्गल आदि को देख सकते हैं। चित्र जी का 'आंवा' उपन्यास तो बहुत बड़ा कैनवास लेता है। राजनीति, अर्थ व्यवस्था, मजदूर आंदोलन, वर्गीय स्थितियां आदि सबके अन्तरविरोध वहॉ बड़े पैने तरीके से उभरते हैं। राजनीति और संस्कृति के भीतर तक धंसी तमाम रणनीतियों और नियन्त्रण करने के तमाम चालाक तरीकों पर जेनुइन स्त्री लेखकों की नजर रही है। और जैसा कि मैंने कहा कि जो लेखन पितृसत्ता की इच्छा से संचालित है, वह दृष्टि के इस विस्तार को नहीं पा सकता।

उत्तर 4 : यह प्रश्न दरअसल उपर्युक्त प्रश्न का ही विस्तार है। इसके लिए भी यही कहा जाएगा कि जेनुइन लेखन को देखिए। बाजार के तर्ज पर उठाए जा रहे शोर को हम सभी को समझना होगा।

उत्तर 5 : आपने पहली पंक्ति निष्कर्ष की तरह दे दी है। यदि आपके लिए तय ही है कि 'मातृत्व स्त्री को श्रेष्ठ कृति बनाता है' तब तो सारी बातें व्यर्थ का विवाद ही लगेंगी। बेहतर होता आप यह निष्कर्ष न देते। दूसरे, नारीवादियों को क्यों दोष दे रहे हैं? नारीवादियों का योगदान स्त्री चेतना में कम कर के नहीं देखा जा सकता। यह अलग बात है कि उसकी अपनी सीमायें हो सकती हैं, अलग अलग स्वर और धारायें हो सकती हैं, उनके कुछ खास मुद्दे हो सकते हैं। लेकिन मैं यहां आपका यह भ्रम तोड़ना चाहूंगी, क्योंकि 'मातृत्व' को सबसे बड़ा दर्जा बता कर पितृसत्ता ने 'स्त्रीत्व' की बात ही खत्म कर दी और स्त्री को मनुष्य की बजाय 'देवी' में रूपान्तरित कर दिया। जिस 'देवी' बनने की कोशिश में वह लगातार त्याग तपस्या करती चली जाती है। अपनी तरफ कभी नहीं देखती है। यह रणनीति स्त्रियों को तब अधिक स्पष्टता से समझ में आई, जब नारीवादियों ने 'मातृत्व' के इस सर्वोच्च पद पर सवाल उठाए और मातृत्व को जैविक प्रक्रिया के तहत एक सामान्य घटना माना। अब आप जरा हमारी महान संस्कृति के इतिहास पर गौर करिए तो पायेंगे कि जिस सर्वोच्च पद पर माता को बैठाया गया, छोटी छोटी गल्तियों के लिए उसको दंडित करने का आदेश उसके पुत्र को दिया गया, वह भी पिता द्वारा। यह कैसा पद था? और कैसे ये पुत्र थे? जिन्होंने पलक झपकते पिता के आदेश का पालन किया! और जब मां के लिए न्याय और अन्याय में से एक चुनने का वक्त आता है, तब यही पितृसत्ता उसे हर हाल में पति का साथ देने को कहती है, पुत्र का नहीं, भले ही पिता अन्याय कर रहा हो। ऐसे भी उदाहरण रहे हैं, जब पिताओं ने अपने पुत्रों को घर से निकाल दिया है, जब पुत्र के साथ अन्याय होता देख भी मां चुप रह जाती है, क्योंकि उसे पति का ही आदेश मानना है। ऐसा पद, जिसमें निर्णय का अधिकार न दिया गया हो, व्यर्थ ही कहा जायेगा। फिर आखिर माता और पुत्र के रिश्ते को सबसे बड़ा कैसे माने? यह एक नितान्त अलग बात है कि मां अपने बच्चों को प्रेम करेगी ही और वक्त पड़ने पर उनके लिए त्याग भी करेगी

किंतु स्त्री मां के रूप के अलावा भी स्त्री है। यदि बांझ है तो तिरस्कृत नहीं हो सकती, तब भी वह स्त्री ही है। वह प्रेम में, अपने अन्य संबंधों में, सामाजिक कर्तव्यों में स्त्री है। उसमें मनुष्य जैसे सुख, दुख, आशा, निराशा, अभिलाषाएं और ईर्ष्याएं हैं। इसलिए 'स्त्रीत्व' बड़ी बात है, 'मनुष्य' बड़ी बात है।

उत्तर 6 : 'स्त्रियों के संगठित दमनचक्र का कमजोर पड़ना' बहुत थोड़े से लोगों का ऊपरी यथार्थ है। इसी दिल्ली में पिछले दिनों वेंकटेश्वर कॉलेज की एक छात्रा को विजातीय विवाह करने के जुर्म में घर वालों द्वारा मार दिया गया। सहपाठियों और सहकर्मियों से दोस्ताना संबंध होने के बावजूद वही उन्हें छल रहे होते हैं। यानी स्त्री को मिले इस थोड़े से स्पेस का या इसे थोड़ी सी स्वतंत्रता कह लीजिए, इसका मजा चखाने से परिवार, रिश्तेदार, दोस्त मित्र कोई नहीं चूकता। लगातार हत्याएं, आत्महत्याएं, उत्पीड़न, बलात्कार की बढ़ती दर को क्या आप दमनचक्र का कमजोर पड़ना कह सकते हैं? सिर्फ इतना हुआ है कि कई जगह दमन के तरीके पहले से बहुत ज्यादा बारीक और मजबूत हुए हैं। कहीं-कहीं रणनीतियां पहले से बदली हुई हैं और शोषण कई स्तरों पर बढ़ गया है। कई बार यह साफ दिखाई भी नहीं पड़ता। नौकरी करती लड़की को स्वतंत्र लड़की मान लिया जाता है, उसके ऊपर और चारों तरफ के दबाव नहीं दिखाई पड़ते हैं। हिंसा द्वारा भय उत्पन्न किया जाना बढ़ा है। माता पिता, आज लड़की को उच्च शिक्षा और कैरियर में साथ देने को कुछ हद तक कहीं कहीं तैयार हुए हैं तो उन्हें भी डराया जा रहा है। अभी भी हमारा समाज पितृसत्ता की नियमावली से ही संचालित है। बहुत थोड़ी सी जगह है, जहां माता पिता बेटी के साथ खड़े हो पाने की हिम्मत कर पा रहे हैं। शायद आप को याद हो कि अभी हाल फिलहाल में एक प्रेमी युगल को पुलिस ने ही गांव छोड़ देने का फरमान सुना डाला है। हमारी व्यवस्था, सत्ता और कानून सब पितृसत्तात्मक मानसिकता से भरे पड़े हैं। यह आज सारे समाज की चिंता का कारण होना चाहिए। मेरी चिंता में तो यह बहुत गहरे शामिल है।

उत्तर 7 : सोशल मीडिया ऐसी जगह है, जहां सबके लिए अभिव्यक्ति के दरवाजे खुल जाते हैं। किसी संपादक वगैरह का दबाव भी नहीं है। मैं अभिव्यक्ति की ऐसी आजादी का स्वागत करती हूं। यह अलग बात है कि वहां सब कुछ को आप बेहतर नहीं कह सकते। पर उसका हस्तक्षेप एक जरूरी हस्तक्षेप है। क्यों नहीं वह आदमी बोलेगा, जिसने साहित्य का इतिहास नहीं पढ़ा है? मेरी दृष्टि में उसकी राय का भी महत्व है। कई बार वहां बड़ी गंभीर बात भी देखने को मिल जाती है। आगे आने वाले समय में यह और बढ़ेगा। साहित्य का एक बड़ा पाठक वर्ग वहां भी है। वह खरीद कर किताबें पढ़ रहा है। उसकी उपस्थिति को स्वीकार करना होगा।

उत्तर 8 : मैं इसे योरोप और अमेरिका के साहित्य बाजार के सामने रख कर देखती हूं। वहां बाजार ने पॉपुलर साहित्य से बाजार भर दिया है। हमारे यहां भी यह शुरू है। इसके बावजूद वहां बड़े और गंभीर लेखक हैं। क्योंकि पाठक को साहित्य से सिर्फ मनोरंजन नहीं चाहिए होता है। वह साहित्य के पास आता है जीवन को समझने के लिए। यह उसे और कहीं नहीं मिलता। गंभीर साहित्य से यह उसे मिलता है। इस लिए गंभीर साहित्य की मांग बनी रहती है। प्रचार तंत्र का यह समय है, इससे कमजोर कृतियां भी कुछ देर को बड़ी जगह घेरती दिखने लगती हैं। लेकिन पाठक के पास भी मूल्यांकन की दृष्टि है। वह खारिज करता चलता है। इसमें समय लगता है। यह धीमी गति से होता है। इसलिए आप देखेंगे कि बहुत सी ऐसी किताबें, जो अपने समय चर्चा के केन्द्र में थीं, आज कहीं नहीं हैं। अब इसमें और समय लगा करेगा, क्योंकि प्रचार तंत्र के सहारे तमाम ऐसी कमजोर चीजों को साहित्य के नाम पर थोप दिया जा रहा है, जिससे पाठक का अच्छी कृतियों तक पहुंचना पहले से कठिन हुआ है। समयाभाव की भी समस्या बढ़ी है। इससे, ऐसा करनेवाले लोग हिंदी साहित्य का कितना अहित कर रहे हैं, पता नहीं वे इसे समझ रहे हैं या नहीं! वे हिंदी पढ़ने की रूचि खत्म करने पर लगे हैं। भारतीय भाषाओं के सामने तक सिर नीचा करने की नौबत आ रही है। फिर भी, आज भी, पाठक ऐसी किताबों को खोजता है और वही लेखक का सच्चा हितैषी भी है।

उत्तर 9 : लगता है आपने मेरा उपन्यास नहीं पढ़ा। कहानियों में 'बेतरतीब' या 'मुक्ति प्रसंग' आदि भी नहीं। मैंने बार बार स्त्री की अपनी भाषा की बात की है। स्त्री भाषा बहुत व्यंजनापूर्ण है। बहुत सी लेखिकाओं में आप इसे देख सकते हैं। कृष्णा जी की भाषा का चुटीलापन देखते बनता है। असल में सभ्यता के दबाव ने हमें अपनी भाषा की पहचान करने से रोका है। मुझे लगता है कि इस पर बात करने का वक्त आ गया है। दूसरी बात, जहां स्त्रियों ने लिखना शुरू किया था, वह ज्ञान की कई हजार वर्षों की परम्परा और भाषा अभ्यास की अपेक्षा नया था और अपने जीवन की गंभीर समस्याओं पर विचार करते हुए उनसे जूझ रहा था। इस शुरुआती कदम से हम कलात्मक कारीगरी या भयावह संघर्ष से जूझते आदमी से 'हास्य' 'विनोद' की मांग कैसे कर सकते हैं? इस समय की भाषा प्रायः आक्रामक है और इतिवृत्तात्मक भी। लेकिन आप देख सकते हैं कि कलात्मकता की गहरी ऊंचाइयों को स्त्री लेखन ने हासिल कर लिया है। वहां व्यंग्य भरपूर है। विविधता है और प्रेम कहानी या प्रेम त्रिकोण से आगे जा कर प्रेम के नए अनकहे शेड्स, सामाजिक सरोकार के मुद्दे प्रमुखता से आने लगे हैं।

उत्तर 10 : आगे एक और उपन्यास की तैयारी है। यह 'अन्हियारे तलछट में चमका' से बिल्कुल अलग तरह का होगा। मीरा पर जो काम पहले से कर रही थी, उसे भी 2015 में पूरा कर लेना चाहती हूं। कुछ फील्ड वर्क बढ़ाने की भी कोशिश है। साहित्य और जन का रिश्ता और बढ़ना चाहिए। n

मो. : 09911378341
ईमेल : alpana.mishra@yahoo.co.in

n किरन सिंह

उत्तर 1 : हमारी झुटपुट अभिव्यक्ति में ही इन्द्रजनों का आसन डोलने लगता है। एक मुसलमान अपने अभिव्यक्ति में आजाद हुआ तो उसे 'संदिग्ध' कह देंगे। दलितों ने हमारे कुकर्म याद दिलाए तो वे हुए 'कुंठित'। और औरत ने जरा पूछ लिया कि साहब, आइना दिखा रही हूँ बताइए वहाँ नर दिखाई दे रहा है या नरभक्षी तो वह साबित हुई-'अश्लील'।

स्त्री को अक्सर अपनी अभिव्यक्ति के लिए तिनके की ओट लेनी पड़ती है। मीरा ने जिस कृष्ण को ढोल बजा कर खरीदा वह ईश्वर न होकर मनुष्य होता तो? महादेवी की पीड़ा किसी अज्ञात के लिए नहीं बल्कि किसी इंसान के लिए होती तो? राणा जी के जहर के प्याले और हाथी के पाँव के नीचे से मीरा बच पाती? 'बंग महिला', 'एक विधवा की आत्मकथा' इत्यादि इस बात के उदाहरण हैं कि स्त्रियाँ अपनी रचनाओं के अन्त में अपना नाम तक नहीं लिख पाती थीं।

मैं मौजूदा समय को स्त्री-अभिव्यक्ति का स्वर्ण काल मानती हूँ। यह सच है कि इस लेखन का एक हिस्सा आरोप-पत्र है। इस लेखन पर प्रति-आरोप है कि, 'वही रोना-धोना वही स्यापा।' यह स्यापा नहीं है, शहादत पर मर्सिया गायन है। यह शोक-गीतों का उत्सव है।

'गहने बनवाओ-गहने तुड़वाओ,' के निर्देश के दरकिनार, परंपराएँ टूट-बन रही हैं। राज्य हिंसा के विरोध में मणिपुर में महिलाएँ नग्न होकर प्रदर्शन के लिए निकल पड़ी। बलात्कार के विरोध में जगह-जगह महिलाओं ने चादर लपेट कर प्रदर्शन किया। दमन के खिलाफ स्त्रियों ने कविता, कहानी, लेख लिखे। लेकिन राज्य और पितृसत्ताओं की निगाह में, हमारी चरम और परम अभिव्यक्ति भी, पीड़ित का भड़ास निकलना भर है। वे हमारा विरोध नहीं करते। क्योंकि विरोध करने पर मामला तूल पकड़ेगा। विरोध के प्रति स्वयंभुओं का ठंडा रुख, हमारी अभिव्यक्ति को ठंडा कर देने की योजना के तहत है। ए.ओ. ह्यूम ने 'प्रेशर रिलीज थ्योरी' के तहत कांग्रेस की स्थापना की थी। शुरू में प्रार्थना पत्र ही भेजे जाते रहे। धीरे-धीरे ये प्रार्थना पत्र, गरम दल के दस्तावेज और सरफरोश गीतों में बदल गए।

ताजा चलन में औरत की अभिव्यक्ति को खामोश करने के लिए, महान भारतीय परंपरा और परिवार को बचाने की दुहाई देकर नैतिकता, के डंडाधारी लामबन्द हो रहे हैं। 'लव जेहाद', औरत के चयन और प्रेम की अभिव्यक्ति पर कुंडली मारने, उसे दिमाग न समझ कर सिर्फ जिस्म समझने की फांसीवादी-खाप मानसिकता का ताजा उदाहरण है। पहरा हुआ करे। जेल में सुरंग बन चुकी है।

उत्तर 2 : स्त्री, दलित, पिछड़ा आपसे अल्पसंख्यक छूट गया है। तमाम दुश्वारियों के बावजूद, आज स्त्री को अपने स्त्रीत्व पर गर्व है। तुलनात्मक रूप से, स्त्री एक बेहतर इंसान है।

'स्त्री लेखन' अनुभाग में रखने से औरत को एक आरक्षित और सुरक्षित घेरा मिल जाता है। इससे मूल्यांकन का दायरा छोटा हो जाता है और स्त्री की चुनौतियाँ कम हो जाती हैं। यह 'स्त्री लेखन' का लेबिल औरत को 'कम्फर्ट जोन' में डाल देगा और स्त्री के विकास को खतरनाक स्तर तक बाधित करेगा। मेरा दिल औरताना है और संघर्ष मर्दाना। मैं बरसों से बन्द दरवाजे, पाजेबों वाले लात से मार कर चरमरा देना चाहती हूँ। मेरे चेहरे पर अपने आप ऐसा भाव रहता है जैसे मैं ही 'मित्रों मरजानी' या 'सारंग' हूँ। ऐसे में तो 'पुरुष लेखन' को असहज महसूस करना चाहिए।

उत्तर 3 : महिलाएँ अभी स्वयं के साथ, माँ, दादी, चाची, सहेलियों के साथ जो देखी-सुनी हैं, बहुतायत से उसे लिखने में व्यस्त हैं। कुटिल पितृसत्ता की बंदिशों के बावजूद स्त्रियों ने जब खूब लिखना शुरू कर दिया है तो भविष्य में राजनीति और संस्कृति के क्षेत्रों में जाएँगी।

उत्तर 4 : आपका सवाल वाजिब है और तीसरे प्रश्न का विस्तार है। राजनीति और अर्थनीति, दोनों ही हमारे समाज को गहरे तक प्रभावित करते हैं। लेखक को 'पैसिव एक्टिविस्ट' माना जाता है। किन्तु अब लेखक-लेखिकाओं को यह मानना होगा कि लेखन और आन्दोलन एक ही काम की दो विधियाँ हैं।

स्त्री को दूसरों के लिए प्रशिक्षित करके तैयार किया जाता है। फिलहाल वह यह नहीं समझ पा रही है कि अपने बारे में सोचना आत्मकेन्द्रित होना या स्वार्थी होना नहीं है बल्कि अपने माध्यम से स्त्री जाति के बारे में सोचना है। अनुभव की सीमा, संस्कार और आत्मविश्वास की कमी के कारण भी राजनीति आदि विषयों पर कम लिखा जा रहा है।

उत्तर 5 : मातृत्व की विशेषता के कारण स्त्री में जन्मजात रचनात्मकता का गुण आ जाता है। चालीस की उम्र के बाद औरत को अपने स्वतंत्र तरीके से जीना चाहिए। बच्चों का हाल-चाल लेकर उन्हें अपना निर्णय लेने के लिए छोड़ देना चाहिए। लेखन में हम क्या लाते हैं, यह व्यक्ति के समय और रुचि के हिसाब से बदलता रहता है।

उत्तर 6 : समाज में गहराती लैंगिक कटुता क्या आपको चिन्तित करती है? क्या मतलब? स्त्रियों पर बढ़ती हिंसा को लेकर गहरा शोक रहता है, उदासी रहती है, अवसाद रहता है, भयानक क्रोध और घृणा रहती है। मोहनलालगंज में, मैं घटनास्थल पर गई थी। उसके बाद मुझे कुछ दिन नींद नहीं आई। मैं यही सोचती रहती थी कि मरने से पहले उस विधवा स्त्री की आँखों के आगे इंतजार करते उसके दो बच्चे घूम रहे होंगे। वह अपनी जिन्दगी के लिए बलात्कारी-हत्यारों से कितना गिड़गिड़ाई होगी। ज्यादातर हत्याओं में प्रेमी और परिचित शामिल रहते हैं। अपने प्रेमियों और परिचितों को अपनी हत्या में शामिल देख कर औरतों पर मरने से पहले क्या बीतती होगी ?

उत्तर 7 : सोशल मीडिया का सदुपयोग भी हुआ है। जन आन्दोलन, सम्पादन, कार्यक्रमों के प्रचार, सूचना प्राप्त करने में इसकी भूमिका रही है। लेकिन ज्यादातर मामलों में यह सस्ती लोकप्रियता बटोरने, प्रपंच करने, चापलूसी करने और बेशर्म आत्मप्रचार का माध्यम है। मुझे डर है कि रिश्तों के आधार पर बरसाया गया अतिरिक्त पानी और पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर की गई अनावश्यक काँट-छाँट, हमारे रचनाकारों के एक बड़े वर्ग को बोनसाई न बना दे।

सोशल मीडिया को नजरअंदाज करना नामुमकिन क्यों है भाई? सोशल मीडिया न हुआ मुंबइया डॉन हो गया।

उत्तर 8 : सभी प्रश्न बहुत अच्छे हैं। किन्तु प्रश्न आठ, प्रेमचन्द, निराला और मुक्तिबोध की परंपरा का नहीं है। प्रश्न का उत्तर न देना प्रश्नकर्ता की शान में गुस्ताखी होगी इसलिए कह दूँ कि बूढ़ा समय जब शाम को झाड़ू-बुहारू करेगा तो ग्लिटर से लिखे पन्नों को कूड़ा डम्प करने वाले गड्ढे में पाट देगा। साहित्य का इतिहास इस बात की तस्दीक करता है।

उत्तर 9 : या तो दीवाना हँसे या तू जिसे तौफीक दे' स्त्रियों में जहर के प्रति इम्यून विकसित हो जाता है। इसलिए वो दीवाना होने से बच जाती हैं। और हमारा ही बनाया, वो कल का ईश्वर, हम पर कभी मेहरबान नहीं रहा। तो हम कैसे हँसे? फिलहाल तो स्त्रियों का लेखन सामूहिक रुदन है। वे हँसती भी हैं तो गम छिपाने की तर्ज पर। अभी आने वाले कई वर्षो तक स्त्रियों का हास्य-लेखन नहीं आएगा।

उत्तर 10 : मैं पाण्डुलिपि तैयार कर रही हूँ। यह कहानी की मेरी पहली किताब होगी। n

मो. : 09415800397

ईमेल : kiransingh66@gmail.com

n आकांक्षा पारे काशिव

उत्तर 1 : हां, मैं मानती हूं कि महिलाओं को अभिव्यक्ति के समान अवसर हैं। लेखन की बात करूं तो महिलाएं मनचाहे विषयों पर लिख रही हैं। ऐसे विषय भी अछूते नहीं हैं जो समाज में वर्जित माने जाते हैं। कहीं कोई रोक टोक नहीं है। महिलाएं लिख रही हैं और बिना डरे लिख रही हैं।

उत्तर 2 : मुझे लगता नहीं कि मुझे कभी स्त्री लेखक के ही तौर पर देखा गया। रही बात दलित, पिछड़ा या स्त्री लेखक की छाप की तो इससे बहुत फर्क नहीं पड़ता है। बस अच्छा लिखना जरूरी है और उस पर ही ध्यान होना चाहिए। अगर रचना अच्छी होगी तो उसे किसी भी खांचे में रखना परेशानी का सबब बनेगा।

उत्तर 3 : आधुनिक स्त्री रचनाधर्मिता में जाहिर तौर पर 'कॉमन थ्रेड' पितृसत्ता के विरुद्ध संघर्ष और प्रतिरोध है। हिंदी साहित्य में लेखिकाओं ने भावनात्मक, शारीरिक, सामाजिक और आर्थिक स्तरों पर पितृसत्ता की जकड़न, उसकी प्रविधियों और उसके पाखंडों का उद्घाटन और उदभेदन बहुत कुशलता से किया है। यहाँ तक की स्त्री यौन शुचिता की खोखली अवधारणाओं की भी धज्जियाँ उड़ाई गई हैं। मगर, कुटिल पितृसत्ता जिस प्रकार आज भी राजनीति और संस्कृति के क्षेत्र में महिलाओं के लिए लक्ष्मण रेखाएं खींच रही है, उससे हिंदी जगत की लेखिकाएं आँखें फेरे क्यों दिखाई देती हैं?

इस सवाल से मैं बहुत इत्तेफाक नहीं रखती। **गीताश्री** की कहानी **भूतखेली** ऐसी पितृसत्ता के विरुद्ध संघर्ष करती दिखाई देती है। **किरण सिंह** की कहानी **संझा** को हम भूल नहीं सकते। कविताओं में भी स्त्रियों ने इस बहस को तोड़ने की कोशिश की है।

उत्तर 4 : व्यापक स्त्री हित से जुड़े राजनीति और अर्थनीति के ज्वलंत प्रश्न, जैसे विधायिका में महिला आरक्षण, मंत्रिमंडलों, नौकरियों और शैक्षिक संस्थाओं में सानुपातिक प्रतिनिधित्व, इत्यादि महिलाओं के रचनात्मक सरोकारों में अपेक्षित स्थान क्यों हासिल नहीं कर पाते हैं?

क्योंकि महिलाओं के पास उस दृष्टि की कमी है जो पुरुषों को वहां तक पहुंचने में मदद करती है। महिलाएं मेहनत से सब कुछ पाने की कोशिश करती हैं और यही उनके पिछड़ने का कारण है। महिलाएं अच्छा लिख कर कहीं पहुंचना चाहती हैं। रही बात इन सरोकारों की तो खबरों और कहानियों में अंतर होता है। फिर भी मैं क्षमा प्रार्थना के साथ एक कहानी का उल्लेख करना चाहूंगी। कहानी का नाम रंडी था और यह हंस में प्रकाशि ात हुई थी। मैं लेखक का नाम भूल रही हूं। यह कहानी अपने आप में महिलाओं की राजनीति में स्थिति को बहुत खूबसूरती से परिभाषित करती है।

उत्तर 5 : यह बेकार है कि हम पश्चिम की अवधारणा पर बहस करें। भारत में शुक्र है अभी भी मां बनने के लिए महिलाएं सब कुछ छोड़ देती हैं।

उत्तर 6 : समाज में स्त्रियों के संगठित दमन चक्र के कमजोर पड़ने और स्त्री स्वातंत्र्य की सशक्त छवियों के समानांतर ईर्ष्या और कुंठा की लहरें भी दिखाई पड़ रही हैं। इस का नतीजा है कि यौन हमलों और हिंसा की बाढ़ सी आ गई है और कार्य स्थलों पर और अन्यत्र स्त्री-पुरुष रिश्ते असहज होते चले जा रहे हैं समाज में गहराती लैंगिक कटुता क्या आपको चिंतित करती है?

यौन हमले, हिंसा और दफ्तर में असहज रिश्ते के पीछे लंबी यात्रा है। इस कटुता को भी स्त्रियां ही खत्म कर सकती हैं। एक मां ही अपने बेटे को सख्ती के साथ बताए कि घर से बाहर निकल कर आई लड़की की भी इज्जत करना चाहिए।

जब औरत घर से बाहर निकलती है तो चाहती है पुरुष उसकी इज्जत करे। दफ्तर में सहयोगी ठीक से पेश आएं। लेकिन यही औरत घर में अपने पति के मुंह से उसके दफ्तर में मौजूद महिला के किस्से चटखारे लेकर सुनती है। यह दोहरा मापदंड पुरुषों को बढ़ावा देता है

उत्तर 7 : सोशल मीडिया की भूमिका से बहुत परेशान होने की जरूरत नहीं है। जो आज लिखा जा रहा है, उसका प्रतिदान आज ही नहीं मिलेगा। फिर गंभीर साहित्य की परिभाषा क्या है? हम कैसे कह सकते हैं कि सोशल मीडिया पर जो लिखा जा रहा है वह गंभीर नहीं है। क्योंकि जो भी लिख रहा है उसे लगता है वह श्रेष्ठ है। अच्छा लिखा हुआ ही आखिर तक जिंदा रहेगा। चाहे वह किसी भी माध्यम में लिखा जाए।

उत्तर 8 : यह बहुत गंभीर सवाल है। इस सवाल को सिर्फ महिला केंद्रित कर नहीं देखा जा सकता। यह स्थिति न हताशाजनक है न चुनौतीपूर्ण। क्योंकि इस परेशानी को दूर करने का कोई तयशुदा तरीका नहीं है। पहले भी ऐसा होता था, आगे भी जारी रहेगा। अब यह बातें इसलिए बाहर आ जाती हैं कि माध्यम बहुत हैं।

किसी भी लेखक को अपने लिखने पर ध्यान देना चाहिए। और एक बात जब हमें लगे कि कहीं कुछ गलत है तो उसे गलत कहने की हिम्मत दिखाना चाहिए।

उत्तर 9 : अल्पना मिश्र के उपन्यास 'अन्हियारे तलछट में चमका' की भाषा व्यंग्य और विनोद से भरपूर है। महिला लेखन में विनोद तो तब आए जब उनके जीवन में इसकी जगह हो। अगर वह किसी से मजाक कर ले तो तूफान आ जाता है। जब वह सार्वजनिक जगहों पर हंसने लगेगी तो दिल खोलकर लिखने भी लगेगी।

उत्तर 10 : योजना बनाकर मुझ से कुछ नहीं होता। कुछ कहानियां हैं जिन्हें लिखना है। ▫

मो. : 09990986868
ईमेल : akpare@gmail.com

▫ वंदना देव शुक्ल

उत्तर 1 : यदि कुछ दशक पहले की स्त्री से तुलना की जाए तो हाँ आज की स्त्री के लिए अभिव्यक्ति के अवसर समान और बेहतर हुए हैं। नौकरी, पढ़ाई और अन्य व्यवसाय आदि के उद्देश्य से जैसे-जैसे स्त्री घर से बाहर निकली उसमें भौतिक व मानसिक रूप से जबरदस्त बदलाव आया। भारत की स्त्री की बात की जाए, तो उसने ये साहसिक यात्रा बनाम अभिव्यक्ति के अवसर पिछले सौ बरसों के इतिहास जिनमें सिमोन की 'द सेकेण्ड सेक्स' से लेकर ब्रेत्ती फ्राईदें की 'द फेमिनिन' तक व हिन्दुस्तान में बंगाल की ज्योतिर्मयी देवी, महाराष्ट्र की ताराबाई शिंदे, सावित्रीबाई फुले से लेकर कर्तुएल एन हैदर या कृष्णा सोबती तक से एक साहित्यिक विरासत के रूप में हासिल किये हैं। वर्तमान में शारीरिक व मानसिक आजादी उसी शृंखला की एक कड़ी कही जा सकती है।

ये सच है कि आज जो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता स्त्री ने अपने जज्बों व साहस से प्राप्त की है वो अभूतपूर्व है लेकिन इतना ही सच ये भी है कि अभी लम्बा रास्ता तय करना है उसे। आज की स्त्री ने परम्पराएं संयुक्त परिवार की मान्यताएं-बंदिशें तोड़कर समाज में अपनी मजबूत भागीदारी दर्ज कराई है चाहे वो पारिवारिक स्तर पर आर्थिक सहयोग की हो, कार्पोरेट जगत में अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति की अथवा उच्च शिक्षा प्राप्त कर किसी अहम पद पा लेने की, या साहित्य में अपने विचारों को खुलकर कह पाने की। निश्चित रूप से उसमें एक प्रकार का आत्मविश्वास व स्वाभिमान पैदा हुआ। यद्यपि वर्षों से दबी कुचली स्त्री में आत्मविश्वास जाग्रत होना एक शुभ संकेत है लेकिन साहित्य में वर्तमान तथाकथित युवा स्त्री लेखन और जो विशेषतौर पर अभी लगभग दो दशकों से हो रहा है उसमें कहीं-कहीं एक अतिवादिता का पुट भी देखने को मिल रहा है। उसकी रचनाओं में कहीं हड़बड़ाहट दिखाई देती है तो कहीं स्त्री के प्रति अति दयनीयता और क्षोभ है तो कहीं पितृसत्तात्मकता की पारंपरिक भावना को ललकारती भाषा है, अथवा बोल्ड साहित्य के नाम पर स्त्री शोषण का एक अजीबोगरीब मुजाहिरा। जो भी हो अभिव्यक्ति की दृष्टि से ये शुभ संकेत ही कहा जाएगा और इसे साहित्य के एक विस्तृत फलक पर स्त्री की सक्षम उपस्थिति, सफल भागीदारी व 'अभिव्यक्ति की आजादी' का सदुपयोग कहा जा सकता है।

उत्तर 2 : आपकी बात से पूर्णतः सहमत। दरअसल समानता शब्द से एक सामूहिकता में एकता या द्वैत में अद्वैत का स्वर प्रतिध्वनित होता है। एक 'पूर्ण' में से कुछ हिस्सों को निकाल दिया जाना यह विभाजन की राजनीति है चाहे देश का हो समाज का हो अथवा विचारधाराओं का। साहित्य अपने आप में एक पूर्ण शब्द है जिसमें कहानी कविता, संस्मरण, आत्मकथा, निबंध आदि के खांचे (विधाएं) निर्धारित हैं लेकिन किसी विधा के भी टुकड़े? आज स्त्री साहित्य, दलित साहित्य, बाल साहित्य, पर्यावरण (प्रकृति), साहित्य, प्रवासी साहित्य, देसी साहित्य, कथेतर आदि तमाम अलग अलग खंड हो गए हैं और इसी के अनुसार लेखकों का डेजिग्नेशन भी यथा स्त्री विमर्शकर्ता, दलित कथाकार, लोक कथाकार, प्रवासी रचनाकार आदि का टेग लगा दिया जाता है। किसी विधा का अनावश्यक रूप से खांचों में बांटना उसे विचारों, भावनाओं बल्कि संवेदनाओं में बांटना बल्कि मूलधारा से काटना भी माना जा सकता है।

उत्तर 3 : मुझे ऐसा नहीं लगता कि हिन्दी की लेखिकाएं इन मसलों को नजरंदाज कर रही हैं दरअसल इसका तारतम्य कुछ हद तक इतिहास से है स्त्री की नियति से है। स्त्री चाहे कितनी ही मुखर अभिव्यक्ति की दृष्टि से आजाद हो जाए लेकिन अंततः रहेगी वो स्त्री ही ये एक कटु-सत्य है। भले ही वो किसी भी पद तक पहुँच जाए लेकिन आज भी स्त्री से ये उम्मीद की जाती है कि वो घर की व्यवस्थाओं व बच्चों की देखरेख करे जबकि पुरुष (पति) बेशक बेरोजगार हो उस पर घर या बच्चों के उत्तरदायित्व निभाने का कोई दबाव नहीं। हालांकि

तमाम मौकों व तरीकों से इसे उद्घोषित और सोदाहरण सिद्ध किया जाता है कि स्त्री आज आजाद हुई है दैहिक, वैचारिक, सामाजिक हर स्तर पर लेकिन इतना ही सच ये भी है कि आज की औरत आर्थिक शारीरिक स्वावलंबी हो जाने के बाद भी 'समानता' की हकदार नहीं हुई है। बल्कि अब इस तथाकथित आजादी के बाद उसकी जिम्मेदारियां दोहरी हो गयी हैं। गृहस्थी की व नौकरी की। स्त्री की आजादी को हम हर खांचे में फिट नहीं कर सकते। फिल्मों-विज्ञापनों में जब महिलाओं को अर्धनग्न या आपत्तिजनक दृश्यों में दिखाया जाता है, उसे बाकायदा एक प्रोडक्ट बनाकर पेश किया जाता है क्या ये स्त्री की आजादी है? ये किसके षडयंत्र हैं? सिमोन द बुआ ने स्पष्ट लिखा है कि नारी को प्रति प्रदत्त वरदान के रूप में गर्भ धारण करने, मातृत्व, वात्सल्य आदि के जो गुण मिले हैं उन्हीं से पुरुष हमेशा हीन और कुंठाग्रस्त रहा है। ये कुंठाएं उसके अंतर तक सदियों से बिंधी हैं इन्हें निकालना लगभग नामुमकिन है। सिमोन का आज से लगभग छः दशक पूर्व ये कहना सच्चाई के काफी करीब और प्रासंगिक लगता है वरना क्या वजह है कि महिलाओं द्वारा अपने लिए इस तथाकथित 'आजादी' को पा लेने के बाद भी पितृसत्तात्मकता अन्यान्य तरीकों से उसकी देह उसके विचारों व उसकी आजादी पर यूँ आज भी काबिज है?

उत्तर 4 : अच्छा प्रश्न राजनीति एक परिवर्तनशील व्यवस्था है। जो सरकार सत्ता में आती है वो अपने हितों अपनी (कूट) नीतियों के तहत स्त्रियों के आरक्षण, उन की अन्यान्य विभागों, नौकरियों आदि में भागीदारी संबंधी अलग-अलग निर्णय लेती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें उनके अपने पार्टीगत हित और स्वार्थ निहित होते हैं। सदियों से दबी-घुटी महिलाओं के सामने आज अपनी आजादी को लेकर प्राथमिकताओं का एक बड़ा प्रश्न है। राजनीति में भागीदारी, मंत्रिमंडल में स्थान, या कारपोरेट जगत में उपस्थिति जैसे विषय उसके लिए निस्संदेह दोयम दर्जे के विषय हैं। इससे पहले इंसानियत के स्तर पर उसकी पहचान और अपनी आजादी का अहम मुद्दा है। इतिहास साक्षी है कि राज सत्ता प्रायः पुरुष के हाथ में रही है और राजनीति साक्षी है कि यदि स्त्री को ये सत्ता सौंपी भी गयी (नागरिकों द्वारा की गयी चुनाव प्रणाली से) तो उसमें प्रायः उनके सलाहकारों के रूप में प्रमुखता से पुरुष ही रहे हैं स्त्रियाँ नहीं। कहने का तात्पर्य यही कि राजनीति में स्त्री-सहभागिता एक व्यवस्था है अवस्था नहीं। अतः लेखिकीय सरोकार का जहाँ तक प्रश्न है स्त्री अपनी भागीदारी अथवा हस्तक्षेप उन विषयों में प्रमुखता से करना चाहती है जहाँ उसके अस्तित्व व अस्मिता पर प्रत्यक्षतः प्रभाव पड़ता है।

उत्तर 5 : पूर्णतः असहमत। मातृत्व स्त्री के लिए एक प्रति प्रदत्त तोहफा है। और राजनीति चाहे मर्दवादी हो या स्त्रीवादी ये मानव निर्मित व्यवस्थाएं हैं। वस्तुतः भूमंडलीकरण और उत्तर आधुनिकतावाद के इस काल में रिश्तों के नाम पर संबंधों की जो शुद्धता शेष है उसका एकमात्र साक्ष्य माँ और संतान का रिश्ता है उसकी वजह भी उसका प्रति देय गुण ही है यानी संतान का माँ के गर्भ में रहना माँ के रक्त से उस जीव का सिंचित होना लेकिन पुरुष? उसका रिश्ता अपनी संतान से देह से जुदा नहीं बल्कि आम रिश्तों की तरह दूर ही होता है भले ही संतान में उसके अंश विद्यमान हों। स्त्री दया है स्त्री करुना है स्त्री अन्नपूर्णा भी है और ये सभी गुण उसे अंततः सिर्फ 'दात्री' बनाते हैं। प्रकृति के नियम मानव निर्मित नियमों से सदैव विश्वसनीय व स्थाई होते हैं और स्त्री में मातृत्व का गुण एक प्रकृति प्रदत्त विशेषता है उसमें न कोई मर्दवादी राजनीति लागू हो सकती है और ना ही उनका कोई हस्तक्षेप।

उत्तर 6 : चिंतित जरूर करती है लेकिन प्रकृति का ये नियम है कि प्रकृति का दोहन करके मनुष्य जितना तथाकथित विकास करेगा सुविधाएं अर्जित करेगा कहीं न कहीं उसे खामियाजा भोगना होगा। दमन चक्र का कमजोर पड़ना युग परिवर्तन के मांग के समान्तर की प्रक्रिया भी है। बाजार बढ़ा, इच्छाएं बढ़ीं, लोभ लालच और प्रतिस्पर्धा की भावना जाग्रत हुई लिहाजा धन की आवश्यकता हुई। इसी की पूर्ति के लिए महिलाएं घर से बाहर आईं। नौकरियां, महंगाई और इच्छाएं ये सब आपस में गुंथ उलझ सी गईं। इसी क्रम में स्त्रियों की शिक्षा का विस्तार हुआ और उसी के अनुरूप उसमें अपने अधिकारों, न्याय के प्रति जागरूकता पैदा हुई और एक स्थिति वह भी आई जब वो सदियों से दबी घुटी स्त्री मर्द के कंधे से कन्धा मिलाकर चलने का स्वप्न देखने लगी जो पुरुष सत्ता को बर्दाश्त नहीं हुआ, और नतीजा सामने है।

उत्तर 7 : कुछ दशक पहले तक जब वैश्वीकरण, नव उदारतावाद जैसे शब्द नहीं आये थे, बाजार यूँ घरों से लेकर मस्तिष्क तक में अपना अधिपत्य नहीं जमा पाया था तब तक चाहे साहित्य हो कला या सामाजिकता सभी अपने सहज व शुद्ध रूप में विद्यमान व संचालित थे लेकिन जब से टीवी, फिर विदेशी चैनल्स उसके बाद मोबाइल्स और सोशल मीडिया, ब्लॉग्स, व्हाट्सएप आदि का पदार्पण हुआ उसी के समान्तर विज्ञापन संस्कृति बनाम 'दिखावे' का युग प्रारम्भ हुआ। सोशल मीडिया का उपयोग साहित्य कलाओं के हित में भरपूर किया जा सकता था लेकिन ऐसा हुआ नहीं बल्कि इस ने एक तरह से साहित्य को भी बिकाऊ बना दिया। लेखकों, संपादकों, प्रकाशकों ने इसका भरपूर दोहन किया। इसी संस्कृति के फलते फूलते पुरस्कारों व सम्मानों की संख्या दिन दूनी रात चौगुनी हो रही है। महत्वाकांक्षी लेखक अपनी 'साहित्यिक छवि' बनाम साहित्यिक हैसियत का प्रदर्शन करने के लिए न सिर्फ आयोजनों में जमकर हिस्सेदारी कर रहे हैं उनकी तस्वीरें अपलोड कर रहे हैं बल्कि कभी-कभी लगता है कि तस्वीरों के लिए वो छोटे-मोटे आयोजन स्वयं भी कर रहे हैं कहते हैं कि सोशल मीडिया आने के बाद आज लेखन अपनी अभूतपूर्व स्थिति में है। प्रश्न ये उठता है कि जब इतना कुछ लिखा जा रहा है तो कोई दूसरी महादेवी वर्मा या कोई अज्ञेय, मुक्तिबोध, निराला, नागार्जुन क्यूँ नहीं पैदा हो रहे? प्रेमचंद, रेणु, राही मासूम रजा, के गोदान मैला अंचल या नीम का पेड़ जैसी कृतियाँ अब क्यूँ नहीं दिखाई दे रहीं? केदार नाथ सिंह या मंगलेश डबराल जैसे कवि अब भी उस 'आंच' को सहेजे हुए हैं जो कभी कहते हैं कि 'जब मुक्ति का कोई मार्ग नहीं मिला तो मैं लिखने बैठ गया' या पश्चाताप करते हुए कहते हैं 'मेरे परिचित कवियों के अब पते बदल गए'। निश्चितरूप से साहित्य में बाजार के इस उपभोक्तावादी चलन ने गंभीर लेखन को दरकिनार किया है। वास्तविक लेखक जो सिर्फ अपनी लेखनी में यकीन करता है उसके लिए उक्त स्थितियां तकलीफदेह हैं और संभावनाएं बेहद कम।

उत्तर 8 : बिलकुल सही बात है 'जो दिखता है वो बिकता है' पर अगाध विश्वास करने वाले युवा व कुछ वरिष्ठ लेखक-लेखिकाएं वास्तविक व गंभीर लेखकों को पीछे छोड़ आज इस फेसबुकीय संस्कृति की बदौलत साहित्य के सिरमौर बने हुए हैं। समीक्षा, गोष्ठियां, जलसे, परिचर्चाएं इन सबका प्रचार तंत्र फेसबुक और ऐसे ही आधुनिक यंत्र हैं। प्रकाशक भी उन्हें ही धड़ल्ले से छाप रहे हैं। अब एक पाठक के लिए वास्तव में ये तय करना अत्यंत कठिन हो गया है कि इन 'नामी' रचनाकारों में कौन वास्तव में अच्छा लेखक है और कौन अपने जुगाड़ तंत्र से लेखक बन या बना दिया गया है। किताबें इतनी महंगी हैं कि महंगाई के इस युग में 'प्रयोग' करना पाठक के बूते का नहीं। वो अपना ठगना बर्दाश्त नहीं कर सकता लिहाजा साहित्य में रूचि होने के बावजूद उसे साहित्य से दूर होना पड़ रहा है और साहित्य जगत में ये रुदन कायम है कि हिन्दी के पाठक कम हो रहे हैं।

लेखिकाएं इस फेसबुकीय सम्मोहन से कुछ ज्यादा ही प्रभावित दिखाई देती नौकरीशुदा, 'लाइम लाईट' से संकोच करने वाली लेखिकाएं या लेखक जो सिर्फ 'बेहतरीन लेखन' पर विश्वास कर अपनी सीमाएं 'लेखन और प्रकाशनार्थ भेजने' तक सीमित रखना चाहते हैं, वो भी दिल्ली, लखनऊ, बनारस या भोपाल जैसी साहित्यिक नगरी से दूर और वहां के मौजूदा चलन से अप्रभावित, इस 'बेस्ट सेलर कल्चर' के बीच आखिर कब तक सरवाईव कर पायेंगे। दिल्ली साहित्यिक जुगाड़ तंत्र की भी राजधानी बनी हुई है। सुप्रसिद्ध कवि भगवत रावत ने यूँ ही नहीं लिखा होगा कि 'दिल्ली की है आबोहवा कुछ और'। इस 'जुगाड़ तंत्र' के चलन से साहित्य का एक नुकसान ये भी हुआ है कि साहित्यिक स्तर अपनी समग्रता में गिरा न भी मानें तो भी अपने प्रयोगों नवीनताओं व तात्कालिकताओं की दृष्टि से प्रगति या श्रेष्ठता की ओर अग्रसर होता प्रायः दिखाई नहीं दे रहा। पहले के लेखक जहाँ अपना सम्पूर्ण ध्यान अपनी लेखनी और साहित्यिक पुरोधाओं की किताबों को पढ़ने व ज्ञान वृद्धि में लगाते थे अब वैसा नहीं है। अधिकाँश युवा लेखक पढ़ कम लिख अधिक रहे है। प्रतिस्पर्धा की दौड़ में हांफते-भागते व लेखिकीय महत्वाकांक्षाओं को पुस्तक रूप देने की जल्दबाजी में कुछ भी लिखकर प्रकाशित करवा रहे हैं, प्रकाशक उनके 'नाम' को भुनाते हुए उन्हें धड़ल्ले से छाप रहे हैं और बेइंतिहा प्रचार कर रहे हैं। नित नए पुरस्कारों-सम्मानों की बारिश हो रही है। आखिर ये जुनून ये दौड़ कहाँ और कब खत्म होगी जब वास्तविक और विशेषतौर पर युवा लेखक परिदृश्य में दिखेंगे, पढ़े जा सकेंगे? यद्यपि कई वरिष्ठ व युवा लेखक आज भी शानदार लेखन कर रहे हैं और प्रसंशा पा रहे हैं लेकिन उनके लिए भी इस मायाजाल के बीच अपने पैर जमाये रखना किसी संघर्ष से कम नहीं। लेखक अंततः एक गंभीर पाठक भी होता है (उसे होना चाहिए)। एक गंभीर पाठक होने के नाते साहित्य का ये बाजारीकरण कुछ हद तक निराश तो करता ही है।

उत्तर 9 : मुझे लगता है साहित्य में ये स्थिति एक काल बनाम स्थिति मूलक है। साहित्य से ही नहीं समाज से भी विशुद्ध हास्य और विनोद गायब होता जा रहा है और साहित्य समाज का ही तो दिग्दर्शन है। जहाँ तक लेखिकाओं की बात है हास्य-व्यंग पूर्ण 'हंसिकायें' लिखने वाली कवियत्री सरोजनी प्रीतम के बाद उतना चर्चित चेहरा नहीं दिखा।

उत्तर 10 : एक उपन्यास 'मगहर की सुबह' (आधार प्रकाशन) और एक कहानी संग्रह 'उड़ानों के सारांश' (अंतिका प्रकाशन) के प्रकाशन के बाद अब एक कहानी संग्रह व लघु उपन्यास प्रकाशनार्थ है। अप्रकाशित उपन्यास 'किस्सों के कोलाज' एक कुछ अलग शिल्प और कथावस्तु जिसे यथार्थवादी व फेंटेसी दौनों शैलियों के संयोजन से लिखा गया है। मैं पॉल थारू व मो यान (नोबेल पुरस्कार विजेता) की इस सोच से इत्तिफाक रखती हूँ कि लेखन के लिए अनुभव बहुत जरूरी हैं और अनुभवों के लिए यायावरी। हिन्दुस्तान के कई स्थलों के अलावा मैंने कुछ अन्य देशों की यात्राएं भी कीं वहां के इतिहास सामाजिक बुनावट, रीति रिवाज, सोच आदि को अपनी कहानियों का विषय बनाया। मुझे सुखद आश्चर्य हुआ कि उन विषयों पर लिखी मेरी कहानियाँ जो वागर्थ, हंस, पाखी आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं काफी पसंद की गईं। उन प्रयोगवादी कहानियों के एक संकलन की योजना भी है। स्त्री लेखन, पुरुष लेखन, दलित लेखन प्रवासी साहित्य या फिर पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी के लेखन इन खांचों पर मेरा यकीन कुछ कम है। साहित्य की कोई सीमा नहीं होती असीमित है। प्रौद्योगिकी व यांत्रिकी के इस युग में पीढ़ियों में व उनकी सोच में भी अब उतना फर्क नहीं रहा। प्रेमचन्द की तीन कहानियों का नाट्य रूपांतरण व मंचन (निर्देशन) करने के बाद हिन्दी की कुछ और पसंदीदा कहानियों का नाट्य रूपांतरण करने पर भी विचार कर रही हूँ। ▫

मो. : 09928831511
ईमेल : shuklavandana46@gmail.com

n पंखुरी सिन्हा

उत्तर 1 : यह बहुत महत्वपूर्ण बात कही आपने कि साहित्य के रगो में दौड़ती खून की ताजगी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर टिकी है। हालांकि हिंदी साहित्य का स्त्री विमर्श बहुत परिपक्व है, लेकिन महिला लेखन को क्या वह स्वर अर्जित है, जो पुरुष लेखन को, यह विचार का विषय है। स्त्री विमर्श या किसी भी और मुद्दे पर, महिलाओं से ये अपेक्षा की जाती है, अगर वो एक खास किस्म की लेखन शैली तक खुद को न भी सीमित रखें, तो एक सीमा तक ही अधिकारों की बातें करें, कुछ कम ही ऊँचा बोले, और कुछ कम ही बुलंद आवाज में।

एकदम साफ साफ दो टूक बात कहें, तो अभिव्यक्ति और स्वीकृति के इर्द गिर्द कुछ खास किस्म की समस्याएँ नजर आती हैं।

पहला सवाल तो यह कि आत्ममुग्धता या आत्मश्लाघा का लेबल जिन रचनाओं पर चढ़ा दिया जाता है, कहीं वो अनुभव से अर्जित अभिव्यक्तियाँ तो नहीं? कहीं ये अनुभव सुखद तो नहीं? अगर सुखद हो तो बात दिखावे पर अटकती हैं, और अगर दुखद हो तो ये कहा जाता है कि आप सामाजिक कठिनाइयों पर लिखें। निम्न वर्ग की कठिनाइयाँ हिंदी का सतत विषय है, और उन्हें बदला नहीं जा सकता। यहाँ मंशा केवल सरोकारों की निष्ठता, कर्त्तव्य परायणता की नहीं, कुछ उस किस्म के भावों की है, जिसके तहत नेता औरों के कष्टों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह साहित्य का पत्रकारी और नेताई चेहरा है। यहाँ भावों में डूबने की इजाजत नहीं। न उसके विश्लेषण की ज्यादा छूट है।

पुरुष के प्रेम और उसकी मांगों पर, कुछ हद तक टिप्पणी करने का हक महिलाओं ने हासिल किया है, लेकिन अपने, यानी महिला समुदाय के ऊपर हुए अत्याचारों की अभिव्यक्ति महिला लेखन का मुख्य स्वर नहीं बना दिया जाना चाहिए। केवल प्रेम पर लिखे हुए को भी अच्छी प्रतिक्रिया नहीं मिलती। इसका कारण पाठक का अपने आप में अपरिपक्व होना और साहित्य के प्रति कच्ची दृष्टि का होना है।

इन बातों से जुड़ी एक और जरूरी बात है। एक समय में लिखने वाले मिलती जुलती भाषा, और शैली में बोल जाते हैं। 2013 में कनाडा में इमीग्रेशन और हॉस्टल की राजनीति से जूझते, एक कहानी लिखी थी, जो जल्दी ही आर्य सन्देश में आने वाली है-शीर्षक है जिन्न तथा अन्य रुहें। इस कहानी में मृत्य लोक से संपर्क और संवाद की फंतासी है, और पीर फकीरों की बुलाहट की बात। यहाँ मैंने ओझा के बजाय, औलिया के नुस्खे आजमाए। 2014 के सितम्बर में मुझे पहली बार देवी प्रसाद मिश्र की कवितायें सुनने का मौका मिला, और तभी निजामुद्दीन सीरीज की सभी अद्भुत कवितायें पढ़ने का मौका भी। देवी भाई वरिष्ठ कवि हैं, और ये दो बिल्कुल फरक तेवर और शिल्प की रचनाएँ हैं।

देवी प्रसाद जी के काव्य संग्रह 'प्रार्थना के शिल्प में नहीं', की एक कविता पर मैंने दैनिक भास्कर पटना में छपे एक लेख में लिखा भी है। इस संग्रह से भी मेरा साक्षात्कार 2014 में हुआ। 2012 में, पीएच-डी के अधूरा छूटने के बाद, हजार किस्म की विदेशी राजनीति से घिरे हुए, मैंने एक कविता लिखी थी, 'प्रार्थना से बाहर' और तत्काल किसी पत्रिका को भेज दी थी। पत्रिका का नाम नहीं बता रही, लेकिन उसके छपने, न छपने की कोई सूचना मेरे पास नहीं। इतना साम्य तो बिल्कुल संभव है, और लेखन की दुनिया का खूबसूरत संयोग। 2014 में ही पता चला, 2013 में गीताश्री का कहानी संग्रह आया, हूबहू उसी नाम से, 'प्रार्थना से बाहर'। हालांकि कथा पढ़ना अभी शेष है, लेकिन ये कुछ अजब गुत्थियाँ हैं, अभिव्यक्ति की समानता को लेकर, जिनसे आश्चर्य में हूँ। ये कुछ कुछ उसी तरह है, जैसे इस साल बुकर पुरस्कार के लिए मनोनीत नील मुखर्जी की किताब 'द लाइव्स ऑफ अदर्स', का नाम मूलतः 2006 में बनी जर्मन फिल्म 'द लाइव्स ऑफ अदर्स', से हूबहू मिलता है। यह फिल्म 1983 में पूर्वी जर्मनी में स्तासि के शासन काल में होने वाली वायर टैपिंग पर आधारित है। ये आखिरी फिल्म है, जो मैंने देश निकाले से पहले अमेरिका में देखी, और पहली जर्मन फिल्म जो मैंने थिएटर में देखी। एक और पहला होता इस फिल्म के साथ, अगर इससे पहले मैं 'द परफेक्ट स्ट्रेंजर' अकेली न देख आई होती! बीबीसी में आई खबर में नील मुखर्जी ने बुकर कार्यक्रम के लिए पाश्चात्य ढंग के लिबास, पैंट शर्ट पर शॉल ओढ़ रखा था, जिसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद देना चाहती हूँ।

उत्तर 2 : जी हाँ, मुझे लगता है कि स्त्री लेखन, दलित साहित्य जैसे खाँचे लेखन को खेमों, टुकड़ों और दलों में बाँटते हैं। ऐसा वर्गीकरण महिलाओं और दलितों की आवाज को बाँधता और सीमित करता है। लेकिन डर है, कि इन आरक्षणों के बिना, ये बातें उस वृहत स्तर पर की ही नहीं जाएंगी, जिनपर इनके किये जाने की जरूरत है। यहाँ जरूरत है कि हम इन लेखकों को इन पहचानों से ही केवल जोड़कर न पढ़ें। जैसे निर्मला पुतुल की कवितायें, आदिवासी समुदाय की बातें तो करती ही हैं, लेकिन स्त्री पर लिखी कई कवितायें, सम्पूर्ण स्त्री जाति के मन का हाल कहती हैं। उसी तरह, पत्तों के दोने, पत्तल बनाने वाले मजदूरों और तार का पंखा बनाने वाले मजदूरों पर उनकी बहुत कवित्व भरी कवितायें, वास्तव में उनकी मजूरी बढ़ाने की मांग करती कवितायें हैं, जिनका नाता गहरे मार्क्सवाद से है।

उत्तर 3 : हाँ, सच है, महिला लेखिकाएँ उस मजबूती और सख्ती के साथ पितृसत्ता और उससे जुड़ी सभी संस्थाओं और मूल्यों का वैसा विरोध नहीं कर रहीं, जैसे विरोध की आवश्यकता है। हालांकि मन्नू भंडारी, मैत्रेयी पुष्पा समेत एक समूची पीढ़ी ने, बहुत लम्बी और सशक्त लड़ाई लड़ी है। निश्चित रूप से, उसके सुपरिणाम युवा पीढ़ी तक पहुंचे हैं. ये बात और है, और विचित्र है, कि कितनी भी लड़ी जाए, ये लड़ाई खत्म नहीं होती। और दरअसल ये और बात नहीं, यही बात है। और बहुत बड़ा सवाल। जरूरी है कि हम इस लड़ाई की निरंतर बढ़ोतरी में, स्त्रियों के योगदान की पड़ताल करें, उन तमाम अधोगामी प्रवृत्तियों की जाँच करें, जो सीधे आगे बढ़ने की राह में बाधा हैं। इस बीच, बलात्कार और खास कर निर्भया कांड पर अनेक बौद्धिक और संवेदनशील कविताएं लिखी गयीं। सुमन केशरी जी की कविता, जो निर्भया के साथ वाले सज्जन के साथ पर सवाल उठाती है, और शैलजा सक्सेना जी की कविता, जो बलात्कारियों की बहन की ओर से लिखी गयीं हैं, कुछ ऐसी सामाजिक समस्याओं पर विचार करती हैं, जो रोंगटे खड़े कर देने वाली हैं। लेकिन कोई बलात्कार के असल कारणों पर प्रकाश नहीं डालता। ऐसा करना, सत्ताधारियों की नीतियों और समूचे तंत्र के खिलाफ लिखना होगा, और ऐसा करने से महिला लेखन बच रहा है।

उत्तर 4 : मुझे लगता है कि महिला आरक्षण और भी राजनैतिक अधिकारों से जुडी बातें लेखन में कम स्थान पा रही हैं, और इसका नाता साहित्य को बिकाऊ बनाने से है। स्त्री विमर्श के नाम पर औरत की देह की पताका बहुत ज्यादा लहराई जा रही है। इससे अधिकारों की प्राप्ति में बाधा है। लगभग हर कहानी में देह गाथा का होना, और उस बुनियाद पर कहानी का आकर्षक बनना, एक चिंताजनक बात है। इस बूते हासिल लोकप्रियता अगर क्षणभंगुर न भी हो, तो भी, उसे गहरे साहित्य का मान नहीं दिया जा सकता। औरत को शिक्षा और काम के ज्यादा अधिकार, उसकी अपनी संपत्ति पर नियंत्रण के

अधिकार, और इनसे मिलते जुलते कई अधिकारों की लड़ाई अभी आधी भी नहीं जीती गयी। आरक्षण के पक्ष में, कोई मजबूत आवाज नहीं। न महिलाओं के संरक्षण की ही कोई सोची समझी नीति पेश की गयी है। विषयों के आपके सुझाव गौरतलब हैं।

उत्तर 5 : फेमिनिस्ट मतधारियों से मैं बिल्कुल सहमत हूँ कि मातृत्व के प्रति भावुक सम्मोहन को बढ़ावा देना, मर्दवादी राजनीति का एक आयाम है। इस राजनीति का अगला चरण है, मातृत्व की राह में अड़चन पैदा करने वाले सवाल खड़े करना, कुछ इस सन्देश के दिखावे के साथ कि लड़कियाँ मातृत्व की महत्ता साबित करें भी, और उसकी रक्षा भी करें। फिर भी, यह समाज उन्हें अपने ही गर्भ पर निर्णय की आजादी नहीं देता। और कई बार ऐसी अड़चनों की राजनीति जिन्दगियों को तबाह करने वाली होती है। ये एक अजब कुत्सित किस्म की राजनीति है, बहुत बेईमान और विकृत। कहीं न कहीं, यह यूजेनिक्स से मिलती जुलती राजनीति नहीं, बल्कि कहें की नीति है।

लमही के ही जुलाई सितम्बर अंक में, दूधनाथ जी का बहुत प्रबुद्ध और विचारोत्तेजक साक्षात्कार पढ़ा, जिसमे उन्होंने स्त्री विमर्श की बहुत सटीक परिभाषा दी है, और वह भी एक वाक्य में। स्त्री विमर्श किसी भी रूप में औरत की देह पर अनाधिकार आधिपत्य स्थापित करने का विरोध करता है। मातृत्व के प्रति एक ऐसे आकर्षण को बढ़ावा देना, जो कृत्रिम है, समाज के लिए बहुत अस्वास्थ्यकर है। यानी जिसका गर्भ नहीं, वह उसकी योजना क्यों बनाये? हमारे पास इसके कोई आँकड़े नहीं, कि जो कन्या भ्रूण हत्याएँ हो रही हैं, उनमें से कितनी फीसदी माओं की मर्जी से? बल्कि भावी पिताओं की भी मर्जी से?

उत्तर 6 : कार्यक्षेत्र में स्त्री पुरुष रिश्तों के सहज रहने की बहुत जरूरत है। लेकिन कई किस्मों की राजनीतियों के तहत उन्हें असहज बनाया जाता है, या करार भी दे दिया जाता है। स्त्रियों के आपसी रिश्ते भी ईर्ष्या और कुंठा से अछूते नहीं। लेकिन सबसे चिंताजनक बात है, लैंगिक कटुता का हिंसा में परिणत होना। आप ठीक कह रहे हैं कि यौन हमलों की बाढ़ सी आ गयी है, और इसका कारण कई किस्म की सामाजिक विसंगतियाँ हैं। महिलाओं पर यौन हमले भयानक सामाजिक ऊँच नीच, भेद भाव, आर्थिक विकास के अभाव में उत्पन्न प्रतिक्रियाएं हैं। जबतक अवसरों की समानता नहीं आएगी, केवल समाज के उन्मुक्तिकरण से सुरक्षा और शान्ति के इंतजाम नहीं होंगे।

उत्तर 7 : सोशल मीडिया पर साहित्य भी लिखा जा रहा है और केवल टिप्पणियां भी। और दोनों की ही समस्या उनका औसतपन नहीं, उनकी अराजकता है और इस अराजकता की बहुत गहरी छानबीन होनी चाहिए। यहाँ एक दूसरे की निन्दा का वह रूप है, जो स्वस्थ और खुला नहीं, बड़ा खुफिआ किस्म का है। औसत और क्षणभंगुर होना इसके बाद का चरण है। लेकिन इस अराजकता से उत्पन्न कई गंभीर समस्याएं हैं। एक दूसरे पर नजरबंदी, घेराबंदी, नाकेबंदी, कई बार दिखाई नहीं पड़ती, और अगर पड़ती भी है, तो उसका शिकंजा दिखाई नहीं पड़ता। वैसे यहाँ एक फर्क करना जरूरी है. कई बार यहाँ लिखा जाने वाला साहित्य, अच्छा, ताजा और अनूठा होता है। कई लिखने वालों में ऐसे लोग हैं जो पत्रिकाओं में भेजने की जहमत नहीं उठा पाते, या समय नहीं निकाल पाते। ये भी कहना है लोगों का कि पत्रिकाएं बहस का अड्डा हैं, उनमें भेजना एक राजनैतिक अनुभव से गुजरना। इतनी मेहनत करने से अच्छा, फेसबुक जैसे सोशल मीडिया के प्लेटफार्म पर सीधे पाठकों तक पहुंचना।

फेसबुक जैसे सोशल मीडिया के वर्तमान साहित्यिक परिवेश में आने से कुछ क्रांतिकारी परिवर्तन आये हैं। बहुत से लोगों को अभिव्यक्ति का एक ज्यादा आजाद और सुलभ मंच मिला है। लेकिन जाहिर सी बात है कि यहाँ अराजकता के साथ साथ औसतपन, क्षण भंगुरता की बात बनी रहती है। बहुत संभव है कि यहाँ लिखी गयी कई साहित्य कृतियाँ कालजयी हों।

उत्तर 8 : स्थापना और प्रसिद्धि का सवाल, सीधा पाठकों तक पहुँचने के सवाल से जुड़ा है। किसी साहित्यकार के सम्पादकत्व में छपना, अपने आप में एक गौरव की बात है। और चूँकि विरोधाभासों, विलोमों का जमाना है, इसलिए उस खाँचे से बाहर छपकर पाठकों की प्रशंसा अर्जित करना भी नजर में आने का एक तरीका हो सकता है। एक किस्म का वक्तव्य भी। लेकिन जैसा कि सौरभ जी ने कहा है, जमाना मार्केटिंग का है। गोष्ठियों और परिचर्चाओं में रचनाओं को उचित स्थान दिलवाने के लिए प्रयास करना होता है। बिना प्रयास कितनी भी अच्छी या नयी बात साहित्यिक आलोचना की दृष्टि में नहीं आती। कुछ तो यह भीड़ का नतीजा है और कुछ अच्छी किताबों की भीड़ का। और कुछ संपर्क बनाने का एक अच्छा आदेश दिखता है, ताकि लेखक आलोचक एक दूसरे को जानें। कई बार ऐसा लगता है कि संपर्क की यह राजनीति समूची रचनात्मक आँकलन की प्रक्रिया पर छा जाने वाली है। इन सारी बातों का एक मध्यम मार्ग बनाने की जरूरत है। कुछ तो अच्छा साहित्य अपने बूते बोल लेता है, कुछ उसके लिए मंच बनवाना भी पड़ता है।

उत्तर 9 : जी हाँ, इतनी खराश है वातावरण में, कन्या भ्रूण हत्याओं की दर इतनी ऊँची, कि वह खिलखिलाती हँसी महिला लेखन की सुनाई नहीं देती। जबकि गोष्ठियों में उनके कहकहे खूब सुनने को मिलते हैं। और कई बार ऐसा लगता है कि आपसी संवेदना की भी कमी है। क्यों नहीं अनूदित होता, हंसी का यह गीत उनके लेखन में, अच्छा सवाल है।

उत्तर 10 : मैं फिलहाल कविताओं के कुछ संकलनों को अंतिम रूप दे रही हूँ। साथ साथ नयी कवितायें भी लिखी जा रही हैं। यही हाल कहानियों का है। प्रवासी अनुभव और इमीग्रेशन की राजनीति पर तो लिख ही रही हूँ, लेकिन अपनी, अपने देश और समाज की जड़ों की भीतर से पड़ताल की आकांक्षा में कुछ खास ढंग की कहानियों की योजना है। उपन्यास के खांचे दिमाग में तैयार हो रहे हैं, लिखना फिलहाल स्थगित। इमिग्रेशन और एकेडेमिया की राजनीति पर पत्रकारिता संबंधी किताबों की शुरुआत कर रही हूँ। n

मो. : 09430052028
ईमेल : nilirag18@gmail.com

n कविता

उत्तर 1 : हाँ, मुझे ऐसा लगता है। कात्यायनी की एक कविता है। 'हमें इतिहास की अपनी परिभाषा को/ ब्रह्मराक्षसों की कैद से आजाद करना होगा/ हमें वहाँ पहुँचना होगा/ जहां पर यह धारा अजस्र बह रही है/ चलो इसकी एक बूंद बनकर बहें/ इससे पहले की इस सदी की किताब बंद हो/ ऐसा कुछ करें कि/ हमारे हिस्से के सफे कोरे ही न छूट जायें। आज स्त्रियों द्वारा बहुतायत में रचा जाना उनका यह उद्घोष ही है। वरन अब तक तो हर पीढ़ी में स्त्रियों की संख्या पुरुष रचनाकारों की अपेक्षा बहुत कम रही है। यह बाधा आज बहुत हद तक दूर हुई है और निश्चित तौर पर स्त्रियों के लिए अभिव्यक्ति की आजादी तो उपलब्ध हुई ही है। न सिर्फ साहित्य की दुनिया बल्कि सोशल मीडिया में भी स्त्रियों की भागीदारी बढ़ रही है, कारण बस एक वही कि सदियों से जो चुप थी आज उन्हें मंच मिला है। वे मुतमईन हुई हैं कि यह अधिकार उनका भी है और उन्हें भी पढ़ा सुना जा रहा है। वे हमेशा की तरह एक बेजुबान औरत भर नहीं हैं अब।

उत्तर 2 : मैं साहित्य को खांचों में रखकर पढ़े जाने के विरुद्ध हूँ। साहित्य को श्रेष्ठ साहित्य की ही तरह पढ़ें, परखें और चीन्हे-जानें की जरूरत है। मैं यहाँ किसी तरह के भेद-भाव और आरक्षण की हिमायती नहीं कि यह दलित की रचना है या फिर आदिवासी या स्त्री की तो थोड़ी रियायत दे दी जाये या थोड़ी कमतर भी चलेगी। पर ठीक इसके उलट लेखन में अनुभव की प्रामाणिकता को मैं महत्व देती हूँ। फर्स्ट हैंड अनुभव की सहजता और संप्रेषणीयता को ज्यादा पुरअसर मानती हूँ । मेरी दृष्टि में सहज और अनुभवजनित सच्चाइयों से अमूमन वो प्रयास कमतर होते हैं जिन्हें हम तादात्म्य या कि अभ्यासजनित प्रयासों से संभव बनाना चाहते हैं। कभी-कभी इसके उलट भी हो सकता है, हो भी जाता है। साहित्य दरअसल किसी बने बनाए फार्मूले के आधार पर हल किए जाना वाला गणित या कि रसायन-भौतिकी का प्रश्न नहीं है। यहाँ अपने हिस्से का सच हमें स्वयं तलाशना होता है और किसी पदयात्री की तरह अपनी मंजिल तक की यात्रा खुद ही करनी होती है। इस रास्ते का कोई शार्ट-कट दरअसल होता ही नहीं।

अपने लेखन पर चस्पाँ 'स्त्री-लेखन' के लेबल से मैं बिल्कुल भी परेशान या असहज नहीं। मैं हूँ और एक स्त्री हूँ। अपनी इयत्ता-सत्ता से इंकार कैसा? स्त्री हूँ इसीलिए इतनी संवेदनशील हूँ, सोच सकती हूँ सबके हिस्से का और उसी सहजता से उस दर्द को रच भी सकती हूँ। अगर हम स्त्रियाँ ही नहीं लिखेंगी तो और कौन लिखेगा हमारे हिस्से की पीड़ा, हमारे हिस्से का दर्द और हमारे हिस्से के आकाश की बात। इसलिए कई लेखिकाओं की तरह मुझे स्त्रीवादी होने और कहलाने से कोई गुरेज नहीं।

उत्तर 3-4 : पहले तो हमें साहित्य और एजेंडा के बीच का फर्क समझना होगा। सीधे-सीधे सबकुछ यानी की सारी समस्याओं और मुद्दों को कहानी में गूंथ लेना आसान नहीं, न ही बहुत सही है। कहानी का ताना-बाना बहुत महीन होता है, इसमें कथ्य यानी विषय कितना हो और शिल्प कितना, फिर उसकी मिलावट किस तरह की जाये कि विषय की बोझिलता अलग से चीख पुकार न मचाती दिखे और न कहानी की शैली इतनी हावी हो कि कहानी बस शिल्प और प्रयोग का नमूना मात्र लगे, सबसे बड़ी मुश्किल तो यही होती है किसी कहानी के साथ। हाँ, लेख में खुलकर आ पाते हैं ये प्रश्न और कई लेखिकाओं ने इस विधा को चुना है अपने प्रश्नों को आवाज और धार देने की खातिर जिनमें मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, अनामिका, कात्यायनी, गीताश्री आदि इसमें शामिल हैं। जब जरूरत महसूस हुई यह मैंने भी किया। कहानी लिखते हुये भी मैंने हमेशा यह कोशिश की है की स्त्री-चेतना और अधिकारों के साथ-साथ कोई नया और अछूता क्षेत्र, विषय मेरी हर नयी कहानी का हिस्सा बने। 'निर्भया-कांड' के बहाने बलात्कार और दैहिक-मानसिक शोषण और प्रताड़ना के भिन्न-भिन्न स्तरों को छूती-छेड़ती चलती है मेरे कहानी 'काले कोस : अन्धेरी रातें'। इधर लिखी गई मेरी कहानियों में 'बाबड़ी' में बाल-बलात्कार और गैर-बराबरी, 'सिंहवाहिनी' में राजनीतिक चेतना और जीवन की विसंगतियों के बीच झूलती-टूटती और भरसक तालमेल बिठाती एक स्त्री का द्वन्द्व, 'पत्थर-माटी-दूब' और 'लौट आना ली' और यहाँ ही प्रकाशित हुई कहानी 'कोख-घर' के माध्यम से कोख के स्त्री के प्रगति में बाधा होने या फिर साधक या सबसे बड़ा सुख होने के मुद्दों पर पुनर्विचार मुख्य है। अगर कहानियों के नाम गिनाने की औपचारिक उलझन में न पड़ूँ तो वंदना राग, अल्पना मिश्र, प्रत्यक्षा, जयश्री रॉय, गीताश्री आदि के यहाँ भी इन विषयों पर कई कहानियाँ मिल जायेंगी और पूर्ववर्ती पीढ़ियों की लेखिकाओं के पास भी। कितनी कहानियों के नाम स्मृति-पटल पर अभी चमक रहे हैं पर लिख नहीं रहीं तो बस उत्तर के विस्तृत हो जाने के भय से।

उत्तर 5 : निःसंदेह अपने जैसे ही किसी मनुष्य को रचना, गढ़ना या फिर जीवन देना एक विरल अनुभव है। यह अहसास अपने में ही इतना भरा-पूरा और सुखद है जिसे जिए बिना समझा ही नहीं जा सकता। यह अहसास खुद की उस क्षमता का भी है जो हमें अपरिमित होने, जीवनदायिनी होने के आनंद से भरता है। पर यह भी सच है कि पितृसत्ता इसे औरत के पंख कतरने का नुस्खा बना देती है। उसकी उड़ान पर लगाम लगाने का हथियार बना लेती है। अपने हिसाब से न चलनेवाली स्त्री के लिए सबसे बेहतर उपाय तो यही समझते है वे।

बाल-बच्चों की जिमेदारियों में उलझी स्त्री सोचेगी तो क्या और नया करेगी भी तो क्या। यदि ऐसा नहीं होता तो हमारे यहाँ शादी की उम्र 40 के भीतर की नहीं होती। मतलब कि पश्चिमी देशों के ठीक विपरीत बच्चे पैदा करने के उम्र के भीतर ही। यह वही मानसिकता है जो कहती है शादी में स्त्री की उपादेयता बच्चा पैदा कर वंशावली बढ़ाने भर की है न कि समाज की एक मजबूत इकाई के रूप में। इसी कारण आज भी समाज में उस स्त्री को हेय दृष्टि से देखा जाता है जो किन्हीं कारणों से माँ नहीं बन सकती।

उत्तर 6 : लैंगिक कटुता और पक्षपात मेरे ही नहीं तमाम स्त्रियों और किसी चिंतनशील और तरक्कीपरस्त समाज के लिए घोर चिंता का विषय है, होना चाहिए। इस तरह के विभेद न जाने कितने तरह के जुर्म और पक्षपातों का सबब बनते हैं, दुर्घटनाओं-जुर्मों के वायस भी। स्त्रियों की तरक्की, उनकी प्रतिभा और उपलब्धियों को उनके स्त्री होने से जोड़कर देखा जाना एक मारक यंत्रणा का सबब हो सकता है। पर मैं इन सारे जुर्मों, दुर्घटनाओं और प्रताड़नाओं को एक ही आईने में रखकर देखती हूँ। वह है आगे बढ़ती नित नई कामयाबियां और मंजिलें पाती औरतों के दिल में दहशत पैदा और कुंठा पैदा करने की, उसके मनोबल को तोड़ने की साजिश या कि कोशिश। यह झुंझलाहट और बेचनी है। एक तरह की अकुलाहट, तिलमिलाहट में कुछ भी बोलने-करने की हड़बड़ी भी जिससे सामने वाले में बेमतलब का भय और आतंक भरे यह पुरुषवाद का वह डरा हुआ चेहरा है, जो अपनी कमजोरी को क्रूरता और निरंकुशता के औजारों से ढकना तो चाहती ही है सामने वाले के भीतर भय और आतंक भी सिरजना चाहता है। इससे लड़ने का सबसे कारगर तरीका है कि हम इस भय से जूझें और लड़ें, डरे नहीं।

उत्तर 7 : सचमुच, अगर सोशल मीडिया की बात करें तो महिलाएं इन मंचों पर पुरुषों से ज्यादा मुखर और निर्भीक होकर अपनी बात कहती दिखती हैं। कह लेना कहीं मन के बोझ को हल्का कर लेना होता है दुखों को छोट कर लेना भी। यह बहुत बड़ी बात है, खासकर हम स्त्रियों के लिए तो और भी ज्यादा बड़ी। हम अपने दर्द पर हंस सकते हैं, यह जान भी सकते हैं कि हम अकेले ही नहीं हैं ऐसे। घुट-घुटकर जीना, मुंह सीये रहना अब गये दिनों के मुहावरे हैं। यही कम महत्व नहीं इन जैसे मंचों का कि हमें मनोचिकित्सकों की जरूरत नहीं। मत मानिए इसे साहित्य! मत मानिए कविता-कहानी पर ये महज उच्छ्वास भर भी नहीं। अंजू की कविता फेसबुक पर 'चालीस साल की औरतें' इसी नाम से ही कलावंती की कवितायें और भी बहुत कुछ हैं जो सचमुच महत्वपूर्ण है।

ऐसा हर काल और हर समय में हुआ है कि जब-जब वर्जनाएं टूटी हैं, जब-जब अभिव्यक्ति के नए मंच उपलब्ध हुए हैं, रुके हुए जल को राह मिलने की तरह भावनाओं का भी विस्फोट हुआ है। सबकुछ न संग्रहणीय हुआ है कभी, न ग्रहणीय। पर जहां सच्चाई होगी, आवेग होगा, विषय और ट्रीटमेंट की नवीनता होगी, संवेदना के तारों को झकझोरने का माद्दा होगा, वे रचनाएँ बची रहेंगी-औसत, कमजोर और कमतर रचनाओं को पीछे धकेलती-छोड़ती हुई। छायावाद और भारतेंदु- काल में भी कितने तो लेखक थे, पर आज उनमें से कितनों को हम जानते हैं।

उत्तर 8 : जुगाड़, प्रायोजित चर्चाएँ, समीक्षाएँ, गोष्ठी, विमोचन, पुरस्कार...सच कहूं तो अपने अंतर्मुखी स्वभाव के कारण अपने को बहुत बेमेल और अकेला पाती हूँ। हारती भी हूँ, टूटती भी हूँ पर फिर-फिर उठकर खड़ी होती हूँ। सौ दफा डूब के उगने का हुनर है मुझमें बस सोचती हूँ तो यह सोचती हूँ, कोई एक सच्चा पाठक भी कम नहीं होता किसी एक रचना को सराहने के लिए या समझने के लिए। लेखन उसी दिन सफल हो जाता है और उस मामले में मैं खुद को बहुत खुशकिस्मत पाती हूँ सच कहूँ तो पाठकों की प्रतिक्रियायें, उनका स्नेह ही वह अमर बूटी है जो मुझे जिलाए हुए है और सक्रिय रखे हुए है अब तक इस आपा-धापी और प्रतिस्पर्धा वाले माहौल में भी।

उत्तर 9 : हास्य-व्यंग्य यानी हम जिसे ह्यूमर कहते है मेरी समझ से व्यक्ति का जन्मजात गुण होता है, वह सीखकर-देखकर-चाहकर अर्जित नहीं किया जा सकता। हाँ, आपका परिवेश, आपका वर्तमान और विगत उसे धार दे सकता है, देता भी है। कम-से-कम अपने अनुभवों से तो मैं यही समझती हूँ। महत्वपूर्ण बात एक और भी कि हास्य और व्यंग्य दो अलग विधाएं हैं एक नही।

साहित्य जगत में हमेशा ही हास्य-व्यंग्य को दोयम दर्जा दिया गया, पूरा हिंदी साहित्य का इतिहास छान मारे तो भी बहुत कम लेखक और रचनाएँ मिलती हैं इस विधा की, और उन कहानियों और लेखकों को भी उस तरह नहीं जाना समझा सराहा गया। परसाई इस उपेक्षा के सबसे बड़े उदाहरण हैं। बहुत ढूंढकर देखें तो स्वयं भारतेंदु और उस काल के कुछ कवि। प्रेमचंद की कुछ कहानियाँ, परसाई की व्यंग्य रचनाएँ, राग दरबारी आदि कुछ ही चीजें मिलती हैं इस विधा के नाम पर इसीलिए भी शायद आज के लेखन में भी इसका पुट कम ही मिलता-दीखता है। पर पूरी तरह से गायब है ऐसा कहना भी गलत होगा। हाल में आई कहानियों के बीच जयश्री रॉय की कहानी 'छुट्टी का दिन' अपनी सीमाओं के बाबजूद ऐसी कहानियों का एक बढ़िया उदाहरण है। शर्मिला बोहरा जालान की 'बूढ़ा चाँद' है, अपनी मारक विदग्धता के साथ। और भी कहानियाँ होंगी जो अभी स्मृति में नहीं।

उत्तर 10 : कुछ विलंबित योजनायें हैं, जिन्हें कबसे आकार देने का मन है पर जिसके लिए वक्त नहीं मिल रहा। एक आत्मकथात्मक उपन्यास जिसे इन दोनों उपन्यासों के भी पहले लिखना शुरू किया था, कबसे अधूरा पड़ा है। बुनकरों की जिन्दगी पर भी कुछ काम कर रखा है, नहीं जानती कि इन्हें कब पूरा कर पाऊँगी। दिनों दिन यह लगने लगा है कि लेखन के लिए समय निकालना कैसे दुष्कर हुआ जा रहा है। बढ़ती हुई बच्ची और घर की जिम्मेवारियों के बीच। सच कहूं तो पिछले उपन्यास के बाद का यह बीता हुआ साल मेरे लिए सूखा साल रहा। मात्र दो कहानियाँ लिखीं मैंने इस एक वर्ष में। n

मो. : 07509977020
ईमेल : kavitakathakar@rediffmail.com

n प्रज्ञा पाण्डेय

उत्तर 1 : वह आजाद होती तो कैसी होती अभी इस सवाल से उसका टकराव बाकी है। आपका यह कहना शत प्रतिशत सच है कि अभिव्यक्ति की आजादी से बड़ी कोई बराबरी नहीं हो सकती और सच्चे अर्थों में लोकतंत्र भी यही है। हिंदी में स्त्रियों द्वारा आज जो साहित्य रचा जा रहा है उसे निर्द्वन्द्व होकर मनचाहा रचने जैसी कोई बात नहीं हो सकती, हाँ उसकी परतों में जाकर उसे परत दर परत उधेड़ने और फिर रचने में जिस गहरी पीड़ा और अनुभूति की दरकार जिसकी हमारे इस समय में बेहद जरूरत है वह कहीं-कहीं दिखाई देता है। जिस विपुलता और प्रचुरता की ओर आपका संकेत है, वह स्त्री की बहुत सतही सी अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता ये कुछ शब्द अभी कागजों पर ही सार्थक हैं ये सच्चे अर्थों में खांटी अभिव्यक्ति का रूप लेकर नहीं आ सके हैं। यह एक बहुत बड़ी पीड़ा है। दरअसल स्त्री अपने दर्द को उस शिद्दत से महसूस नहीं करती है और अपनी ताकत को भी नहीं महसूस कर पाती है। सदियों की दबी-कुचली स्त्री, बात बड़ी घिसीपिटी सी लग सकती है लेकिन स्त्री अपना सिर अभी अपने कन्धों पर रख कर चलने में पूर्णतया समर्थ नहीं है यह कटु सच है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने आदिम स्त्री को पूर्णतः खत्म कर दिया है। आज की स्त्री उसका अवशेष है लेकिन वह प्रकृति द्वारा उत्पन्न प्रजनन की धुरी है बस इसीलिए मिटायी नहीं जा सकी है। उसका संघर्ष अभी खुद को पहचानने और स्थापित करने के लिए शुरू ही हुआ है। वह अभी अपने बारे में विशेष कुछ भी नहीं जानती है।

उत्तर 2 : किसी भी लेखन को किसी खांचे में धकेल देना तो उसके साथ न्याय करना नहीं है यह उसके आयाम को समेटने जैसा है। मैं इस बात को इस तरह से कहना चाहूंगी कि बेशक जब स्त्री किसी बात को कहती है तो उसका एक खास नजरिया होता और जो नितांत उसका होता है तो कुछ भिन्न अवश्य होगा। उसके अपने संस्कार उसका अतीत उसमें शामिल होंगे। यह ठीक उसी तरह है जिस तरह एक व्यक्ति का लेखन दूसरे व्यक्ति के लेखन से भिन्न होगा। मेरे खयाल से वर्गीकरण जैसा कोई मापदंड किसी भी साहित्य के लिए नहीं होना चाहिए चाहे वह स्त्री का साहित्य हो या दलित का। साहित्य इसी जगत से उपजता है कहीं बर्फ है तो कहीं नदी, कहीं हरियाली तो कहीं बंजर। साहित्य अपने अनुभव जगत का विस्तार है जो दूर तक जाता है उसके लिए कोई वर्गीकरण उसके साथ ज्यादती है।

उत्तर 3 : इसका उत्तर फिर वही होगा कि सैकड़ों वर्षों से जो स्त्री शुचिता, वर्जना, सतीत्व, वैधव्य और चरित्रहीनता के गंभीर आरोपों और अपनी देह की कैद में रही है उसकी लड़ाई बहुत लम्बी है। बहुत सी लक्ष्मण रेखाओं को नकारकर वह अपनी बात कहती नजर आ रही है। सोफिया टॉलस्टाय, सिमोन द बोउआर, कांता भारती, मन्नू भंडारी, मैत्रेयी पुष्पा, कृष्णा सोबती, उषा प्रियवंदा, और भी सैकड़ों नाम हैं जिन्होंने पितृसत्ता के खिलाफ एक मुहिम की शुरुआत की है। एक हवा तो बह ही रही है जिसकी सुगंध में प्रतिरोध की महक शामिल है। सच से आँख फेरने जैसी कोई बात तो बिलकुल नहीं है, नतीजे दिखाई देने भर तक इंतजार तो करना ही होगा।

उत्तर 4 : आपका प्रश्न जायज है। आन्दोलनों में स्त्री की सक्रियता और भागीदारी जिस तरह से बढ़ी है उसी तरह से उनकी उपस्थिति उसके रचनात्मक सरोकारों में भी होनी चाहिए जिसका सर्वथा अभाव मिलता है। स्त्री को किचेन से अब आजादी मिलनी शुरू हुई है। आज से एक दशक पहले तक भी स्त्री के लिए रसोईं पहली जगह थी। यह कहा जाता था कि अच्छा भोजन बनाकर ही स्त्री अपने लिए घर में जगह बना सकती है और सबका दिल जीत सकती है। स्त्री के जीवन में एक लम्बी, थकाऊ और व्यर्थ की यात्रा रही है जिसमें उसने अपनी बुद्धि और सामर्थ्य को होम किया है। शायद कुछ देर हो रही है लेकिन ये क्षेत्र भी अवश्य ही स्त्री के रचनात्मकता के दायरे में शामिल होंगे। उसके अनुभव संसार के दायरे तो अब जाकर बढ़ने शुरू हुए हैं।

उत्तर 5 : मर्दवादी राजनीति के कई आयामों में से यह भी एक आयाम तो है ही। स्त्री को प्रदत्त प्राकृतिक गुण उसकी दासता के कारण बने हैं बावजूद इसके मातृत्व उसके लिए ही नहीं संसार की गति के लिए भी वरदान है और यह स्त्री का सौभाग्य है कि वह उसकी वाहक है। मातृत्व उसकी अस्मिता और उसकी ताकत है। वह पुरुष से भिन्न भी है। अब वह समय नहीं रहा कि स्त्री सिर्फ प्रजनन के लिए हो। अब उसका शोषण किसी भी स्तर पर होता है तो आवाजें उठती हैं। समाज और खुद स्त्री भी जागी हुई है। गांव कस्बों में कम बच्चे हों स्त्रियां खुद इस विषय को गंभीरता से लेने लगी हैं लेकिन मातृत्व का सुख लेने से शायद ही कोई स्त्री खुद को वंचित रखना चाहे। प्रकृति की अवहेलना करके स्त्री सुखी नहीं होगी। स्त्री को यह तो हर हाल में समझना ही है कि वह प्रकृति से दूर होकर अपनी ताकत खोयेगी। मातृत्व पर ही तो वह विलक्षण है। यह उसके प्रतिरोध का एक रूप हो सकता है लेकिन फिर भी अतिवाद से मेरी सहमति नहीं।

उत्तर 6 : यह बेहद चिंतनीय है। स्त्री की यौनिकता पर आक्रमण उसे ध्वस्त करने वाला ऐसा अपराध है जिसके गुणसूत्र मानसिक गुत्थियों के जटिल मनोविज्ञान में तैरते हैं। यह हत्या लूट और

छिनैती जैसा अपराध नहीं है, जिसके पीछे गरीबी और बेरोजगारी जैसी सुलझा ले जाने वाली अस्थायी वजहें हैं। यह विद्रूपतम है। इसके कारणों की व्याख्या करना उसी तरह मुश्किल है जिस तरह परत दर परत छिपी गुंथी मानव इतिहास की सामजिक संस्कृति और राजनीतिक चेतना के दियों के नीचे के अंधेरों की व्याख्या। समाज स्त्री विरोधी है। स्त्रियां अपनी ही राख से बार-बार जन्म लेंगी और जब तक यह समाज खुद ही अपने धब्बों को नहीं खोज लेगा तब तक वे इसी तरह मरती, जन्मती रहेंगी। यह कहते हुए दुःख और अफसोस होता है परन्तु कम से कम स्त्रियों की एक पीढ़ी तो इस समाज को सभ्य बनने में अपनी आहुति देती हुई खप ही जाएगी।

उत्तर 7 : साहित्य तो हमेशा से ही एक गंभीर और विचार -पुंज सा विषय रहा है। आभासी दुनिया का साहित्य और गंभीर साहित्य के बीच एक बड़ा फासला हमेशा ही रहेगा। स्त्रियां ही नहीं पुरुष भी बड़ी संख्या में इसमें रत-व्यस्त हैं। हाँ, स्त्रियों की संख्या अधिक जरूर है। कारण यह है कि स्त्रियों के लिए घर से बाहर निकलने के मौके उतने नहीं बनते हैं ऐसे में यह साहित्य रोज की डायरी लिखने की तरह है। आभासी दुनिया अपनी कुंठा को व्यक्त करने की जगह भी है। दरअसल आजकल बाजारवाद अप्रत्यक्ष रूप से हर दिल और दिमाग पर हावी है। ग्लैमर दिखावा और चमक, दमक जीवन में संस्कार की तरह शामिल होते जा रहे हैं। ऐसा लगने लगा है कि झूठ और दिखावे से दूर रहने वाले गम्भीर लोग अलग-थलग पड़ते जा रहे हैं। यह सामजिक अवमूल्यन की तरह साहित्य का भी अवमूल्यन है।

उत्तर 8 : परिस्थितियों के अनुसार चुनौतियां अक्सर न चाहते हुए भी सिर उठाती हैं। यह बहुत कठिन स्थिति है।

उत्तर 9 : स्त्री के जीवन में हास्य और विनोद का होना मुश्किल है और उसका स्त्री के जीवन में कोई स्थान फिलहाल नहीं है। वह तो अपने जीवन में आने वालों को यह स्थितियां मुहैया कराती है चाहे वह उसका बच्चा हो उसका पति या प्रेमी हो। उसके सामने अपने अस्तित्व और अपनी देह को लेकर जो संघर्ष हैं वे उसको हंसी और उसकी बहुत सी बाह्य खुशियों तक नहीं पहुँचने देते हैं। माँ बनने की पीड़ा मातृत्व का दायित्व उसको गहन भावनात्मक स्थितियाँ देता है। बच्चे को जन्म देने के बाद हुए शारीरिक और मानसिक परिवर्तन उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। साफ साफ लिखूं तो हास्य और विनोद की मानसिक स्थितियों को जीने का समय उसके पास न कभी था और न होगा। प्रकृति ने उसको कुछ और ढंग से रचा है। और इसमें उसका कोई दोष भी नहीं है।

उत्तर 10 : आपके सवालों में यह सवाल ही सबसे मुश्किल है। लिखने के लिए कोई योजना नहीं बनायी है। अभी बस इतना मालूम है कि बहुत सी चिंगारियां दिमाग में दफन हैं उन्हें शब्दों में किस तरह और कितना अभिव्यक्त कर सकूंगी, यह वक्त बताएगा। n

मो. : 09532969797
ईमेल : pandepragya@gmail.com

n दया दीक्षित

उत्तर 1 : शिक्षा, स्वाभिमान की जागरुकता ने इतना तो किया ही है कि आज की स्त्री (युवा, युवतर...) पूरी सजगता के साथ यानि होशमंदी के साथ अपनी बात रख/कर पा रही है, लेखन में भी यही स्थिति है। नाम हटा कर देख लीजिये, पता ही नहीं लगेगा कि स्त्री ने रचा है या पुरुष ने। आज पूर्ण लोकतांत्रिकता के साथ निर्द्वन्द्व हो स्त्री अपनी बात अपने लेखन में दिखला रही है।

उत्तर 2 : 'खांचाबद्ध' लेखन स्वयं में अपने आप सिकुड़ा हुआ और सीमित हो जाता है। इसके पक्ष में तर्क देने वाले उस 'परकाया प्रवेश' को क्या कहेंगे जो प्रेमचन्द की धनियां, जालपा या गोबर और रायसाहब या नागर जी की निर्गुणिया, मोहना डाकू या नैन्सी माल्कम. ..में दिखाई पड़ता है। और अगर बहुत पीछे संस्कृत वाडमय की बात करें तो स्वप्नवासवदत्ता या अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दिखाई देता है। शुक्र है कि मेरे अब तक के लेखन में 'स्त्री लेखन' जैसा लेबल नहीं है। इस संबंध में मुझे एक साथ दो पत्र याद हो आए हैं, समकालीन भारतीय साहित्य में लगभग दो-तीन वर्ष पहले मेरी कहानी प्रकाशित हुई थी, उस पर एक पोस्टकार्ड मुझे मिला उसमें कहानी की प्रशंसा के साथ लिखा था, श्रीयुत दया दीक्षित जी कहानी में अन्य भाषाओं के शब्दों के स्थान पर अपनी समर्थ भाषा के ही शब्दों का प्रयोग किया करें। आप अच्छा लिखते हैं।

इसी प्रकार एक पत्र किसी अन्य कहानी पर था किंतु उसमें भी मुझे पत्र लेखक ने श्रीयुत तथा 'अच्छा लिखते हैं' ही समझा था।

उत्तर 3 : गणितीय जोड़-तोड़ के इतर जो लेखन हो रहा है/होगा, उसमें पितृसत्ता के मुखर विरोध की तीव्रता से इंकार नहीं किया जा सकता। राजनीति और संस्कृति के क्षेत्र में महिलाओं की अब पहले वाली स्थिति तो नहीं है, पर हाँ, अभी भी जहाँ उन्हें लक्ष्मण रेखा में 'कैद' करने की गंदी साजिश है, वहाँ पितृसत्ता की संकीर्ण, ईर्ष्यालु सोच तथा अविश्वास (क्षमताओं के प्रति) अधिक जिम्मेदार है। पर आप यह भी देखिये कि ये स्थितियाँ बहुत अधिक समय तक नहीं रहेंगी।

उत्तर 4 : मंत्रिमंडलों की बात यदि छोड़ दी जाए तो अर्थनीति एवम् शिक्षा संस्थानों में आज स्त्री का अनुपात आश्वस्तिदायक है। शिक्षा संस्थानों में तो प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक में स्त्रियों का

बाहुल्य या कहना चाहिए वर्चस्व अधिक दिखाई देता है उसके पीछे कुछ मनोवैज्ञानिक कारण है। आप किसी भी प्राथमिक पाठशाला या उच्च शिक्षा केन्द्र में जाकर देंखे यहाँ स्त्रियाँ, पुरुषों से अधिक होंगी।

चूँकि आज रोजगार के या विकास के अवसर उपलब्ध हैं, स्त्रियाँ हर क्षेत्र में अपनी दक्षता से पैठ बना रही हैं, यह भी कारण है कि महिलाओं के रचनात्मक सरोकारों में ये मुद्दे नहीं दिखाई देते।

उत्तर 5 : प्रायः हमारे समाज में एक वर्ग विशेष/मानसिकता विशेष के लोग स्त्रियों के प्रति इस सोच से ग्रस्त हैं कि महिलाओं को घर ग्रहस्थी और बच्चों की परवरिश ही करनी चाहिये, यही उनके लिये 'कंफर्टजोन' है, इस कंफर्टजोन' में रहना ही (स्त्रियों को) शोभा देता है, माफ कीजिये, कथित बड़े-बड़े लेखकों (आश्चर्य कि जो पश्चिमी सभ्यता से प्रेरित प्रभावित होने के दंभ से ग्रस्त भी है!) ऐसों को स्त्रियाँ 'औरत जात ससुरी' से अधिक नहीं लगतीं वे स्त्रियों को कथित आदर्श की सान (धार) पर चढ़ाकर उन्हें एक 'विकृत परतंत्र आदर्श' की ओर उन्मुख करते रहते हैं। और स्वयं स्वछंद निर्द्वन्द्व अनाचरणों में रत रहते हैं। ऐसे लोगों के कारण यदि पश्चिमी फैमिनिस्ट 'भावुक सम्मोहन' को स्त्री विरोधी एक 'कॉज' या कारण की तरह देखें तो बहुत आश्चर्य नहीं होना चाहिये।

दूसरा कारण पश्चिमी भोगवादी मान्यता से जुड़ा और इसे संतुष्ट करता है, यह तो सच है कि संतानोत्पत्ति के बाद औरत की देह वही नहीं रहती, जो पहले थी, दूसरे भावात्मक रूप से स्त्री, संतान से जितना बंध जाती है, जिस तरह उसके लिए तन, मन धन से समर्पित रहती है, निश्चय ही से स्थितियाँ उसके 'यौनिक जीवन' के साथ उसकी स्वतंत्रता को भी बाधित करती हैं, ऐसे में पुरुषों द्वारा स्त्री को निरंतर यह कहा जाना कि मातृत्व से उसके व्यक्तित्व को पूर्णता प्राप्त होगी /होती है, तथा इसी में उसकी सार्थकता है। पश्चिमी नारीवादियों को पुरुषों की यह सोच उनकी महिला विरोधी रणनीति प्रतीत हो सकती है।

इसी संबंध/संदर्भ में पाश्चात्य और भारतीय दृष्टिकोणों के जरिये दिनकर की 'उर्वशी' में मातृत्व को लेकर लंबी बहस है। जिसके अंत में यह कहा जाता है कि-

गलती है हिमशिला सत्य ही, गठन देह की खोकर,

पर हो जाती है पयस्विनी कितनी असीम होकर

मैं इसी भारतीय दर्शन/मान्यता से सहमत हूँ। मातृत्व स्त्री के लिए प्रकृति का अनुपम अनमोल उपहार है।

उत्तर 6 : आज के समय में गुलाबी गैंग हैं, तो गैंगरेप भी हैं। कई सक्रिय स्त्री कल्याण की योजनाएँ शासकीय अशासकीय स्तर पर सक्रिय हैं, तो तेजाबी हमले भी कम नहीं। दोनों धाराएँ समानान्तर नहीं, तो कमोवेश आगे पीछे चल रही हैं। सच है कि, स्त्री बहिर्मुखी प्रतिभा दक्षता, पुरुष को स्वयं के लिए चुनौती सी प्रतीत होती है, और अपना अधिकार हनन भी, किंतु ऐसे इन पुरुषों का प्रतिशत बहुत कम है। यदि इस बात में सौ प्रतिशत सच्चाई होती, तो आज के सजग पिता, भाई, पति अपनी बेटी, बहिन, पत्नी को उसके मनचाहे क्षेत्र में गति करने ही नहीं देते। दरअसल यौन हमलों में कई कारण और कारक भी सक्रिय होते हैं, जिनसे इन्कार नहीं किया जा सकता। पर थोड़ी उदारता भी आपेक्षित है, इन्हें समझने के लिये।

महापुरुषों से लेकर कई अन्यान्य लोगों ने समाज में वर्गभेद या वर्गीय असमानता दूर करने की पुरजोर कोशिश की, मगर उच्च मध्य निम्न वर्ग आज भी है और अपने विकराल या चरमरूप में है। एक वह वर्ग है जिसकी अनिवार्य नियति फाकाकशी है, जहाँ भरपेट रोटी दोनों समय मयस्सर होने का प्रश्न हो वहाँ 'इंप्रैसिव पर्सनैल्टी बनाने/दिखाने की बात भी कल्पनातीत है, इसी के बरअक्स वह वर्ग भी है, जिसके वस्त्रों की स्टाइलिश डिजाइन की कीमत ही वस्त्र की कीमत से ज़्यादा और कभी-कभी तो दुगनी होती है। इन वस्त्रों में अंगों की ढकने का नहीं, उनके खास तरीके से उघड़ने का कौशल ज्यादा है।

यह अंग उघाड़ू, बेशकीमती वेशसज्जा कहीं न कहीं वंचित वर्ग को आक्रोश, क्षोम से भरने की बहुत नहीं तो कुछ तो संभावना रखती ही है। एक बात और, फैशन या प्रचलन का प्रयोग गलत नहीं है, मगर अंधानुकरण वह भी देश, काल की परिस्थितियों को नजर अंदाज करके अंधवत् अनुकरण अविवेकी सोच है।

पश्चिम में अभी बीते समय का एक दौर वह भी था, जब ध्यानाकर्षण के लिये, सार्वजनिक मार्गों पर निर्वस्त्र होकर दौड़ने चलने की घटनाएँ भी सुनाई दीं। स्वछंदता के बाद भी 'किसी की प्राइवेसी में दखल न देने' या अपने में ही डूबे या मस्त होने की संस्कृति में तो यह सब जायज हो सकता है, वहाँ ध्यानाकर्षण के लिए विचित्र और उकसाऊ वेशविन्यास की गुंजाइश हो सकती है, मगर भारत देश में इस प्रकार के चलन/प्रचलन/वेशविन्यास, यौन हमलों, यौन हिंसा को भड़काने वाले हो सकते हैं।

इस प्रकार के सरंजामों के लिए दरअसल अभिभावकों का 'भोलापन' भी कम जिम्मेदार नहीं है। वे बाहर के लोगों को या आम लोगों को भी अपने जैसा समझ लेते हैं, ऐसा करते वे बिल्कुल भूल जाते हैं, कि बच्चों की बढ़ती उम्र, युवापन सबसे पहले 'बाहरी' लोगों को ही 'दिखता' है। मगर अपने अतिरेकी प्रेम/लापरवाही/लाड़दुलार/आधुनिक कहलाने की लालसा...के चश्में के पीछे उन्हें, सत्य वस्तु स्थिति नहीं दिखती, वे भूल जाते है कि बाहरी व्यक्ति उनकी संतान को 'अपनी जाई' न समझकर केवल 'मादापन' को ही 'भूखी' निगाहों से निहारने में कोताही नहीं करेंगे। 'गोपन अंग' का उत्तेजक प्रदर्शन 'राखी' या मित्रता या सुरक्षा वाली सिचुएशन कतई पैदा नहीं करता। एक अनुभव बाँटना चाहती हूँ। पड़ोस की एक किशोरी जो मेरे देखते देखते हाईस्कूल

से एम.ए. में पहुँची थी। एक दिन वह अपने 'कोएजूकेशन' कॉलेज जा रही थी। मेरी नजर पड़ी, कुछ अजीब सा लगा...सोच लिया कि शाम को आयेगी तो कह दूँगी...। और मैंने शाम को कहा भी... ऐसे रफटफ नहीं, आंतरिक अंगवस्त्र पहनकर जाना चाहिये, तुम कोएजूकेशन में पढ़ती हो...भद्दा मालूम होता है...। इस पर उसका जो जवाब था, उसने मुझे भौचक हो सोचने पर विवश कर दिया आज की सोच पर उसका जवाब था, 'दीदी, यही चीज तो दिखाने की है, और इसी को आप बरज रही हैं...।'' उसी के लगभग महीने भर बाद उसके साथ हुई दो एक अभद्र घटनाओं ने उसे आत्मचिंतन और मेरे कथन पर सोचने को विवश कर दिया।

तो, बहुत सारे कारक होते हैं, ऐसी घटनाओं के होने के! मगर 'तेजाबी हमलों' के पीछे की स्थितियाँ एकदम पितृसत्तात्मक अराजक अनियंत्रित, एकतरफा विकृत सोच का परिचय देती हैं, इनके लिए केवल और केवल पितृसत्ता वाली सोच और हिंस्त्र प्रकृति ही जिम्मेदार है।

उत्तर 7-8 : एक बड़ा दिलचस्प और लगभग दो वर्ष पुराना साहित्य/ दंगल/दंगा/तूफान/भूचाल याद आ रहा है। एक कहानी संग्रह की बड़े तामझाम के साथ लोकार्पण, चर्चाएं, समीक्षाएं हुईं, फिर उसके जन्म कि छठी पसनी (अन्नप्राशन) भी हो पाई थी (यानि अतिशीघ्र), कि धड़ाधड़ 'संस्करण' भी सामने...मगर इन सीढ़ियों के बाद भी अब न रचनाकार का पता है न कहानी संग्रह की जलती जोत का...। सब अंधकारमय! तो अन्ततोगत्वा यह तो सत्य है कि बैसाखियों से ललित लरखनि (लड़खड़ाना) तो हो सकती है, मगर दौड़ नहीं लगाई जा सकती. ..। आचार्य चतुरसेन, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, शिवानी, हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, राही मासूम रजा... से लेकर गुलशन नंदा, रानू या इब्नेसफी बी.ए. जैसे रचनाकारों की कृतियां आज भी अपने बलबूते पर टिकी हैं। वैसे पुरस्कारों का अपना महत्व है, और कोई भी कृति या रचना पुरस्कृत होते ही विशिष्टता या गुणवत्ता की सनद से युक्त हो जाती है, समीक्षाएँ, चर्चाएं उसके महत्व को विस्तार देती हैं, लेकिन ये ही सब कुछ नहीं! अब यूँ तो भवभूति भी 'समीक्षा' को तरसे थे। चमन में 'दीदावर' का महत्व 'जलवा' से कम नहीं। पर चमन की खुशबू भी कुछ तो एहद रखती ही है।

उत्तर 9 : बहुत पहले सरोजनी प्रीतम की क्षणिकाएँ वढ़ी थीं, हास्य व्यंग्य से पूर्ण और धारदार! इधर सूर्यबाला की कुछ व्यंग्यप्रधान रचनाएँ देखीं, मगर सच यही है, जो आपकी धारणा है कि स्त्रीलेखन से हास्य लगभग स्वाभाविक निष्कासित सा है! आज के समय में 'हास्य' यदि सरल होता, तो लॉफिंग क्लब तेजी से न बढ़ते...। जीवन और समाज से ही हास्य गायब है, भला साहित्य में भी क्यों न हो। फिर वह भी तब जब 'वैसे का वैसा' लिखने का चलन हो...। पहले कहां थी 'हास्यासन' या लॉफिंग क्लब की संकल्पना? नहीं थी। फिर जैसे जैसे सहजता के अभाव और कृतिमता यांत्रिकता के दबाव बढ़े, अवसाद, विषाद, क्षोम, आक्रोश, कुंठा जैसी मनोग्रंथियां, विकृतियाँ उत्पन्न होती चली गई, और तब इन 'आसनों' क्लबों की उत्पत्ति हुई...। कहने का आशय यह है कि आज इन जटिल परिस्थितियों में, वह उत्फुल्ल कर देने वाले मधुर हास्य व्यंग, कटाक्ष का स्तर रहा ही नहीं, जो हरि शंकर परसाई या काका हाथरसी या हुल्लड़ मुरादाबादी जैसे व्यंग्य के चितेरों का था...। और स्त्री लेखन तो अधिकांशतः 'क्रोंच वध' जैसी कारुणिक पीड़ाओं के फलस्वरूप उद्भूत हुआ है, भला ऐसी स्थितियों में हास्य या विशुद्ध मधुर व्यंग कैसे लिखा जा सकता है? फिर भी सर्वथा अभाव नहीं है, कई लेखिकाओं की रचनाओं में आंशिक ही सही, हास्य, व्यंग की अनुगूँज सुनाई देती है।

उत्तर 10 : लेखन के साथ हिंदी भाषा एवं साहित्य को युवाओं, किशोरों से जोड़ने का प्रयास कर रही हूँ। देश के वरिष्ठ एवं कनिष्ठ कथाकारों की कथाओं के साथ ही भाषा खण्ड (व्याकरण) समेकित करके 'हमारा समय और साहित्य' पुस्तक का प्रकाशन अपनी संस्था साहित्य सृजन के माध्यम से किया। प्रथम, द्वितीय, तृतीय पुरस्कार, विजयी प्रतिभागियों के लिए रक्खे। इस वर्ष तेरह माध्यमिक तथा दो महाविद्यालयों के लगभग तीन सौ प्रतिभागी शामिल हुए। दो घंटे की लिखित परीक्षा हुई। इस अंतर्विद्यालयी, अंतर्महाविद्यालयी प्रतियोगता में कक्षा 6 से एम.ए. तक के प्रतिभागी थे। उच्च वर्ग के प्रतिभागी को पाँच हजार रुपये का पुरस्कार माध्यमिक वर्ग में दो प्रतिभागियों को इक्कीस-इक्कीस सौ के तथा चार प्रतिभागियों को ग्यारह-ग्यारह सौ के प्रोत्साहन पुरस्कार स्मृति चिन्ह, प्रमाण पत्र दिये। वरिष्ठ लेखिका डॉ. क्षमा शर्मा (दिल्ली) तथा कथाकार राजेन्द्र राव (कानपुर), अजय अनुरागी (जयपुर) के हाथों बच्चों को पुरस्कार वितरित कराए। प्रतिवर्ष यह आयोजन करना है, यह सब मैं अपने लेखकीय दायित्व में शुमार करती हूँ। आखिर जिस समाज के लिए हम लिखते हैं, उस समाज को भाषा और साहित्य से जोड़ने का दायित्व भी हमारा ही है, पहले के लोगों ने यही किया था। आज के दौर में मैं इस कदम को अपरिहार्य मानती हूँ। भाषा और साहित्य से युवाओं-किशोरों को जोड़ने का मतलब है, उन्हें अपनी सांस्कृतिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक विरासत से रूबरू कराना, उसके महत्व और अवदान का स्मरण कराना. ..। आजकल तथा भविष्य में भी लेखन के साथ साहित्य और भाषा के इस संस्कार को संरोपित करने की योजना है। दो तीन कहानियाँ एक संस्मरण जाने कब से लंबित है, उन्हें उनकी पूर्णता तक पहुँचाना चाहती हूँ। पुरस्कार में धनराशि देकर मुझे लगता है कि जिस भाषा से रोजी रोटी कमा रही हूँ, उस भाषा के लिये बूँद भर ही सही, कुछ तो कर पा रही हूँ। मुझे संतुष्टि मिलती है ऐसा करके। स्वस्थ प्रतिस्पर्धा के कारण बच्चे निश्चित रूप से भाषिक व्याकरण से अवगत होंगे, सीखेंगे, तथा कथाएँ पढ़ते-पढ़ते कौन किस कथा से प्रेरित प्रभावित हो, स्वयं भी लेखन में प्रवृत्त हो कहाँ से कहाँ पहुँच जाये, इस संभावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता। n

मो. : 09415537644
ईमेल : dayadixit01@gmail.com

n इंदिरा दांगी

उत्तर 1 : संविधान तो यही कहता है, यही दुनिया के सब लोकतांत्रिक आदर्श भी कहते हैं और एक तरह से आप भी यही कह रहे हैं लेकिन हिन्दुस्तान की और हिन्दी साहित्य की ज़मीनी हक़ीक़त ये है कि स्त्री-लेखन उतना भी प्रचुर नहीं है जितना आप बता रहे हैं। आप एक सरसरी नज़र भी डाल लें अगर हिन्दी साहित्य के इतिहास पर, और आज के भी लेखन-परिदृश्य पर तो यही कहा जा सकता है कि लेखकों की तुलना में आज भी लेखिकायें उँगलियों पर गिने जा सकने लायक आँकड़ों में हैं। मुद्दा सिर्फ़ संख्या नहीं है। असली तकलीफ़ ये है स्त्री-लेखकों की, कि चाहे-अनचाहे उन पर अनेक सेंसर काम कर रहे हैं। क्योंकि लगभग समस्त लेखिकायें घर-परिवार वालियाँ हैं तो पति, बच्चों का एक अदृश्य दबाव तो होता ही है उन पर फिर जिस परिवार में उनका जन्म हुआ मतलब पिता, भाई, चाचा-ये भी एक सेंसर हैं, कम-से-कम उनके दिमाग़ों में तो हैं ही। 'अच्छी बच्ची सिंड्रोम' दरअसल एक आतंक है जो भारतीय समाज अपनी बेटियों को घुट्टी में पिलाता है। लेखिका भी तो इसी समाज का हिस्सा होती है। वो भी अन्य स्त्रियों की तरह ही पाली-पोसी गई होती है सोशल-सिस्टम में। इस तरह पिता, पति और पुत्र की सत्ता से सौ प्रतिशत मुक्त नहीं हो पाती उनकी अभिव्यक्ति। और एक मिनिट के लिए मान लीजिए कि परिवार और रिश्तेदारों की अदृश्य सेंसरशिप से आप मुक्त हैं भी, तो सबसे बड़ा बंधन है सामाजिक संरचना का! लोगों की सोच एक दबाव है स्त्रीवादी लेखन पर भी और ऐसा लिखने वालों के व्यक्तिगत जीवन पर भी जिससे सौ प्रतिशत अप्रभावित होने का दावा कोई लेखिका नहीं कर सकती।

लेकिन तमाम दबावों के बावजूद, मैं यही मानती हूँ कि 'बोल कि लब आज़ाद हैं तेरे'। आज हमारे हाथ में क़लम है तो उसकी ताक़त के साथ-साथ ज़िम्मेदारियाँ भी हमारे हिस्से आई हैं। अभिव्यक्त हम कर पा रहे हैं या नहीं; इसके साथ सवाल यह भी होना चाहिए कि हम क्या अभिव्यक्त कर रहे हैं? प्रेमचंद ने सिलिया, धनिया, सुखदा और सुभागी जैसे चरित्र रचे जो कि कालजयी हैं। स्त्रीवादी-लेखकों के सामने ये चरित्र मिसाल ही नहीं चुनौती भी हैं। हमें इस परंपरा में कुछ बेहतर जोड़ना है; अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद। ममता कालिया का उपन्यास 'बेघर' मुझे इस संदर्भ में यहां याद आ रहा है।

उत्तर 2 : आपने बहुत हद तक पुराना तर्क दिया है! लेखिकायें थोड़े ही कहती हैं कि हमें खांचों में पढ़िये! वे कौन लोग हैं जो खांचे तय कर रहे हैं हमारे लिये? और 'स्त्री-लेखन' जैसा कोई टैग क्यों हो लेखन पर? स्त्रियाँ क्या सब तरह के विषयों, पात्रों, मुद्दों पर समान या बेहतर नहीं लिखतीं पुरुष लेखकों के मुक़ाबिल? और अगर आप ये आरोप लगा रहे हैं कि लेखन में स्त्री पात्रों या स्त्री-समस्याओं की अधिकता होने के कारण 'स्त्री-लेखन' का टैग लगाया जा सकता है किसी लेखिका पर तो मैं पूछती हूँ कि किसी लेखक पर 'पुरुष-लेखन' का टैग क्यों नहीं लगाते? इतिहास उठाकर देखिये, कितने ही लेखक घोर स्त्री-विरोधी मिल जायेंगे लेकिन उनके साहित्य में हमेशा उन तत्वों को खोजा गया जो उन्हें महान साबित करते हैं तो स्त्रियों की रचनाओं में भी आपको वही खोजना चाहिये जो उनकी प्रज्ञा, प्रतिभा और बुद्धिमत्ता से उपजा उनका सर्वश्रेष्ठ है। मैं समझती हूँ कि लेखक के जेण्डर पर नहीं बल्कि उसके लेखन पर बात की जानी चाहिये। क्योंकि असली महत्व तो अंततः रचना का ही है न कि रचनाकार का।

जहाँ तक व्यक्तिगत तौर पर मेरा प्रश्न है तो मैं यही कहूँगी कि मेरे लिखने में मेरा स्त्री होना शामिल है। एक स्त्री की करुणा, संवेदनशीलता और नमी मेरे क्राफ़्ट को हमेशा रिच बनाती है। मेरे होमवर्क को पुख़्ता करती है। लेकिन जब मैं लिख रही होती हूँ, उन पलों में, मैं सिर्फ़ रचनाकार होती हूँ, सृजनकर्ता होती हूँ -स्त्री हूँ या पुरुष, उस समय न ये प्रश्न होता है न अच्छाई या बुराई। लेकिन मेरे स्त्री होने को मेरे लेखन में कोई अलग से रेखांकित करे तो ये उसकी समस्या है न कि मेरी या मेरे सृजन की।

उत्तर 3 : स्त्री लेखन अभी बहुत पुराना नहीं हुआ है और स्त्री को जो सीमित स्वतंत्रता मिली है वो भी बहुत पुरानी नहीं है। कहने को हम बहुत कुछ कह सकते हैं कि आज लड़कियाँ पायलट, मॉडल, कोरियोग्राफ़र जैसे नये पेशे अपना रही हैं, वे शहरों में अकेली रह रही हैं, अपनी ज़िन्दगी के निर्णय स्वयं कर रही हैं। लेकिन ये सब सिर्फ़ ऊपरी सत्य है। सतह से नीचे जायेंगे तो पता चलेगा कि स्त्रियों की स्वतंत्रता की वास्तविकता क्या है? बुंदेली में एक कहावत है,-बछड़ा कूदे नौ-नौ हाथ, डोर-पगहईया मेरे हाथ। स्त्री की स्वतंत्रता का सामाजिक सच भी यही है। उसकी स्वतंत्रता की डोर आज भी कहीं न कहीं पुरुष के हाथ में है। उदाहरण के लिए, एक पढ़ी-लिखी, नौकरीपेशा लड़की अगर अपनी पसंद से शादी कर लेती है तो आपको लगता है कि वो लड़की स्वतंत्र है। लेकिन ये सीमित सच है। पूरा सच जानने के लिए आपको उसका पूरा जीवन देखना होगा। ऐसे कई रिश्तों में, लड़की को लड़के के परिवार-रिश्तेदारों और बिरादरी या धर्म में मान्यता/स्वीकार्यता के लिए उनकी लगभग सेविका हो जाना पड़ता है। दुर्भाग्य से यदि ऐसा रिश्ता टूट जाता है तो तलाकशुदा लड़की को समाज और अपने परिजनों के उलाहने-प्रताड़ना सहने को विवश होना पड़ता है। दूसरा विवाह कर ले तो नये मिले लोगों के साथ भी उसका जीवन अमूमन सहज नहीं बीत पाता। लोगों की उसे देखने की नज़र बदल जाती है। तो ये है स्त्री की स्वतंत्रता की सीमितता। और ये बात मैं कर रही हूँ बहुत पढ़ी-लिखी महानगरीय लड़कियों के बारे में। छोटे शहरों और कस्बों-देहातों की बात करें तो वहाँ अभी तक स्त्रियों ने सार्वजनिक जीवन में भागीदारी इतनी थोड़ी पाई है कि वे गणनीय तो हैं गणमान्य नहीं। रिज़र्व सीट के चलते अगर स्त्री जनपद सदस्य या सरपंच हो भी जाती है तो सिर्फ़ दस्तख़त करने भर के लिये। 'एस.पी.' एक बड़ा फेमस संबोधन है देहातों में जिसका एक नया अर्थ है -सरपंच पति! यानी पत्नी पद पर आसीन कठपुतली और पति उसे संचालित करने वाली सत्ता। इस तरह, जीवन के लगभग हरेक स्तर पर स्त्री अभी शोषित है, सीमित है, संघर्षरत् है तो स्त्री-लेखन में भी यही सब पहलू उजागर होते हैं। इसीलिए स्त्री लेखन में आपको अधिक विविधता दिखाई देती है। वैसे राजनीति हो या संस्कृति, जो भी आम लोकजीवन में घुलामिला है वो लेखन में तो आता ही है। कृष्णा

सोबती, मन्नू भंडारी, चित्रा मुद्गल, ममता कालिया, मैत्रेयी पुष्पा, मनीषा कुलश्रेष्ठ, गीताश्री, कविता, वंदना राग से लेकर आज की पीढ़ी में मेरी समकालीन आंकाक्षा पारे काशिव तक के लेखन में आप बदलते समय, संस्कृति और राजनीति को एक परिपक्व समझ और दृष्टिकोण के साथ पाते हैं। राजनीति पर 'महाभोज' एक शानदार उपन्यास है।

उत्तर 4 : क्योंकि अभी भी हिन्दी में स्त्री-विमर्श इतना पुराना नहीं है कि मेच्योर हो चुका हो। स्त्री के संघर्ष के इतने स्तर हैं कि अभी शिक्षा, विवाह, ससुरालवालों-पति के मालिकपन से आज़ादी, और तो और अपनी पसंद के कपड़े पहनने की आज़ादी तक के लिए स्त्री लड़ रही है। तो जहाँ संघर्ष ज़्यादा है वहाँ कहानीपन ज़्यादा है। और जहाँ कहानीपन ज़्यादा है वहाँ हमारी क़लम की ज़रूरत ज़्यादा है। तब भी जैसा कि मैंने कहा कि कम-ज़्यादा आता तो सबकुछ है हमारे लेखन में जो भी लोकजीवन में घुलामिला हो।

उत्तर 5 : एक हद तक सहमत तो हूँ लेकिन तब भी कहूँगी कि उग्र नारिवादियों की सोच है ये; क्योंकि मातृत्व स्त्री की कमज़ोरी नहीं है बल्कि उसकी ताक़त है। पुरुष ये नहीं कर सकता। ये वो प्रक्रिया है जो स्त्री को न सिर्फ़ पुरुष से श्रेष्ठ साबित करती है बल्कि उसे अपने आप में एक करुणामयी, ममतामयी, परिपक्व मानवी भी बनाती है। स्त्री की इस करुणामयी दृष्टि की ही विश्व को आज सबसे ज़्यादा ज़रूरत है। असली समस्या मातृत्व नहीं है, असली समस्या है इस अत्यन्त महत्वपूर्ण निर्णय पर हक़ न मिलना। वास्तविक जीवन में ये होता है कि स्त्री अपने ही मातृत्व पर अपने हक़ से वंचित है। कब बच्चे पैदा करना है, कितने पैदा करना है, करना है या नहीं करना है-अपनी देह से जुड़े इन अहम प्रश्नों पर निर्णय करने का हक़ स्त्री के खाते में आना चाहिये। जहाँ तक भावुक सम्मोहन की बात है, तो हाँ, पुरुष सत्ता स्त्री के अन्य गुणों/योग्यताओं के बजाय उसके 'मातृत्व' गुण पर ज़्यादा सेंट्रलाइज़्ड है और इसकी सीमा पुत्र पैदा करने तक पहुँचती है। पुत्रेष्णा पुरुष सत्ता के विस्तार का चरम है। अपनी स्त्री के लिए एक नया मालिक वो पैदा करवाना चाहता है तभी उसने मातृत्व को इतना अधिक गरिमामंडित किया है। हमारे इधर एक कुरीति है। सुदूर देहातों में कहते हैं कि सबेरे-सबेरे निपूती का मुँह नहीं देखते। (भले ही उसकी कई बेटियाँ हों, अगर बेटा नहीं है तो वो निपूती ही कहलायेगी)। देखिये, स्त्री के प्रति मातृत्व को लेकर हिंसा के कितने सूक्ष्म हथियार हैं मर्दवादी सत्ता के पास ! मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा 'गुड़िया भीतर गुड़िया' का वो प्रसंग मुझे यहाँ याद आ रहा है जिसमें उनकी तीसरी संतान भी बेटी होने पर उनके एम्स-अध्यापक पति और उन्हें अपने आसपास के लोगों से दया और सहानुभूति की दृष्टियाँ प्राप्त होती हैं; और जब मैत्रेयी अपने सुदूर गाँव जाती हैं, वहाँ भी गाँववाले उनके और उनकी तीन बेटियों के बारे में न सोचकर उनके पति के दूसरे विवाह के बारे में सोचते हैं। मेरे कहने का मकसद ये है कि एम्स जैसा ऊँचा संस्थान हो या सुदूर का कोई गाँव, स्त्री को उसके मातृत्व पर गरिमा तो सब जगह ख़ूब मिली है, हक़ कहीं नहीं मिला।

उत्तर 6 : देखिये, यहाँ दो बातें हैं। अव्वल तो ये कि ऐसा नहीं है कि स्त्री के साथ पहले यौन हिंसा नहीं होती थी। स्त्री का दमन, यौन शोषण, अत्याचार और उसे ग़ुलाम बनाये रखने की मानसिकता हमारे यहाँ पौराणिक काल से रही है। पहले भी छोटी बच्चियों के साथ यौन-अपराध होते थे, स्त्रियों के साथ बलात्कार से लेकर भीषण यौन-यातनाओं तक की घटनायें होती थीं; लेकिन पहले स्त्री होने को ही समाज एक अपराध साबित कर देता था। वह समाज में दूसरे-तीसरे दर्ज़े की नागरिक हुआ करती थी। समय और शिक्षा के साथ स्त्री की समान नागरिक के तौर पर स्वीकार्यता बढ़ी है। हिंसा इससे इतनी नहीं बढ़ी है। नपुंसक पुरुष स्त्री के प्रति सबसे अधिक हिंसक होता है। अपने व्यापक अर्थ में, ये नपुंसकता शारीरिक ही नहीं मानसिक कमतरी भी है। हारा हुआ पुरुष ही ज़्यादा हिंसक होता है। बहरहाल, बात असल में ये भी है कि मीडिया के फोकस के चलते अब ये हिंसा ज़ाहिर बहुत होने लगी है। लड़कियाँ पढ़-लिख रही हैं तो वे जागरुक हो रही हैं। शिक्षा क्या करती है-यही ना कि सबसे पहले हमें हमारे अस्तित्व का बोध कराती है। यही शुरुआती बोध, दृढ़ और विकसित आत्मसम्मान की कली है। तो, आज स्त्री के पास आत्मसम्मान है। वो पुराने समय की घरेलू स्त्री की तरह पुरुष की पालतू नहीं है और न ही मर्दसत्ता-समाज से आतंकित है इसीलिए अब यौन अपराधों की रिर्पोटें ज़्यादा दर्ज़ होती हैं थानों में।

दूसरी बात ये है कि हाँ, महिलाओं के प्रति अपराध बढ़े हैं। आज की उपभोक्तावादी संस्कृति में स्त्री को भी बाज़ार एक प्रोडक्ट की तरह प्रस्तुत करता है। अब अगर 'प्रोडक्ट' एक शब्द है तो 'इस्तेमाल' भी एक शब्द है। इन्हीं दो शब्दों से मिलकर बनती है पुरुष की वो सोच जो स्त्री के प्रति बढ़ते अपराधों के लिए उत्तरदायी है। उसे सहूलियत या बलात्, किसी भी तरह हासिल कर लेने की मानसिकता को, आधुनिकता के साथ हमारे मुल्क में आई पाश्चात्य संस्कृति के साइड इफेक्ट के तौर पर मैं मानती हूँ। सिक्के का दूसरा पहलू भी है। कुछ स्त्रियाँ भी ख़ुद को प्रोडक्ट की तरह प्रस्तुत करती हैं। साहित्य में भी मैं देखती हूँ कि कुछ लेखिकायें अपने 'स्त्री' होने को भुनाती हैं। वे कभी कहीं अपनी उम्र का ज़िक्र नहीं करतीं और उनकी सोशल साईट्स पर उनके विचार नहीं बल्कि उनकी पुरानी-नई तस्वीरों में उनकी आकर्षक मुद्रायें होती हैं। इसे भी मैं 'उपभोक्तावादी संस्कृति' का विस्तार ही मानती हूँ जबकि स्त्री स्वयं को भी एक प्रोडक्ट मान उठे और अपनी प्रज्ञा, बुद्धिमत्ता, क्राफ़्ट की योग्यता या परिश्रम पर बात करने के बजाय अपने फ़ोटोज़ का अधिक प्रदर्शन करे या अपनी उम्र छुपाये।

उत्तर 7 : ये शुरुआती दौर है सोशल मीडिया का तो थोड़ा अतिवाद दिख रहा है; लेकिन सोशल मीडिया पर कुछ सार्थक चीज़ें भी आती हैं। स्त्रियों के लिये तो मैं इसे बहुत बेहतर जगह मानती हूँ। जैसे छोटे स्कूटर-स्कूटी दुपहियों के आने से स्त्री ज़्यादा आज़ाद हुई, ऐसे ही सोशल मीडिया ने भी स्त्री की सीमित स्वतंत्रता को व्यापक किया है। आभासी ही सही, ये उनकी अपनी दुनिया है सिर्फ़ उनकी अपनी! यहाँ वे किसी संपादक की मोहताज़ नहीं है कि जो उनकी रचनाओं को छापने-न छापने का अधिकार रखता है। यहाँ वे न तो परिवार, न ही समीक्षकों-संपादकों की दबिश में हैं। यहाँ वे अपने मन की बात लिखती हैं। अपनी पंसद की तस्वीरें पोस्ट करती हैं। और अनचाहे लोगों को 'ब्लॉक' करने का भी अधिकार यहाँ उनके हाथ में है जो कि वास्तविक जीवन में अक्सर नहीं होता है। मैं अपना अनुभव आपसे साझा करूँ तो, मैं ख़ुद एक सोशल साईट ट्विटर पर हूँ। जब भी मैं कोई नया ट्वीट कर रही होती हूँ तो अपने एकाउन्ट पर सिर्फ़ मैं होती हूँ और मेरे फालोअर्स होते हैं। इतना सीधा संवाद, ऐसी पारदर्शी स्वतंत्रता किसी भी लेखक-लेखिका को आत्मविश्वास से भर देने को काफ़ी है। और आत्मविश्वास ही वो सच्ची पूंजी है जो हमारे क्राफ़्ट को सम्पन्न बनाती है।

जहाँ तक सवाल है साहित्य में सोशल मीडिया के विवादास्पद हस्तक्षेप का और इसे गंभीर लेखन से जोड़कर देखने का तो, मैं मानती हूँ कि सोशल मीडिया पर आप जिस लेखक या लेखिका से मिलते हैं वो उसका वो

स्पेस है जहाँ वो अपने 'साहित्यकार' को अपने पाठकों और अपनी साहित्यिक दुनिया के सामने प्रस्तुत करना चाहता है। राइटर यहाँ 'पर्सनल' ज़्यादा होता है। साहित्य सृजन एक बिल्कुल अलग बात है। अपनी फेसबुक वॉल पर या व्हॉटएप पर या ट्विटर पर राईटर अगर अपनी कोई रचना प्रसारित/प्रकाशित या साझा कर रहा है तो इसका मतलब ये नहीं है कि वो रचना उसने उसी सोशल साईट पर बैठकर लिखी है। सोशल नेटवर्किंग साईट्स हमारे पर्सनल स्पेस की तरह हैं हमारे व्यक्तिगत जीवनों में, और चूंकि हम लेखक हैं तो हमारा लेखन भी नज़र आयेगा ही वहाँ भी क्योंकि वह हमारे व्यक्तित्व का हिस्सा होता है।

उत्तर 8 : चुनौतीपूर्ण लगती है। दरअसल हम पुरस्कारों के लिए नहीं लिखते; गोष्ठियों, समीक्षाओं और जलसों के लिए भी नहीं लिखते; हम लिखते हैं अपने पाठकों के लिए। और पाठकों तक अच्छी रचनाओं को पहुँचने में दिक़्क़त हो सिर्फ़ इस वजह से कि कुछ प्रतिभाहीन लोग येन-केन-प्रकारेण अपनी औसत या घटिया कृतियों को चर्चित करवा लेते हैं, तो ये बात चुभती तो है मन में। कुछ लेखक जो असल में लेखक होते ही नहीं हैं, अपने प्रभावी सरकारी पद या लालफीताशाहों से रिश्तेदारी के कारण अवार्ड्स, रिवार्ड्स, विदेश यात्रायें और चर्चायें पा जाते हैं। कुछ लेखक-लेखिकायें ऐसे भी हैं जिनके पास कहने को कोई नई बात नहीं है, न ही विषयों की विविधता है तो वे पोर्न जैसी कहानियाँ लिखते हैं। कुछेक लेखिकायें स्त्री के विवाहेत्तर, अश्लील-अवैध संबंधों को ही अपनी कहानियों/उपन्यासों में बार-बार दोहराती रहती हैं और इस तरह किताबों की संख्या बढ़ाती हैं, चर्चायें पाती हैं और आम पाठक समझता है कि वे इस पीढ़ी के उल्लेखनीय लेखकों में से एक हैं; तो ये देखकर मन उदास होता है कि जो दरअसल साहित्य है ही नहीं, वो साहित्य को रिप्लेस कर रहा है! लेकिन फिर भी, मैं तो हरिवंशराय बच्चन की इस बात से पूरा इत्तेफ़ाक रखती हूँ कि 'यहाँ आदमी उठता अपनी रचनाओं के कारण है और गिरता भी अपनी रचनाओं के कारण ही है।'

तो, संघर्ष तो है; लेकिन असली साहित्य और नकली साहित्य में उतना ही संघर्ष है जितना कछुये और ख़रगोश की प्रसिद्ध कहानी में था। वो असली साहित्य जिसमें हिन्दुस्तान धड़कता है, जिसमें इस मुल्क की आवाम की आवाज़ की गूँज सुनाई देती है, उसे न नकारा जा सकता है, न अनदेखा किया जा सकता है। प्रेमचंद यदि कालजयी रचनाकार हैं तो सिर्फ़ इसीलिए क्योंकि उनकी कहानियों में असली हिन्दुस्तान हमें मिलता है। किसी भी तरह का नकलीपन, हिंसा और सेक्स या फिर भाषा का आडम्बर-उलझाव असली साहित्य का स्थान कभी नहीं ले सकता।

उत्तर 9 : जब स्त्री के जीवन में ही हास्य और विनोद नहीं है तो आप ही बताईये, वो अपने लेखन में ये झूठ कैसे रच दे? जिस समाज में वो गालियों में टारगेट होती हो, जिस समाज में उसके छोटे-से-छोटे मज़ाक या धौल-धप्पे को सीधे-सीधे उसका बदचलनी मान लिया जाता हो, बताईये मुझे, उस समाज की लेखिकायें कैसे अपने लेखन में इसे ले आयें?

उत्तर 10 : अपने दूसरे उपन्यास पर काम कर ही हूँ। एक और बड़ी रचना का ताना-बाना भी दिमाग़ में है लेकिन उस पर मुझे होमवर्क बहुत करना है अभी। और भी कुछ योजनायें हैं। अलावा इसके, और और किताबें पढ़नी हैं -बहुत सारी किताबें! n

मो. : 08109352499
ईमेल : indiradangi13@gmail.com

n भूमिका द्विवेदी अश्क

उत्तर 1 : मेरी समझ से वर्तमान समय में स्त्रियों के लिये अभिव्यक्ति के समान अवसर मौजूद हैं। वे स्वतंत्र होकर लिख रही हैं और समान रूप से प्रकाशित भी हो रही हैं। स्त्री-लेखन कई बार पुरुषों के मुद्दे भी उठा रहा है और बड़ी ही सहजता से अभिव्यक्त करने में कामयाब भी हो रहा है। लेकिन इसके साथ ही मैं ये भी कहूंगी कि, यदि साहित्य में इस प्रकार का कोई असंतुलन महसूस किया जा रहा है, तो इसका मुख्य कारण समाज में भी किसी हद तक असंतुलन का निरंतर उपस्थित होना ही है। जिसे दूर करने का प्रयास वर्तमान लेखिकायें तत्परता से पूरी तरह, जिम्मेदारी निभाते हुये कर रही हैं।

उत्तर 2 : नहीं, ऐसा नहीं है। मैं ऐसा हर्गिज नहीं समझती कि साहित्य को किसी भी खांचे में रखकर, या फिर किसी भी तरह के दायरे में बांधकर पढ़ा, लिखा और समझा जा सकता है। अनुभव की प्रामाणिकता और यथार्थ को व्यक्त करने का प्रश्न हमेशा लेखकों के सामने होगा ही चाहे वो लेखन किसी का भी क्यूं ना हो।

उत्तर 3 : मेरी समझ से हिंदी जगत की लेखिकाएं, इस भेदभावपूर्ण राज/कूट/जटिल नीतियों से हर्गिज विमुख नहीं हैं। लेकिन यदि उन विशेष मुद्दों को उठाने वाले स्त्री-लेखन को नजरअन्दाज किया जाता है, तो फिर ये भी उसी कुटिल पितृसत्ता की ही सुनियोजित चाल है और स्त्री-अस्मिता, उसके अधिकारों और बराबरी के मुद्दों के विरुद्ध भावनात्मक, शारीरिक, सामाजिक और आर्थिक स्तरों पर पितृसत्ता की जकड़न, उसकी प्रविधियों और उसके पाखंडों का पुनः स्पष्ट संकेत हैं।

साहित्य जगत में, आधुनिक स्त्री लेखन की तो बात ही क्या, मूल रूप से स्त्री-लेखन हमेशा से ही पितृसत्ता के खिलाफ ही रहा है। बात चाहे थेरि-गाथा से प्रारम्भ की जाये, या सुदूर दक्षिण भारत की आंडाल की जाये, या उत्तर भारत की मीराबाई की ही हो रही हो, या फिर ('शृंखला की कड़ियां' रचने वाली) महादेवी वर्मा ही क्यूं ना हो। हम एक विरोध, एक जकड़न से आजाद होने की छटपटाहट हर स्थान पर पाते हैं।

दरअसल, अभी स्त्री-पुरुष की आदर्श बराबरी वाला समाज केवल परिकल्पनाओं में है। जिसे यथार्थ में लाना स्त्री-लेखन-धर्म की अपरिहार्य जिम्मेदारी है। जरूरत स्त्री-लेखन को और भी ज्यादा सचेत, सतर्क और सक्रिय होने की है।

उत्तर 4 : स्त्री-हित से जुड़े व्यापक ज्वलंत प्रश्न जो राजनीति और अर्थनीति के दायरे में आते हैं वो इसलिये भी अपेक्षित स्थान हासिल नहीं कर पाते हैं, क्योंकि वो इसी समाज में मौजूद गैर-बराबरी के ही अनिवार्य अंग हैं। वे बिन्दु कोई अलहदा दुनिया या ग्रह से ना आकर इसी असमानता और असंतुलन लिये हुये समाज के हिस्से ही हैं। इन उठाये गये अत्यंत महत्वपूर्ण मुद्दों को लागू करने की बेइन्तिहां आवश्यकता है, इसमें महिला-रचनाकारों की भूमिका भी अग्रिम और अपरिहार्य है।

उत्तर 5 : इस बात का जवाब इन उदाहरणों के साथ दिया जा सकता है. सिमोन द बोऊआ और जर्मेन ग्रियेर ने भले ही बच्चे ना जने हों और अपने लेखन में पितृसत्ता को निशाना बनाया हो तो भी अपनी रचनाओं में उन्होंने कही से भी 'मदरहुड' को नकारा नही है। मातृत्व के प्रति भावुक संवेदन या सम्मोहन को बढ़ावा देना हो सकता है, मर्दवादी रुझान को प्रकट करे। लेकिन हर हाल में मातृत्व को कमतर करके आंकना एक सामाजिक अभिव्यक्ति और अनिवार्यता को नकारना ही है और कहीं ना कहीं यह स्त्रियों को पुरुषों से बढ़कर दिखाने से कोसों दूर, उन्हें कमतर करके, उनके विरोध में खड़ा कर देता है।

उत्तर 6 : यौन हमले और स्त्रियों के विरुद्ध होने वाली हिंसा की बाढ़, समाज की धुरी की एक अत्यंत जटिल समस्या की ओर इशारा करता है। इस गहन, गम्भीर और बेहद ही संगीन विषय को किसी सरल समीकरण से समझना और समझाना न तो उचित है, न ही सम्भव ही है. जरूरत इस बात की है कि इन हमलों और हिंसा को उनके समूचे सामाजिक परिदृश्य में रखकर परखा जाये, भलीभांति गूढ़ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाये और फिर कोई मजबूत हल निकाला जाये।

उत्तर 7 : सोशल मीडिया एक अति सशक्त माध्यम के रूप में उभरा है. इसने कई सारे गढ़ों और मठों को ध्वस्त भी किया है। यह भी एक कारण है कि उसके खिलाफ एक बड़ी भारी हाय-तौबा मचने लगी है। लेकिन अगर यही सोशल मीडिया कथित रूप से अराजक, औसत, क्षणभंगुर और आभासी बनता है तो क्या पलटकर गैर-सोशल मीडिया यानी हमारे अब तक के छपे हुये साहित्य के कीमती संसार पर यही आरोप बखूबी नहीं जा सकते। सोशल-मीडिया को सोशल कहते ही वो हमारे समाज का प्रतिरूप बन जाता है। फर्क इतना है कि अब उस पर किन्हीं स्वनाम-धन्य मठाधीशों, नामी-गिरामी संपादकों/आलोचकों /विचारकों की इजारेदारी नहीं है।

उत्तर 8 : कोई भी लेखक या तथाकथित साहित्य-पुरोधा खुद को चाहे जितना भुलावा और छलावा दे ले कि हम साहित्य के असल-निर्माता हैं, लेकिन सत्य यही है कि पाठक और समय ही स्तरीय-साहित्य को संजोये रखता है। बाकी सबकुछ जो 'जुगाड़-तंत्र' में ही आता है, यानी साहित्यिक परिचर्चा, गोष्ठी, जलसा, विमोचन, समीक्षा, पुरस्कार वगैरह वक्तीतौर पर तो चाहे कुछ धूम-धड़ाका मचा ले अन्ततः वो सब निरर्थक ही रहता है। वास्तव में किसी भी योग्य और नेक लेखन-धर्मी की मात्र इतनी इच्छा ही होनी चाहिये कि वह निरंतर लिखता रहे, अपने धर्म से च्युत ना होने पाये और आम जन-मानस तक पंहुचता रहे।

उत्तर 9 : हास्य और विनोद एक खास माहौल के सामाजिक -परिवेश और संरचना की मांग करता है। अगर आज के स्त्री-लेखन से ये दोनों तत्व तकरीबन गायब हैं, तो उसके मूल और जड़भूत कारण हमारी सामाजिक संरचना और इसमें व्याप्त असंतुलन में ही निहित हैं।

उत्तर 10 : आगामी लेखकीय योजनाओं के अन्तर्गत, मेरी ओर से, मेरे दो उपन्यास, एक कविता-संग्रह और कुछ विभिन्न विषयों पर केन्द्रित कहानियों पर कार्य चल रहा है। एक उपन्यास, एक कहानी-संग्रह और एक कविता-संग्रह प्रकाशकों के पास उनकी आगामी योजनाओं के तहत विचाराधीन या शायद प्रकाशनाधीन है शेष प्रभु की इच्छा। n

मो. : 09999740265
ईमेल : bhumika.jnu@gmail.com

n सीमा आजाद

उत्तर 1 : इस सवाल के पहले भाग से मैं सहमत नहीं हूँ। अभिव्यक्ति की बराबरी या आजादी महिलाओं या समाज के हाशिये पर ढकेले गये किसी भी समूह की सूची में सबसे ऊपर या अंतिम नहीं, बल्कि यह पहले पायदान पर है। किसी भी लोकतान्त्रिक देश में 'कम से कम' यह तो होना ही चाहिए। इस सूची में सबसे ऊपर है- सत्ता में बराबरी। औरतों के सन्दर्भ में इसका अर्थ है- घर से लेकर राज्य यानि सत्ता तक महिलाओं का हर चीज में बराबर का हक और मालिकाना। असली जनतान्त्रिक क्रांतियों का अंतिम उद्देश्य अभिव्यक्ति की बराबरी

नहीं, बल्कि ये ही है। इसे हासिल कर लेने के बाद अभिव्यक्ति की बराबरी की जमीन अपने आप तैयार हो जाती है, बस उसकी निराई-गुड़ाई ही बाकी रह जाती है। हर जनवादी आन्दोलन की शुरुआत ही अभिव्यक्ति की आजादी की लड़ाई से होती है। इसीलिए सत्ताएं जिसमें पितृसत्ता भी शामिल है, इस पहले पायदान पर ही दमन के लिए तैयार हो जाती है। यही वजह है कि न सिर्फ स्त्री बल्कि दलित, आदिवासी सहित तमाम शोषित जन का साहित्य अभी अपने को पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं कर पा रहा है। लेकिन फिर भी स्त्रियों ने अपनी इस लड़ाई को लड़ा है और जीता भी है। वरना 19वीं सदी की महिला साहित्यकर्मी रूकैया सखावत हुसैन को और उनके लिखे उपन्यासों को याद कीजिये, जिन्हें उस वक्त इसलिए प्रतिबन्धित कर दिया गया था, क्योंकि इनमें ऐसे खूबसूरत समाज का चित्रण था, जिसमें स्त्रियों ने हर क्षेत्र में पुरुषों की बराबरी हासिल कर ली है और अपने वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा वे समाज को आगे ले जाने में लगी हुईं हैं। उस वक्त के आलोचकों द्वारा कहा गया कि ''बच्चियों... इस उपन्यास को मत पढ़ना, छूना भी नहीं। तुम्हारी ज़िन्दगी तबाह हो जायेगी।'' आज वैसी स्थिति नहीं है, क्योंकि महिलाओं ने इसके खिलाफ संघर्ष किया है, और साहित्य में न सिर्फ आधी आबादी को अभिव्यक्त किया है, बल्कि अपना मुकाम भी बनाया है। पर यह बराबरी अभी मुक्कमिल नहीं है। आज भी कुछ पुरुष लेखक महिला लेखिकाओं को 'छिनाल' कहने से बाज नहीं आ रहे हैं। प्रगतिशीलता की खाल ओढ़े ऐसे कई सियार साहित्य की दुनिया में मौजूद हैं। अपने को साहित्य के इस सामंती माहौल से अलग कर मनचाहा रचने के लिए इनके द्वारा गढ़े गये पितृसत्तात्मक मानकों को खुद अपने अन्दर भी तोड़ना होगा और बाहर भी।

उत्तर 2 : साहित्य की दुनिया में मैंने अभी कदम ही रखा है। मुझे नहीं पता कि मेरे लेखन पर 'स्त्री लेखन' का लेबल लगेगा या कुछ और, या मेरे लेखन को नोटिस भी किया जायेगा या नहीं, मैं नहीं जानती। पर यदि इस पर 'स्त्री लेखन' का लेबल लगता है तो मुझे अच्छा नहीं लगेगा, लगेगा मेरे लेखन को बांध दिया गया है। लेकिन बात ये भी है कि साहित्य हमारे समाज का हिस्सा है, समाज की छाप है इस पर। जैसे हमारे समाज में महिला, दलित, आदिवासी और अल्पसंख्यक उपेक्षित हैं, वैसे ही ये साहित्य में भी रहे हैं। इन पर रचे गये साहित्य, जो सामाजिक वर्गीकरण के ऊपरी तबके द्वारा रचे गये हैं, वे तो फिर भी निगाह में आते रहे हैं, लेकिन खुद इस तबके द्वारा रचे गये साहित्य को नजरअन्दाज किया ही जाता रहा है। लड़-भिड़ कर आन्दोलन रच कर ये लोग अब साहित्य में भी मुखर हुए हैं और अपनी जगह बना रहे हैं। इसलिए साहित्य पर बात करते हुए हम भले ही साहित्य को खांचों में न बांटे, लेकिन जब हम यह देखेंगे कि तथाकथित मुख्य धारा के साहित्य में कितना प्रतिशत साहित्य ऐसा है जो दबे कुचले और समाज से ढकेले गये लोगों द्वारा लिखा गया है, साथ ही वे किन समस्याओं को उठा रहे हैं समाज के प्रति उनका क्या नजरिया है, साहित्यिक विकास में वे किस तरह की भूमिका निभा रहे हैं, तो हमें ये खांचे बनाने ही होंगे। और इस उद्देश्य के लिए अगर मेरे लेखन को स्त्री लेखन के खांचे में रखा जाता है तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी?

उत्तर 3-4 : मैं सवाल नम्बर 4 और 5 दोनों का उत्तर साथ ही देना चाहती हूं। यह सच है कि महिला लेखिकायें पितृसत्ता के खिलाफ लिखने में अपनी पूरी ऊर्जा लगा रही हैं। परन्तु इस पितृसत्ता को संरक्षित करने वाली एक राजनीतिक सत्ता है, जो सामंतवादी के साथ ही साम्राज्यवादी भी है। ये दोनों मिलकर स्त्री का शोषण कर रहे हैं, लेकिन इस राजनीतिक सत्ता के खिलाफ स्त्री लेखन कम है। जबकि जमीन पर इस सत्ता के खिलाफ महिलाओं के आन्दोलन बढ़े हैं। उदाहरण के लिए विस्थापन के खिलाफ होने वाले आन्दोलनों में महिलाओं की भागीदारी आधे से भी अधिक है, लेकिन साहित्य में इन्हें जगह नहीं मिल रही है। जबकि इन आन्दोलनों में शामिल होते हुए वे बहुत से सामंती और पितृसत्तात्मक मूल्यों को भी तोड़ रही हैं।

साहित्य में इनकी कम उपस्थिति की वजह ये है कि लेखिकायें खुद ऐसे वर्ग से आती हैं जहां पितृसत्तात्मक दमन अधिक 'विज़िबल' है और राजनीतिक सत्ता की इस दमन उत्पीड़न में क्या भूमिका है, वह सीधे नहीं दिखती है।

दूसरी वजह ये लगती है कि स्त्रियों के लिए जो मानक गढ़े गये हैं, उसमें केवल समाज के पित सत्तात्मक ढांचे को तोड़ने वाली स्त्री को ही प्रगतिशील माना जाता है, समाज के अन्य मुद्दों जैसे राजनीति पर बोलना उसका काम नहीं माना जाता। इसलिए ज्यादातर महिला लेखिकाओं की रचनाओं में भी औरतें केवल इसी भूमिका तक सीमित हैं। पितृसत्ता के खिलाफ लिखना बोलना जरूरी है लेकिन सिर्फ और सिर्फ पितृसत्ता के खिलाफ बोलना और लिखना भी स्त्रीपन ही है। इसे पाल-पोष कर मजबूत करने वाली राजनीतिक सत्ता के खिलाफ भी बोलना और लिखना नये समय की जरूरत है। मुक्तिबोध के शब्दों में, 'तोड़ने ही होंगे गढ़ और मठ सारे'।

उत्तर 5 : जिसे आपने पश्चिमी नारीवादियों द्वारा महसूस किया जाना बताया है, मैं भी वैसा ही महसूस करती हूं। मां बनना स्त्रियों का वैसा ही प्रकृति प्रदत्त गुण है जैसा कि पुरुषों का पिता बनना। लेकिन यह कभी नहीं कहा जाता कि 'पितृत्व एक ऐसा गुण है जो पुरुष को श्रेष्ठ कृति बनाता है।' क्योंकि ऐसा कहते ही यह मानना पड़ेगा कि बच्चे पैदा करना और पालना दोनों की ही जिम्मेदारी है। 'मातृत्व' के मोहक जाल में स्त्री के पूरे वजूद को ही कैद कर दिया जाता है। आदिम शिकार युग में विभिन्न वजहों से 'मातृत्व' एक महत्वपूर्ण काम था, वह समाज भी इसी कारण मातृप्रधान था। अपने फायदे के लिए पितृसत्ता

आज भी इस धारणा को बनाये रखना चाहती है, ताकि स्त्री इसी परिधि के भीतर रह कर ही सोचे। आज हमारा समाज जिस जगह पहुंच गया है उसमें बच्चे पैदा करना कोई महत्वपूर्ण काम नहीं है, बल्कि आप की उस कृति को सर्वश्रेष्ठ माना जायेगा, जिससे समाज को कुछ हासिल हुआ।

मजे की बात ये है कि जो लोग आज औरत के 'मातृत्व' पक्ष को ज्यादा महिमामंडित करते हैं वे ही लोग इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं होते कि आदिम समाज मातृप्रधान था, और आगे का समाज स्त्रियों और पुरुषों की बराबरी वाला होना चाहिए।

यदि कोई प्रगतिशील साहित्य लिखने का दावा करता है तो उसे ऐसी पिछड़ी हुई धारणाओं को अपनी कृति में महिमामंडित नहीं करना चाहिए।

उत्तर 6 : निश्चित ही यह चिन्ता की बात है। इस समस्या से हर तबके की स्त्री जूझ रही है और चिन्तित भी है। लेकिन यह भी सच है कि इन खबरों की अधिकता इसलिए भी है कि औरतें ऐसी हिंसा के खिलाफ मुखर हुई हैं। यह बात आश्वस्त भी करती है कि इस पर लगाम लगेगी। लेकिन चिंता की बात तो है।

महिलाओं पर व्यक्तिगत तौर पर यौन हमले के अलावा यौन हमलों को दूसरे समुदाय की महिलाओं के खिलाफ हथियार के तौर पर भी इस्तेमाल किया जा रहा है, जिसमें दोषी कभी भी पकड़ में नहीं आ पाता है। दंगों के समय अल्पसंख्यक महिलाओं पर बहुसंख्यक मर्दों के द्वारा बलात्कार, और आन्दोलन के इलाकों में पुलिस, सुरक्षा बलों, उनके संरक्षण वाली गुण्डा वाहिनियों और निजी सेनाओं द्वारा स्थानीय और आन्दोलनरत महिलाओं का बलात्कार और बर्बरतम यौन हमले आये दिन ही खबरों में आते रहते हैं। मणिपुर की थांगजिंग मनोरमा का नाम अभी भी लोगों के जेहन में है, जिसके दोि ायों को आज भी सेना का संरक्षण मिला हुआ है। कश्मीर में एक पूरा गांव ही है, जहां की अधिकांश महिलायें सुरक्षा बलों द्वारा बलत्कृत हैं, पर सरकार इस तथ्य को ही नकारती है। छत्तीसगढ़ की आदिवासी महिलाओं के साथ सेना द्वारा बलात्कार की खबरें बार-बार छिपायी जाती हैं, फिर भी ये बाहर आ ही जाती हैं। ये सारे उदाहरण मैं इस लिए दे रही हूं, ताकि स्पष्ट हो सके कि महिलाओं पर होने वाले इन हमलों के प्रति सरकारों का रुख कैसा है, क्योंकि इससे ही तय होता है कि ये हमले भविष्य में रुकेंगे या नहीं। वैसे महिलाओं पर होने वाले उत्पीड़न में सरकारी रुख क्या है ये बात उस समय भी उजागर हो गयी थी, जब 2013 में भारतीय संसद में महिला हिंसा बिल पास करने की बहस के समय हमारे सांसद इस मुद्दे पर ओछे किस्म के हंसी-मजाक कर रहे थे। इसलिए फिर मैं कहती हूं कि हर तरह के महिला उत्पीड़न से लड़ने के लिए इसे संरक्षण देने वाली इस राजनैतिक सत्ता से लड़ना भी बहुत जरूरी है।

उत्तर 7 : मैं सोशल मीडिया का इस्तेमाल बहुत ही कम करती हूं, यह मेरी सीमा है, इसलिए मेरी इस पर कोई राय नहीं बन पायी है।

उत्तर 8 : यह सही है कि बहुत सी अच्छी रचनायें पाठकों तक इसलिए नहीं पहुंच पाती हैं क्योंकि वे विमोचन, पुरस्कार, समीक्षा आदि के जुगाड़तन्त्र से नहीं गुजरती हैं। यह स्थिति निराशाजनक तो है ही। लेकिन कोई भी ऐसी स्थिति अधिक दिन तक स्थिर नहीं रहती। चूंकि आप की तरह इस बात को और भी बहुत सारे लोग महसूस कर रहें हैं, इसलिए ये स्थिति टूटेगी। साहित्य के शुभचिन्तकों और लेखकों के प्रगतिशील संगठनों का एक ये काम भी होना चाहिए कि वे ऐसे साहित्य को प्रोत्साहित करें और साहित्यिक बैठकों और गोष्ठियों द्वारा ऐसे साहित्य को पाठक तक ले जाने में अपना योगदान करें। साहित्य लिखना ही साहित्यिक कर्म नहीं है, अच्छे साहित्य को लोगों तक पहुंचाना भी महत्वपूर्ण साहित्यिक कर्म है, जिसे खास तौर पर लेखक संगठनों को करना चाहिए, लेकिन वहां भी जुगाड़ ही चलने लगा है।

उत्तर 9 : मैं इसका ठीक-ठीक जवाब नहीं सोच पा रही हूं। एक बात जो समझ में आती है वो ये कि हास्य विनोद लिखने के लिए दिमाग को बहुत सारे दबावों और संस्कारों से मुक्त होना जरूरी है जबकि स्त्री हमेशा ही बहुत तरह के दबाव में लेखन करती है। यह हमारे समाज ही त्रासदी है। ऐसे में हास्य-विनोद शैली में लेखन कैसे हो सकता है। जब समाज में उसकी बराबरी की हैसियत होगी और वह बहुत से दबावों और स्त्री संस्कारों से मुक्त होकर लेखन में उतरेगी तो हास्य-विनोद शैली में भी लिखेगी।

उत्तर 10 : अपनी अधूरी जेल डायरी को पूरा करके महिलाओं की इस दुनिया को लोगों के सामने लाना। n

मो. : 09506207222
ईमेल : seemaazad@gmail.com

पता : परिचर्चा आयोजक-सौरभ शेखर
एफ.एफ.-13 वरदान अपार्टमेंट अभय खण्ड 3 इंदिरापुरम,
गाजियाबाद-201010
मो. : 09873866653

पताः परिचर्चा सह आयोजक-शोभा मिश्रा
द्वारा संजय मिश्रा, फ्लैट न.7, टाइप 3, पुलिस स्टेशन कीर्ति
नगर नई दिल्ली-110015
मो. : 08750067070

साक्षात्कार

मेरे लिए साहित्य दोनों खेमों के बीच की जगह में बसता है

(वरिष्ठ साहित्यकार एवं संपादक अर्चना वर्मा से सुनील कुमार मिश्र की बातचीत)

प्रश्न : कविता, आलोचना, विमर्श की दुनिया में आप एक लम्बे समय से सक्रिय हैं। इस दुनिया में रहते हुए आप कैसा महसूस करती हैं?

अर्चना वर्मा : यह तो भाई शुरुआत ही ऐसे सवाल से हुई जिसका जवाब कुछ सूझ नहीं रहा। सोचा ही नही कभी कि यहाँ रहते हुए मैं कैसा महसूस करती हूँ। लेकिन अब पूछ ही लिया है तो सोचना शुरू करती हूँ और तुमको बताने के साथ खुद भी समझने की कोशिश करती हूँ।

देखती हूँ कि प्रायः स्त्रियों के एक एक मिनट पर कब्जा हुआ करता है, पारिवारिक जिम्मेदारियों का, उन्हें 'स्त्रियोचित कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों' के हिसाब से ढाला भी यू जाता है के वे इस कब्जे को स्वीकार करके चलती हैं, फिर भी वक्त अगर अपने लिये बच रहता हो तो उनके वजूद पर भी कब्जा हुआ करता है, उसे हर वक्त अपना समर्पण प्रमाणित करना पड़ता है। सोचने समझने पढ़ने लिखने वाली स्त्री खतरनाक होती है। उस पर किस्म-किस्म के प्रतिबन्ध लागू किये जाते हैं। मुझे उस किस्म के बाधा-बन्धन से लड़ने का मौका कभी मिला नहीं, अतः अपने लिये इस आविष्कार का भी नहीं कि यह दुनिया मेरे लिये कितनी जरूरी है और उसमें रहने के लिये मैं कितनी दूर तक लड़ने या क्या-क्या छोड़ने को तैयार हूँ।

कई बार कहने के लिये भी ऐसी कुछ जरूरी बातें होती है किसी रचनाकार के पास और उनको कहने का दबाव इतना प्रबल होता है कि इस दुनिया में रहने की एक भीतरी अनिवार्यता सी महसूस होती है। मुझे नहीं लगता कि ऐसी कोई जरूरी बात मेरे पास है या उसे जरूर-जरूर कह डालने का ऐसा कोई दबाव जिसकी वजह से किसी को रचनाकार बनना पड़ता है। यानी मेरा यहाँ मौजूद होना किसी बाहरी दबाव के ख़िलाफ विद्रोह या भीतरी दबाव की अनिवार्यता की वजह से नहीं जिसमें एक बना बनाया मकसद मिल जाता है। वह अपने होने का सहज विस्तार है। क्या कहूँ कि साँस लेने में कैसा लगता है। बस है, इसलिये आनन्दमय है। यह तो हुई मेरे यहाँ रहने की बात।

दूसरी बात, यह दुनिया माने कौन सी दुनिया? उस दुनिया का एक मतलब तो शायद साहित्यिक बिरादरी, यहाँ के लोग, उनके दल बदल, उनके दाँव-पेंच, उठा-पटक। वह स्कैण्डलों, अफवाहों, कानाफूँसियों, ईर्ष्याओं, निन्दा- पुराणों की दुनिया है। मेरे पास भी उसका कोई न कोई हिस्सा सूचना-समाचार के रूप में मित्रों के जरिये पहुँचता रहता है। सच कहूँ तो इसमें मजा भी आता है। सबसे बड़ा टॉनिक निन्दा-रस। लेकिन सुनने में शायद अजीब लगे, क्योंकि पता नहीं कैसे, मेरे आस-पास कोई न कोई विवाद घिर ही आता है, लेकिन सच यही हे कि ज्यादातर वक्त मैं उस दुनिया में नहीं रहती हूँ। चर्चा, पर्चा, गोष्ठियाँ, बैठकें भी बहुत कम। बहुत छोटा सा दायरा है मित्रों, परिचितों का, मेरे अपने परिवार के लोग भी हैं किसी न किसी विधा या माध्यम में रचना में व्यस्त, लेकिन फिर भी ज्यादातर साहित्यिक बिरादरी से मेरा परिचय छपे हुए नामों और उनकी रचनाओं के रूप में ही है। अक्सर तो उनकी प्रतिबद्धताओं वगैरह के बारे में भी मालूम बाद में चलता है, विवाद या झगड़ा पहले खड़ा हो जाता है। इस दुनिया का दूसरा मतलब और बिल्कुल निजीतौर पर इस दुनिया में रहने का मेरा अनुभव शब्दों और विचारों की दुनिया में रहने का अनुभव

है, अपने कमरे में, अपनी मेज पर, अपने कम्प्यूटर पर, कभी-कभी तो ऐसे अहसास के साथ भी कि इस कमरे के बाहर कहीं कुछ नहीं है, कोई नहीं है। और वहाँ रहना वाकई मुझे बहुत प्रिय है।

प्रश्न : रचनात्मक जगत से आपके जुड़ाव की अन्तर्कथा क्या है?

अर्चना वर्मा : कुछ बातें बिना किसी कथा या अन्तर्कथा के भी, अपने आप हुआ करती हैं। स्कूल, कॉलेज की पत्रिकाओं में छिटपुट से छपना शुरू, सीनियर कक्षाओं में पहुँचने पर छात्र-सम्पादक के तौर पर चुन लिया जाना, फिर इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से एम.ए. के दौरान, वहाँ की विभागीय साहित्यिक संस्था की बैठकों में कविता वगैरह का पाठ, वहाँ विभाग में एक केशनी प्रसाद चौरसिया थे, उन्होंने एक पत्रिका निकाली थी, अब तो अड़तालीस-पचास बरस बाद, ठीक से उसका नाम भी याद नहीं..शायद प्रतिमान या परिकथा या शायद परिकल्पना, परि से शुरू होता कोई नाम था, उसमें एक रचना उन्होंने छापी थी तब उसका नाम था 'रेंगता हुआ शहर'। अब उस रूप में वह कहानी कहीं बाकी नहीं। उसका थोड़ा बहुत पुनर्लेखन भी हुआ था पर उसका किस्सा बाद में।

फिर एक दिन एम. ए. की परीक्षा के बाद गर्मी की छुट्टियों में एक कहानी लिखना और धर्मयुग को भेज देना, फिर कई महीनों तक वहाँ से कोई उत्तर न आना लेकिन अचानक एकदिन धर्मवीर भारती के हाथों खुद लिखे हुए पत्र से कहानी की स्वीकृति की सूचना मिलना, फिर देखना कि वह कहानी...बीते हुए, उस वर्ष के दीपावली विशेषांक में कथाजगत में एक नये रचनाकार के प्रवेश के स्वागत के तौर पर खासी धूमधाम से प्रकाशित हुई है सब कुछ अनायास- बगैर किसी खास मेहनत-मशक्कत के घटता चला गया। आपका शब्द इस्तेमाल करूँ तो अन्तर्कथा-बिना किसी अन्तर्कथा जैसी चीज के। यह सन 1966 की बात है।

वह पहली कहानी भेजने से लेकर छपने तक के बीच मैं मिराण्डा-हाउस में पढ़ाना शुरू कर चुकी थी। धर्मयुग तब पढ़ने लिखने वाले हर घर में पाई जाने वाली पत्रिका हुआ करती थी। यूनिवर्सिटी भर में पहचान ली गयी। लेकिन फिर पता नहीं, शायद मेरे अपने स्वभाव की ही कोई बनत, क्यों ऐसा हुआ कि ऐसी शुरुआत का कोई सोचा-समझा लाभ मैंने नहीं लिया। लिख सकती हूँ, यह आविष्कार तो हुआ, जब जब छपा तब तब हमेशा, उचित प्रतिक्रिया भी निश्चय ही मिली, अच्छा भी लगा। लेकिन बस।

तो उसके बाद साल भर बीत गया। धर्मवीर भारती ने पत्र लिख कर पूछा था कि मैं क्या कर रही हूँ, उसके बाद कहाँ क्या लिखा, छपा, कहीं कुछ देखा नहीं। कुछ किया ही नहीं था तो देखते क्या! अगली कहानी उनकी फर्माइश पर लिखी गयी-उसी 'रेंगता हुआ शहर' का पुनर्लेखन जिसका जिक्र ऊपर किया है। इस नये रूप में उसका नाम 'ब्रेक' था। फिर उसके बाद उसमें कुछ संशोधन परिवर्द्धन हुआ था। फिर वह काफी समय तक गुम पड़ी रही। फिर वह काफी साल बाद पीले पड़ गये चुरमुरे कागजों पर मेरी माँ के कागजों में मिली थी और मेरे पहले संकलन में शामिल की गयी थी। अब उसका नाम 'डोर का पिछला सिरा' है। अपनी पहली कहानी मैं उसको ही कहना पसन्द करती हूँ, हालाँकि छपने के क्रम में 'बीते हुए' पहली है।

ऐसा ही कुछ हाल कविताओं का भी रहा। रुकते चलते लिखी जाती रहीं लेकिन किसी भीतरी मजबूरी से नहीं। मैं शायद इस बात का उदाहरण हूँ कि रोक या प्रतिरोध न हो तो उछाल भी नहीं होता, धारा अपने रास्ते बहती रहती है चुपचाप।

मिराण्डा हाउस में मन्नू भण्डारी मेरी सीनियर कोलीग थीं। उनसे बहुत स्नेह मिला। बहुत। उनके घर पर नामवर, कमलेश्वर, निर्मला जैन से मुलाकात होती थी कभी कभी। कमलेश्वर की नियुक्ति सारिका में हुई तो कहानी भेजने के लिये उन्होंने भी कहलवाया था। तो अगली कहानी 'अब और नहीं' सारिका के लिये लिखी गयी। चार साल में ये तीन कहानियाँ।

फिर दिनमान में समीक्षा लिखनी शुरू की थी। उसकी शुरुआत को चाहें तो अन्तर्कथा कह सकते हैं। यह सन 1976 या 77 की बात है। मेरी मित्र प्रभा दीक्षित 'दिनमान' की बहुत महत्त्वपूर्ण और नियमित लेखिका थीं, सम्पादक तब रघुवीर सहाय थे, कई बार वे अपने सम्पादकीय विचार विकसित करते समय उनके साथ विमर्श भी किया करते थे। उन्होंने रमेशचन्द्र शाह का पहला उपन्यास 'गोबर गणेश' समीक्षा के लिये प्रभा जी को दिया था। 'दिनमान' का समीक्षा-स्तम्भ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के जिम्मे था और रघुवीर सहाय को आशंका थी कि वे उस समय के अपने ठेठ चौखटाबद्ध वामपंथी रुझान के चलते कहीं उपन्यास का मलीदा न बना दें। प्रभा का अपना अनुशासन इतिहास है हालाँकि उनके लेखन में समाजशास्त्र, राजनीति की भी गहरी समझ का घोलमेल रहता है। ये वो वाली प्रभा दीक्षित नहीं हैं जो आजकल बहुत लिख और छप रही हैं। यह उन दूसरी प्रभा दीक्षित के लेखन पर कोई टिप्पणी नहीं है, वे भी अच्छा लिखती हैं। मैं सिर्फ यह बता रही हूँ कि दोनों अलग-अलग हैं। नाम से भ्रम हो जाता है। तो प्रभा ने साहित्य को लेकर अपनी मजबूरी बताते हुए उनको मेरा नाम सुझा दिया। वह पहली ही समीक्षा थी लेकिन उसके बाद सर्वेश्वर जी ने दिनमान में नियमित रूप से लिखवाना शुरू कर दिया। यूँ मैं बाकायदा आलोचक पाई गयी। कहानियाँ कविताएँ भी लिखती रहती थी कभी कभार, लेकिन मेरे लिखने पर फरमाइश और 'डेड-लाइन' का दबाव बहुत काम करता है और अगर आप एक बार आलोचक की तरह पहचान लिये गये तो वह दबाव आपके ऊपर आलोचनात्मक लेखन के लिये सम्पादकों द्वारा जिस तरह बनाया जाता है, उस तरह से रचनात्मक लेखन के लिये नहीं। इसलिये एक बार आलोचनात्मक लेखन शुरू कर देने के बाद विकल्प अपने आप विरल हो जाते हैं। अब तो अगर मैं सम्पादक महोदय से कहानी कविता जैसा कुछ देने की इच्छा प्रकट भी करूँ तो सुनने को मिलता है, आप से तो आलेख ही चाहिये, कविता कहानी तो कहीं न कहीं से मिल ही जायेंगी।

प्रश्न : क्या साहित्य ने दुनिया के मिजाज को बदलने में कुछ भूमिका निभाई है?

अर्चना वर्मा : साहित्य के सन्दर्भ में भी अगर दुनिया का मिजाज 'बदलने' का मतलब वही समझा जाय जो किस्म किस्म की तकनालॉजी के विकास, वैश्वीकरण या ऐसे ही किसी खूबसूरत नाम के साम्राज्यवादी विस्तार और पूँजी के गठबन्धन से होता है या फिर तयशुदा वर्गबद्ध समाज, उगते हुए सूरज और तनी हुई मुट्ठियों के समापन वाले

तयशुदा विषयों, तयशुदा संरचनाओं का साहित्य लिख कर मान लिया जाता है कि उसने दुनिया बदली तो मान लेना होगा, नहीं। साहित्य इस तरह दुनिया का मिजाज बदलने में कोई भूमिका नहीं निभाता। जिसे हम वस्तुगत दुनिया का भौतिक यथार्थ कहते हैं वह साहित्य से नहीं बदलता। लेकिन लम्बाई चौड़ाई मात्रा और भार की नाप तौल के अलावा क्या हम जानते हैं कि वस्तुगत दुनिया और उसका भौतिक यथार्थ क्या होता है? लेकिन जिस दुनिया में हम 'रहते' हैं, उसे हम जिस तरह जानते और पहचानते हैं, उसको भाषा न सिर्फ अभिव्यक्त करती है, बल्कि गढ़ती भी है। दुनिया का हमारा 'बोध' और 'अनुभव' ही वास्तव में हमारी दुनिया होता है, भाषा उस 'बोध' और 'अनुभव' की कर्ता है। दुनिया के मिजाज को बदलने में साहित्य की भूमिका मेरी समझ में इस तरह आती है कि अगर मैं एक ऐसी दुनिया की कल्पना करूँ जहाँ साहित्य है ही नहीं, उसका रत्ती भर नामो निशान नहीं तो जिस मिजाज की दुनिया में मैं मौजूद होऊँगी उसके मुकाबले उस दुनिया में मौजूद होना जिस दुनिया में साहित्य है, जहाँ साहित्य के जरिये दुनिया के बोध...तरह तरह के बोध...गढ़े और मिटाये जाते हैं, अर्थात परस्पर संवाद विवाद करते हैं और एक दूसरे का आख्यान और प्रत्याख्यान करते हैं, इसलिये अन्तिम रूप से न गढ़े न मिटाये जाते हैं, एक बदले हुए मिजाज की, और निरन्तर बदलते हुए मिजाज की दुनिया में मौजूद होना होगा, और उसे बदलने में साहित्य की भूमिका होगी।

प्रश्न : साहित्य में कलावादियों मार्क्सवादियों के अपने अपने खेमे हैं। आप इस खेमेबन्दी को किस रूप में देखती हैं?

अर्चना वर्मा : मेरे लिये साहित्य दोनो खेमों के बीच की जगह में बसता है। और बीच की जगह को मध्यम-मार्ग का पर्याय न समझें। मेरे लिये दोनों ही एक दूसरे की हद का विस्तार है। और इस विस्तार की कोई हद नहीं है। यानी बीच की हद इतनी लचीली कोई चीज है कि रचनाकार उसे अपनी रचनात्मक जरूरत के हिसाब से चाहे इस सिरे या फिर चाहे उस सिरे के अन्त तक खींचता ले जा सकता है और अत्यन्त बना सकता है। दोनो की ही कुछ बातें स्वीकृत हैं, दोनों से ही कुछ बातों में बहस है।

प्रश्न : पिछले दिनों साहित्य में कई विवाद चले। ज्ञानोदय-विवाद, अनामिका और पवन करण की कविताओं में यौनिकता को लेकर, और कमलेश के समास में दिये वक्तव्य को लेकर। इन प्रसंगों को अपने भी निकट से देखा और महसूस किया है। इन विवादों की धूल यद्यपि अब थम चुकी है फिर भी इस सन्दर्भ को पीछे मुड़कर किस रूप में देखती हैं?

अर्चना वर्मा : कृष्ण बलदेव वैद के दिल्ली-हिन्दी-अकादमी पुरस्कार-प्रेसंग को आप भूल गये। हाँ, इन विवादों में कहीं कम, कहीं ज्यादा, मैं बाहर से या भीतर से शामिल रही। धूल तो अखाड़े में उड़ती ही है। फिर बैठ भी जाती है। लेकिन वाद-विवाद, अगर नीयत सही हो तो, मेरे ख्याल से स्वास्थ्य-वर्धक चीज है। टॉनिक। दिमाग सतर्क होता है, वैचारिक ऊर्जा उत्पन्न होती है, मुद्दे साफ होते हैं। 'नीयत सही हो' से मेरा मतलब यह है कि मुद्दों के पक्ष-विपक्ष पर बहस केन्द्रित की जाय। होता अक्सर यह है कि पक्षधरताएँ पहले से तय होती हैं और बहस के नाम पर ऐसे तर्क खोज लाने की प्रतिबद्धता, या कहें, एक मानसिक मजबूरी सी होती है, जिससे विपक्ष को ध्वस्त किया जा सके, अक्सर तो बिना यह सुने या समझे हुए कि उस तरफ से कहा क्या जा रहा है। मामला अक्सर व्यक्तिगत हमले का भी बना दिया जाता है। कई बार ऐसा भी होता है कि एक पक्ष तो सवालों से उलझने और मुद्दों से जूझने में लगा रहता है और दूसरा पक्ष व्यक्तिगत हमले करने में। जिन विवादों की बात आप कर रहे हैं उनमें इन सभी स्थितियों के उदाहरण हैं। स्थिति चाहे जो हो, जीवन्तता और ऊर्जा तो हर हाल में पैदा होती है। माहौल गरम होता है। जड़ता टूटती है। मजा तो आता है।

इन प्रसंगों के साथ मेरी निकटता और भागीदारी किसी न किसी सवाल या मुद्दे से जोड़ कर ही रही। कृष्ण बलदेव वैद के प्रसंग में साहित्य में श्लील-अश्लील का प्रश्न, ज्ञानोदय विवाद में स्त्री-विमर्श के महोत्सव, कमलेश-समास प्रसंग में असहमति और विवाद की संस्कृति इत्यादि मुद्दे उठाते हुए व्यक्तिगत प्रहार में मेरी रुचि है नहीं। एक अनामिका के अलावा इन लोगों के साथ मेरा आमने सामने का परिचय भी बहस में कूद पड़ने के बाद ही हुआ। शायद यह मेरी मूर्खता ही हो, कि मुद्दों के सामने और अन्याय के अहसास से, कोई परिचित हो या अपरिचित, मैं खुद को कूद पड़ने से रोक नहीं पाती। शहर के अन्देशे में काजी जी वाला हाल है। पवन करण और अनामिका की कविताओं पर पोर्नोग्राफी का आरोप-प्रसंग में बहस सबसे ज्यादा लम्बी चली। कविता पढ़ने के वैकल्पिक तरीके, पोर्नोग्राफी का मतलब, कैंसर जैसे रोग के प्रति रचनात्मक रवैया, नैतिकता के भी प्रश्नों इत्यादि कई मुद्दे उठे। साहित्य के विद्यार्थियों ने उस बहस को बहुत चाव से पढ़ा, उसे विमर्श की संस्कृति के उदाहरण की तरह देखा, उसे पुस्तकाकार निकालने की फर्माइश भी की लेकिन दुर्भाग्यवश मूल आलेख को छापने की अनुमति उसकी लेखिका शालिनी जी ने नहीं दी इसलिये ऐसा हो नहीं सका।

प्रश्न : आपने कविताएँ भी लिखीं, कहानियाँ भी, आलोचना में आपकी गति काबिले गौर है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, राजेन्द्र यादव-मन्नू विवाद पर भी आपने कलम चलाई है। दोनों को निकट से गौर से देखा समझा है। आज राजेन्द्र जी नहीं हैं। एक इन्सान के रूप में, एक लेखक के रूप में आपको आज उनके व्यक्तित्व की क्या खूबियाँ खामियाँ नजर आती हैं?

अर्चना वर्मा : राजेन्द्र यादव और मन्नू जी पर कलम चलाई है अलग अलग। उनके विवाद पर नहीं। ऐसे रिश्तों को जानना और समझना एक पेचीदा काम है। एक लेखक और इन्सान के रूप में राजेन्द्र जी के बारे में कुछ कहना भी आसान नहीं है। एक इण्टरव्यू के जवाब जितनी छोटी सी जगह में तो बिल्कुल नहीं। मुझे न्यायाधीश के आसन पर बैठने और फैसला सुनाने का अभ्यास नहीं है। स्वभाव भी नहीं वैसा। हिन्दी के ज्यादा लेखकों को मैं नहीं जानती लेकिन जिनको जानती हूँ उनमें राजेन्द्र यादव ही ऐसे हैं जिसे लेखक के व्यक्तित्व का 'टेक्स्टबुक' उदाहरण कहा जा सकता है। मन्नू जी के सन्दर्भ में वे अक्सर अपनी गैरजिम्मेदारियों के बचाव में उस भयानक जिम्मेदारी का जिक्र करते थे जिसे रचनात्मक प्रतिबद्धता कहते हैं और जो किसी और

के प्रति जिम्मेदारी को बर्दाश्त नहीं करती। और इस तर्क का कवच ओढ़ते हुए शायद याद नहीं रखते थे कि मन्नू जी भी उतनी ही बड़ी लेखक ही हैं।

राजेन्द्र जी की खूबियाँ खामियाँ एक इन्सान के रूप में और एक लेखक के रूप में अलग अलग करके देखना भी मुश्किल ही है। अपनी लेखकीय प्रतिबद्धता को अपना कवच बना लेने के बाद वे इन्सान के रूप में भी कभी यह भूलते नहीं थे कि वे लेखक हैं।

उनकी दैहिक सीमाएँ भी उनके लिये मजबूरियाँ पैदा करती थीं। बहुत सी बातों में वे दूसरों पर निर्भर होने के लिये विवश थे। दूसरों से काम निकालने की मजबूरी थी इसके प्रतिदान में वे दूसरों के काम भी आना चाहते थे। उनका काम भी क्योंकि लेखन और बाद में सम्पादन का पर्याय था, कोई व्यक्तिगत लाभ जैसी चीज, कम से कम उनके अपने दिमाग मे तो नहीं ही रहती होगी, इसलिये उसके साथ लक्ष्य के लिये समर्पण जैसा कोई भाव जुड़ जाता रहा होगा। लेकिन यह भी है कि जिसको किसी व्यक्तिगत लाभ के लिये प्रतिदान देना चाहते थे, उसको लिखने का मौका और लेखन की दुनिया में कोई हैसियत दिलवाना चाहते थे। शायद यही करना उनके बस में रहा होगा।

ऐसे भी बहुत से दोस्त उनको मिले जो निःस्वार्थ भाव से उनसे जुड़े और जुड़े रहना भी चाहते थे लेकिन जिनके काम आये बिना भी जिनसे कुछ मिलते रहने का आश्वासन हो उनके लिये किसी प्रतिदान की जरूरत उनको महसूस नहीं होती थी। मेरे खयाल से उनके निकट आने वाले किसी भी व्यक्ति को यह कभी न कभी जरूर महसूस हुआ होगा कि उसको फॉर ग्राण्टेड लिया जा रहा है। उनकी तरफ से कहा जा सकता है कि शायद यही उनके लिये निकटता का प्रमाण, और कसौटी भी, रही होगी कि बिना किसी प्रतिदान की आशा के उन्होंने किससे कितना पाया। कुछ बेरहमी के साथ शायद कहा जा सकता है कि वसूला। कि वे 'यूज ऐण्ड ड्रॉप' के मास्टर थे। जो अपनी सेवाओं के बदले उनसे कुछ वसूल सके वे लाभ में रहे।

जिन्होंने निःस्वार्थ सेवा की महज, राजेन्द्र जी ने कृपापूर्वक उनकी निःस्वार्थता को प्रमाणित किया। राजेन्द्र जी की तरफ से और अपनी तसल्ली के लिये वे शायद ऐसा सोच सकते हैं कि अगर प्रतिदान मिला होता तो उनके निःस्वार्थ दान में स्वार्थ का रंग घुलकर उन्हें छोटा बना गया होता। राजेन्द्र जी ने उनसे उऋण होना नहीं चाहा, उनके आभारी ही बने रहे। शायद। यह सिर्फ एक संभावित टीका है। सच चाहे जो हो, यथार्थ तो यही है कि उनको बदले में कुछ भी नहीं मिला, शायद निकटता का आश्वासन भी नहीं मिला। या शायद कुछ मिला ही हो अमूर्त, और उसका मोल वे ही जानते हों जिन्होंने पाया। ये गोल-मोल किस्म की छायावादी सी बातें शायद खुद राजेन्द्र जी के ही गले न उतरतीं। मन्नू जी ने बेशक सबसे विकट मोल चुकाया और राजेन्द्र जी सिद्धान्ततः परिवार की संस्था और पारिवारिक सम्बन्धों के दबावों को रचनाकार के लिये घातक मानते हुए भी जब तक सम्भव हुआ, मन्नू जी के बूते पर परिवार के आश्वासन और सुरक्षा का पूरा पूरा लाभ लेने में चूके नहीं।

लेकिन उनके बारे में इतना ही कहना 'कुल' कहना नहीं है। उनमें कोई बात थी जो लोगों में उनके प्रति जिम्मेदारी का भाव जगाती थी। और लोग स्वेच्छा से आगे बढ़ कर कुछ करना भी चाहते थे। अपनी इन हदों के लिये सजग होते ही वे उनका अतिक्रमण करने की कोशिश भी करने लगते थे। लेकिन वह अतिक्रमण उनके अपने व्यक्तित्व में भले कुछ जोड़ता रहा हो, आहत लोगों के लिये मुआवजा नहीं बन सकता था। उसका लाभ बाद में उनके सम्पर्क में आने वालों को मिलता रहा होगा। अजब पेचीदा घालमेल था जिसके बारे में यही कहा जा सकता है कि कहना मुश्किल है।

यहाँ ये बातें राजेन्द्र जी के बारे में कही जा रही है लेकिन दुनिया भर के बड़े बड़े लेखकों के व्यक्तिगत जीवन की कहानी अपने बुनियादी खाके में यही रही है। दुनिया के लिये उनका दाय बचा रहता है, वही अन्ततः महत्त्वपूर्ण भी रह जाता है, लेकिन निकट सम्बन्धों, दायित्वों के स्तर पर उनको 'अनफिट फॉर ह्यूमन कन्जम्प्शन' कहा जा सकता है या फिर 'डेन्जरस', 'हैण्डिल विद केयर'। अपने भीतर के लेखक के लिये समर्पण व्यक्ति के स्तर पर उनको अनुभव संचय का यंत्र बना देता है। अनुभव संचय के लिये निकला हुआ व्यक्ति भावना के स्तर पर किसी एक के लिये समर्पित नहीं रहने पाता। वह खुद भी इसका मोल चुकाता ही है। इस अर्थ में कि हर सम्बन्ध का छूटते जाना, अकेले होना उसकी नियति है, शक्ति भी और अभिशाप भी। राजेन्द्र जी ने पीछे मुड़ कर देखते हुए एकबार यूँ कहा था, रेल के एक डिब्बे में संयोगवश बैठ गये लोगों का साथ है। जब जिसका स्टेशन आया, उतर गया।

और युवा लेखकों से उनका लगाव, उनकी प्रतिभा को पोसने की ललक और उत्सुकता, उनके साथ उनका दोस्ताना, लोकतांत्रिक व्यवहार...यह सबकुछ तो जानीमानी बातें हैं, सम्पादकों के समूह से अलग उनको अनूठा बनाती हुई।

प्रश्न : हिन्दी के दिग्गजों महारथियों की राजधानी बन गयी है दिल्ली। कई कई सत्ताकेन्द्रों का समवाय है यह। इस परिदृश्य में राजेन्द्र यादव जी अब नहीं हैं। रवीन्द्र कालिया सेवा निवृत्त हो गये हैं। ऐसी स्थिति में दिल्ली में शेष बचे सत्ताकेन्द्रों की स्थिति क्या है?

अर्चना वर्मा : पिछले अट्ठाइस तीस वर्षों से किसी न किसी पत्रिका से मैं जुड़ी जरूर रही हूँ, बाइस साल 'हंस' के साथ, फिर 'कथादेश' के साथ लेकिन आपके इस सवाल का जवाब देने की हैसियत में मैं हूँ नहीं। 'हंस' जैसे साहित्यिक सत्ता केन्द्र के भीतर मौजूद रहते हुए भी उसके सत्तापक्ष से मैं न केवल दूर रही हूँ, इस विषय में कोई रुचि भी नहीं रखती। इस मामले में मेरी जानकारी न कुछ के बराबर है। असल में तो इस बात का अहसास 'हंस' में रहते हुए कुछ बदली हुई परिस्थितियों में मुझे करवाया गया कि खुद मुझे ही एक छोटा मोटा सत्ता केन्द्र समझा और जड़ों से उखाड़ना जरूरी पाया जा रहा है। मुझे खुद इसका कोई इल्म नहीं था, मुगालता तो दूर की बात है। मुझे एक मिनट नहीं लगा अपनी जड़ें, अगर कोई रही हों तो, वहाँ से समेट लेने और अलग हट जाने में। हालाँकि उसके बाद भी राजेन्द्र जी कई महीनों तक सम्पादन सहयोग के तौर पर 'हंस' में मेरा नाम देते ही रहे। पता नहीं क्यों। या तो जो उनकी ख्याति थी, मित्रों को छोड़ने और मित्रताओं को तोड़ने की, और ऐसी हर टूट के बाद हिन्दी जगत में खोजी पत्रकारिता और अफवाहों का एक दौर चलता था, उससे बचना

चाहते रहे होंगे या फिर सचमुच उनको उम्मीद रही होगी कि मैं वापस लौटूँगी। फिर दो दो बड़ी पत्रिकाओं में अर्चना वर्मा के एकसाथ जमकर बैठे होने की 'चालाकी' और 'बेईमानी' के प्रतिरोध में कानाफूँसी शुरू हुई और मुझ तक पहुँचाई भी जाने लगी जबकि 'हंस' मे मेरा नाम सिर्फ उस तरह मौजूद था जैसे सरकारी दफ्तर में बाबू कुर्सी की पीठ पर अपना कोट टाँग कर हाजिरी दर्ज करता है लेकिन खुद गैर हाजिर रहता है। उसमें भी मेरा लेना देना कुछ नहीं था, सिर्फ राजेन्द्र जी की जिद से। लेकिन थी तो वह एक पावर-पोजीशन, भले ही उसका इस्तेमाल न किया जा रहा हो। तो आखिरकार राजेन्द्र जी से मुझे कहना पड़ा, अब मुझे विदा दीजिये वरना 'कथादेश' में मुझे खुद लिखना पड़ेगा कि मैं 'हंस' में गैरहाजिर हूँ। उस बार के सम्पादकीय में उन्होंने दी भी विदा।

सत्ता का चक्कर बुरा है। आखिरी दिनों में शायद राजेन्द्र जी को भी वहाँ ऐसा ही महसूस करवाया जा रहा था जबकि जो कुछ भी वहाँ था, उनके ही 'दम का जहूरा' था। उसके बावजूद। आयु और स्वास्थ्य के साथ उनकी निर्भरता और विवशताएँ बढ़ गयी थीं और उनको महसूस भी करवाई जा रही थीं। सत्ता-वत्ता क्या, हास्यास्पद सा एक मुगालता है, महज मुगालता और हर वक्त के दाँव-पेंच। मेरा नशा कोई और है। वह हाथ के काम में तन्मयता से मिलता है। उसकी मस्ती का कोई मुकाबला नहीं।

'कथादेश' से जुड़ना बिल्कुल अलग किस्म का अनुभव है। हरिनारायण जी के सम्पादन में सहयोग देना हदों को बेहद करने का अनुभव है। 'हंस' के बाइस साल अब पीछे मुड़ कर देखते हुए ऐसे लगते हैं जैसा अपनी किसी कविता में एक अलग सन्दर्भ में मैंने कहा है, 'नींव की ईटों को मलबा कहा जाता है।' लेकिन मैं जो कर रही थी उसके अलावा कुछ और मुझे न करना न कुछ और पाना था इसलिये वे दिन भी मस्ती की ही तरह याद आते हैं, किसी अफसोस की तरह नहीं।

प्रश्न : हिन्दी के पब्लिक स्फियर में कौन सा लेखक है जो आज राजेन्द्र यादव की जगह ले सके?

अर्चना वर्मा : यहाँ शायद प्रासंगिक होगा यह जिक्र कि भाषा पर अधिकार और अभिव्यक्ति की क्षमता से लेखक बहुत से लोग बनते हैं लेकिन उनको भावतत्त्व या सब्स्टेन्स की नजर से दो कोटियों में बाँटा जा सकता है। पहली कोटि के लेखक हमारी जानी पहचानी दुनिया के दायरों को थोड़ा फैलाते, थोड़ा लचीला बनाते, बदलाव के लिये जगह बनाते हैं लेकिन उसी हद तक जितने के भीतर दुनिया का जाना-पहचानापन गुम नहीं होता। वह हमारी आश्वस्ति के दायरे के भीतर की दुनिया है। हमको लगता है कि लेखक हमारे ही मन की बात कह रहा है। दूसरी कोटि के लेखक फैलाने और लचीला बनाने की बजाय सीधे तोड़-फोड़ पर उतर आते हैं। वे बुनियाद को ही ढहाना चाहते हैं क्योंकि उनकी नजर में बुनियाद में ही अन्याय है। उनकी कल्पना में बदलाव की जो तस्वीर है वह सारी हदों के पार, वहाँ तक जाती है जहाँ तक भाषा ले जा सकती है। जानी पहचानी संस्थाओं, मूल्यों, विचारों, नैतिकताओं सबको ध्वस्त करती हुई। वह असुरक्षा की दुनिया है, लेखक के लिये भी पाठक के लिये भी। आपके ऊपरवाले सवाल से जोड़कर इशारा कर दूँ कि मन्नू भण्डारी पहली कोटि की और राजेन्द्र यादव दूसरी कोटि के लेखक हैं। मैं ये कोटियाँ लेखक के भाव-तत्त्व या सब्स्टेन्स के वर्गीकरण के हिसाब से कह रही हूँ, लेखन के स्तर के निर्णय से नहीं। दोनों ही अपनी अपनी कोटि के आला दर्जे के लेखक हैं। दूसरी कोटि के लेखक के लिये स्थापित मूल्यों-मान्यताओं की कोई पात्रता नहीं होती। उसको वहाँ अन्याय दिखाई देता है, जो बहुत बार संस्थाओं के रूढ़ और परिपाटीबद्ध हो जाने की वजह से सचमुच होता भी है और उन पर प्रहार की वजह से विवादग्रस्त होना उसकी नियति है, शायद वही उसकी उपलब्धि और पुरस्कार भी।

एक स्थापित पत्रिका का सम्पादक होना साहित्य के पब्लिक-स्फियर में एक पॉवर-पोजिशन है। उससे ताकत मिलती है, हिम्मत भी, जोखिम उठाने की। 'हंस' के सम्पादकीय उसकी साहित्य जगत में अप्रतिम स्थिति के मूल में रहे हैं। वे राजेन्द्र जी को एक पब्लिक इण्टेलेक्चुअल की हैसियत देते हैं। अन्य जिन सत्ताकेन्द्रों की बात आपने की है, रवीन्द्र कालिया के बाद 'ज्ञानोदय' में लीलाधर मँडलोई आये हैं, अभी शुरुआत ही है, अभी कोई पॉवर-डिस्कोर्स जैसी बात दिखायी तो नहीं दी। अंकों की योजना में भी एक मौलिकता है। आगे की अभी प्रतीक्षा है। पब्लिक स्फियर में उनकी जगह क्या बनेगी, देखना बाकी है। दूसरी पत्रिकाओं में एक 'पाखी' है जिसके सम्पादकीयों में एक बेचैनी और आविष्कार की इच्छा, एक गहराई दिखाई देती है लेकिन विवाद की जिद नहीं। विवाद के लिये विवाद बहुत बार उद्देश्य को पराजित भी करता है। इस मामले में राजेन्द्र जी 'यूनीक' थे। लेकिन प्रेम भारद्वाज में संभावना है। राजेन्द्र जी को भी अपने अलावा प्रेम के ही सम्पादकीय पसन्द आते थे। ऐसा उन्होंने अपने किसी सम्पादकीय में कहा भी था। लेकिन मुझे नहीं लगता कि कोई दरअस्ल किसी की जगह ले सकता है। जिसे बनानी है वह अपनी जगह बनाये, वही बेहतर है।

प्रश्न : आप हंस से एक लम्बे अर्से से जुड़ी रही हैं। अब कथादेश में। दोनों पत्रिकाओं में एक तरह का बहनापा है। क्या कथादेश का लोकतंत्र हंस के लोकतंत्र से ज्यादा उदार और राइटर-फ्रेण्डली है?

अर्चना वर्मा : दोनों पत्रिकाओं में अगर वाकई कोई बहनापा आपको दिखाई देता है तो कॉमन फैक्टर शायद यही होगा कि पहले हरिनारायण जी और उसके थोड़ा बाद तक मैं भी 'हंस' में भी मौजूद थे और अब 'कथादेश' में भी हम दोनों ही मौजूद हैं। बाकी मुझे लगता है कि 'हंस' को अब एक किस्म के साहित्यिक ऐक्टिविज्म की तरह 'विमर्शों' की पत्रिका के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। 'कथादेश' में भी बजरंग की देखरेख में एक दलित-विमर्श का स्तम्भ लगभग नियमित रूप से मौजूद रहता है, स्त्री-विमर्श का भी एक स्तम्भ नियमित रूप से सुधा अरोड़ा की देख-रेख में बरसों चला और उनके अलग हो जाने के बाद अमूमन नियमित रूप से अब भी चलता ही है लेकिन हंस की तुलना में इन स्तम्भों का बल और रुझान विमर्श और विवाद से अधिक रचनात्मक गम्भीरता या फिर अकादमिक विश्लेषण पर रहता आया है। साहित्यजगत में दोनों के 'नीश' अलग अलग परिभाषित देखे जा सकते हैं। कथादेश के लोकतंत्र और हंस के लोकतंत्र की तुलना मेरे लिये तो मुश्किल ही है।

'हंस' को आखिरी सहयोग मैने राजेन्द्र जी के रहते आखिरी वार्षिकोत्सव पर 'देहरी-दीप' के सम्पादन से दिया था। दिखायी तो यही

दिया कि मेरा लोकतंत्र हंस को रास नहीं आया और सम्पादक जी ने अपने हस्तक्षेप और पक्षपात से मेरे चुनावों में फेर-बदल किया और इस बात पर ध्यान दिये बिना किया कि मेरा चुनाव एक कॉन्सेप्ट के अनुरूप था और उनके हस्तक्षेप से कॉन्सेप्ट का सत्यानाश हो रहा है। पचीसवें वर्ष पर लम्बी कहानियों के संकलन के साथ भी यही हुआ था। मेरे लिये फिर वही केन्द्र में कॉन्सेप्ट ताकि निष्पक्ष चुनाव हो सके जबकि मुकाबले में यारों-दोस्तों के नामों की सूची जिन्हें अनुग्रहीत किया जाना था, कुछ उनके कुछ औरों के। लोकतांत्रिक होने का मतलब मेरे लिये अद-बद कर निष्पक्ष होना है हालाँकि निष्पक्षता की वजह से आप उन लाभों से वंचित रह जाते हैं जो अनुग्रह के परिणामस्वरूप मिलते हैं। लेकिन अब उनकी पत्रिका, उनका अख्तियार। तो जैसा कहा, कथादेश के लोकतंत्र और हंस के लोकतंत्र की तुलना मेरे लिये तो मुश्किल ही है। वह फैसला पाठक और लेखक ही करें तो बेहतर।

प्रश्न : मिराण्डा हाउस में आपने लम्बे अरसे तक हिन्दी पढ़ाई है। आज विद्यार्थियों में हिन्दी के अध्ययन को लेकर उत्साह में कमी आई है। इसके क्या कारण हैं?

अर्चना वर्मा : हिन्दी के अध्ययन को लेकर आज ही नहीं, सदा से ही उत्साह में कमी ही रही है। उत्साह के साथ हिन्दी के अध्ययन का चुनाव करने वाले कोई इक्का-दुक्का, बिरले ही होंगे अन्यथा आखिरी विकल्प की तरह हिन्दी का चुनाव किया जाता है। आधुनिक भारत में अंग्रेजी सत्तासीनता के बाद अखिल भारतीय स्तर पर संस्कृत और फारसी अपदस्थ हुईं और स्थानीय स्तरों पर अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषाएँ। उनमें न तो रोजगार की कोई संभावनाएँ हैं और न सामाजिक स्तर पर वह कोई हैसियत या सम्मान देती है।

लेकिन हिन्दी का अध्ययन अध्यापन सिर्फ हिन्दी साहित्य का अध्ययन अध्यापन नहीं है, नहीं होना चाहिये। हिन्दी अन्य विषयों के अध्ययन अध्यापन का माध्यम भी है। और विचार का और विमर्श का साधन भी। इन सभी स्तरों पर भाषा पर अधिकार एक जरूरी योग्यता है जिससे परिणाम का स्तर बदल जाता है। विषयों और शास्त्रों के साथ परिचय और ज्ञान का भी रूप और स्तर बदल जाता है। उस दिशा में सही प्रयास होने अभी बाकी ही हैं। दुनिया भर में अब सिद्ध और स्थापित रूप से स्वीकृत सी है यह बात कि भाषा पर व्यक्ति के अधिकार का गहरा प्रभाव उसके द्वारा ज्ञान के सृजन, ग्रहण और अभिव्यक्ति पर पड़ता है और केवल साहित्य ही नहीं बल्कि शास्त्र और विज्ञान को भी सहजग्राह्य, सुलभ और रोचक बनाता है और कुल मिलाकर किसी समाज के समूचे ज्ञान-भण्डार और विज्ञ सामाजिकों के स्तर में इजाफा करता है।

प्रश्न : हिन्दी का अध्ययन अध्यापन आज भी गतानुगतिक किस्म का है। लोग व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की ओर जा रहे हैं। अध्यापक भी अपने समय के साहित्य से उतने प्रतिकृत नहीं लगते। इसका व्यावसायिक ग्राफ भी अपर्याप्तता का पर्याय है। ऐसे में आगे चल कर हिन्दी के अध्ययन अध यापन का क्या भविष्य होने वाला है?

अर्चना वर्मा : राजेन्द्र जी के साथ काम करते हुए उनके मुँह से हिन्दी के अध्यापकों की ऐसी मिट्टी-पलीद होते हुए देखी-सुनी है कि मत पूछो। लेकिन दुर्भाग्यवश उनसे सहमत होने की मजबूरी है, अगर उन मुट्ठी भर लोगों को छोड़ दिया जाय तो और इस सचाई के बावजूद कि हिन्दी साहित्य में जितने भी नाम लेने लायक विचारक और चिन्तक हुए हैं वे लगभग सभी अध्यापक रहे हैं। अपने समय के साहित्य की बात कहें तो, अब तो फिर भी गनीमत है, विमर्श के नाम पर नये नये भी रचनाकार पाठ्यक्रम में पहुँचाये जा रहे हैं वरना जब मैं एम.ए. कर रही थी तब तक सामान्यतः अपने समय के साहित्य की बारी तो पाठयक्रम में कम से कम तीस या पचास साल बाद आया करती थी जब कोई रचनाकार प्रमाणित, सिद्ध और स्थापित हो चुकता था। अज्ञेय भी तब तक कोर्स में नहीं पहुँचे थे, छायावाद पर ही पाठयक्रम खत्म हो जाता था। और अध्यापक पाठ्यक्रम के बाहर कहाँ जाता है?

भविष्यवाणी तो खासा मुश्किल काम है और भविष्यवक्ता मैं हूँ भी नहीं। इस बात का जवाब ऊपर वाले प्रश्न के जवाब से जोड़ के पढ़ें। माध्यम के रूप में हिन्दी का भविष्य अभी निकट भविष्य में तो खतरे में नहीं दिखता।

प्रश्न : नयी पीढ़ी के कथाकारों के बारे में आप क्या कहना चाहेंगी? खासकर आपके समय के कथाकार और आज के कथाकार को आप कैसे कम्पेयर करेंगी?

अर्चना वर्मा : नयी पीढ़ी के कथाकारों को बहुत विधिपूर्वक सूची बनाकर एक एक को पूरा पूरा तो पढ़ा नहीं है लेकिन सम्पादन के सिलसिले में प्रकाशन के लिये विचारार्थ आई हुई कहानियों से गुजरते हुए जो इम्प्रेशन बना है उसके हिसाब से लगता है कि वे एक अलग समय और अलग संसार की पैदाइश है और एक बहुत तोड़-फोड़ से भरे खूँखार समय का सामना कर रहे हैं। यह अवसरों और संभावनाओं का समय भी है मूल्यों, संस्थाओं, सुरक्षाओं के ध्वंस का भी। और वही यथार्थ वे दर्ज करने की युक्तियाँ भी निकाल रहे हैं, उसी को दर्ज भी कर रहे हैं। अब तक एक अच्छी खासी परिपक्व पीढ़ी तैयार खड़ी हो चुकी है। मेरे समय के कथाकार की बात करूँ तो हमारी वरिष्ठ पीढ़ी के कथाकार नयी कहानी वाले लोग थे। उस वक्त भी बड़ी हलचल का समय रहा होगा, आजादी के फौरन बाद की पहली युवा पीढ़ी। हमारा लोक जब औद्योगीकरण के विस्तार से गुजरते हुए ग्राम-समाज से शहरी-समाज में बदलने का, विस्थापन का पहला हमला झेल रहा था। तब कहानी का पाठ गाँव की कहानी और शहर की कहानी जैसे बँटवारे के साथ किया जाने लगा था। पब्लिक-स्फियर में औरत का प्रवेश, प्रेम और दाम्पत्य की टूट-फूट, पारिवारिक समीकरणों का ध्वंस जैसी तथाकथित शहरी कथावस्तुओं की दिशा में प्रस्थान हुआ। जब मैं एम. ए. की छात्र थी, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के हिन्दी विभाग के कॉरिडोर्स में हमसे थोड़ा पहले ही पास करके निकली हुई पीढ़ी के ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह के उदाहरण दिये जाते थे। हमारी यूनिवर्सिटी का हिन्दी विभाग तब सृजन की फैक्टरी हुआ करता था। उस पीढ़ी के अन्य लेखकों में रवीन्द्र कालिया, गिरिराज किशोर, विजयमोहन सिंह, महेन्द्र भल्ला, से.रा.यात्री। कहानी में यथार्थबोध के बदलाव की बात थी। तब भी ऐसी ही थी आलोचकों की हाय-तोबा। नयी कहानी के लेखकों,

राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश और कमलेश्वर की तीन तिलंगे नाम से मशहूर त्रयी ने खुद ही आलोचना का भी मोर्चा सँभाला और अपने अभिप्राय समझाये। मुझे याद आता है कि संगमन के एक कार्यक्रम में युवतर पीढ़ी को सम्बोधित करते हुए से.रा. यात्री ने कहा था, राजेन्द्र यादव की पीढ़ी से सबक लो। इन लोगों ने खुद अपनी कहानी को समझाने का काम किया और हम लोगों को भी ऐसा समझाया कि ये तो ये, इनके बाद हम लोग भी इनकी कहानी को ही समझाने का काम करते रह गये, अपनी को समझाना भूल गये। अब भी हालात कमोबेश यही हैं। उसके बाद किसी पीढ़ी ने खुद अपनी रचना को समझाने का काम अमूमन नहीं किया। काश किया होता। समझाने के क्रम में खुद को भी समझ में आता है कि हम दर-अस्ल करना क्या चाहते हैं, या क्या कर रहे हैं।

प्रश्न : मौजूदा कथा परिदृश्य कैसा है? जो नया लिखा जा रहा है उसे आप किस रूप में देखती हैं? क्या ऐसा नहीं लगता कि हमारी नयी पीढ़ी बहुत जल्दी में है?

अर्चना वर्मा : कथा का मौजूदा परिदृश्य बहुत हलचल, बहुत गहमागहमी से भरा हुआ है। जो नया लिखा जा रहा है उसके जरिये नयी पीढ़ी की जद्दोजहद, बदला हुआ यथार्थ, जीवन-शैली का जायजा लेने की कोशिश कर रही हूँ। रचना-शैली में नये नये प्रयोग, नयी संरचनाएँ भी नजर आ रही हैं। विमर्शों के माध्यम से यथार्थ अधिक विभाजित, अधिक परिभाषित, अधिक स्पष्ट और ठोस बन कर प्रकट हुआ है। हिन्दी के सामान्य मध्यवर्गीय पाठक की मनोवृत्ति को धक्का देने और झकझोरने वाला यथार्थ। कम से कम पैतीस चालीस कथाकारों के नाम तो गिनाये ही जा सकते हैं जो इस बीच उभर कर आये हैं और कमोबेश स्थापित माने जा सकते हैं। योगिता यादव, इन्दिरा दांगी, सोनाली सिंह, सोनी सिंह, गौरव सोलंकी, राजीव कुमार, उमाशंकर चौधरी, गीत चतुर्वेदी, प्रत्यक्षा, कविता, पंखुरी सिन्हा, चंदन पाण्डेय, अल्पना मिश्र, मनीषा कुलश्रेष्ठ, जयश्री रॉय, अनिल यादव, दिनेश कर्नाटक, पंकज सुबीर, गौरीनाथ, राकेश बिहारी, नीलाक्षी सिंह, आकांक्षा पारे, गीताश्री, अनुज, रणविजय सिंह सत्यकेतु, विवेक मिश्र, अजय नावरिया, रणेन्द्र, पंकज मित्र, कुणाल सिंह, और भी बहुत से नाम जरूर छूट रहे होंगे, मेरी दुर्बल स्मृति का दोष मानकर क्षमा करें।

नयी पीढ़ी बहुत जल्दी में है, शायद, पर किस बात की जल्दी में? एक पक्ष तो बाजार का मामला है। हिन्दी की उपेक्षा का रोना गाना हम करते रहते हैं लेकिन फिलहाल हिन्दी का बाजार बड़ा है, बढ़ा है और बढ़ता ही जा रहा है। पत्र-पत्रिकाएँ बहुत सारी हैं, बाजार का मामला डिमाण्ड और सप्लाई का होता है और गुणवत्ता जितनी महत्त्वपूर्ण है उतनी ही डिलीवरी ऑन टाइम भी। बल्कि शायद ज्यादा ही। संभावनापूर्ण कहानियों के बारे में हंस के जमाने में भी लेखक से विचार-विमर्श किया जाता था। लेखक सुनते और गंभीरता से लेते थे। अब भी कथादेश में वैसा ही किया जाता है। ऐसे लेखक अब भी हैं भी जो सुनते और गंभीरता से लेते हैं लेकिन उनकी गिनती ज्यादा बड़ी है जो नहीं सुनते और बाद में किंचित गर्व और विजयीभाव के साथ बताते हैं कि देखिये, आप ने ऐसा कहा था लेकिन वहाँ तो जैसी की तैसी छप भी गयी। तो डिमाण्ड इतनी है कि जरा सी भी ठीक ठाक हो सप्लाई तो खप ही जायेगी।

जल्दी का दूसरा पक्ष यह है कि आज समय की संरचना बदल गयी है। फिलहाल जीवन की गति ही तेज, बहुत तेज हो चुकी है। सर्वाइवल ऑफ द फिटेस्ट का मुहावरा सर्वाइवल ऑफ द फास्टेस्ट का पर्याय बन गया है। कृषिकाल के ग्राम-समाज के मुकाबले औद्योगीकरण-काल के शहरी-समाज के समय की संरचना तीव्रतर हुई थी। आज के समय की संरचना तो संचार-काल की है। घण्टों का तो सवाल ही नहीं, मिनट और सेकेण्ड में, उसके भी शतांश में समय की नाप होती है। ज़्यादातर लेखक पूर्णकालिक रचना-व्यवसाय में नहीं हैं। उनके पास बार बार दुहराने माँजने घिसने का समय भी नहीं। रचना का समय उनके लिये चुराया हुआ समय है। एक बार जो कलम से निकल छूटा वह निकल ही छूटा। उसी मनःस्थिति को फिर पकड़ना, उसी में बने रहना, वाकई शायद जरा भारी असाइनमेण्ट है, नहीं होता। जो जल्दी में नहीं रहा, उसका पीछे छूट जाना तय है। तो नये लेखक भी करें तो क्या करें?

प्रश्न : रवीन्द्र कालिया, ज्ञानरंजन और राजेन्द्र यादव के बारे में ये कहा जाता है कि ये तीनों कथा की नयी पीढ़ी के शिल्पकार हैं। इन तीनों के अवदान को आप कैसे देखती हैं?

अर्चना वर्मा : तीनों के पास एक एक महत्त्वपूर्ण पत्रिका रही है, तीनों पत्रिकाओं का अपना अपना स्वभाव रहा है और इसमें कोई शक नहीं कि नये लेखकों की रचनाशीलता को ढालने का काम उनके समय की महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं के द्वारा होता है। बड़े और स्थापित लेखकों को पत्रिकाएँ माँग कर छापती हैं, नये लेखकों को अभी स्वीकृति पाने के लिये छपना जरूरी होता है। कच्ची और उदीयमान स्थिति में सम्पादक किन्हीं अंशों में साक्षात अवतार जैसा प्रतीत होता है, गुरु का काम भी करता है, उसके पास एक पॉवर-पोजीशन होती है। इसलिये नयी पीढ़ी को गढ़ने का श्रेय उसका होता है। 'पहल' वैचारिक प्रतिबद्धता की रचनात्मक परिणति का अनूठा उदाहरण है। 'तद्भव' इस कोटि की दूसरी महत्त्वपूर्ण पत्रिका है। लेखकों के चुनाव में भी यह प्रतिबद्धता आड़े आती है या नहीं, कह नहीं सकती। 'ज्ञानोदय' एक खुले मंच की तरह जानी जाती तो रही है लेकिन सुनती हूँ कि रवीन्द्र कालिया जी के समय में लेखकों का एक विशेष निश्चित ग्रूप ही उसके साथ जुड़ा रहा है। सुना है, निश्चित पता नहीं। अगर विशेष वैचारिक प्रतिबद्धता की शर्त नहीं तो किन कारणों से, यह भी पता नहीं। 'हंस' के बारे में निश्चित रूप से मालूम है कि राजेन्द्र जी नये लेखकों को बहुत प्रोत्साहित करते, अपने विचार के अनुकूल उनको ढालते थे और इससे रचनात्मकता की एक खास दिशा का माहौल बनता था।

प्रश्न : क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि आज की कहानियों से जहाँ किस्सागोई गायब हो रही है, वहाँ संवेदनाओं का भी क्षरण हुआ है? आज की अधिकतर कहानी सूचनाओं के आधार पर लिखी जा रही है। इस बारे में आपका क्या सोचना है?

अर्चना वर्मा : नहीं, ऐसा तो नहीं। रचना के तरह-तरह के स्वभाव होते हैं। किस्सागोई वाली भी होती है और अमूर्तन वाली भी। गीत चतुर्वेदी, गौरव सोलंकी, और चन्दन पाण्डे भी, क्या गजब किस्सागोई है। प्रत्यक्षा में उतना ही गजब अमूर्तन भी। नाम और भी हैं, इस समय यही याद आये। संवेदना के आकार और संरचनाएँ जरूर

बदल गयी हैं, क्षरण तो मैं नहीं कहूँगी। सूचनाओं के आधार पर कहानियाँ लिखी जा रही हैं तो ताज्जुब की क्या बात है, सूचनाओं के विस्फोट का युग है। और सूचना हो या समाचार, कौन-कौन सी सामग्री किस रासायनिक प्रक्रिया से गुजर कर संवेदना में ढल जाती है, इसका लेखा-जोखा असंभव ही है। फिर किसी समय के रचनात्मक परिदृश्य का बड़ा हिस्सा तो साधारण, औसत रचनाओं से ही निर्मित होता है। उसके जरिये पूरे समय की रचनात्मकता को परिभाषित कर देना मुझको सही नहीं जान पड़ता। अन्ततः तो छन कर बच रहने वाली रचनाओं से ही समय की पहचान बनती और नामकरण होता है।

प्रश्न : क्या रचनात्मक लेखन के लिये किसी विचारधारा से प्रतिबद्ध होना जरूरी है? कोरे अनुभवों के आधार पर क्या रचनात्मक लेखन सम्भव नहीं है?

अर्चना वर्मा : विचारधारा से प्रतिबद्धता तो नहीं कहूँगी लेकिन वैचारिकी तो जरूर, जो रचना की तह में अस्तर की तरह मौजूद होती है लेकिन अदृश्य। रचनात्मक लेखन सम्भव तो कोरे अनुभव के आधार पर भी हो सकता है लेकिन स्वयं अनुभव शायद कोरा अनुभव नहीं हो सकता। हमारी मानसिक प्रक्रियाएँ एक दूसरे में इस कदर अनुस्यूत होती हैं कि अनुभव कहाँ खत्म होता है, विचार कहाँ शुरू, यह तय करना असम्भव है। विचार अनुभव को परिप्रेक्ष्य देता है, घटनाक्रम को अनुक्रम देता है, चरित्र को प्रवृत्ति और रुझान देता है, प्रभाव की अन्विति की दिशा तय करता है। लेकिन विचार के भीतर हम प्रायः एक खास अर्थ का निवेश करते हैं। ये बातें उसके बाहर हैं तो विचार का वह अर्थ भी अन्ततः हो सकता है, या शायद नहीं भी, जो विचार के नाम से हम प्रायः समझते हैं, और जिसे हम विचारधारा कहते हैं और जिससे अपनी पक्षधरता तय करते हैं। दोनों में अन्तर करने के लिये अब विचारधारा और वैचारिकी इन शब्दों का इस्तेमाल किया जा सकता है। मतलब जिसे कोरा अनुभव कहा जाता है वह भी वास्तव में विचारविहीन नहीं होता।

प्रश्न : क्या आप बतायेंगी कि प्रेमचंद की परम्परा क्या है और इस परम्परा के कथाकारों में किन-किन को शुमार किया जा सकता है?

अर्चना वर्मा : प्रेमचंद ने स्वयं तो जैनेन्द्र को अपना सम्पादकीय उत्तराधिकारी चुना था और भुवनेश्वर को खुद बहुत चाव के साथ छापा और प्रशंसा का भागी भी बनाया था जिसके निष्कर्ष की तरह समझा जा सकता है कि स्वयं प्रेमचंद के लिये उनकी परम्परा क्या हो सकती थी या क्या हुई होती। 'कफन' और 'पूस की रात' जैसी उनकी बाद की कहानियाँ भी उस दिशा का संकेत करती ही हैं। राजेन्द्र यादव ने अपनी पत्रिका के लिये 'हंस' नाम रजिस्टर कराके प्रेमचंद के उत्तराधिकार का दावा किया ही था। लेकिन हिन्दी कथा-आलोचना में प्रेमचंद की परम्परा की तरह जिसे प्रायः पहचाना और पुकारा जाता है वह आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद की कहानी है। नाक की सीध में चलने वाले टेक्स्टबुक-वाम-वैचारिकता के कथाकार उस परम्परा के उत्तराधिकार का दावा रखते हैं। बहुत व्यवस्थित सूची तो यूँ ऑफ-हैण्ड नहीं गिना पाऊँगी, लेकिन परम्परा के नाम से मैं जो समझती हूँ, यानी परस्पर विरोधी भी प्रवृत्तियाँ उत्तराधिकार के रूप में घुलमिल कर एक हो जाती हैं और अगली पीढ़ी के हाथों एक संयुक्त, समन्वित परम्परा की तरह अर्जित होती हैं उसके हिसाब से प्रेमचंद के बाद के सारे साहित्य के पास उत्तराधिकार में उनकी परम्परा का कोई न कोई अंश मौजूद है।

प्रश्न : जिस तरह का कथालेखन हमारे यहाँ हो रहा है उसके लिये कथालोचना की हमारी जो पारम्परिक कसौटी है, क्या वह कारगर है या उसके लिये नया कुछ गढ़ने की जरूरत है?

अर्चना वर्मा : अगर हम नये को महज विदेशी प्रभाव या नकल या मूल्यहीन या अनैतिक कह कर उससे आँख बचा लेना या रफा-दफा कर देना चाहें तो उस किस्म की आलोचना तो पारम्परिक कसौटी भी कर ही देगी। लेकिन उससे न तो रचना रुकेगी न यथार्थ बदलेगा। शायद प्रतिक्रिया और प्रतिरोध में अतिरंजित और असन्तुलित होता जायेगा। कुल मसला उस अवधि का होगा जिसके साथ पारम्परिक कसौटी वाली हमारी पीढ़ी बीत जायेगी और नयी रचना के अनुकूल नयी आलोचना भी आविष्कृत होगी। बेशक उसकी जरूरत है और जरूरत है तो पूरी भी की ही जायेगी। मेरी जानकारी पूरी तो नहीं लेकिन नजर पड़े का आभास है कि हो भी रही है। रोहिणी अग्रवाल, संजीव कुमार, जितेन्द्र श्रीवास्तव, प्रियम अंकित, विनोद तिवारी, वैभव सिंह, पल्लव, राहुल सिंह, राकेश बिहारी, पंकज पराशर, अमिताभ राय, विभास वर्मा, बलवन्त कौर कुछ और भी नाम जो छूट रहे होंगे...नयी कथा के आलोचकों की भी एक पीढ़ी तैयार हो रही है।

प्रश्न : अभी कुछ दिनों पहले जो शालिनी माथुर व अन्य के बीच विवाद हुआ, जिसकी एक सामान्य समझ मेरे दिमाग में यह बनी कि शालिनी माथुर एक तरफ स्त्रियों की बहुत ही ढकी-तुपी, कोमल और शालीन और दूसरी तरफ अनामिका उसे इतना कोमल और शालीन नहीं मानतीं या उसे इस तरह बनाने के पक्ष में नहीं हैं। आपसे जानना चाहता हूँ, नेचर ऑफ फेमिनिनिटी क्या है?

अर्चना वर्मा : स्त्री-विमर्श, अब जो लैंगिकता-विमर्श में विकसित हो चुका है, आज भी हमारे साहित्य और समाज में इसी किस्म के विवादों में बार-बार उलझता-सुलझता, ऊब-डूब करता रहता है। कई बार अपरिचय की वजह से, कई बार असहिष्णुता की वजह से आक्रामकता का शिकार भी होता है। बुनियादी बहस तो है ही इसी बात से कि स्त्री होती नहीं, बनाई जाती है क्योंकि जन्म लेते ही उस पर 'नेचर ऑफ फेमिनिनिटी' की बनी बनायी अवधारणा थोप दी जाती है और भूमिकाएँ तय कर दी जाती हैं। तो 'नेचर ऑफ फेमिनिनिटी' कायदे से केवल एक देहपिण्ड है क्योंकि नेचर ने तो वही बनाया है। बाकी सब समाज और इतिहास की गढ़न्त है। तो शालिनी माथुर की स्त्री से लेकर अनामिका की स्त्री और इन दोनों सिरों के पहले, पीछे और बीच के पूरे फैलाव में एक पूरी रेन्ज है जिसे किसी परिभाषा में समेटा नहीं जा सकता।

प्रश्न : महिला कथालेखन की आलोचना की प्रविधियाँ तो विकसित हुईं पर स्त्री कविता-लेखन पर अभी उतना ठीक से काम नहीं हुआ है, इसके क्या कारण हो सकते हैं?

अर्चना वर्मा : महिला कथालेखन में अगर केवल कथालेखन की बजाय महिला के कथालेखन को अलग से रेखांकित किया जा रहा

(शेष पृष्ठ 117 पर)

साक्षात्कार

गुलामी का अहसास जिस दिन हो जाता है, मुक्ति की जंग भी तभी से छिड़ जाती है :

(प्रख्यात कथाकार एवं उपन्यासकार मैत्रेयी पुष्पा से स्वीटी यादव की बातचीत)

समानता, न्याय, आजादी, अधिकार, अस्तित्व और आत्मनिर्भरता जैसे मूल्यों को गढ़ती मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा 'कस्तूरी कुंडल बसै' और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' अपने वर्तमान सन्दर्भों के कारण आज भी प्रासंगिक है। मैत्रेयी की लड़ाई समाज से नहीं बल्कि उन नियमों, मूल्यों से है जो उसे चैन से जीने नहीं देते हैं। मैत्रेयी पुष्पा की यह आत्मकथा ऐसे ही फतवों का निषेध करती है। बुंदेलखंड जहाँ आज भी स्त्री शिक्षा को उतनी महत्ता प्रदान नहीं की जाती, जितनी कि पुरुष शिक्षा को। खिल्ली गाँव में पलने-बढ़ने वाली मैत्रेयी न केवल शिक्षा बल्कि राजनीति को भी स्त्री के अधिकारों में शामिल कर देती है। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा ड्राईंगरूमी फैशन के बरक्स ग्रामीण स्त्री की कथा है। ऐसी स्त्री जो शहर में रम ही नहीं पाती। यह आत्मकथा मेरी अपनी धरती बुंदेलखंड से निकली हुई कथा है। बुंदेलखंड की जिस धरती से मैत्रेयी आयी हैं, उसी से मैं भी हूँ। आत्मकथा पढ़ते समय पात्रों, स्थानों से मेरा परिचय स्वतः होता गया। पढ़ते हुए लगा जैसे मैं अपने गाँव, घर की कथा पढ़ रही हूँ। ऐसा क्या है, मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा में जिसके कारण समाज और साहित्य में एक नया विमर्श खड़ा हो जाता है? अपनी ही माँ को सारी असलियतों के साथ उतारना और अपने ही पति को कठघरे में खड़ा करना समाज तो क्या साहित्य के लिए भी नया है। यह सच है कि कुछ नया कहना अभिव्यक्ति के खतरों से कम नहीं, लेकिन समाज के मिजाज की परवाह न कर लेखिका अनगिनत रुढ़ियों से मुक्त होकर एक नया आदर्श खड़ा करती है। प्रस्तुत है बदलाव की लालसा लिए समाज और साहित्य के बाजार में खड़ी **मैत्रेयी पुष्पा** से **स्वीटी यादव** की लंबी बातचीत के प्रमुख अंश-

प्रश्न : स्त्री विमर्श के संदर्भ में आत्मकथा की आवश्यकता को आप कैसे देखती हैं?

उत्तर : आत्मकथा महज कथा-कहानी नहीं होती। यह एक व्यक्ति की ऐसी जीवन्त आख्यायिका होती है, जिससे अन्य व्यक्तियों की जिंदगी भी जुड़ी होती है। अपने रूप में जिंदा सच, जिसका कि हम विश्वास करते जाते हैं। कहानी, उपन्यास भले ही वास्तविक स्थितियों या पात्रों को गहराई के साथ रूपायित करें, मगर कहीं-न-कहीं पाठक के मन में उसकी कल्पनात्मक प्रस्तुति का भाव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से बना रहता है।

स्त्री की आत्मकथा, स्त्री विमर्श के लिए ऐसा दस्तावेज होता है जिसकी कसौटी पर हम नारी जीवन के नागरिक रूप को कस सकते हैं, उसके मनुष्यगत अधिकारों का लेखा-जोखा अपने अनुपात के साथ निकलकर आता है और सामाजिक स्थितियों का पर्दाफाश होता है, क्योंकि अब तक ज्यादातर सच्चाइयों पर मौन का रेशमी आवरण चढ़ा रहा है।

प्रश्न : आपके उपन्यासों में आपकी अपनी बातें क्या अभिव्यक्त नहीं हो सकीं कि आपने आत्मकथा लिखने का निर्णय लिया?

उत्तर : उपन्यास में भी लगभग वे ही बातें आती हैं, जो मनुष्य के जीवन में घटित होती हैं, लेकिन उन स्थितियों के संकट और संघर्ष कहीं न कहीं आदर्शवाद की ओर खींच लिए जाते हैं, क्योंकि उपन्यास से पाठक भी किसी सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की उम्मीद करते हैं और लेखक अपनी इच्छानुसार इसमें जोड़-बाकी कर सकता है। आत्मकथा में ऐसा कुछ भी लेखक के हाथ में नहीं होता, जिसको बदलने का अधिकार उसे दिया जाता हो। आदर्श जिंदगी भी गजालत और नीचता के दलदल में धँसी दिखाई देती है। सत्पुरुष के जीवन में कितने ही कुकृत्य अपना दखल रखते हैं। यह नायक और नायिका की कहानी नहीं होती, कमजोरियों और साहस से बने मनुष्य की आपबीती होती है। निश्चित ही मेरी आत्मकथा, मेरे उपन्यासों से भिन्न है।

प्रश्न : चूँकि आत्मकथा में भी अन्ततः कथा ही है, इसलिए इसमें भी कथा का तत्त्व आ ही जाता है। मेरे पूछने का आशय यह है कि आपकी आत्मकथा के दोनों खण्डों में कितना प्रतिशत आत्म है और कितनी प्रतिशत कथा?

उत्तर : चेखव ने कहा है कि वे किसी भी चीज को विषय बनाकर कहानी लिख सकते हैं। दवात यानि, रौशनाई की शीशी पर कथा लिखना उनके लिए उतना ही आसान है, जितना किसी पात्र पर कहानी लिखना। आत्मकथा आपबीती होती है, कहने का ढंग उसे कथा में ढालता है। जिस तरह हर व्यक्ति कहानी या उपन्यास नहीं लिख सकता, उसी तरह हर कोई आत्मकथा हरगिज नहीं लिख सकता। जब हममें अपने आप

को खोलने तथा अपनी खामियों को सार्वजनिक करने का जज्बा तक पैदा हो जाता है, तब हम अपने आप से तटस्थ हो जाते हैं और अपनी ही जिंदगी को एक दर्शक की तरह देखते हैं। पुनः जो हू-ब-हू तस्वीर उभरती है, उसी दृश्य को कलमबद्ध करते जाते हैं। अगर आत्म को पूरी तरह न उडेलना होता, तो क्या जरूरत थी आत्मकथा लिखने की? आत्मकथा की तो पहली शर्त ही अपने आपको निष्कवच रखते हुए पाठकों के सामने जिंदगी की चीरफाड़ करनी है। हाँ, घटनाक्रम उस आपबीती को क्रमवार रखने के कारण कथा का आस्वाद पैदा कर देता है।

'कस्तूरी कुंडल बसै' के संदर्भ में मैंने जरूर स्वीकार किया है कि माँ के जीवन से जुड़ी घटनाएँ, उतार-चढ़ाव और उनका संघर्ष जो मेरे जन्म से पहले या मेरे समझने की उम्र से पहले के समय का है, उनका शत-प्रतिशत सत्यापन मैं नहीं कर सकती, क्योंकि वे सुनी हुई हैं और कई बार सुना हुआ गल्प में भी परिवर्तित हो जाता है।

प्रश्न : आपके उपन्यासों की नायिकाएँ आपसे कितनी मिलती-जुलती हैं?

उत्तर : उपन्यासों की नायिकाएँ लेखक के व्यक्तित्व से मेल खाए यह जरूरी तो नहीं। 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास की 'अल्मा' अपराधी जनजाति की लड़की है, मैं खुद को उसमें आरोपित कैसे कर सकती हूँ और कहाँ तक? 'चाक' की सारंग ने उस रूढ़ चलन को तोड़ दिया, जिसमें सब तरह से स्त्री को मुखापेक्षी बनाया जाता रहा है। मन्दा (इदन्नमम्) समाज के लिए समर्पित है, अपना तो न घर न गृहस्थी, लोग उसे मुझ से नहीं, मेधा पाटेकर से मिलाकर देखते हैं।

हाँ, यह जरूर है कि एक विशफुल थिंकिंग होती है, आकांक्षा या सपना लेखक के भीतर आकार लेता है, जिसे वह अपनी कृति की नायिका या नायक के बहाने स्थापित करता है। वह भी स्थितियों, समय और मान्यताओं में बदलाव की सख्त जरूरत को मद्देनजर रखते हुए, क्योंकि साहित्य की अनिवार्य शर्त है सकारात्मक परिवर्तन का आह्वान।

प्रश्न : आपको आत्मकथा लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली?

उत्तर : अपना जीवन ही प्रेरित करता है, अपनी निजी बातें लिखने के लिए। आत्मकथा लिखने से पहले हम पीछे मुड़कर देखते हैं, कैसी थी यह जिंदगी? कैसा रहा जीवन का सफर? कहाँ से चले थे, कहाँ पहुँचे? क्या कुछ ऐसा है, जिसको कागज पर उतार दिया जाए तो अन्य लोगों के लिए रास्ते बनाने का जरिया मिले। न सही हमारी अपनी तरह से, उनकी अपनी तरह के कुछ उपाय हाथ आ जाए। अगर हमारी जीवन कथा किसी को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित नहीं करती, तो व्यर्थ है, फिर आत्मकथा लिखने का उत्साह या तथाकथित प्रेरणा।

मुझे लगा था मेरे जैसी हजारों-लाखों लड़कियाँ गाँवों से स्कूलों तक के बीहड़ रास्तों को पार नहीं कर पातीं। वे पितृसत्तात्मक समाज के कठघरों में रहती हुई सुरक्षा के बोध की मारी अनपढ़ या अर्द्धशिक्षित रह जाती हैं। वे सपने देखना स्थगित ही नहीं, खत्म कर दी होती हैं। वे अपनी जिंदगी को दी गयी जिंदगी समझती हुई स्त्री जीवन के भ्रम में समय काटती हैं। मुझे लगा था कठिनाइयाँ तभी तक रास्ता रोकती हैं, जब तक कि उनके साथ मुठभेड़ न की जाए। मुझे यह भी लगा था कि हम जैसी औरतें नंगे पांव चलकर उस केन्द्रीयता तक आ सकती हैं, जो मुट्ठी भर लोगों के कब्जे में चली आ रही है।

प्रश्न : हिंदी आत्मकथाओं में आपकी प्रिय आत्मकथाएँ कौन- कौन सी हैं?

उत्तर : मेरी प्रिय आत्मकथाएँ हैं-बेचनशर्मा उग्र की 'अपनी खबर' शिवरानी देवी की 'प्रेमचंद : घर में'।

प्रश्न : पूरे हिंदी उपन्यासों में कोई ऐसी नायिका बताएँ, जो आपको याद रह गयी हो?

उत्तर : हिंदी उपन्यासों में 'मैला आँचल' की 'लछमी दासिन' और 'मुझे चाँद चाहिए' की 'वर्षा वशिष्ठ'।

प्रश्न : कस्तूरी के जीवन-संघर्ष से आप अपने संघर्ष को कहाँ तक जुड़ा पाती हैं?

उत्तर : कस्तूरी का जीवन संघर्ष मेरी जिंदगी में नहीं था। मेरा जीवन उनसे एकदम उलट था, क्योंकि जिन सुरक्षाओं ने उनको छला उन्हीं असुरक्षाओं ने मुझे मुठभेड़ करना सिखा दिया। जहाँ कस्तूरी की कुँआरी उम्र को घर के लोग ही इस्तेमाल कर रहे थे, मर्यादा की आड़ में, वहीं मेरे लिए आमने-सामने की लड़ाइयाँ पेश आईं और उन लड़ाइयों में माँ कहीं शामिल नहीं थी। न अच्छे में, न बुरे में। शादी-ब्याह का भी फैसला जहाँ कस्तूरी के लिए दूसरे लोग ले रहे थे, वहीं मैं खुद निर्णय कर रही थी। हाँ, यहाँ अपनी सारी असहमति के बाद भी माँ सकारात्मक बदलाव के साथ सामने थी, मसलन जन्मपत्री की जगह मेरी मार्क्सशीट का उपयोग करना, दहेज के लिए कतई तैयार न होना। ऐसी बातों में हमारे मकसद एक थे। हाँ, मकसद तो और भी एक जैसे ही थे, मगर संघर्ष की राहें जुदा थीं। सरकारी मुलाजिम कस्तूरी और गृहणी से लेखिका बनने की जद्दोजहद में प्रवृत्त मैत्रेयी।

प्रश्न : आपके संघर्ष का केन्द्रबिंदु प्रेम या अकेलापन है? इस देश में कितनी प्रतिशत स्त्रियों के जीवन का संघर्ष प्रेम या अकेलापन से जुड़ा हुआ है?

उत्तर : प्रेम और अकेलापन, ये दोनों शब्द जुड़वा हैं। अकेलापन महसूस न हो, तो मनुष्य प्रेम की तड़प क्यों महसूस करे? अकेलापन परिवारविहीन होना नहीं है। एकाकी तो व्यक्ति तब भी होता है, जब उसके स्वभाव, सपनों और रुचियों के साथ चलनेवाला उसे नहीं मिलता। तभी न परिवार हम चुनते नहीं हैं, वह हमें मिलता है। मित्र हम चुनते हैं, जिसके इर्द-गिर्द हमारा प्रेम रहता है।

मैं यह स्वीकार करती हूँ कि प्रेम में मुझे अपनी जिंदगी से ज्यादा रूचि रही है और मैंने उसमें हर हालत में विश्वास रोपा है। मेरे अकेलेपन ने कभी यह छानबीन नहीं की, कि जिनको मैंने प्रेम के पात्र के रूप में देखा, वे मुझे कितना प्यार करते रहे हैं, मैं तो अपनी ही मोहब्बत से लबरेज रही और मौका मिलते ही उसे उलीचने से बाज नहीं आई, क्योंकि यही मेरा सबसे बड़ा खजाना रहा है।

मेरे खयाल में यह खजाना हर स्त्री के पास होता है, तभी तो इस पर जबरदस्त पहरे हैं और स्त्रियों को अकेला नहीं छोड़ा जाता, उसे पिता, पति और पुत्र के द्वारा दी गयी सुरक्षा के घेरों में कैद रखा जाता है, क्योंकि स्वतंत्र स्त्री प्रेम करने लगती है, ऐसी मान्यता है और यह डरावनी मान्यता औरत को प्रेम के नाम पर गुलामी में घसीटने लगती है, जिसमें वह कभी अकेली नहीं, पहरेदारों के साए में रहती है। वरन् एकान्त में ही तो कोई अपने प्यारे दुलारों की यादों में खोने का समय पाता है।

प्रश्न : इस देश की बहुसंख्यक स्त्रियों की समस्याओं को देखते हुए आप अपने संघर्ष को कितना सार्थक मानती हैं?

उत्तर : समस्याएँ, सारी औरतों के लिए लगभग वही हैं, बस उनके रूप अलग-अलग हैं। भेदभावों से भरा बचपन, शादी ब्याह के नाम पर कुरबानी, विवाह संस्था को चलाने की पीड़ादायी जिम्मेदारी, प्रजनन के तहत बेटे को जन्म देने की कही और अनकही अनिवार्यता। सबसे बड़ी त्रासदी पिता की संपत्ति में कानूनी हक की स्वीकृति के बावजूद हक न मिलना। ससुराल में पति के रहने तक संपत्ति की हिस्सेदारी से खारिजनाम। सांस्कृतिक रूप से कसावट वाली परंपराओं का निर्वहन।

अपनी समझ में मैंने इन सारी रूढ़ियों को तोड़ने या पुरानी परंपराओं को बदलने का जो प्रयास किया है, उस पर समाज के ठेकेदारों की कटीली निगाह पड़ी है और मैं आश्वस्त हुई हूँ कि मेरा निशाना ठीक बैठा है। हमने वह भय छोड़ा है, जिसने हमें गुलामी के किलों में कैद कर रखा था। हमने पुरुषसत्ता को चुनौती दी है ताकि वे अपने विद्वानों से कहें। हमारे बदलते हुए साहित्यिक तेवरों के लिए अपने औजारों पर धार धरें और हमारी धारणाओं, निष्कर्षों और व्याख्याओं को कहें। हमने पाया है कि वे मजबूर हैं। आज की साहित्यिक और सामाजिक दृष्टि से नई स्त्री के लिए अनर्गल भाषा में अपने मंतव्य देने के लिए। स्त्रियों की यह मति और गति चौंकाने वाली है, इक्कीसवीं सदी के समाज को।

प्रश्न : हिंदी में स्त्री विमर्श बहुत हद तक प्रतिक्रियावादी रहा है, इस परिप्रेक्ष्य में आप अपनी आत्मकथा को कैसे देखती हैं?

उत्तर : प्रतिक्रिया देना हमारा मुख्य उद्देश्य नहीं। हम तो अपनी जिंदगी पर लदे फैसलों को बदलना चाहते हैं, क्योंकि उन फैसलों की कसावट हमें हिलने तक नहीं देती, जब कि हम अपने प्रस्थान बिंदु तय कर चुके हैं और अपने रास्ते पर हैं। कहना सिर्फ यही चाहते हैं कि 'स्त्री विमर्श' इस शब्द को मजाक में मत उड़ाइए, क्योंकि इसके तहत हम उस आजादी को प्राप्त करने के लिए निकले हैं, जो हमें कायदे से सन् 1947 में मिल जानी चाहिए थी। तब हमने अंग्रेजों के खिलाफ तो स्वर ऊँचा किया, परन्तु अपनों के सामने गर्दनें झुका लीं और हम गुलाम ही रह गए, वरन् 65 साल बाद भी उस संघर्ष का क्या मतलब था, जिसमें सिर से कफन बाँधना पड़े। आत्मकथा में भी सजा का भय त्यागकर ऐसे कितने ही प्रसंग दर्ज हो गए, जिन पर लोगों ने लानत बरसाई और किताब को खारिज किया।

प्रश्न : क्या कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग आपको याद आते हैं, जिनका उल्लेख आत्मकथा में न हो सका?

उत्तर : आत्मकथा लिखते समय प्रसंगवश जो आता जाता है, वह दर्ज होता है। यों तो जिंदगी अनगिनत हलचलों और अनुभवों से भरी होती है, किताब के लिए थोथा उड़ाने और छानने के लिए विवेक के सूप-छलनी की जरूरत होती है। नहीं तो लेखक को अपना सब कुछ बहुत प्यारा होता है। मैं समझती हूँ, जितना आ गया, वह अपने आप में काफी होगा।

प्रश्न : यूरोप में स्त्री मुक्ति का जो आंदोलन चला, उससे हिंदी का स्त्री-विमर्श किस हद तक प्रभावित है?

उत्तर : 'स्त्री मुक्ति' की परिभाषा बंधी हुई नहीं है। वह अपने-अपने माहौल में लागू उन नियमों कानूनों के विरुद्ध होती है, जो वहाँ रहती स्त्री के मनुष्य जीवन पर कुठाराघात करते हैं। योरोप में हदबंदियाँ, कठघरे, अभाव और भेदभाव भारत के जैसे ही नहीं हो सकते, तो संघर्ष का रूप और स्त्रियों की माँग भी अपनी तरह की होगी। जहाँ तक मुक्ति का प्रश्न है, वह तो सभी बन्दिनियों को चाहिए। गुलामी का अहसास जिस दिन हो जाता है, मुक्ति के लिए जंग भी तभी से छिड़ जाती है, उसमें प्रभावित और अप्रभावित रहने का सवाल नहीं होता।

प्रश्न : हिंदी में जो स्त्री विमर्श चल रहा है, उसको बहुत सारे आलोचक फैशनबिल आंदोलन मानते हैं। आप इससे कहां तक सहमत हैं?

उत्तर : स्त्री जब अपने विषय में सोचने लगी, वह अपनी जुबान खोलने लगी। वह अपनी कलम से अपने मन की कहानी लिखने लगी। अपनी रूचियाँ अपने संकल्प बताने लगी, वह उस व्यवस्था में हस्तक्षेप करने लगी, जिसको पितृसत्ता ने बड़ी मेहनत से मजबूत करते हुए अब तक रखा है। मर्यादा, नैतिकता और स्त्री आदर्श की परिभाषाएँ बदलने वाली स्त्री, पुरुष व्यवस्था में किसको रास आएगी। दिल को बहलाने के लिए यह ख्याल अच्छा है कि 'स्त्री विमर्श' फैशनेबिल आंदोलन है। लेकिन उनका दिया यह नारा भी तो आज की औरत नहीं सुनना चाहती।

प्रश्न : स्त्री-विमर्श की किन-किन पुस्तकों से आप प्रभावित हैं?

उत्तर : 'स्त्री-विमर्श' इस विषय पर मैंने कुछ पुस्तकें पढ़ी हैं। जैसे-सिमॉन द बउआर की' 'द सेकेंड सेक्स' और जर्मेन ग्रियर की किताब। देशी-विदेशी पुस्तकें देखने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि अपने अनुभवों से जो विचार निकलते हैं, वे किसी किताब को पढ़ने के मोहताज नहीं। वे न, विचार होते हैं, न, रास्ते सुझाते हैं।

प्रश्न : इस देश में स्त्री का भविष्य आप कैसा देखती हैं? कहने का आशय यह है कि स्त्री को उसके अधिकार कब तक हासिल होंगे?

उत्तर : हजारों साल की गुलामी, सदियों-सदियों का दासत्व क्या चंद वर्षों में खत्म हो जाएगा? तभी तो स्त्री ने अपनी बात कहना शुरू किया है, अभी तो कुछ ही महिलाओं ने घर की चौखट लांघने के खतरे उठाए हैं, अभी तो थोड़ी सी औरतें उन क्षेत्रों में प्रवेश कर पायी हैं, जहाँ उनके लिए अनकहा मान्यता प्राप्त निषेध लिखा था। अभी तो जहाँ स्त्री को किसी पद पदवी का धारक बनाया जाता है, वहाँ अभिनय ही प्रमुख है।

वक्त लगेगा, किसी भी मुकम्मल और पायेदार चीज के बनने में समय लगता है, क्योंकि धोखेबाजियाँ, चालें और छद्म अपनी-अपनी विसात बिछाए बैठे हैं, घर से निकली औरत को हर समय चौकन्ना रहना है, क्योंकि यह बाहर का रास्ता है और वह अकेली है।

प्रश्न : और अन्त में, इस देश की स्त्रियों को आप क्या संदेश देना चाहती हैं?

उत्तर : मेरी किताबें किसलिए हैं? उनमें संघर्ष और संदेश है या नहीं, ज्ञान की लालसा रखने वाली स्त्रियाँ खुद देख लेंगी, ऐसे ही जैसे, जिस किसी शहर में वे मुझसे मिलने जाती हैं और मानती हैं कि जिन्दगी में आदमी कभी अपनी विकास यात्रा के लिए 'लेट' नहीं होता, वह जब जागता है, तभी सबेरा है। वह जब चल देता है, आगे मंजिल जरूर है। अतः हमें अपने मकसद किसी भी हालत में मुल्तवी नहीं करने हैं। स्थगित होना, जिंदगी रुक जाने का नाम है। n

पता : मैत्रेयी पुष्पा -104 महागुन मारफियाज़, प्लान नं.-ई4
सेक्टर-50, नोयडा-201303 मो. : 09910412680
पता : स्वीटी यादव-कमरा न. 232 (गर्ल्स विंग),
लोहित हॉस्टल, जे.एन.यू. नई दिल्ली-110067 मो. : 07838327845

ठसक

n ममता कालिया

हम सभी युवा थे। सभी पढ़ रहे थे। सबको लिखने की धुन सवार थी। दरअसल लिखना अभी हमारे लिए एक निजी खिड़की बना हुआ था जिसके रास्ते हम अपने सुख-दुख, गुस्सा-खुशी, उदासी, प्रेम और नफरत देख सकते थे। इधर अखबार नियम से पढ़ने लगे थे। अब खबरें हम पर गहरा असर छोड़तीं। हम घंटों खबरों पर बहस करते और अपने आपको क्रांतिकारी बुद्धिजीवी मानते।

एक अजीब बात यह थी कि अक्सर जो लोग कम लिख रहे थे, ज्यादा लिखने वालों को हिकारत की नज़र से देखते और जो ज़्यादा लिख रहे थे, कम लिखने वालों को। कुछ ऐसे लेखक थे जो जितना कुल लिखते सबका सब छपवा लेते। वे अन्य साथियों को गैर कामयाब समझते। हम लोग उन्हें लिक्खाड़ व्यावसायिक और दुनियादार कह कर उन अखबारों की खिल्ली उड़ाते जिनमें वे छपते। वे अपने मानदेय और रॉयल्टी की रकम बढ़ा चढ़ा कर बताते और हम मन ही मन कुढ़ते हुए अपनी बस की टिकट और काफी का वज़न उन पर डाल देते। बस्ती में कोई प्रकाशक या सम्पादक आता तो इन लोगों की चुस्ती देखने काबिल होती। ये गोष्ठी आयोजित करते जिसमें हम कुछ इस अंदाज़ में शामिल होते कि 'हमें छेड़कर के तो देखो।' आजकल अजीब रास्तों से साहित्य व संस्कृति के दाखिले की खबरें आ रही थीं। यहां की नगर पालिका ने निर्णय लिया कि वह कुछ अच्छी कविताएं और सूक्तियां, अपने सार्वजनिक मूत्रालयों, रैनबसेरों और कूड़ाघरों पर सुंदर अक्षरों में लिखवा देगी जिससे लोगों का ज्ञानवर्धन हो और वे इन स्थानों का सदुपयोग व सम्मान करना सीखें। इस अभियान में तुलसी, मीरा, सूर, कबीर तो काम आये ही, कुछ नये और युवा कवियों की रचनायें भी मांगी गईं। ऊँचे मानदेय पर कवितायें ली गईं। कपिल आर्य और साहिल मिरजा ने अपनी रचनायें दे दीं थी। दोस्तों के बीच उनका मज़ाक उड़ा लेकिन उन्होंने तर्क दिया, 'जब महा कवि दीवारों पर छप सकते हैं, तो हम क्यों नहीं। इसी बहाने लोग हमें पढ़ेंगे तो सही।' कुशाग्र की दृष्टि में यह साहित्य का बाज़ारीकरण था। वह कहानी लिखता था और उसे बाज़ार की शर्तें कबूल नहीं थीं। मुट्ठी भर जमात ऐसे कलाकारों की थी जो इस खिलाफ़ हवा में भी अपने सुर में आगे बढ़ रहे थे। ये ज़रा मरजीवड़े किस्म के इंसान थे। कोई लेखन के क्षेत्र का तो कोई चित्रकला और संगीत के इलाके का इनमें दो रंगकर्मी भी शामिल थे। किसी न किसी बात पर ये आये दिन खलबलाते।

'नहीं बेचूंगा अपनी तस्वीर बीड़ी किंग लालजी भाई को। वह दस हज़ार की बोली लगा रहा है।' राजन सिर को झटकता हुआ अपना गुस्सा जताता।

'तुम नहीं दोगे तो कोई और देगा' उसके चाचा समझाते।

'मैं तीन साल से आर्ट कालेज में झक मार रहा हूँ तो किसी बड़े मकसद के लिये चाचा। मैं बिकने के लिए नहीं निकला हूं।'

चाचा को दुनिया के धक्कों ने दुनियादार बना दिया था। वे सोचते भतीजा फिजूल में फांय-फांय कर रहा है। इसकी इतनी तस्वीरे हैं, अगर एक बीड़ी के बंडल पर छप गई तो कौन सी आफत आ जायेगी। उनका बस चलता तो वे खुद जाकर लालजी भाई को राजन की तस्वीर दे आते। राजन के गुस्से से वे घबराते थे। वे धीरे से तर्क करते, 'ज़ाकिर हुसैन चायपत्ती का इश्तेहार करते हैं, फिर भी ज़ाकिर हुसैन ही रहते हैं। तुमको क्या डर है?'

राजन कहता, 'पहले वे जाकिर हुसैन बने, बाद में उन्होंने चाय बिकवाई। सिलसिला अगर उल्टा होता तो वह बस चाय की केतली का ढक्कन बजाते रह जाते उम्र भर।' चाचा निरुत्तर हो जाते।

हम सब अपने सपनों का पीछा कर रहे थे। इसके साथ ही जीवन यापन के कच्चे पक्के साधन भी ज़रूरी थे, इसका अहसास हमें था। दोनों की खींचातानी से बौखला कर हम कला केन्द्र पहुंच जाते।

कला केन्द्र चिन्तन जी के घर का नाम था। वे जिस कालोनी में रहते थे उसका नाम भी कलाकुंज था। वे 'नई सदी' नाम से अनिश्चितकालीन पत्रिका निकालते थे। इससे उनका मन लगा रहता और युवा रचनाकार उन्हें घेरे रहते। चिन्तन जी के पास गांव में कुछ खेत थे जो उनके छोटे भाई की देख-रेख में चल रहे थे। वहां से साल में दो बार उनके यहां गेंहू, चना और धान आ जाता। असली किल्लत नगद राशि की थी। यों तो चिन्तन जी की प्रकाशित पुस्तकों की संख्या अच्छी खासी थी लेकिन प्रकाशकों से रॉयल्टी के नाम पर नगण्य राशि ही मिला करती। लम्बे समय से लेखन में रहने के कारण वे प्रकाशन जगत की नस नस पहचानते। प्रकाशकों के व्यवहार को लेकर उनके अंदर कड़वाहट भी भरी रहती। वे हम सबको समझते, 'लिखो, बेधड़क होकर लिखो लेकिन कभी लेखन को अपनी जीविका मत बनाओ। आज का लेखक नाम कमायेगा, इनाम पायेगा पर रायल्टी के नाम पर ठगा जायेगा। प्रकाशक रॉयल्टी तभी देगा जब आप उसके दफ्तर में जाकर गिड़गिड़ायेंगे, 'मेरी पत्नी का गर्भपात हो गया

है, मेरे बच्चे का नाम स्कूल से, फीस न देने के कारण, कट गया है और मेरे फेफड़ों में पानी भर गया है।'

हम कहते, 'सर इतना तो यूपी और विदर्भ के किसानों को भी कलपना नहीं पड़ता।'

चिन्तन जी हँस देते, 'तभी तो कहता हूँ उम्र रहते किसी न किसी नौकरी से चिपक जाओ; अच्छी नहीं तो कम अच्छी सही पर लेखन से अपने घर का चूल्हा मत जोड़ो।'

चिन्तन-घर में किताबों का अद्‌भुत भण्डार था। वे विद्यार्थियों के बीच खुले दिल से अपनी लायब्रेरी की सहूलियत परोस देते। हर आगन्तुक को चाय उनकी पत्नी पिला ही देतीं। उनके अपने बच्चे पढ़ लिख कर आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो चुके थे।

आज की बहस का मुद्दा कुशाग्र सिंह की कहानी 'मनहूस रात' था। 'नई सदी' के नवीनतम अंक में इस कहानी को चिन्तन जी ने प्रमुखता से छापा था।

कुशाग्र ने 16 दिसम्बर सन् 2013 की त्रासदी पर आधारित रचना लिखी थी। इस मनहूस तारीख को एक लड़की यौन हिंसा की शिकार हुई थी। उसका नाम प्रतीकात्मक रूप से दामिनी, निर्भया आदि रखा गया। उसके असली नाम तक पहुँच कर भी उसके सम्मान की रक्षा हेतु मीडिया ने यह खयाल रखा कि उसके नाम को वैसे न घसीटा जाय जैसे उसकी देह वहशियों के हाथों घसीटी गई। कई अस्पतालों में निर्भया का निष्फल इलाज हुआ। अंततः महीना खत्म होते न होते उसने दम तोड़ दिया। इस खबर की आँच अखबारों के पन्नों पर महीनों धुँधआती रही। कुशाग्र को लगा यह वारदात उससे लिखित कार्यवाही की माँग कर रही है। उसकी याद में केवल इण्डिया गेट पर मोमबत्ती जलाने से कुछ नहीं होगा। कई खबरें हमारी चेतना में सूराख कर जाती हैं। ये खबरें बेचैन करती हैं। कुशाग्र की यही बेचैनी 'मनहूस रात' में उतरी थी।

कहानियों के साथ मुश्किल यही है। अगर वे खबरों की नींव पर खड़ी होती हैं तो उनकी इमारत बहुत दिन पुख़्ता नहीं रहती। खबर की विस्मृति के साथ लोगों की चेतना पर से वह त्रासदी भी विस्मृत होने लगती है जो खबर का आधार बनी थी। कहा जाता है अगर हमारे अंदर भूलने की यह सामर्थ्य न हो तो अपनी यादों के चलते हम भस्म हो जायं।

लिखते वक्त कुशाग्र को लगा था यह भुला देने वाली खबर नहीं है। यह हर उस लड़की के साथ घटित हो सकती है जो घर से बाहर निकलती है। कहानी क्या वह एक तरह की श्रद्धांजलि थी जो कुशाग्र को देनी ही देनी थी। आधुनिक समय में पुरुष, स्त्रियों के विरुद्ध जो बर्बर अनाचार करता है, 'मनहूस रात' में उन सबका उल्लेख और माफीनामा था।

दोस्तों के बीच कुशाग्र ने जब यह कहानी सुनाई, बहुत सराही गई। कई साथी रचनाकारों की आँख नम हो आई।

'कुश लगता है तुमने एक बैठक में यह कहानी लिख ली है। कहीं कोई जोड़ या झोल है ही नहीं।'

कुशाग्र को अच्छा लगा था। ये सब मिलकर जैसे निर्भया को सामूहिक श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे थे। शैवाल ने अपने मोबाइल से इस बैठक की तस्वीर खींच कर फेसबुक पर भी डाल दी। पलक झपकते 415 लाइक्स आ गई। कुछ लड़कियों का गुस्सा फेसबुक पर प्रकट हुआ कि यह क्या कहानी लिखने का विषय है!

कुशाग्र ने चिन्तन जी से अपनी कहानी पर राय मांगी। अन्य रचनाकार भी उनकी तरफ़ उम्मीद से देखने लगे।

चिन्तन जी बड़ी धीमी आवाज़ में ठहर-ठहर कर बोलते। होठों ही होठों में मुस्कराते हुए उन्होंने कहा, 'कहानी पर प्रतिक्रियायें तो बहुत आ रही हैं। यह इस कहानी की सफलता का सबूत है।'

विजन से हस्तक्षेप किया, 'सर सफलता एक चीज़ है, सार्थकता दूसरी। क्या इसे आप सार्थक कहानी कहेंगे?'

'तुम्हे लिखते हुए कितने साल हुए हैं?' चिन्तन जी ने कुशाग्र से पूछा।

'चार पांच साल।'

'इसका मतलब अभी तो तुम्हारा अन्नप्राशन भी नहीं हुआ है। मैं साठ साल से लिख रहा हूं और दस साल से चुप बैठा हूं। लेखन लम्बी दौड़ का काम है, ऊँची कूद का नहीं।'

'आपकी बात सही हो सकती है पर आपने इसे 'नई सदी' में स्थान दिया, इसका मतलब यह आपको अच्छी लगी।' कुशाग्र ने कहा।

'तुम कई गलतफहमियों के शिकार हो कुश। तुमसे किसने कहा कि पत्रिका में सबकुछ सम्पादक की पसंद का छपता है। कभी-कभी तो दस प्रतिशत मैटर उसकी पसंद का नहीं होता।'

'बाकी नब्बे प्रतिशत क्यों छपता है?'

'पत्रिका के पन्ने तो पूरे करने होते हैं दस पन्नों की पत्रिका तो निकलेगी नहीं।'

'मुझे नहीं लगता आपने मेरी कहानी उसके पेटभराऊ गुण की खातिर छापी। स्वीकृत करने से पहले आपने पढ़ी थी?'

'मैं कब कह रहा हूं कि नहीं पढ़ी। मेरी नज़र से पूरा मैटर कई बार गुज़रता है।' तभी चिन्तन जी ने दरवाज़े से कली सिनहा को आते देख कर आवाज़ लगाई, 'अरे कली, कहां थीं तुम इतने दिन। आओ बैठो। बात इस समय 'नई सदी' के नये अंक पर हो रही है।'

'मनहूस रात' का विषय एकदम समसामयिक है, लेखक की पक्षधरता भी साफ़ है। 16 दिसम्बर अपनी पूरी भयावहता में ज़िन्दा हो उठी है इस कहानी में', कली ने कहा।

कुशाग्र को अच्छा लगा कि कली ने उसकी कहानी पढ़ रखी थी।

कली सिनहा ने अब तक कवितायें लिखी थीं और अब वह कहानी के इलाके में दाखिल होना चाहती थी। उसके बारे में यह बात प्रचलित थी कि वह रोज़ चार कवितायें लिखने के बाद ही सोती है। जिस तरह इन दिनों महिला लेखन की धूम मची हुई थी उसमें कली सिनहा की ऊर्जा की खबर कोई अतिशयोक्ति नहीं थी। सम्पादक उसे खूब प्रोत्साहन दे रहे थे।

चिन्तन जी ने पूछा, 'तुम्हें कहानी अच्छी लगी?'

'यह मैंने कब कहा सर! मैं तो बता रही थी कि कहानी यथार्थ के कितने करीब है। हम रात के वक्त किसी से लिफ्ट मांगें और हमें गिफ्ट में हिंसा, बलात्कार और हत्या मिले, यह एकदम मुमकिन है।'

विजन भड़क कर बोला, 'सर लेकिन कुशाग्र ने क्या किया है। कहानी के नाम पर दस दिन के अखबारों की कतरनें परोस दी हैं। आप ही कहते हैं हर खबर कहानी नहीं होती।'

'होती है', कुशाग्र भिड़ पड़ा, तभी तो पत्रकार खबर को स्टोरी कहता है।'

चिन्तन जी ने टोका, 'ध्यान से सुनो। विजन ने अनजाने एक बड़ी बात कही है। हर खबर कहानी नहीं होती उसी तरह जैसे हर कहानी खबर नहीं बनती।'

अब तक कई सदस्य और आ गये।

विचार-विमर्श में नई उत्तेजना आ गई। सभी जानना चाहते थे कि सच्ची खबर कहानी क्यों नहीं बन सकती जब लेखक जीवन भर यथार्थवाद का ढोल पीटता है।

सुबह से अपने तख्त पर बैठे-बैठे चिन्तन जी थक और ऊब गये थे।

वे उठ खड़े हुए, 'चलो कॉफी हाउस चल कर यह बहस जारी रखेंगे। शाम की सैर भी हो जायेगी और रुद्रजी से इस मसले पर बात कर लेंगे।'

पूरी टोली तैयार हो गई, 'जी हां चलिये, कॉफी हाउस चला जाय।'

शहर के सिविल लाइंज़ इलाके में कॉफी हाउस अभी भी गुलज़ार रहता था। एक चौड़े से अहाते में बड़ी सी इमारत का एक हिस्सा वर्षों से कॉफी सहकारी बोर्ड ने किराये पर ले रखा था। वहां सफेद वर्दी और हरी पेटी से सुसज्जित वेटरों की चुस्ती, दक्षिण भारतीय फिल्टर कॉफी की खुशबू और चहल-पहल से भरे हॉल को देख तबीयत ताज़ी हो जाती। कॉफी हाउस में लोगों की सिगरेटों का धुआँ बेहिसाब था पर किसी को इससे तकलीफ़ नहीं होती। यहां खुलकर बतकही होती। मेजों के इर्द-गिर्द कुर्सियों के घेरे बड़े होते जाते। कॉफी के प्यालों की खनक, चमचों की पटपटाहट और बातों का शोर बढ़ता जाता। कॉफी हाउस आने में किसी को एतराज़ न होता क्योंकि यहां का लोकतंत्र सर्वश्रेष्ठ था। हर ग्राहक अपनी कॉफी का बिल खुद अदा करता। कोई किसी पर बोझ न डालता न ढोता। इसलिये जब एक मेज़ के गिर्द जमावड़ा बढ़ता तो किसी का भी रक्तचाप न चढ़ता। वेटर भी हिसाब रखने में उस्ताद थे। बिल चाहे एक कॉफी का हो या चार, वे उसी मुस्तैदी से वसूलते और तत्काल काउंटर पर जमा करते। प्रायः यहां वेटर को बख्शीश देने का रिवाज़ नहीं था। फिर भी कभी कोई खास आदमी बख्शीश दे डालता तो वह भी वेटर द्वारा काउंटर पर जमा कर दी जाती। हफ्ते में एक दिन मैनेजर द्वारा सभी वेटरों के बीच बख्शीश की धनराशि समान रूप से बाँट दी जाती। ज़माने की दुनियादारी से अलग कॉफी हाउस सच्ची सहकारिता का नमूना था जिसे कई लेखक युटोपिया कहा करते। यहां कोई अपनी डायरी भूल जाय या बटुआ, सब सही सलामत वापस मिल जाता।

रुद्रजी की मेज़ पर पहले से ही काफी मित्र मंडली जमी हुई थी। कुछ स्थानीय रचनाकार थे और कुछ उत्तराखण्ड से आये हुए थे।

चिन्तन जी ने वहां पहुँच कहा, 'आज शनिवार है तो यूटोपिया में रुद्रवीणा बजेगी ही बजेगी यह तय है।'

रुद्रजी ने बड़े स्नेह से अपने पहलू में एक कुर्सी खींची, 'आओ गुरु तुम्हारी कमी खटक रही थी।'

पुरानी पीढ़ी के लेखकों में दोस्ताना बरक़रार था हालाँकि नरमी गरमी यहां भी लगी रहती। संवाद कभी बंद न होता। रुद्रजी उम्र में चिन्तन जी से साल दो साल बड़े थे लेकिन उन्होंने लम्बे समय तक साहित्यिक पत्रिकाओं का संपादन किया था। उनका दावा था कि वे सभी लेखकों की खूबियों और खामियों से वाकिफ़ हैं। युवा पीढ़ी के रचनाकारों को वे नाम और काम से पहचान रहे थे।

उन्होंने कहा, 'कितनी अजीब बात है कि बीस-पच्चीस लेखकों के बीच सिर्फ दो लेखिकायें नज़र आ रही हैं जबकि पत्र-पत्रिकाओं में वे बेशुमार हैं।'

कली चिन्तन ग्रुप के साथ आई हुई थी और विशाखा काठगोदाम से आज ही पहुँची। वह यहीं रह कर रिसर्च कर रही थी। बीच-बीच में वह अपने घर काठगोदाम चली जाती। विशाखा की एक कहानी चर्चित रही थी। कभी-कभी वह पुस्तक समीक्षा भी कर डालती।

'सर, घर में बैठी-बैठी वे लिख रही होंगी। दुनिया कहाँ जा रही है इससे उन्हें कुछ लेना-देना नहीं है। लेखिकायें आजकल मशीन बन गई हैं।' शैवाल ने कहा। उसे शिकायत थी कि जो भी पत्रिका उठाओ उसमें महिला लेखकों का बोलबाला रहता है।

कली ने तुरन्त हस्तक्षेप किया, 'तुम्हें इसमें क्या तकलीफ़ है। सीधी सी बात है जो लिखेगा वह छपेगा।'

'बहुत कूड़ा भी छपा करता है आजकल!' विजन बोला।

कली और विशाखा ने जैसे साथ-साथ कहा, 'आप लोगों के पास तो कूड़े का भी अभाव है।'

रुद्रजी ने उनकी बहस को विराम दिया, 'देखो, साहित्य की दुनिया में स्त्री-पुरुष जैसा विभाजन नहीं होता। जो कुछ भी लिखा जाता है वह अपने वक्त का आईना होता है।

विजन ने समर्थन किया, 'सर आपने बिलकुल सही कहा।'

विशाखा उससे उलझने लगी, 'विभाजन तो होता है। स्त्री की संवेदनायें अलग होती हैं। कुशाग्र की कहानी अगर कोई लड़की लिखती तो उसमें स्त्री-विमर्श का तेज दिखाई देता। इसने तो निर्भया की दुर्दशा दिखाई है बस।'

'समाधान बताना कहानी का काम नहीं। आज का लेखक अगर समाधान बताने लगेगा तो साहित्य समाज का एन.जी.ओ. बन जायेगा।'

विशाखा ने इसरार किया, फिर भी साहित्य की कुछ जिम्मेदारी तो बनती ही है।'

विजन को उसका कुतर्क नागवार लगा। उसकी कुछ रचनायें चर्चा में आ चुकी थीं। वह उड़ीसा के गाँवों-कस्बों का आख्यान अपनी

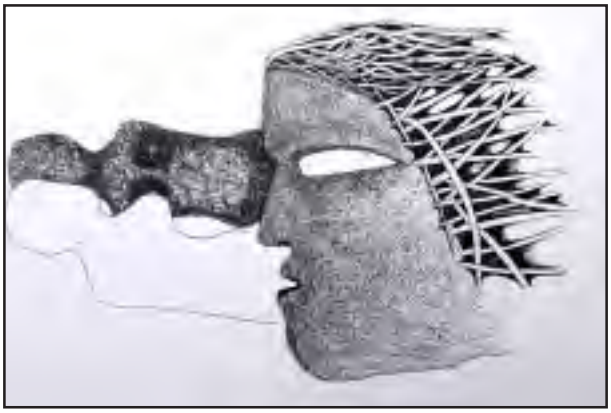

चित्रकार : भूपेन्द्र कुमार अस्थाना

अटपटी हिन्दी में बयान करता। उसकी रचनाओं में बंगाल और उड़ीसा की खुशबू थी। उसे पढ़ते हुए कई बार रेणु की याद आ जाती।

चिन्तन ने रुद्र से पूछा, 'आपने कुशाग्र की कहानी पढ़ी?'

रुद्रजी ने कहानी पढ़ रखी थी। होठों पर आई टिप्पणी उन्होंने रोक ली; कुशाग्र उन्हीं की तरफ़ देख रहा था।

रुद्र बोले, 'मुझे कहानी अधूरी लगी।'

'वह कैसे?'

'मनहूस रात' कहानी वहां से शुरू होती है जहां उसमें घटना खत्म होती है। घटना के बाद कहानी आगे जाती तब यह एक पूरी रचना होती।'

'आपका आशय संदेश से है?' कुशाग्र का सवाल था।

'बिल्कुल नहीं लेकिन एक वीडियोग्राफर की तरह सिर्फ ब्योरे रिकार्ड करना कहानी की कला को सीमित करना है।'

'सर आपने अब तक अपने लेखों में, कॉफी हाउस में, व्याख्यानों में यही सिखाया है कि कहानी की ज़मीन यथार्थ में है।'

'उससे मैं कहा मना कर रहा हूं। पर यथार्थ के साथ एक खबरनवीस और एक अफसानानिगार का सलूक एकदम अलग होता है।'

सर, आपकी बात स्पष्ट नहीं है, एक मुकम्मल कहानी में क्या होना चाहिये?'

देखो कहानी में कथ्य के साथ तीन 'क' और होते हैं-कला, कल्पना और कौशल। जब तक इनका इस्तेमाल न हो, कहानी बेजान रहेगी।'

चिन्तन ने कहा, 'यह मार्के की बात कही है तुमने। नौजवान रचनाकारों को इस पर गौर करना चाहिये।'

विशाखा ने कहा, 'मनहूस रात' की एक और खामी यह है कि वह मुख्य पात्र निर्भया की फजीहत का ब्योरा देती है, उसकी बहादुरी का नहीं। आखिर उस लड़की ने अपना मोर्चा बनाये रखा। वह जीत नहीं पाई, यह अलग बात है लेकिन मर कर उसने अपना प्रतिरोध दर्ज कर दिया।'

कली ने भी कहा, 'पुरुष लेखकों की रचनाओं में हमें संघर्षधर्मी आधुनिक नारी दिखती ही नहीं। उनके यहां सहनशीलता एक गुण की तरह उभरती है।'

कुशाग्र कि लिए अपनी रचना की इतनी शल्यक्रिया झेलनी भारी बल्कि असह्य थी। उसने कहा, 'अब बहुत हो गया। बात किसी और विषय पर की जाय। मैं मान लेता हूं कि मेरी कहानी फ्लाप है।'

वेटर को बुला कर कुशाग्र ने अपनी कॉफी का बिल अदा किया और बाहर आ गया।

दोपहर को उसने सोचा था आज रात का खाना किसी दोस्त के साथ सिविल लाइंज में खायेगा लेकिन इस वक्त उसकी भूख एकदम मर गई। पास से गुज़रता एक आटो उसने रोका और घर के लिये रवाना हो गया।

उधर कॉफी हाउस में भी बत्तियां गुल होने का समय हो गया था यानी 10 बजे। वेटर एक के ऊपर एक कुर्सियां रखने लगे थे।

बाहर निकलते वक्त सभी युवा एकतरफ हो गये। विजन, विशाखा, कपिल और कली को लगा कि कुशाग्र के साथ आज ज़्यादती हो गई। चिन्तन और रुद्र अपने-अपने रिक्शे पर घर के लिये जा चुके थे।

विजन ने कहा, 'कुछ भी कहो, कुशाग्र ने आखिर एक ज्वलंत समस्या पर कहानी लिखने की पहल तो की।'

कली ने कहा, 'रुद्र सर की नसीहतों से कुसाग्र का चेहरा एकदम उतर गया।'

'हम भी पुराने दबंगों का प्रमाणपत्र क्यों चाहते हैं अपने लिखे पढ़े पर। यह छात्रकालीन आदत छूटनी चाहिये।' कपिल ने कहा।

सबने तय किया कि इस वक्त तो बहुत देर हो गई है, अगले दिन कुशाग्र के घर चला जाय।

कुशाग्र से किसी की दुश्मनी या स्पर्धा नहीं थी। युवा लेखन आजकल अजब खींचातानी का शिकार था। एक ओर दिल्ली के व्यावसायिक सम्पादक थे जो स्त्री विमर्श के नाम पर सनसनी बेच रहे थे, दूसरी ओर शेष भारत का साहित्य जगत था जो गम्भीर और सामान्य विषय और जनजीवन को स्पर्श करती रचनाशीलता की कद्र करता था। युवा लेखक की समस्या यह थी कि वह विभिन्न दबावों को महसूस कर रहा था। समय के विवर्त में कोई बड़ा स्वप्न उसके सामने नहीं था। वह छोटे सरोकारों से घिरे कालचक्र में लिखना-पढ़ना चुनौतीपरक अध्यवसाय था।

अगले दिन जब चारों दोस्त कुशाग्र के घर पहुँचे, वे अपने स्वागत को लेकर सशंकित थे।

कमरे का दरवाज़ा बन्द था लेकिन सिटकनी नहीं लगी थी। अंदर कमरा खाली था। बिस्तर पर मार्केटिंग पॉलिसीज़ नाम की किताब अधखुली पड़ी थी। बाथरूम बन्द था।

बहुत देर लगा कर कुशाग्र बाथरूम से बाहर निकला। उसकी आंखें हल्की लाल और पनीली लग रही थी। उसके चेहरे पर थोड़ी सी हँसी आई और लौट गई।

उसने कहा 'फ्लाप कहानीकार से मिलने आये हो तुम लोग?'

'नहीं हम दोस्त कहानीकार के पास आये हैं' कली सिनहा ने कहा।

कुशाग्र ने एक पल उसकी तरफ़ देखा फिर अपनी बात जारी रखी, 'कल धोनी बारह रन पर आउट हो गया।

कल विराट जीरो पर चला गया।

कल मैं भी क्लीन बोल्ड हो गया।

कल का दिन युवा ताकतों की हार का दिन था।'

कपिल ने बात काटी, 'गलत, गलत, एकदम गलत। कल हमारे लिए कुछ नये फैसले लेने का दिन था।'

'जैसे?' कुशाग्र ने पूछा।

'जैसे वरिष्ठ लेखकों की गरिष्ठता से अपने को बचा कर रखना है। वे हमारी हार जीत तय नहीं करेंगे। कहानी कोई कबड्डी प्रतियोगिता नहीं है जिसमें तुरन्त चित् पट हो।'

विशाखा ने कपिल की बात आगे बढ़ाई, 'यह भी तय करने का दिन आ गया है कि स्त्री विमर्श के नाम पर सनसनी फैलाना बंद हो। इससे महिलाओं का कोई भला नहीं होता।'

विजन ने कुशाग्र के कन्धे पर हाथ मारा, 'हटाओ यह रोनी सूरत। कुछ दारू वारू रखी है या नहीं कमरे में। आज अपन सब जश्न मनायें, हम उनके एक्सटेंशन नहीं है। हमें अपने हिस्से की नादानियाँ करने की आजादी चाहिये।'

'आमीन।' सबने एक साथ कहा। n

पता : B-A/03/03 Ansal Aquapolis, NH-24, Behind ABES Engg. College, Opposite crossing Repub lic, DHUNDAHERA, Ghaziabad-210016

मो. : 9212741322

बुत जब बोलते हैं

n सुधा अरोड़ा

इस घर में चूहे ही चूहे हैं। इंसान यहां रहे कैसे!

पापा पहले खीझ कर बोलते हैं, फिर बुदबुदाते हैं - आखिर चूहे आते क्यों हैं, कभी सोचा है? जब घर गंदगी से अटा-पटा रहता है, तब!

पापा हमेशा दांत पीसते हुए ही क्यों बोलते हैं, समझ में नहीं आता। पर शब्द हैं कि अंदर नहीं पिसते, बाहर आते हैं और घर की सारी पुरानी धूल खायी चीज़ों पर उफनने लगते हैं।

पता नहीं इस उफान का इस दीवार से कोई कनेक्शन है! क्यों मेरी निगाह दीवार पर टंगी सिद्धार्थ भैया की तस्वीर पर चली जाती है। एक तस्वीर जिस पर माला टंगी होने भर से उसके सारे रंग बदल जाते हैं। तस्वीर की आंखों में नमी दिखने लगती है, उस चेहरे के इर्द गिर्द गोलाकार में एक प्रभामंडल खिंच आता है और मन में आता है कि तस्वीर के होंठ अभी हिलें और कुछ बोलें। पर फ्रेम के अंदर से तस्वीरें कहां बोलती हैं!

दस साल पुरानी तस्वीर है भैया की, पर इस पर कभी धूल नहीं देखी। बाकी पूरे घर की साफ़-सफ़ाई में मां की कोई दिलचस्पी नहीं। भैया के सामान पर भी धूल जमी दिख जाती है। उनकी गिटार पर। उनके आधे अधूरे कैनवास पर। अलमारी में बंद उनके रंग और ब्रश पर। संगीत की उनकी किताबों पर। उनके सारे साजो सामान पर। अलमारी के किवाड़ के अंदर उनके लगाये पोस्टर तक पीले और बदरंग हो चले हैं। उनके किनारे उखड़ने लगे हैं पर वे हैं वहीं। पापा इनके बारे में कभी कुछ नहीं कहते।

पर जब वह कहते हैं तो दांत भींच कर ही कहते हैं। जो कहते हैं उसका मतलब यह होता है कि घर का कोई भी पुराना, फट-फटा चुका सामान भी मां बाहर नहीं फेंकती, सहेज सहेज कर रखती जाती हैं और घर धीरे-धीरे एक कबाड़ में बदलता जा रहा है। और ऐसे कबाड़ में चूहे नहीं आयेंगे तो क्या तितलियां आयेंगी!

-अभिजित, आज देर मत करना, समय पर पहुंचना है वहां। पापा के याद दिलाने से पहले ही मां मुझे बता चुकी थीं कि आज अपने जन्मदिन वाले कपड़े निकाल लेना। वही पहनना। और कार्डिगन ज़रूर ले लेना । खुले फार्महाउस में ठंड लगेगी।

-जी! मैं भीतर से चहक उठा था । इसलिये नहीं कि अच्छे कपड़े पहनकर सज धज कर हम आउटिंग पर जा रहे हैं। वैसे तो मुझे दोस्तों के साथ अपने बरमुडा या रिप्ड जींस में बाहर जाकर धमाल करना ज़्यादा पसंद है बजाय इसके कि मां-पापा के साथ राजा बेटा बनकर सलीके से चलूं! ज़ोर से हंसने पर या झूम झूम कर टेढ़ा चलने पर भी जहां पाबंदी हो। हर बड़े-बुज़ुर्ग को झुककर प्रणाम करने की जगह अगर ग़लती से 'हाय या हलो अंकल' बोल दिया तो अपनी ख़ैर नहीं। पापा के साथ चलते हुए मुझे हमेशा 'अटेन्शन' की मुद्रा में रहना पड़ता है।

मेरी चहक की असली वजह है कि मां ज़रा ढंग के कपड़े पहनकर बाहर निकलेंगी। घर में तो मां ऐसे कपड़े पहने रहती हैं कि उनसे साफ़ तो हमारी लक्ष्मीताई दिखती हैं-साफ़ सुथरी चमकदार साड़ी और कान में चमकते सोने के बुंदे और कलाई भर भर लाल हरी कांच की चूड़ियां।

आज हम सब मेहता अंकल के बेटे की शादी में जा रहे हैं। मां भी चलेंगी। अक्सर मां कहीं भी जाने से सीधे मना ही कर देती हैं। जहां भी जाना होता है, मैं और पापा ही जाते हैं। मां साथ जाती हैं तो वह खास दिन होता है। दरअसल मां को पता ही नहीं कि वे जब ढंग से सजती संवरती हैं तो हम दोनों को कितना अच्छा लगता है। जी होता है कि उन्हें देखता ही रहूं। फिर उन्हें ऐसे एकटक निहारने से मुझे खुद अपने पर शर्म आने लगती है।

-अभि! कैश गिनकर अलमारी के ड्रॉअर में डाल देना। पापा मुझे नोटों का जत्था थमा देते हैं।

-वहां से लौटकर गिनता हूं न पापा ! मैं शादी में तैयार होने के लिये कपड़े निकालता हूं।

पापा पहले मां को ये नोटों का ढेर थमा देते थे पर मां का गणित बहुत कमज़ोर है। वह हमेशा गिनने में ग़लती कर देती हैं। एक दिन पापा बौखला गये-रोज़ का यही हाल। अभि! तेरी ममी से आजकल कुछ नहीं किया जाता। और यह काम मेरे जिम्मे आ गया। पापा के पास इतने मरीज़ आते हैं। उनके क्लिनिक में शीरीन दीदी का दराज़ नोटों से भर जाता है। वे हालांकि गिनकर ही पापा को पकड़ाती हैं पर दोबारा चेक तो करना ही पड़ता है न!

जब पहली बार इतने सारे नोट देखे थे तो कैसी चुहल सी पैदा हुई थी। नोट गिने। फिर सहेजे। इतने इतने ढेर सारे नोट। मैंने मां से चहक कर कहा-मां, मुझे भी डॉक्टर बनना है। पापा की तरह।

मां ने मेरी ओर ऐसे देखा जैसे मेरे पार कहीं और देख रही हों। बस, फिर हल्के से मुस्कुरा दीं-पापा को बताना। खुश होंगे।

पापा तो हर वक्त फोन पर ही रहते हैं। हर वक्त बिज़ी। हर वक्त जैसे लाम पर। मैं पापा को लेकर गर्व से भर जाता हूं। कितना भरोसा करते हैं उनके मरीज़ उनपर। कार ड्राइव कर रहे होते हैं, तब भी फोन बजता ही रहता है।

अब तो लगता ही नहीं कि मेरी यह हमेशा चुप सी रहने वाली मां भी कभी डॉक्टर रह चुकी हैं। शहर की एक नामचीन डॉक्टर। पापा से कहीं ज्यादा शोहरत थी जिनकी। पापा के मरीज़ों से कहीं ज़्यादा मरीज़ उनके कमरे के बाहर इंतज़ार करते थे। रात को पापा पहले खाली हो जाते। मां को एकाध घंटा और लग जाता। सब मुझे बंसी काका ने बताया। पर एक हादसे में भैया क्या गये, मां की दुनिया ही बदल गई। मां ने अपनी प्रैक्टिस छोड़ दी और घर में बैठ गईं। चुपचाप। एक बुत बनकर। जैसे बोलना भूल गई हों। फिर घर में सिर्फ़ गरीबों का मुफ्त में इलाज करने लगीं। दवाइयां भी अपने पास से देतीं। बाहर से दवा लाने के लिये पैसे भी पकड़ा देतीं।

मैं तब बहुत छोटा था। छह साल का। मां बहुत चुप रहती थीं और मुझे समझ ही नहीं आता कि उन्हें कैसे खुश करूं। कभी कभार मां मुझे बहुत लाड़ करतीं पर उनके छूने में लगता, जैसे मुझे नहीं भैया को दुलार रही हैं। एक स्पर्श जो होकर भी नहीं था। पर हर चीज़ की धीरे धीरे आदत हो जाती है। मां जैसी हैं, वैसी हैं। और पापा? पापा तो पापा हैं। पापा से भला कैसी शिकायत।

ऐसे ही माहौल में बड़ा हुआ मैं। कभी मन होता-मां से पूछूं -सच बताओ क्या प्यार करती हो मुझे या सिर्फ़ भैया से ही प्यार था तुम्हें। मैंने तो सुना था मां हमेशा बेटों से बहुत लाड़ करती हैं। बस, एक ही बात याद है-मां को तब मैं ममी बोला करता था। एकबार मां ने कहा-मुझे ममी मत बोला कर तू!-क्यों? मैंने पूछा ज़रूर पर मां की आंखों में देखा तो कुछ ऐसा दिखा कि लगा -इतनी सी बात पर सवाल क्यों। तब से ही मां को मां कहता हूं और सचमुच मां ममी से ज़्यादा अच्छी लगती है। बस, एक खुली -खिली सी मुस्कान भर दिख जाये इस मां के चेहरे पर। जब दिख जाती है तो लगता है बारिश की फुहारें पड़ रही हैं। मुस्कुराती हुई मां बहुत भली दिखती हैं।

मां ने आसमानी रंग की साड़ी पहनी है। उसी रंग की मोतियों की माला। उसी रंग का कढ़ाई वाला कश्मीरी केप जो मां पर खूब फबता है। मां जब सजकर निकलती है तो अलग सी दिखती हैं। चेहरे पर तेज आ जाता है पर एक उदास छाया सी भी हर वक्त वहां पसरी रहती है। शायद मां को आज भी भैया याद आ रहे हों। वह आज होते तो मेहता अंकल के बेटे जितने ही तो बड़े होते। दोनों क्लासमेट थे स्कूल में।

फार्म हाउस यानी हमारे घर से दस बारह किलोमीटर का सफ़र। पूरे रास्ते भर मां चुप ही रहती हैं। कुछ नहीं बोलतीं। बस, एक बार पापा ने पूछा-लिफ़ाफ़ा ले लिया? भूली तो नहीं? मां ने हल्का सा सिर हिलाया जो गाड़ी चलाते हुए पापा को दिखा नहीं। पापा का सुर थोड़ा तेज़ हुआ-मैं कुछ पूछ रहा हूं, कैश डालकर लिफ़ाफ़ा देने के लिये ले लिया या नहीं। इस बार सिर के साथ मां के होंठ भी हिले-लिया! पापा की आवाज़ कुछ धीमी हुई-बोलोगी नहीं तो मुझे कैसे समझ में आयेगा। तुम्हें आजकल कुछ याद नहीं रहता इसलिये बार बार पूछना पड़ता है।

उफ़, ऐसी अनोखी प्रजाति के मां-बाप को हर वक्त झेलना बच्चों को कैसा लगता है, यह कोई मुझसे पूछे। साथ-साथ चले नहीं कि लगता है, एक पतली सी डोरी पर चल रहे हैं। संतुलन नहीं साधा तो डोरी अब टूटी, तब टूटी। और यह डोरी ये बड़े नहीं साधते, हम बच्चों को ही साधनी पड़ती है।

दूर से ही छोटे-छोटे दूधिया बल्बों की कतारें और सफेद केसरिया फूलों की झालरें देखकर आंखों को राहत मिली। उसमें शहनाई के मद्धिम सुर ने कानों को भी मरहम लगाया। इतने शोर-शराबे और झगड़े-झंझटों के बीच शहनाई की ऐसी सुरीली गूंज एक दूसरे ही लोक में पहुंचा देती है। सुना है, भैया भी गिटार पर एक से एक सुंदर गाने बजाते थे। क्या इसीलिये मुझे अपने दोस्तों के साथ हो हुल्लड़ भरा रॉक म्यूज़िक एक प्रचंड पागलपन लगता है और उसपर बदहवास होकर झूमते अपने दोस्त थोड़े से खिसके हुए लगते हैं। मैं उस कनफोड़ू संगीत को पसंद नहीं कर पाता और सब मुझे मियां तानसेन कह कर चिढ़ाने लगते हैं।

पापा ने कार को सलीके से सड़क के एक किनारे खड़ा किया। मां मुझे देखकर मुस्कुराईं-ज़रा पकड़ना अभि बेटा। उन्होंने फूलों का गुलदस्ता मेरे हाथ में थमाया और बड़े एहतियात के साथ अपनी नीली साड़ी संभालते हुए उतरीं। चलो, मां ने मेरे सिर पर हाथ फिराया और मैं मां को कंधे से घेरता हुआ आगे बढ़ चला। क्या आलीशान स्वागत था रंग बिरंगे फूलों की इंद्रधनुषी झालर से सजे धजे गेट पर। दोनों ओर से गुलाबजल की हल्की सी फुहारें। बिना कांटों का एक खूबसूरत सा गुलाब का फूल। फूलों की पंखुरियों का छिड़काव हम सबको खास मेहमान का दर्जा दे रहा था। गेट के दोनों ओर एअरइंडिया के दो महाराजा लाल पाग और काली मूंछों में एक हाथ स्वागत की मुद्रा में सलीके से उठाये मूर्तिवत खड़े थे। अरे, यह क्या! एक की झुकी हुई पलक झपकी। मां को कुहनी से टहोका मैंने-देखो मां, स्टैच्यू नहीं,

चित्रकार : आकांक्षा खन्ना

सचमुच के हैं ! हट पागल, कहकर मां आगे बढ़ चलीं तो मुझे भी आगे चलना पड़ा पर मैं पीछे घूम घूम कर देख रहा था। मूर्ति बनने की कला में वे दोनों बौने माहिर थे और मेकअप करने वाले ने ज़िंदा इंसानों को बुत में तब्दील कर डाला था।

सामने फैले विशालकाय मैदान पर करीने से कटी हुई हरी भरी घास थी। हर ओर चलने के रास्ते पर लाल कालीन बिछा हुआ। तारों भरे आसमान के शामियाने तले साटन के लिहाफ़ और गुलाबी फीतों से बंधी गद्दीदार चार-छह कुर्सियों के बीच आयताकार, चौकोर और षटकोण मेज़ें थीं। दूर एक कोने में कई सुसज्जित खंभों पर टिके ताजमहल के गुंबद की आकार में एक मंच था जिसपर पुराने वाद्ययंत्रों के साथ कुछ गायक और वादक बैठे थे। लग रहा था जैसे किसी राजसी ठाठ वाले म्यूज़ियम में हम चले आये हैं जहां हर ओर आंखों को लुभानेवाली नायाब दर्शनीय इबारतें रच दी गई हैं। ट्रे में काजू, पिस्ता, बादाम, किशमिश और अखरोट सजाये सजी-धजी लड़कियां घूम रही थीं।

हर एक मेहमान को खास तवज्जो दी जा रही थी। मां की आंखें हर ओर घूम गयीं, फिर थकी सी बोलीं-अरे, अब तक दूल्हा-दुल्हन तो आये ही नहीं। स्टेज खाली पड़ा है। पापा ने हुंकारा भरा-लगता है, जल्दी आ गये हम। चलो, यहीं बैठ जाते हैं। कुछ खा-पी लो। नज़ारे देखो।

अचानक पापा को अपने परिचित मित्र दिखाई दे गये और वे चहक कर ड्रिंक्स वाले काउंटर की ओर बढ़ गये। मां ड्रिंक्स लेती नहीं थीं और मैं अपने मां पापा की नज़रों में नाबालिग था।

हम कुछ स्टार्टर्स लेकर बैठ गये और आसपास के अजायबघर का मुआयना करने लगे। छोटे-छोटे बल्बों में सजे आकारों में कहीं झरना था तो कहीं बर्फ़ का पहाड़। वाह, क्या नज़ारा था। आंखों के लिये हर कोना अलग तरह से सजा-धजा था जो बरबस ध्यान खींच लेता था। और एक कोने में सजे उस विशालकाय बर्फीले पहाड़ की चोटी पर, नीले रंग में जटाजूटधारी भगवान शिव की प्रतिमा थी। मृगछाल पहने। एक हाथ में त्रिशूल, दूसरे में डमरू लिये। गले में सर्पमाला डाले। एक टांग पर खड़े। मैंने उस पर नज़रें टिका दीं। मां ड्रिंक्स के उस काउंटर की ओर देख रही थीं जहां पापा अपने दोस्तों के जमावड़े में शामिल हो गये थे।

कुछ मिनटों में ही मैंने देखा-वाह वाह! भोले भंडारी ने अपना पैर बदल लिया। पहले वह दायें पैर पर खड़े थे, अब बायें पैर पर।

मां, देखो वह शिव जी भी सचमुच के! ही इज़ रीअल! मैं लगभग चीख कर बोला।

पागल है? इतनी ठंड में। पुतला है वह! मां ने देखा और मुझे झिड़क दिया!

वह नीलकंठ महादेव पलकें भी झपक रहे थे।

मां को दिख क्यों नहीं रहा। मां की दूर की नज़र कमज़ोर है शायद!

हमारे सिर के काफी ऊपर एक छोटा सा मिनी हेलीकॉप्टरनुमा खिलौना घूम रहा था जैसे किसी ने जासूसी के लिये उसे छोड़ रखा हो। एक अजूबा सा दिख रहा था। धीरे-धीरे चक्कर काट रहा था मच्छर के भिनभिनाने की सी आवाज़ करता। यह क्या है भला? मां ने मुझसे पूछा। क्या पता-मैंने कंधे उचका दिये। हमारे बग़ल में बैठी एक सुंदर सी आंटी ने हमारी बात सुन ली और चहकते हुए बताया-यह रिमोट ऑपरेटेड कैमरा है। ऊपर से सारे मेहमानों की तस्वीरें खिंच जाती हैं, बेटी की शादी में हमने पहली बार लगवाया था इसे पांच साल पहले। अब तो बहुत कॉमन हो गया है! कहकर उन्होंने जैसी निगाह हम तक डाली-हमें लगा हम ज़मीन में चार इंच नीचे धंस गये हैं। कैसे बेवकूफ़ हैं हम। हमें इतना भी नहीं पता। किस ज़माने में रहते हैं!

वह रिमोट परिचालित कैमरा जैसे ही आगे गया, हर हर महादेव की आंखों के साथ गर्दन भी उसे देखने के लिये थोड़ा घूम गई।

मां, झूठ नहीं कह रहा। ठीक से देखो। वह सचमुच का लड़का है। बाय गॉड!

इस बार मां ने भी ध्यान दिया।

अरे हां, अभि! यह तो पुतला नहीं, इंसान है। सचमुच ! इतनी ठंड में बीमार हो जायेगा यह। नंगे बदन खड़ा कर दिया है उसे! उफ़!

मां बेचैन हो उठीं -क्या कर रहे हैं ये लोग! डॉक्टर के घर में शादी है और एक बच्चे को नंग-धड़ंग खड़ा कर रखा है।

मां ने सूट बूट धारी एक सुपरवाइज़र को इशारे से बुलाया जो ट्रे में काजू पिस्ता ले जाती सुंदरियों को हिदायत दे रहा था और हर मेहमान से पूछ रहा था कि उनकी खिदमत में क्या पेश किया जाये।

वह सूट बूट धारी सामने आकर खड़ा हो गया और एअर इंडिया के महाराजा की तरह अभिवादन में आधा झुककर बोला-यस मैम!

मां ने भोले भंडारी की ओर इशारा किया-वह शिव जी बना बच्चा देख रहे हैं?

सूट बूट धारी ने कुछ हैरत में कहा-यस मैम! - उसे इसी वक्त नीचे उतारिये। इट्स इनह्यूमन। उसे ठंड से निमोनिया हो जायेगा। डॉक्टर हूं मैं। और यह डॉक्टर के बेटे की शादी है?

-मैम! वहां बर्फ़ नहीं है।- सूटधारी ने अपनी गर्दन पर सजा 'बो' ठीक किया और हंस कर बोला -उसके खड़े रहने के लिये लकड़ी का पाटा है। ठंड नहीं है वहां।

मां ने उसे ऊपर से नीचे तक ताड़ती निगाहों से देखा फिर फीकी सी हंसी हंसकर बोलीं - यही तो फर्क है - कपड़े पहनकर आप यह बात कह सकते हैं। वह नंगे बदन खड़ा है। बदन पर नीला रंग पोत देने से गर्मी नहीं आ जाती बदन में, इतना तो समझते हैं न आप!

-मैम, दिस इज़ पार्ट ऑफ़ आवर ईवेंट। ही इज़ पेड फ़ॉर इट मैम! -पेड फॉर इट? हद है, मेहता साहब जानते हैं इस ईवेंट के बारे में?

-यस मैम। सूट बूट धारी विनम्रता और धीरज की साक्षात् प्रतिमूर्ति बना अब तक एअरइंडिया के महाराजा की तरह आधा झुका था।

-मेहता साहब को फोन करूं? उसे नीचे उतारिये। अभी!

-जी.... जी नहीं...आय'ल कॉल हिम। सूट बूट धारी अब कुछ अव्यवस्थित हुआ, फिर अपने को व्यवस्थित करता, दायें बायें झांकता आगे की ओर बढ़ गया-यस मैम।

मैंने मां की पीठ पर हाथ रखा-रिलैक्स मां! अपना बी.पी मत बढ़ाओ।

मां का ब्लड प्रेशर तो शूटअप कर चुका था - अभि, क्या वो दरवाज़े पर एअर इंडिया के महाराजा भी ज़िंदा लोगों को पुतला बनाके खड़ा कर रखा था? तूने कहा था न!

मैंने भी सूट बूट धारी की सी स्थिर टोन में कहा - पता नहीं मां! आय'म नॉट श्योर!

जब सामनेवाला अधीरता की सीमा पार करता दिखे तो हमारे धीरज का ग्राफ अपने आप ऊपर उठने लगता है।

शादी की गहमा गहमी मां की उस अधीरता के सामने फीकी पड़ रही थी। मां सबसे बड़ा अजायबघर थीं उस समय! अर्जुन की आंख की तरह वे नीलकंठ पर एकाग्र थीं ।

तब तक पापा ड्रिक के लंबे ग्लास को इस तरह थाम कर आये जैसे उनके हाथ में फिल्मफेयर अवॉर्ड की ट्रॉफी हो-हाय गाईज़। व्हॉट आर यू अप टू? कुछ खा नहीं रहे? ऐसी शादी देखी नहीं होगी! एनीथिंग एंड एवरीथिंग यू वॉन्ट टू हैव अंडर द सन! पापा के अंदाज़ में जो खनक थी और जिस तरह लहरा कर वे बोल रहे थे, लग रहा था-खुमारी की शुरुआत हो चुकी है।

तब तक हमारी मेज़ पर दो खूबसूरत कपों में सूप आ चुका था। मैंने पापा से कहा-पापा आप ले लो सूप! मैं और मंगवा लेता हूं।

पापा ने मुंह बिचकाया -हुह! यहां सूप पीने कौन आया है ! फिर अपने जोम में मुस्कुराये ।

मां ने धीरे से कहा-यू हैव टू ड्राइव अस बैक होम! प्लीज़

पापा ने और लरज़ कर कहा-अरे, आय हैव नेव्हर लॉस्ट माय सेन्सेज़। हैव आय? आज तक कभी अपने होशो हवास खोये हैं मैंने?

पापा की आंखें एकबार और पूरे फार्महाउस का चक्कर काट आईं -देखो, अब तक दूल्हा-दुल्हन नहीं आये। यह है इंडियन शादी। दूल्हा-दुल्हन आयें न आयें, हमारी बला से। बरातियों की तो शादी मन जाती है। चलो, आपलोग सूपपान करो, हम सुरापान करके आते हैं ज़रा। बड़े पुराने यार दोस्त मिल रहे हैं-तीस साल बाद! हा हा! नो जोक!

मां की निगाह में शर्मिंदगी थी! मैं चाह रहा था कि मैं वहां से गायब हो जाऊं पर वहां बने रहने के अलावा कोई रास्ता नहीं था।

हर हर महादेव गायब हो चुके थे। बर्फ़ के पहाड़ से गंगा झर झर बह रही थी।

थोड़ी देर बाद सूट बूट धारी फिर झुका हुआ हाज़िर था -मैम! उतार दिया उसे!

-कहां है वह ?

-मैम...मैम...ही इज़ फ़ाइन...मैम!

-हां, लेकिन मुझे उससे मिलना है। आय वॉन्ट टू सी हिम! मां ने सख़्त स्वर में कहा।

मां को आज क्या हो गया है। मां हमेशा तो ऐसी नहीं दिखतीं।

सूट बूट धारी अकबकाया। ओ.के.। ओके मैम! उसने मोबाइल से नंबर मिलाया। हिदायत दी।

-जी चलिये मैम!

मां चल दीं। उनके पीछे-पीछे फूल का गुलदस्ता थामे हुए मैं।

रास्ते में मां की कोई परिचित मिल गईं। अपना शॉल लहराते हुए बोलीं- अरे, अभि बेटा इत्ता बड़ा हो गया। और तू? तू इतनी दुबली क्यों हो रही है? वैसे उनके कहने से पहले ही मुझे मालूम था कि वे यही बोलेंगी और अगला वाक्य-तबीयत तो ठीक है न! और डॉक्टर साहब? हां, वो तो अपनी मंडली में चले गये होंगे। हमें पता था कि यहां तो देर होनी ही है सो हम तो जी आये ही देर से...

उफ़ ! हमें क्यों पता होता है कि वे यही बोलेंगी। उन्हें क्या मां के खोये अंदाज़ और चेहरे पर चिपकी नकली मुस्कान से पता नहीं चलता कि मां सुन ही नहीं रहीं, मां का ध्यान कहीं और है! मां तो उस सुपरवाइज़र के पीछे पीछे चलती जा रही हैं और मैं मां के पीछे।

सिर्फ़ एक आदमी के घुसने भर की जगह खुली थी, बाकी तीनों ओर कनातें तनी थीं। हम तीनों एक एक कर अंदर दाखिल हुए। बीचोबीच चार कुर्सियां और एक गोल मेज़ थी। अंदर एक कतार से सबके कपड़े टंगे थे। शायद उनकी जो यहां हाथ में ट्रे लिये, एक जैसी ज़री के पट्टे वाली साड़ियां सलीके से टांके सजी धजी घूम रही हैं।

एक कोने में मृगछाल पहने, नीले रंग में सराबोर एक दुबला पतला सा लड़का भोले भंडारी की छवि से निकलकर जैसे ठंड से सिकुड़ कर वहां खड़ा था-अपने नीले बदन पर अपनी मैली कमीज़ को गले पर लपेटे। दूर से एक पुतला ही दिख रहा था जो, सामने आ खड़ा हुआ तो उसके पूरे शरीर में सिर्फ़ दो आंखें ही दिख रही थीं, उजली-चमकती सी, जो नीली मिट्टी से सनी उसकी निर्जीव देह पर एकमात्र ज़िंदा चीज़ लग रही थीं। उसकी पलकें झपकने पर ही लगा कि वह मिट्टी का बेजान नहीं, जीता जागता इंसान का बच्चा है।

मां ने उसकी कलाई थाम कर उसे एक कुर्सी पर बिठाया और खुद दूसरी पर बैठीं। मैंने फूल का गुलदस्ता मेज़ पर रख दिया पर रखते ही लगा जैसे भगवान शिव को फूल चढ़ा रहा हूं। मैंने वापस उसे अपने हाथ में उठा लिया।

अपनी हथेली उस लड़के के माथे पर फिराते हुए मां सुपरवाइज़र की ओर मुड़ीं-कपड़े कहां है इसके। फौरन पहनाइये। कैसा ठंडा बदन हो रहा है, उफ़।

सूटधारी ने घबराकर पहले उसके सिर से जटा उतारी, फिर उसके गले में लिपटी कमीज़ की आस्तीन उसकी बांहों में चढ़ाने लगा तो लड़के ने खुद ही उसे पहन लिया और ऐसी मुद्रा में आ गया जैसे उसे स्कूल में क्लास से बाहर निकाल दिया गया हो। जटा उतारने से मेकअप की परत माथे पर साफ़ दिखाई देने लगी। वह कभी मां की ओर देखता, कभी सूटधारी की ओर जैसे पूछ रहा हो कि मेरी ग़लती क्या है।

-ठंड लग रही थी वहां बेटा ? मां ने उस लड़के से पूछा तो जवाब सूटधारी से आया - मैम, बर्फ़ तो सिर्फ़ सामने है। पीछे थर्मोकोल है लक्ड़ी...

मां ने सूटधारी को हथेली दिखाकर बरज दिया।

अब लड़के ने डरे-सहमे से 'ना' में सिर हिलाया - नहीं, ठंड नहीं लग रही थी वहां। बोला कुछ नहीं।

-कुछ गरम पिओगे बेटा?

'ना' में उसने फिर सिर हिला दिया। मुझे शक हुआ, कहीं यह गूंगा तो नहीं। पर वह सुन पा रहा था!

-सूप लाऊं? चाय? मेरे मुंह से निकल गया-गरम गरम!

उसने फिर सिर हिला दिया। जैसे चाभी से भरा गुड्डा हो।

-क्या खाओगे? मैंने उसके सपाट पेट की ओर देखते हुए पूछा।

-पूरी भाजी। इस बार वह बोला-सूखे होंठों को जीभ से तर करता हुआ।

-डोंट वरी मैम! मैं अभी एक प्लेट में खाना लाने का ऑर्डर देता हूं मैम!

सूटधारी, अपने गले पर 'बो' कसता हुआ, बाहर की ओर निकल गया।

उसके बाहर जाते ही लड़के ने हिचकते हुए मां से पूछा-मेरा पइसा नईं कटेगा न? माई की दवा के लिये चाहिये।

मां एक पल को रुकीं, फिर पूछा-मां बीमार हैं?

इस बार उसने 'हां' में सिर हिलाया।

-कितने पैसे की बात हुई?

उसने दाहिने हाथ की पांच उंगलियों को खोलकर दिखाया। एक एक उंगली जैसे एक-एक हथेली हो।

-पांच हज़ार?

-नहीं, पांच सौ! वह पांचों उंगलियों को खोलता बंद करता है।

-स्कूल जाते हो?

-स्कूल में इस्त्री का कपड़ा पहुंचाने जाता हूं।

मां ने एकाएक अपना पर्स खोला और लिफ़ाफ़े में रखे सारे नोट निकालकर उसे थमा दिये- रख ले बेटा। आना कभी मिलने। साथ में अपना पुराना कार्ड भी जो मां की प्रैक्टिस के समय का विज़िटिंग कार्ड था।

वह मुंह बाये देखने लगा-इतना सारा? उसकी आंखें फैल गईं।

तब तक वह सूटधारी आता दिखा तो लड़के ने जल्दी से मृगछाल की छाप वाले कपड़े के नीचे पहने अपने धारीदार कच्छे में नोटों को खोंस लिया।

-मैम, खाना मंगवा दिया है! वी विल टेक केअर। उस सूटधारी के पीछे पीछे एक सुसज्जित कन्या खाने से अंटी पटी प्लेट के साथ होंठों पर नपी-तुली मुस्कान लेकर हाज़िर थी।

-आप लोग भी चलें। सूटधारी फिर एअर इंडिया के महाराजा की मुद्रा में झुक गया।

शादी है या नौटंकी! हर कोई अपनी अदाकारी के पैसे वसूल रहा है। एअर इंडिया के महाराजा से लेकर सुंदरी बालाओं तक!

मेरी भूख तो इन नौटंकियों से मर चुकी थी। तब तक दूल्हा-दुल्हन का पदार्पण हो चुका था और मंच पर उनके विराजने से पहले ही उन्हें शुभकामनाएं देने वाले मेहमानों की कतारें लंबी होती जा रही थीं।

मां ने पापा को ढूंढने के लिये इस कोने से उस कोने तक चारों ओर नज़र घुमा ली। पापा कहीं दिखाई नहीं दिये तो मां ने कहा-चलो, खाना ले लेते हैं। हमने भोजन की परिक्रमा शुरू की। उस विशाल प्रांगण के विशालकाय भोज समारोह में दक्षिण से लेकर गुजरात-राजस्थान और चीनी-इतालवी-थाई से लेकर कॉन्टीनेन्टल खाने के स्टॉल्स को निहार -निहार कर हम दोनों अपना पेट भर चुके थे। मां ने सलाद से और मैंने कॉर्न चीज़ पास्ता से अपनी प्लेट भर ली और बेमन से खाने पर जुट गये। मां खा तो क्या रही थीं, टूंग रही थी। मेरी ओर देखकर शायद अपने आप से कह रही थीं-कैसा पैराडॉक्स है। करोड़ों की शादी और एक गरीब को ठंड खाने के पांच सौ दे रहे हैं, यहां से जाकर चाहे उसे निमोनिया पकड़ ले।

-आपने अपना कार्ड तो दे दिया है न मां, आपके पास आ जायेगा।

मैंने कहने को कह दिया पर उस भोले भंडारी की पूरी-भाजी की मांग ने मेरे लिये कॉर्न-पालक-चीज़ पास्ता को नफ़ीस छुरी कांटे से खाना दुश्वार कर दिया था।

पापा अब तक नहीं आये थे। मैं अगर न आता और पापा इसी तरह मां को अकेला या किसी ठस सी चमकीली दोस्त के पास छोड़कर चले जाते तो मां को कैसा लगता, यह सोचने से मैं अपने को रोक नहीं पाया। शायद इसीलिये, पापा के साथ कहीं बाहर चलने के लिये, मां तैयार नहीं होतीं!

जब मैं गरमा-गरम गुलाबजामुन पर, ठंडी-ठंडी आइसक्रीम और चॉकलेट सॉस डालकर, खाने बैठा तो पापा हड़बड़ाते हुए आये-अरे, चलो उठो जल्दी। मैं क्यू में अपनी जगह रखवा कर आया हूं। मिसेज़ देसाई के पास। चलो, नये जोड़े को विश कर आयें पहले।

मैंने आधा खाया, आधा छोड़ा और पापा की हुक्मउदूली में अटेंशन में खड़ा हो गया।

मां ने पापा से कहा-आप खा तो लेते...

पापा ने फिर उसी खुमारी में कहा - अहह...इतने स्टार्टर्स खाये कि मेन कोर्स के लिये तो पेट में जगह ही नहीं बची अब! चलो, बी रेडी!

और हम पापा के पीछे पीछे मार्च करते से चल दिये।

कतार वाकई लंबी थी। कतार के करीब ऑर्केस्ट्रा वादक, मेहमानों की फ़रमाइश पर, पुराने वाद्ययंत्रों पर पुराने हिंदी फिल्मी गीत बजा रहे थे-अजीब दास्तां है ये...कहां शुरु, कहां ख़तम...ये मंज़िलें हैं कौन सी...न तुम समझ सके न हम! देसाई आंटी के साथ पापा गीत की धुन पर सिर हिला-हिला कर मस्ती में झूम रहे थे।

गीत खत्म हुआ तो पापा ने कहा-लिफ़ाफ़ा निकाल कर हाथ में रख लो।

मां ने कुछ नहीं कहा।

-लिफ़ाफ़ा? कहां है?

-नहीं है! मां ने सीधे कहा।

-मतलब? लेकर तो चली थीं तुम।

-हां, पर मैंने कहीं दे दिया

-दे दिया? कहीं? मतलब?

मां चुप रहीं ।

मां के असमंजस को भांप कर मैंने पापा को संक्षेप में उस भोले भंडारी की कथा सुनानी शुरु की! पर पापा बीच में ही चिहुंक कर बोले-यानी तुम्हारी मां ने लिफ़ाफ़ा उस शिवजी के पुतले को शगुन में दे दिया?

मां की बेवकूफी पर पापा इस तरह फिसफिसाकर हंसे जैसे देख रहे हों कि किसी और ने तो नहीं सुनी यह बात।

-क्या करना है मैडम अब! फरमाइये! पापा ने चढ़ी हुई आंखों से पूछा।

मां ने अपना पर्स खोलकर एक का चमचमाता सिक्का लगा, विघ्नविनाशक गणपति का सुनहरा उभरा हुआ चित्र बना, लाल केसरिया रंग का शगुनी लिफ़ाफ़ा निकाला और पापा को थमा दिया-खाली है। आप अपने वॉलेट से डाल दो इसमें...जितना देना है!

-क्या? वॉलेट से? पापा का खुमार एकबारगी जैसे उतरा। वे मां के नज़दीक आये और बौखलाकर शब्दों को चबाते हुए बोले-आर यू मैड? मैं कैश लेकर चलता हूं कभी? क्रेडिट कार्ड दे दूं कि आप निकाल लो इसमें से? क्या पागलपन हो रहा है! देखो, तुम्हारे पर्स में कितने हैं?

मां ने खाली पर्स दिखा दिया।

-कम ऑन! कम ऑन! लेट्स गो! पापा का चेहरा अब तमतमा रहा था। उनका सारा खून जैसे चेहरे पर चढ़ आया था।

मिसेज़ देसाई ने रोका-अरे...अरे...कहां जा रहे हैं डॉक्टर साब?

-सॉरी, हम कुछ भूल आये हैं मिसेज़ देसाई! अभी आते हैं! विल बी बैक इन अ मोमेंट!

पापा ने मां को इतनी ज़ोर से बांह से पकड़ा कि मां की हल्की सी चीख निकल गई।

पापा, मां को लगभग खींचते हुए, बाहर ले जा रहे थे। मैं तेज़ तेज़ कदमों से मां की ओर चल रहा था कि कहीं कुछ अवांछित घटित न हो जाये।

गेट पर एअर इंडिया के महाराजा बने दो बुत अपनी लाल पाग और काली मूंछों के साथ अब भी विनम्रता में झुके खड़े थे।

कुछ ही पलों में हम अपनी गाड़ी के सामने थे। पापा ने पहले बगल वाला दरवाज़ा खोला और मां को उस सीट पर बिठा दिया। फिर दरवाज़ा धांय से बंद करते हुए अपनी ड्राइविंग सीट पर जाकर बैठ गये पीछे की सीट पर बैठते ही मेरा मन हुआ कि मां के कंधे पर हाथ रखूं पर पापा का तेवर देखते हुए मेरे हाथ जहां के तहां रुक गये।

पापा ने एक झटके के साथ गाड़ी स्टार्ट की और छूटते ही तीसरे गिअर में डालकर गाड़ी को आड़ा तिरछा चलाने लगे-हाउ कुड यू डू सच अ फुलिश थिंग।

-बात का बतंगड़ बना रहे हो! क्या फर्क पड़ता! ये फूल देकर विश कर सकते थे न!

-फूल! ये फूल! ये सवा दो सौ रुपये का बुके! एक प्लेट की कीमत वहां पंद्रह सौ से कम नहीं थी।

गाड़ी ने एक तेज़ घुमाव लिया और हम सब एक ओर लुढ़क गये।

-पापा! तो क्या हमें तीन प्लेट की कीमत चुकानी थी वहां।

-शट अप अभि! तू तो मत बोल!

-कार्ड में तो ओन्ली ब्लेसिंग्स लिखा था न! मां ने धीमे से कहा।

-ओन्ली ब्लेसिंग्स? ओन्ली ब्लेसिंग्स! वो आम पब्लिक के लिये है। उनके अपने स्टाफ़ के लिये है। ग़रीब पेशेंट्स के लिये है। हमारे लिये नहीं। समझीं?

मां अजीब सी नज़रों से पापा को देखती रहीं ।

-लिफ़ाफ़े के बिना ही शगुन कर आईं? खाली लिफ़ाफ़ा हमें दिखाने के लिये रख लिया? लिमिट! आखिर वो लड़का तुम्हारा कौन लगता था जिसे शगुन के पैसे थमा आईं तुम? हं...बोलो।

-प्लीज़...मां ने पापा को चुप कराने की कोशिश की ।

-अपने फितूरों में चलती हो तुम! ह-मे-शा ! ह-र वक्त! मां चुप हो गईं।

-मैं तंग आ गया हूं तुम्हारे इन ट्रेंड्स से

मां ने ऐसी आंखों से देखा जैसे सबकुछ बिना शब्दों के सिर्फ़ आंखों से ही कह डालेंगी।

-जहां जाती हो एक न एक तमाशा खड़ा कर देती हो और.. ..यू थिंक कि दुनिया को बदल डालोगी

मां चुप बनी रहीं पर मैंने देखा उनका पूरा शरीर थरथराने लगा था।

-एंड बाय द वे, वो मेरे पैसे थे! माय मनी! माय हार्ड अर्न्ड मनी! एक मिनट नहीं लगाया और पांच हज़ार उसे पकड़ा दिये! फ़ाइव थाउज़ेंड! बग़ैर मुझसे पूछे तुम्हारी हिम्मत कैसे हुई-मेरे गाढ़ी कमाई के पैसों को, इस तरह एक दो टके के लड़के पर, उड़ाने की।

मां ने स्टीयरिंग पर हथेली दबा दी।

गाड़ी तेज़ हॉर्न के साथ हिचकोले खाने लगी।

-हां, पैसे! तुम्हारे पैसे! शर्म आती है कहते हुए? मां चीख रही थीं-यही पैसे थे न तुम्हारे, जब नोटों के बंडल पे बंडल भर कर ले गये थे सिद्धू को मेडिकल में एडमिशन दिलाने। डॉक्टर बनाना चाहते थे उसे...मां की रोती हुई या चीखती हुई आवाज़ में फ़र्क कर पाना मुश्किल था।

मां कांप रही थीं-नहीं बनना चाहता था वह डॉक्टर!...नहीं करनी थी उसे मेडिकल की पढ़ाई...मां की आवाज़ उनके भीतर की सारी पसलियों को चीरते हुए एक दबे हुए विलाप की तरह बाहर आ रही थी-तुम्हारे पास ये नोट, ये तुम्हारी गाढ़ी कमाई के पैसे न होते तो मेरा बेटा आज ज़िंदा होता। तुम्हारे इन नोटों ने मेरे बेटे की जान ले ली. ...आज मेरे बेटे की शादी हो रही होती...वह इस तरह बिजली के खंभे से टकराकर अपनी जान न दे देता...बाप नहीं, हत्यारे हो तुम! मार डाला तुमने उसे! मेरा बेटा आज ज़िंदा होता...और मां ने चलती गाड़ी का दरवाज़ा खोल दिया था-सिद्धू! मेरा बेटा। अचानक ब्रेक लगा और मां की देह, आधी गाड़ी के भीतर और आधी बाहर, झूल रही थी।

मेरा दिमाग़ सुन्न हो रहा था। मेरे सामने एक तिलिस्म टूट रहा था। यानी सिद्धार्थ भैया की मौत एक हादसा नहीं, खुदकुशी थी।

मेरे सामने जाले छंट रहे थे और गहरा रहे थे।

.....

घर जाकर मां को होश आ गया था पर वह बेहोश पड़ी रहीं।

घर पहुंच कर मैंने नोट नहीं गिने।

मैं मां के पास ही बैठा रहा।

मां ने मुंदी हुई आंखें खोलीं।

मेरे कंधे पर उन्होंने हाथ रखा ।

वह स्पर्श आज मैं महसूस कर पा रहा था।

मैंने उनकी हथेली को अपनी हथेली से ढक दिया। n

पता : 1702, सॉलिटेअर, डेल्फी के सामने
हीरानंदानी गार्डेन्स, पवई, मुंबई-400076
मो. : 09757494505
मो.: sudhaarora@gmail.com

निर्वासिता

n मधु कांकरिया

''हैलो! हैलो! हाँ! बोलो...बोलो! ''

तुम्हारा फोन क्या आया, लगा कुछ तो वापस लौट आया है मेरा। जिंदगी कान में फसफुसायी-''लो मैं आ गयी। बूंद बूंद...पिघलने लगी बर्फ, उफ, गोला सा कुछ तो अटक गया या कि आवाज ही रूँध गयी शायद तुमने भी इसे महसूसा, तुम्हारे अंदर भी कांप रहा था कुछ शायद भावनाओं की चांदनी और अपराध बोध का मिलाजुला असर था, तुम बोले जैसे गहरे कुएं से आई डूबती लटपटाती सी कोई आवाज ''सॉरी ममा...'' तुम कुछ संभले, कुछ रुके आखिर भावुकता का इजहार तुम्हे दुर्बलता की निशानी लगती और दुर्बल तुम थे नहीं, इसलिये जल्दी ही तुम असली बात पर आ गये थे, तुमने दो साल, सात महीने सत्ताइस दिन और दो हजार किलोमीटर की दूरी से हिचकते हुए कहा ''...ममा, तुम दादी बनने जा रही हो'' ''क्या?'' इतनी खुशी? मैं गड़बड़ा गयी।

ओह कितनी गलत थी मैं, सोचती थी कि अब कोई आवाज, कोई खुशी, कोई अहसास, कोई खबर छू नहीं पाएगी मुझे। पर जिंदगी की महक से भरी यह आवाज! भूल सकती हूँ कभी इसे?

बहुत देर तक तुम्हारी लहराती आवाज पहाड़ी हवाओं की तरह मन के खंडहर में मृदंग सी बजती रही ''सॉरी ममा, तुमसे मिलने आ नहीं सका'' कितना ताकतवर था वह क्षण जिसकी लपट मे पिछला सब कुछ धुल पुछ गया था। सब गिले शिकवे चौखट के बाहर। उस क्षण का एक ही सत्य था- मैं और एक नन्ही कोंपल जो हमारे बीच एक कोमल सा अहसास लेकर आ रही थी। उस एक महान क्षण के बाद से तो मेरी जिंदगी ही जैसे बदल गयी थी। अड़ोस-पड़ोस, आसमान के चाँद-सितारे ,बादल-बारिश और यहाँ तक की गली के कुत्तों बिल्ली तक को खबर लग चुकी थी कि एक खूबसूरत घटना मेरी जिंदगी में घटने वाली है...मैं अब पूरी तरह दो मैं में बंट चुकी थी। एक मैं अभी-अभी उगे इस रिश्ते की पंखुड़ी-पंखुड़ी को सलीके से खोलने में लग गया था। दूसरा मैं उड़ता हुआ दूर जा पहुंचा उस अलस्सुबह जब तुमने पहली बार किसी विदेशी आसमान को छूने के लिये उड़ान भरी थी।

यह वह समय था जब भारतीय सॉफ्टवेयर इंजीनियर कैलीफोर्निया की सिलिकन वैली मे कामयाबी की नयी गाथाएँ लिख रहे थे। तुम्हें भी वहीं की किसी कम्पनी मे सॉफ्टवेयर डेवेलपमेंट के लिये आमंत्रित किया गया था। पांच साल छह महीने और सत्रह दिन बाद तुम भारत लौटे थे और लौटते ही तुम्हारा तबादला मुम्बई हो गया था। देखते-देखते तुम कामयाबी की बौछारों में भींगते चले गये और मैं आवाजों से दूर अपने ही रचे सन्नाटों में सूखती चली गयी।

उसके बाद आज! सालों बाद आज तुम तुम से लगे। सचमुच का बुलावा, सचमुच के तुम। लगा सम्भावनाओं ने अभी तक पूरी तरह पल्ला नहीं झाड़ा है।

दादी होने के अहसास ने मुझे एक स्वप्न का गुलाम बना दिया था और गुलाम कभी शांति से जी नहीं सकता है इसलिये हर पल मैं अपने स्वप्न के भविष्य की नोक पलक संवारने में लगी रहती। हरपल मेरे भीतर इंतजार उगता रहता। इंतजार- एक नन्हे ईश्वर का जो मुझे मेरे अंश के साथ जोड़ने वाला था। और एक दिन रिश्तों की पिछली मटमैली छाया को धो पोंछकर मैं तुम्हारे यहाँ। अचानक, अप्रत्याशित मुझे देख तुम बहुत खुश हुए।

सूर्य किरणों की रोशनी में तुम्हारी खुशी, तुम्हारी कोमल हँसी झिलमिलाई!

खुशी के रंगों से भरी तुम्हारी आवाज, ''अब मत जाना ममा, बहुत अकेली रह चुकी हो, तुम्हारा दिल भी यहाँ बहला रहेगा और ऋचा को भी हेल्प मिल जाएगी।'' लगा अरब सागर की सारी नमकीन हवाएं जैसे बहते हुए हमारे घर ही चली आई थी। मैं सचमुच बहुत खुश थी कि वक्त ने तुम्हारी आत्मा पर जो गर्दिश उगा दी थी वह झड़ गयी थी। आखिर थे तो तुम मेरा ही खून, एक सर्वथा आत्मकेंद्रित जिंदगी कैसे जी सकते थे?

.....

तुम्हारे यहाँ हर दिन जीवन का नया आविष्कार हो रहा था। हर शाम मेरे पास एक नयी कहानी होती और उसे सुनाने को बेताब होती मेरी आत्मा। तुम्हारे घर मे काम करने वाली बाइयाँ और उनकी दुनिया...। हर दिन मेरी दुनिया में नए झरोखें खुल रहे थे। मैं हैरान थी यह जानकर कि तुम्हारी सोसाइटी मे मुस्लिम बाइयाँ हिन्दू नाम रखकर काम करती थी। नसरीन निशा बनी हुई थी, नूर बानू नीरा और जीनत खुद को जया

बता रही थी। मैंने देखा कि दुल्हन के हार की तरह जगमगाती इसी मुम्बई से बस 50 किलोमीटर की दूरी पर ही एक ऐसी अंधेरी, अभावों से पटी, सूखे जिस्मों, भूखे-नंगे और मैले कुचैले लोगों से भरी मुम्बई थी जहां हर सांस दहशत से भरी थी, जहां हर पाँव में छाला और हर हथेली में गट्टा बने हुए थे जहां हर रात एक उचटी हुई नींद थी,. जहाँ महीने भर पहले ही एक ही परिवार के दो सदस्यों की मौत आधे घंटे के भीतर ही सिर्फ इस कारण से हो गयी थी कि उनके घर में रोशनी का एक कतरा भी नहीं था। घटना पाताचापानी गांव की थी जो कि मुम्बई-मंत्रालय से महज 50 किलोमीटर की दूरी पर पहाड़ी पर बसा छोटा सा गांव था जहां वर्ली जाति के आदिवासी रहते थे। एक शाम मूंज की खटिया पर सभी सोए हुए थे कि परिवार के मुखिया के ऊपर झाड़ियों से सरसराता हुआ सांप चढ़ गया। दर्द से बिलबिलाते हुए उसने हाथ को झटका। अंधेरे में उसे कुछ दिखा नहीं। साँप पास मे ही लेटी उसकी बेटी पर गिरा। बेटी चीखी। आसपास के लोग दौड़े हुए आये। खौफ जगाते और हिंसक जानवरों से भरे, रात के साँय साँय करते नीले काले अंधेरे में, मशाल के सहारे वे जब तक साँप का विष निकालने वाले ओझा गुणी को लाते दोनों ही नीले पड़ चुके थे।

इस घटना ने मेरे दिमाग में इतना असर डाला कि मैंने घर की सारी अनावश्यक बत्तियों को बंद कर दिया। 'क्या जरूरत है तेज रोशनियों के इस इंद्रजाल की? ड्रॉइंग रूम में एक हल्की ट्यूब लाइट ही काफी है।' किचन और मेरे अपने कमरे की बत्तियाँ भी बुझा दी मैंने, 'क्या जरूरत है, बाहर से तो रोशनी आ ही रही है' ऋचा का कमरा बंद था इसलिये वह जैसा था वैसा ही रहा। जैसे ही तुम ऑफिस से लौटे तुम्हारे माथे पर तीन सिलवटें पड़ी, ''मामा इतना अंधेरा सा क्यों है, कोई फेज उड़ गया है क्या? कितना डिप्रेसिंग लगता है यह अंधेरा।''

मैं चालू हो गयी-जानते हो बेटा, यहाँ मुम्बई से ही महज थोड़ी ही दूर पर दो जाने सिर्फ इसलिये चली गयीं की उनके घर के पास रोशनी का कोई मरियल सा कतरा भी नहीं था।'' और सांस रोक कर मैंने सारी घटना तुम्हे कह सुनाई इस उम्मीद में कि शायद तुम भी कुछ सोचो।

मेरी बातों को तुमने सुना, चबाया और फिर च्यूंगम की तरह थूकते हुए बोले-रिलेक्स ममा, ऑफिस से आया हूँ, दिन भर में यूँ ही हजारों तनावों से गुजरता हूँ, कभी बॉस की फटकार, कभी रिपोर्टी का लापरवाही का रवैया, कभी ऋचा से झिकझिक, कभी ट्राफिक जाम, कभी बारिश, कभी चिलचिलाती धूप, कभी सेल्स टार्गेट का दबाव। पिछले कई महीने से कम्पनी घाटे मे चल रही है सो अलग। माथा यूँ ही भन्नाया रहता है। कुछ हल्की फुल्की बात करो। कुछ हंसी-खुशी की बात करो ...कहाँ की साँप काटने की बात लेकर बैठ गयी तुम भी।

क्या? मैं फुंक गयी। सांस फूलने लगी मेरी। उड़ती सी एक नजर डाली तुम पर-थकान के बादलों से घिरा तुम्हारा चेहरा, असमय ही उड़ते बाल, कम्प्यूटर पर निरन्तर झुकते रहने के कारण पीठ का स्थायी दर्द। सच मुझे आते ही यह सब नहीं कहना था। आगे से सावधान! पालतू बिल्ली की तरह मन को समझाया मैंने। लेकिन भीतर से एक दुबली सी आह भी निकली-'ओह! तुमको कम्पनी लग गयी है जिसके घाटे की इतनी चिंता है, पर जीवन घाटे में जा रहा है इसकी कोई चिंता नहीं है?'

''हिम्मत जुटा फिर आती हूँ तुम्हारे पास, बेटा छोड़ क्यों नहीं देते ऐसी नौकरी जो हमेशा तनाव में रखे तुम्हे।''

उजबक की तरह मेरे चेहरे को देखने लगे तुम जैसे सोच रहे हो कि किन शब्दों में मुझ कूढ़ मग्ज को समझाया जाए। फिर शब्द शब्द को चबा चबा कर बोले, ''ममा, जहां भी जाऊँगा मुझे पैसा और पॉवर दोनों की लड़ाई लड़नी ही पड़ेगी, क्योंकि मुझे दोनों ही चाहिये।

'पॉवर लेकर भी क्या उखाड़ लोगे यदि जीवन में जीवन ही नहीं रहा मैंने उसे कहा नहीं, कहना जरूर चाहती थी पर तब तक उसकी पुतलियों के रंग बदल चुके दी और मैं डर की गिरफ्त में आ चुकी थी।

.....

रात सो नहीं पाती, छोटी सी नींद, बड़ी सी रात। रात भीतर रात, कई कई रात। स्याह रात। आँखें बंद करती हूँ...अंधेरा। दिखने लगती हैं दुलारी की लाल लाल आँखें (जिसके पति और बेटी दोनों सर्प-दंश से मर गये थे), यदि कुछ नहीं किया गया तो उन आँखों की आग भस्म कर देगी दुनिया को। खोलती हूँ...अंधेरा। सब चल रहे हैं इसी अंधेरे में। कहीं समृद्धि का अंधेरा, कहीं गरीबी का। थक गयी हूँ इस अंधेरे में अपने स्व को खोजते-बचाते। खुद को ढीला छोड़ देती हूँ। पल भर के लिये लगती है आँख, लगता है स्वप्न। स्वप्न भीतर स्वप्न. देखती हूँ स्वप्न कि अब मैं कभी बूढ़ी नहीं होऊंगी क्योंकि मैं स्वप्न देखने लगी हूँ। स्वप्न एक नन्हें के आगमन का जो फिर से जोड़ेगा मुझे मेरे अंश से। महीना, दो महीना, तीन चार देखते-देखते सात मास बीत गये। अमूनन मैं पूजा पाठ में यकीन नहीं करती, लेकिन मैं चाहती थी कि मातृत्व और भ्रूण की मंगल कामना के लिये यदि ऋचा की सहमति हो तो ऋचा का सतमासा पूजा जाय, मैने हिम्मत कर कहा भी पर तुम्हें यह सब पाखंड लगता। नीली रेशमी टाई की गाँठ को ढीला करते हुए तुम झल्लाए, ''भ्रूण हत्याओं वाले इस देश में सतमासा पूजन? इससे बढ़कर पाखंड और क्या होगा?'' मैंने समझना चाहा-''इस भटके हुए देश में यह बताने की जरूरत और भी ज्यादा है कि औरत की कोख से छेड़खानी कर हम सिर्फ तबाही को ही न्योता दे सकते हैं।''

तुमने इस तरह देखा मुझे जैसे जाने किस अजूबा से पाला पड़ गया हो, और शब्दों को पत्थरों की तरह फेंकने लगे मुझ पर, ''तो इसके लिये पूजा का बहाना क्यों?''

चित्रकार : आकांक्षा खन्ना

''क्योंकि यहाँ के लोगों को पूजा की भाषा ही ज्यादा समझ में आती है'' इस पूजा के द्वारा मैं कहना बहुत कुछ चाहती थी, पर कहती किससे? इन सब बातों के लिये ठहर कर बैठना जरूरी था, पर तुम बैठना भूल चुके थे, तुम्हें दौड़ने की खुजली थी।

बोलने को बेताब मेरी आत्मा फड़फड़ायी। काश मिल जाता कोई बिल्ली का बच्चा तो बतिया लेती उसी से!

.....

फिर एक सुबह सी सुबह। पत्तियों पर बजती बारिश और उससे उठता अदभुत संगीत। जल्दी उठ गए थे तुम अद्‌भुत रूप से शांत दिख रहे थे। जैसे समाधि से उठे हो। शान्त, निर्विकार। दूर कहीं कोई चिड़िया चहचहा रही थी। एक चिड़िया मेरे भीतर भी चहचहा रही थी। मैंने तुरंत ही घर के बनाए मसाले की चाय तैयार की तुम्हारे लिये। बहुत पसंद आई तुम्हे, खिली खिली निगाहों से मुझे देखते हुए कहा तुमने, ''ममा, मैं तो इतनी मसालेदार चाय का स्वाद ही भूल गया था।'' तुम्हारे स्वेटर पर बिस्किट का चूरा बिखर गया था। उसे हाथों से झाड़ते हुए बोले तुम। तुम्हारा खिला खिला चेहरा देख मैं फिर वही हो गयी। पिछले सप्ताह ही मैंने फिर एक नया दुस्साहस किया था। अकेले ही फिर अरेरा कॉलोनी निकल गयी थी। मैं अपने अनुभव तुम्हें सुनाने को बेताब थी। बस ढूंढ रही थी एक मुकम्मल मौका, जो मुझे आज मिल ही गया था।

मैंने फिर ध्यान से पढ़ा तुम्हारा चेहरा, हर कोने-अंतरे से पढ़ा, दाखिल हुई तुम्हारे भीतर...लगा सब ठीक ही चल रहा है, तुम खुश थे, सब कुछ सुरताल में बह रहा था। उस दिन की तरह थकान या तनाव का नामोनिशान नहीं था तुम्हारे चेहरे पर। आज मैं 'सेफ्टी जोन' में हूँ। संभल संभल कर कहना शुरू किया मैंने, ''बेटा, क्या तुम जानते हो कि यहाँ से महज 60 किलोमीटर दूर एक बच्ची को शाम के झुटपुटे में तेंदुआ उठा कर ले गया ,यहीं अरेरा कॉलोनी के पास, संजय गाँधी नेशनल पार्क से जुड़ा एक गाँव है वहीं की घटना है यह। माँ रोटी बना रही थी और बच्ची सामने ही आंगन में खेल रही थी, पीछे झाड़ियों से आया तेंदुआ और हल्के अंधेरे का फायदा उठा खींच ले गया उसे। गाँववाले जब तक पीछा किए, आधे से ज्यादा हिस्सा खा चुका था वह बच्ची को। यहाँ के आदिवासियों का कहना है कि जो तेंदुआ उनकी लड़की को उठा के ले गया था वह बाहर से लाया तेंदुआ था जिसे वन विभाग टूरिज्म बढ़ाने के लिये लाता रहता है। यहाँ के पले बढ़े जानवर हमें पहचानते हैं, सदियों से हम साथ साथ रह रहे हैं। वे हम पर कभी हमला नहीं करते हैं। हमें देखकर भी साइड से निकल जाते हैं। बहुत ही नारकीय हालातों में रह रहे हैं ये 56 गांव के आदिवासी। फिर भी ये यह नहीं चाहते हैं कि बाघ और तेंदुए जैसे हिंसक जानवरों को खुले जंगलों से निकाल उनकी घेराबन्दी की जाए, दत्तु तादेकर, जिनकी बच्ची को तेंदुआ उठाकर ले गया वे तक कहते हैं कि घेराबन्दी से इन जानवरों को तकलीफ होगी, हम तो सिर्फ यह चाहते हैं कि हमारे उन गांवों को सुरक्षित कर दिया जाए जो जंगलों के अंदर नहीं वर्ना किनारे किनारे हैं, गुस्सा सरकार पर है जो दोनों की जिंदगी और आजादी से खेल रही है। मेधा पाटकर हैं इनके साथ। क्या तुम लोग इनके लिये कुछ नहीं...''

बात मैं कायदे से पूरी भी नहीं कर पाई थी कि तुम्हारे चेहरे का रंग बदला, आँखों में लपट सी कुछ उठी, पुतलियों के रंग बदल गये। अपने सूखे ओठों पर जीभ फेरते हुए कुछ तल्ख कुछ डूबते स्वर में तुम फनफनाए, ''ऊफ ममा, रिलेक्स! सुबह ही सुबह इतनी डिप्रेसिंग बातें क्यों करती हो। खुश रहा करो ना! चिल करो।'' और चाय का प्याला अधूरा छोड़ झल्लाकर चले गए।

क्या? एक हँसते खेलते बच्चे को तेंदुआ उठा कर ले गया और यह कह रहा है चिल करो, किस दुनिया में हूँ मैं? क्या संवेदना की सारी ही टहनियाँ टूट गयी? क्या यह है मेरा अंश? आज महसूस हुआ भूख और मौत के बाद संसार का सबसे बड़ा दुख है अपने अंश को बेअंश होते हुए देखना।

दिमाग सुन्न! मन मलवा! बैठी रही अडौल। अवाक। जैसे सदियों से यूँ ही बैठी हूं-सहमी, अपमानित... और युग फड़फड़ाते हुए निकल रहे हैं मेरे ऊपर से। सन्निपात के रोगी की तरह बड़बड़ाने लगी मैं, ''ऑफिस से आते ही नहीं बोलूं, सुबह नहीं बोलूं शाम नहीं बोलू, तो फिर कब बोलूं? लोगों के जीवन की दारुण त्रासदी पर बोलना क्या डिप्रेसिंग बोलना हो गया?

सवाल नहीं सवालों के गुच्छे उगने लगे भीतर।

आँखें मूंद लम्बी लम्बी सांस खींचने लगी मैं।

थकी उम्र और बंद आँखों के आगे बादल के टुकड़ों सा तैर जाता है अतीत की स्मृतियों का एक टुकड़ा। रांची से कुछ दूर गुमला जिले के कुछ गांवों में आदिवासी कल्याण आश्रम नामक संस्था के साथ आदिवासी और वन-जीवन समझने के लिये चली गयी थी। तुम भी साथ में थे मेरे। वहीं पछुवा गांव में ठंड से ठिठुरती कुछ अर्धनग्न ठिठरियों को देख तुम इतने द्रवित हुए थे कि जैसे ही हम वापस लौटे अपने घर, मैने देखा तुम मेरी अलमारी के सामने खड़े थे। मैंने समझा तुम्हें पैसे चाहिये, मैंने पूछा क्या चाहिये? तुमने हकलाते हुए कहा, ममा मुझे कुछ साड़ियाँ चाहिये। क्या? मैं तो सोच भी नहीं सकती थी ऐसा जवाब। तब तुम महज दस साल के थे। तुम्हें सहला-पुचका कर पूछा तो जाना कि तुम्हे साड़ियाँ चाहिये थीं उन नंगी ठिठरियों के लिये।

बहुत दिनों तक मैं खुद को कोसती रही थी, मुझे नहीं ले जाना था तुम्हें वहां पांखुरी से भी कोमल तुम्हारे मन पर अनजाने ही जाने कितनी खरोंचें डाल दी थी मैंने।

''वही तुम! आज कह रहे हो...चिल करो''

इतनी ऊँची शिक्षा, इतनी प्रतिभा और सिर्फ पेट के दायरे मे सिमटा जीवन? तुम रोशनी के फरिश्ते बन सकते थे पर क्या बन गये? किसने बदल दिया तुम्हें इतना? कहाँ गया वह मन जिसकी एक एक पांखुरी को कितने सलीके से खोला था मैंने? ठंडी होती चाय को देखती रही। पीने की इच्छा ही जैसे मर गयी थी।

थोड़ी देर बाद तुम लौटे, अधपीयी चाय खत्म कर थोड़े करीब आए, मेरी आँखों में झांका, आँखों की कोरों में अटके आंसुओं ने जाने क्या कहा कि तुम्हारे भीतर भी कुछ तो पिघला, मेरे कंधे पर हाथ रखते हुए भापदार शब्दों में बोले, 'ममा, कितना कुछ तो है घर में फिर भी तुम खुश क्यों नहीं रह पाती? कुछ तो टॅबू है तुम्हारे दिमाग में जो तुम्हें खुश रहने से रोकता है। मेरा दोस्त कहता है कि हम मिडिल क्लास भारतीयों का दिमाग है ही ऐसा कि हम खुशी भी खुलकर नहीं मना पाते उसमें भी हमें गिल्ट फीलिंग होती है. तुम अपने को ही देखो ममा, दुखी

रहते रहते शायद तुम्हारी दुखी रहने की आदत ही हो गयी है। आसमान से दुख बटोर लाती हो तुम भी।

ओह नो! ठंडे पसीने से नहा जाती हूँ मैं। कैसे समझाऊं, कैसे समझाऊं तुम्हें कि मैं इसलिये दुखी हूँ कि एक धरती और योनि में जन्म लेने के सम्बन्ध बहुत गहरे होते हैं पर...पर तुम नहीं समझोगे? बोलना चाहकर भी बोल नहीं पाती कुछ, गले से जाने कैसी तो गो गो की आवाज निकलने लगती है। चेहरे पर जबरन ओढ़ी मुस्कान अड़ियल बच्चे की तरह हाथ छुड़ा कर भाग खड़ी होती है। अपमान की कालिमा से काले पड़े मेरे चेहरे को देख तरस आ जाता है तुम्हें, पुचकारते हुए कहते हो तुम, 'सेण्टी हो गयी ममा, बुरा मान गयी मेरी बात का।''

आँखों में उभरी हताशा और आक्रोश की बाढ़ को जबरन रोकती हुई मैं किचन की ओर खिसक जाती हूँ, जाने कितनी बार किचन और बाथरूम बने है मेरे शरण स्थल। मन ही मन कहती हूँ, बुरा मानने की विलासिता हमारे हिस्से कहाँ? वैसे भी हम हिंदुस्तानी औरतों की खाल इस उम्र तक आते आते इतनी मोटी हो जाती है कि इतने छोटे मोटे अपमान हमारे ऊपर से गुजर भर जाते हैं, हमारी आत्मा को जख्म नहीं दे पाते। तुम्हारे भीतर फिर कुछ पिघला, इसलिये फिर खुशामदी पर उतर आए तुम। चाय की प्याली को सिंक में रख मुस्कान बिखेरते हुए दोस्तानी आवाज में बोले, ''एक बात बताओ ममा, मुझे यहाँ रहते रहते चार साल होने आए, मुझे अरेरा कॉलोनी के बारे में पता तक नहीं, तुम्हें कहाँ से पता चल जाता है इतना?''

मैं भी पिघली, लेकिन जब्त कर रखा मैंने खुद को-हे मन मेरे! यह निमंत्रण बात आगे बढ़ाने का नहीं है वरन् हो चुकी बात के साइड एफेक्ट को कम करने का है, जिससे थोड़ी बहुत जो भी साझी दुनिया है हमारी वह निर्विघन चलती रहे।

.....

फिर एक चमकता दिन.... फुरसत की चादर और उसमें दुबकी मैं!

आज ऑफिस से पहली बार सीटी बजाते बजाते आते देखा तुम्हें। शायद तुम्हारे सेल्स टार्गेट पूरे हो गए थे इस कारण बहुत खुश नजर आ रहे थे तुम। आते ही चहके तुम, ''आज मैं एक ऐसे रेस्टोरेन्ट में गया जहां वन हंड्रेड ट्वेंटी तरह के डोसे थे, पचास तरह की चॉकलेट थी।'' ऋचा ने कहा, ''हमें भी वहां ले चलो'' ऋचा से निपटकर तुम फिर मेरी मनुहार करने मे लग गए, ''चलो ममा, इतने दिन हुए तुम्हें मुम्बई आए हुए, अभी तक कहीं घुमा ही नहीं पाया, चलो आज चौपाटी घूम आते हैं।'' मैं निहाल...पौने तीन साल हुआ था ऋचा को घर की बहू बने, आज पहली बार उसके साथ बाहर घूमने के लिये निकल रही थी मैं। धूप के साए थोड़े सिमटे तो हम निकले। गाड़ी में म्यूजिक चलता रहा। एकाएक तुमने देश के राजनीतिक क्षितिज पर अन्ना आंदोलन से नये नये उभरे नेता अरविंद केजरीवाल पर कुछ टिप्पणी की, मैं उससे सहमत नहीं थी। भीतर लहर उठी, तुम्हारा प्रतिवाद करूं पर मैं चुप रही। बैल बना लिया खुद को। अनुभव ने सिखला दिया है कि बैल बन जाओ तो बहुत से बेमतलब के दुख भाग खड़े होते हैं।

जूहू चौपाटी! समुद्र! लहरें! आवाजें! उड़ते परिंदे! खिलखिलाते बच्चे! प्यार करते जोड़े! हाथों में गुंथे हाथों वाले जोड़ों को देख तुमने भी ऋचा का हाथ हौले से अपने हाथों में थाम लिया था। मेरी हथेलियाँ अचानक शुष्क होने लगी थी। भीतर कुछ कुलबुलाने लगा। पीठ का दर्द चिलक उठा। हाथों से ध्यान हटा मैं आसमान में खरामा खरामा उड़ते गुब्बारे में कैद लालटेने देखने लगी। और सोचने लगी कि मैं आज कुछ भी नहीं बोलूंगी, जाने क्या है कि जब भी मैं बोलती हूँ मेरे भीतर से दुख-दर्द ही बोलते हैं और तुम्हारे अच्छे भले मूड पर कैंची चल जाती है। मैं सतर्क रही कि मैं आज कुछ भी नहीं बोलूंगी।

एक चुप सौ सुख!

मैं बहुत देर से चुप ही थी, तुम कई बार कह भी चुके थे, अम्मा क्या मौन धारण है? थोड़ी देर बाद फिर कहा तुमने, ''अम्मा कुछ तो बोलो।'' अब नहीं बोलने का मतलब था अपनी नाराजगी दिखाना। यूं भी बोलने के लिये तरसती मेरी रूह को तुमने क्या सहलाया झर झर टपकने लगे शब्द जैसे झरते हैं पत्ते पतझड़ में पेड़ से। पिछले दिनों ही मैंने मलेशिया के कबीलों पर एक अद्भुत किताब पढ़ी थी। क्यों न उसी के बारे मे बात करूं। इसमें कुछ भी ऐसा नहीं था जो तुम में अपराध बोध पैदा कर तुम्हारे सुख सुहाग को मलीन करता। मैंने बहुत सावधानी से एक खूबसूरत बात उनकी तुम्हे बताई, ''जानते हो बेटा मलेशिया में एक कबीला है 'सिनोई कबीला'। इस कबीले के लोगों के बीच एक विचित्र नियम है कि सुबह उठते ही परिवार के सभी सदस्य एक साथ बैठते हैं और पिछली रात देखे गये अपने स्वप्नों को सबके सामने कहते हैं। फिर वे इन स्वप्नों की व्याख्या करते हैं। वे मानते हैं कि ये स्वप्न उन्हें पूर्वजों से जोड़ते हैं और पूर्वज इन स्वप्नों के माध्यम से उन्हें उनके जीवन के निष्कर्ष और आने वाली समस्याओं का समाधान और आनेवाले दुख का निदान सुझाते हैं। इसलिये सब सामूहिक रूप से उस दिन की योजना तय करते हैं। मैंने यह भी जोड़ा कि बहुत पहले मैंने स्वप्न देखा था कि लोग नमक का स्वाद ही भूल गये हैं, भर भर मुट्ठी नमक मिला रहे हैं खाने में पर खाना वैसा ही नमकहीन और बेस्वाद बना हुआ है। अब बताओ इस स्वप्न की क्या व्याख्या हो सकती है? क्या संकेत दे सकता है यह स्वप्न?'' अपनी बात समाप्त कर मैंने बड़ी हसरत से देखा तुम्हारी ओर। इस बार तो शर्तिया तुम खुश होगे, कितनी विचित्र बात मैंने बताई थी तुम्हें। पर कुछ पल तुम्हारा चेहरा प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह की तरह भावहीन बना रहा। फिर तुम झुंझलाए, छोटी सी उबासी लेते हुए सूखी आवाज मे मेरी बहकती बातों पर एक दहकती टिप्पणी जड़ते हुए बोले, ''ममा यार, कहाँ पहुंच गयी तुम भी? मलेशिया! अरे अपने घर और अपने देश की बातें खत्म हो गयीं क्या, नॉर्मल आदमी की तरह स्वादिष्ट बात क्यों नहीं करती ममा, खाना तो इतना स्वादिष्ट बना लेती हो??'' बोलते हुए तुम अपने रीबोक के जूते में लगी समुद्री बालू को जोर जोर से झाड़ने लगे थे, जैसे मेरे विचारों को झाड़ रहे हो।

लो फिर क्या हो गया ?इसबार क्यों चिढ़े तुम? माजरा क्या है? कुछ भी बोलूं पासा उल्टा ही पड़ता है? पानी में डोलती परछाई की तरह क्या फिर पकड़ नहीं पाई तुम्हारे मन को?

कानी नजर से देखती हूँ, ऋचा तो नहीं कहीं आस पास? चल रही हूँ, मुस्कान को ढीठ की तरह चेहरे पर ओढ़े, साथ-साथ चलता जा रहा है अंधेरा। हीरामन की तरह तीसरी कसम खा लेती हूँ, जो भी हो जाए अब कभी नहीं बोलूंगी इससे, सिवाय जरूरी बातों के, कि दूसरे दिन ही टूट जाती है कसम। तुम्हारे दोस्त की माँ की मृत्यु हो जाती हैं। उन दिनों नेत्रदान करवाने का भूत सवार था मुझ पर। अभी तक चार

परिवारों में नेत्रदान करवा भी चुकी थी। यह मौका खोना नहीं चाहती थी। इस कारण निर्लज्ज-ढीठ बच्चे की तरह फिर आई तुम्हारे पास, ''सुना है तुम्हारे दोस्त की माँ की मृत्यु हो गयी है।'' तुमने गर्दन हिलाई, मुलामियत से देखा मेरी ओर, मेरा साहस लौटा। झिझकते स्वर में अपनी आवाज के एक-एक टुकड़े को जतन से जोड़ते हुए फरियाद की, ''बेटा, मैं चाहती हूँ कि तुम आगे बढ़कर उनके नेत्र दान के लिये पहल करो।''

तुम्हारे भाव फिर पलटे। माथे पर सिलवटें गहरायी। कठोर नेत्रों से ताका तुमने मेरी तरफ, ''ऊफ ममा, कितना बोलती हो तुम भी, कुछ भी बोलती रहती हो, यह तो सोचो कि उस महिला ने जिंदगी में बहुत कष्ट झेला है अब शांती से क्या उन्हें मरने भी नहीं दें, मरने के बाद भी उनकी चीर फाड़ करें। और यह भी तो सोचो, ऐसे गमगीन मौके पर बोलूं भी तो कैसे? क्या सोचेंगे उनके घरवाले मेरे लिये?'' आक्रोश, परेशानी और खिन्नता के मिले जुले ये टुकड़े तुम्हारी आवाज से तारों की तरह टूटे थे।

टहनी सी फिर टूटी मैं। क्या कुछ गलत कह दिया मैंने? क्या दिमाग ठीक काम नहीं कर रहा मेरा? क्या मेरी सोच पर कोहरा छाया हुआ है? कहाँ तो पढ़ा था कि शादी होते ही औरत की अक्ल का एक तिहाई घास चरने चला जाता है और बच्चों के बड़ा होते ही बचा एक तिहाई खुद घर छोड़ भाग जाता है। तो क्या मैं सिर्फ बचे खुचे एक तिहाई अक्ल से काम कर रही हूँ?

'अरे, इसमें बुरा क्या है और कौन जाने उनके बेटों में सद्‌बुद्धि आ जाए और तैयार हो जाएँ वे नेत्रदान के लिये...तो दो आदमियों की दुनिया रोशन हो जाए।'' रोक नहीं पाती खुद को, चूहे की तरह धड़कते दिल को थाम आखिर बोल ही देती हूँ।

इस बार चोले से बाहर निकल आए तुम, ''ममा प्लीज, क्यों भेजा फ्राई करती हो अपना? क्यों हमारे मामले में दखलंदाजी करती हो? आने वाले बच्चे की सोचो, मां हो घर की खुशहाली की सोचो। दादी बनने की सोचो और खुश रहो...''आवाज में खीज, विद्रोह और असंतोष की मिली जुली छायाएं मचल उठी थी।

क्या कहा? मैं सिर्फ बच्चे के लिये ही सोचूं, पीड़ित मानवता के लिये नहीं लगा जैसे घर की छत एकाएक टूट कर गिर गयी है मुझ पर! नहीं, यह मेरी दुनिया नहीं, यह मेरी रचना नहीं, यह मेरा अंश नहीं! नहीं जी पाऊँगी मैं इस भावशून्यता की बदबू में!

क्या मेरे होने में ही है ऐसा कुछ जो प्रेरित करता है कि मैं कुछ नहीं बोलूं और बोलूँ तो भी सिर्फ बेटे-पोते, गहने-कपड़े, जेली, आचार, मुरब्बा के कोकून में ही बंद रहूं? व्यतीत के धुंधलके से धुंधला जाती है आँखें, झांकने लगता है एक और चेहरा, जिसे जाने कब बहा दिया था मैंने समुद्र की उत्ताल लहरों के बीच। जब भी घर गृहस्थी से इतर बात करना चाहती, झल्ला जाता वह चेहरा, 'उफ कितना बोलती हो तुम भी'' चुप रहते रहते लगता था कि ओंठ ही चिपक गए हैं मेरे। लगता मेरी धमनियों में खून नहीं शब्द और शब्द ही बह रहे हैं, बाहर आने को बेताब अनकहे शब्द!

नहीं, तुम मेरे नहीं अपने पापा का ही अंश हो वे ही बह रहे हैं तुम में। मैंने समझा था कि उस अतीत को मैंने समुद्र में बहा दिया है, पर आज समझी जीवन अपने साथ बहाकर कुछ भी नहीं ले जाता, लौटा लाता है बार बार, समुद्री लहरों की तरह। तुम कहते हो कि मैं माँ हूँ इसलिये सिर्फ अपने घर की खुशहाली के लिये ही सोचूं पर इतना याद रखना मेरे बच्चे कि जिस दिन माँए पूरी धरती की माँए बन जाएंगी, दुनिया की तस्वीर बदल जाएगी।

बढ़ते वक्त के साथ फैलने लगती है खामोशी। अपने ही खोल में बंद पोटली सी पड़ी मेरी काया दिन पर दिन सिकुड़ने लगती है। डूबा देती हूँ खुद को पूरी तरह किताबों में। आखिर ये ही हैं मेरी सच्ची साथी। नपी-तुली बातें तुम से-खाना लगा दूं? चाय बना दूं? कब तक आओगे? ऋचा को ले जाऊं चेकअप के लिये?

दार्शनिकता की चादर में दुबका देती हूँ खुद को। ऐसे ही झटके दिखा देते हैं विराट। वेदों में लिखा है 'पुत्र से बढ़कर कोई शत्रु नहीं', उपनिषद में लिखा है, 'प्रियं त्वां रौस्यसि' (तुम्हारा पुत्र ही रुलाएगा तुमको) यदि मेरे लिये कोई कल हुआ तो नहीं रहूंगी इस कॉप्सुल घर में। सांझ की धूप सी सरक जाऊँगी, निःशब्द, खामोश, टकराऊंगी लहरों से, लेकिन इस माटी में खुद को नहीं रोपूंगी बस एक बार निपट जाए ऋचा की डिलिवरी। दुनिया बहुत बड़ी है।

शांत, खामोश और बोरियत से भरे दिन गर्म हवाओं की तरह गुजर रहे हैं। गिनगिन कर गुजार रही हूँ दिन, कब आएगी डियु डेट ऋचा की? सबकुछ अच्छे से निपट जाए।

एक दिन झुंझला कर खींच लेते हो, ''तुम किताब मेरी-क्या ममा, दिन भर किताब में ही डूबी रहती हो? कुछ बोलती ही नहीं, पास बैठो...मुझसे कुछ बात करो। देखो, तुम्हारे लिये क्या लाया हूँ।'' खिड़की के बाहर खड़े पलाश के पेड़ों के हरियाले पत्तों से हट कर नजरें तुम पर टिक जाती है। तुम्हारी आँखों में वैसी ही जिद्द, वैसी ही वेबसी, वैसा ही प्यार, वैसा ही उतावलापन है जैसा दूर बचपन में तुम्हारी आँखों में झलकता था जब मैं कपड़े धोने में मशगूल रहती थी और तुम छीन लेते थे मेरे हाथ से साबुन-'पहले मुझसे बात करो।'

मैं फिर वही हो जाती हूँ। निहाल! गदगद! भीतर जाने क्या पिघलता है कि डबडबा जाती हैं आँखें। आँसुओं के झिलमिलाते पर्दों से देखती हूँ तुम्हें, वैसा ही भोलापन आँखों में, वैसी ही भरे बादलों सी नेह भरी निश्छल आँखें? क्या मैं ही पकड़ नहीं पाती तुम्हारे व्यक्तित्व के रेशों को जो सेमल के फूलों की तरह उड़ते रहते हैं दिन भर? क्या नौकरी का तनाव बदल रहा है तुम्हारा व्यक्तित्व? इस महीने नंबर पूरे हो गये थे तुम्हारे। क्या इसीलिये नजर आ रहे हो इतने खुश? तुमसे दूर रहकर क्या मैं खुद एक शून्य में नहीं बदल जाऊँगी? जी पाऊँगी? तुम्हारी गुनगुनी आवाज का यह टुकड़ा 'मुझसे कुछ बात करो' चैन से बैठने देगा मुझे कहीं भी? फुदकेगा नहीं मेरे आसपास? पर तभी भीतर कहीं गहरे से उठती है एक और आवाज। उतनी ही तेज-'जिन पेड़ों को छोड़ आए उनकी छायाओं के लिये क्यों लौटना? कोई भी शून्य स्थायी नहीं रहता, जीवन और प्रकृति देर सबेर भर ही देते हैं किसी भी शून्य को। मुझे वहाँ जाना है जहां चहक सकूं, बांट सकूं खुद को रेशा-रेशा उफनती समुद्री लहरों की तरह टकरा रहीं हैं दोनों आवाजें। मन के कूल किनारों से। n

पता : फ्लैट न. 602-एच, विंग ग्रीनवुड्स काम्पलेक्स, चाकाला बस स्टाप के निकट, अंधेरी कुला रोड, अंधेरी ईस्ट, मुंबई-93
मो. : 09167735950

भय

n आशा प्रभात

आज फिर हर्ष दो निवाला खाकर शीघ्रता से निकल गया है ऑफिस। समय से पूर्व। उसी उतावली में, जिस प्रकार कुछ दिनों से भाग रहा है। और वह ठगी सी देखती रह गयी है नाश्ते की प्लेट में अपने सधे हाथों बनाए उसके लिए गोभी के पराठे को। मेज पर भरे हुए रखे टिफिन को। संशय के हजारों पंख उग आते है उसके मस्तिष्क में। क्या हो गया है इस लड़के को आजकल? ऐसी क्या परेशानी है जो उसे इतना उद्विग्न कर रही? न हाय, न बाय, न जाने की विदा मांगना। न आते समय भी बताना। चिन्ता विचित्र-विचित्र शक्ल अख्तियार कर कचोटे लगाने लगती है उसे। परेशान हो उठती है सुजाता दुख के क्षणों में प्रहार करती इस दुखद स्मृतियों से लाख संयम बरतने का उसका संकल्प छिन्न-भिन्न होने लगता है।

स्मरण करने की कोशिश करती है कि वह इतना क्या हर्ष इतना उदास और गुमसुम रहा था कभी। जवाब मिलता है नहीं। बल्कि सदा से खुशमिजाज रहे हर्ष की शोखी उम्र के साथ और बढ़ती गयी थी। एम.बी.ए. में लिए प्रतिष्ठित संस्थान ज्वाइन करने के बाद तो उसके होंठ सदा तिरछे रहते। चाल भी बांकी हो गई थी। आंखों में विचित्र-सी चमक दिखती। इंस्टीट्यूट से आते ही चाभी दिए गुड्डे की तरह शुरू हो जाता दिन भर का हाल सुनाने-

''पता है मॉम, मेरे इंस्टीट्यूट में फिफ्टी परसेंट लड़कियाँ तो होंगी ही। कितनी बेबाक और बोल्ड हैं सभी। नाम मात्र को भी झिझक नहीं है उसके अन्दर। बल्कि लड़कों में ही कई इतने संकोची हैं कि लड़कियाँ अक्सर फब्ती उन पर कसती रहती हैं और उसका मजाक उड़ाती हैं।''

''हां बेटा समय बहुत तेजी से बदल रहा है। आजकल की लड़कियों का आत्मविश्वास और फ्रेंकनेस देख कर बहुत अच्छा लगता है मुझे भी।'' सुजाता कहती।

पर जाने कैसी चिन्ता है जिसे वह जबरन दबाने का प्रयास कर रहा है हर्ष? ढाई वर्ष हो गए उसे नौकरी ज्वाइन किए। अच्छी कम्पनी में। तनख्वाह भी अच्छी है। स्वयं भी आकर्षक व्यक्तित्व का मालिक है। फिर काहे की फिक्र? कई बार वह उससे पूछ भी चुकी है-''कोई पसंद की लड़की हो तो बताओ। फौरन शादी करवा दूंगी।'' खामोश रह जाता है। और उसकी यही खामोशी उलझा देती है उसे सैकड़ों सवालों के जाल में।

ऐसा कभी हुआ है कि इंसान जहाँ रहे वहाँ उसका कोई समाज न हो? और वह उसके बंदिशों से आजाद हो? अपने कुलिग और सहेलियों को जवाब देते-देते थक गई है वह भी कि जल्द कर रही है हर्ष का विवाह। रिश्ते भी तो कितने आ रहे हैं। सब को कितने बहाने बनाये वह टालने के लिए। परसों ही तो मिसेज श्रीवास्तव पूछ बैठीं-''कब कर रही हो हर्ष की शादी, या दहेज-वहेज का कोई चक्कर है?'' उनके तल्ख शब्द, विद्रूप हंसी गहरे तक चुभ गई थी उसके मन में। जी में आया कड़ा-सा जवाब दे उन्हें कि --हर्ष कोई दूध पीता बच्चा है जो उसे कोई भी झुनझुना थमा दूँ? अब पहले वाला समय नहीं रहा जब समाज या रिश्तेदारों के दबाव में बेमेल शादियाँ कर दी जाती थीं बच्चों की। अब अभिभावक होने के दंभ में उनके जीने के अंदाज को इग्नोर नहीं कर सकते हम। उनकी पसंद-नापसंद का ख्याल रखना जरूरी है। अगर उनकी पसंद को इग्नोर करना भी चाहेंगे तो नहीं करने देंगे वे।'' पर वह चुप रही। इन बातों को क्या मिसेज श्रीवास्तव नहीं समझती हैं, किसी-किसी की आदत होती है दूसरों को टीज करने की। उसे लगा। पर हर्ष भी तो यह मौका सहज उपलब्ध करा रहा है सभी को। कुछ पूछो तो चुप रहता है। या बात आरंभ होते ही भाग खड़ा होता किसी बहाने वहां से बिल्कुल आज की तरह। जिस तरह समय से पूर्व आफिस के लिए भागता है। उस तरह समय से कहां आता है घर। कभी आता भी है तो अपने कमरे में बंद हो जाता है। दो प्राणियों वाले इस घर में एक का मौन रहना अजीब ही तो है। मानो किसी गटर में जीना।

कसक-सी उठी उसके दिल में। पति का सहारा नहीं मिला। पुत्र की आत्मीयता में सहारे जी रही है इस वीराने में। यह वीराना क्या उसकी नियति बन जायेगा? वह स्वावलंबी है, पर अर्थ जिन्दगी का अर्धसत्य है। यदि यह पूर्ण सत्य होता तो लाखों, करोड़ों के मालिक आत्महत्या नहीं किया करते। आत्मीयता भरे बोल बहुत मायने रखते हैं जीने में। वह भी इस भरम को तोड़ना नहीं चाहती। इसलिए हर्ष पर दबाव बना रही है शादी के लिए। जाने क्यों वह चुप्पी साधे बैठा है। न खुद कुछ कर रहा न उसे करने दे रहा। उसके कुछ न कहने और अपनी कहते रहने से अब कोफ्त होने लगी है उसे।

कभी-कभी उसका आंतरिक भय अक्रांत कर देता है उसे... कहीं हर्ष का झुकाव समलैंगिकता की ओर तो नहीं है? कितना क्षुब्ध थी आरती अपने इकलौते बेटे सुरेश के इस आचरण और हाईकोर्ट के उस फैसले पर जिसने इस संबंध पर वैधता की मुहर लगाई थी। क्रोध से उबल रही थी वह-'' अब सुप्रीम कोर्ट का उस संबंध को अवैध ठहराना भी क्या असर डालेगा इन दीवानों पर? देख रही है न सुजाता, दबा, ढका संबंध

(कुकर्म) अब चौक चौराहों पर मुंह उधारे कैसे विहंस रहा है। कैमरों के सामने अपनी चाहतों को जायज ठहराने अधिकारों के लिए चीखते चिल्लाते या हर्ष से हंसते चेहरों को देख क्या इनके माता-पिता या सगे-संबंधी भी इसी हर्ष का अनुभव कर रहे होंगे? इसी सहजता से स्वीकार कर रहे होंगे इस असहज, अप्राकृतिक रिश्ते को? उम्र का यह ज्वार हर्ष का प्रवाह क्या इसी भांति प्रवाहित रहेगा सदा इनके भीतर? कितनी बेगानी है यह पीढ़ी अपने आस-पास से अपनों से? समय तेजी से बदल रहा है तो क्या वह मात्र ढलान की ओर बह रहा? लड़कों का लड़कों की ओर लड़कियों का लड़कियों की ओर बढ़ता यह आकर्षण कहां ले जायेगा रिश्तों की मर्यादा को, सृष्टि के नियम को? उसके बाद तो वंश डूबा ही समझो।'' कहकर फफक पड़ी थी वह।

भय की ठंडी लहर-सी दौड़ गयी थी सुजाता के रग-रग में। सच ही तो कह रही है आरती। यह कैसी उल्टी आंधी बह रही है देश-दुनिया और समाज में? आधुनिक होने का यह मतलब तो नहीं कि हम पुनः आदिम मानव बन जाएं। निरंकुश जीएं समाज परिवार को धता बताएं। अपनी खुशियाँ अपनी चाहतें अपनी तुष्टि संतुष्टि अपना जीवन। उस जीवन में। किसी और की न दखल, न साझेदारी। मात्र अपनी शर्तों पर जीना। समझ नहीं पाती सुजाता कि यह कैसा जीना है या भय से पलायन करना है? यदि हर्ष का भी झुकाव इस ओर हुआ तो? ओह नो ऐसा नहीं होना चाहिए-बिल्कुल नहीं होना चाहिए। बर्दाश्त नहीं कर पायेगी वह यह सच। आरती की पीड़ा वह समझ रही है, उसकी पीड़ा का कारण भी तो यही भय है। यह सच मात्र उतना ही नहीं होगा कि उसका बेटा गे है। अपनी इच्छानुसार जी रहा है। जियेगा भी अपना जीवन। सामाजिक और प्राकृतिक तौर पर आधा-अधूरा जीवन। सृष्टि के प्रतिकूल। पर वह कैसे जी पायेगी अपने सपनों, इच्छाओं, चाहतों तथा खुशियों का अंत देखकर। ''क्या अपनी संतान से तनिक सुख की अपेक्षा करना अपराध है?'' यही प्रश्न न किया था उस दिन आरती ने उससे। आज वह स्वयं से पूछ रही है यह प्रश्न बार-बार।

कैसे हर्ष को समझाये वह। कैसे अपनी शंका व्यक्त करे? ज्यादा जोर देने पर कहीं वह कह बैठा--''आप भी न मम्मा, जाने किस युग में जी रही हो? यह सब तो अब कॉमन बात है। सोच कर ही कांप जाती है वह। समय के साथ अनकॉमन बातें कॉमन हुई हैं। उसके समय में यह समय भी कहां इतना उदार था। तब प्रेम भी अक्षम्य अपराध था अभिभावक की नजरों में। अब समाज भी है और अभिभावक भी समझौता करना सीख गए हैं। बल्कि एक ऐसा दोराहा आ गया है उनके सामने कि पक्ष में सोचकर परेशान हैं विपक्ष में सोचकर अधिक परेशान है। उदार बने तब कष्ट न बने तो तिरस्कार। भावावेश में भीषण प्रवाह में श्रद्धा, समर्पण जैसे भाव मानो तिरोहित हो गए हैं।

आरती का पीड़ित स्वर-''हम कहां मना कर रहे हैं बच्चों को अपनी जिन्दगी जीने से किन्तु वे भी तो परवाह करें हमारी। हमारी भावनाओं की। हैरान हूं मैं रिश्ते में नित नये चेहरे देखकर। लिव इन रिलेशन शिप। सरोगेट मदर अंग्रेजी शब्दों के आवरण में ढके रिश्तों का भय। ऐसे में किसी से समर्पण की उम्मीद पालना? यहाँ आकर उलझ जाती है सुजाता! नई राहें खोजना। उन पर चलना अलग बात है पर मंजिल तक पहुंचने की चाह या जिद विपरीत बातें हैं। एक ओर इन्हें रिश्तों से जकड़न का एहसास हो रहा तो दूसरी ओर बंधन बिना असुरक्षा का बोध। ऊहापोह की यह स्थिति संबंधों का उत्सव नहीं मनाने दे रहा। तनाव, अवसाद और हिंसा भावनाओं पर हावी हो रहे। अखबार या टी.वी. रोज तो यही लिख और दिखा रहे हैं।''

वह जानती है अति महत्वाकांक्षा, करियर के प्रति सजगता और सब कुछ जल्द पा लेने की ख्वाहिश में सब कुछ ढहा देने का जुनून। जिज्ञासा में हो रहे बहुत से एक्सप्रियेंसेस कुछ से भी वंचित रहना मंजूर नहीं इस पीढ़ी को। इनके आगे चुनौतियां अधिक हैं। परन्तु संसारिक अनुभव कम। किससे कहे वह यह सब। हर्ष जो सोचेगा, समझेगा उसे ही उचित ठहरायेगा। उसके आगे सारी दुनिया सिमट आयी है। माना बटन क्लीक करो देख लो लेकिन देखा हुआ क्षद्म भी हो सकता है, इसे समझने, इसके तह तक जाने का समय कहाँ है इनके पास। इन लोगों की समझ में अगली पीढ़ी ठहरा हुआ तालाब है जिसके पास समय ही समय था देखने जानने और भोगने के लिए। हर्ष के मित्रों के बीच होती वार्ताएँ उसे अक्सर विचलित करती रही हैं और वह रिजर्व होती गई थी हर्ष से बात करने में। रिजर्व होने में हानि उसी की थी। अकेली पड़ जाने की। चाहती हर्ष पहले की तरह घर आते ही दिन भर का अनुभव सुनाए। हंसे-हंसाए। उसके मन का सन्नाटा दूर कर दे। आफिस में कुलिगो के बीच फॉर्मल बातें सन्नाटे को तोड़ती जरूर थी पर घर का सन्नाटा उसे विवश कर देता। उसके प्यार, दुलार, सहारा और सांत्वना के सहारे परवान चढ़ता हर्ष पर उसके पीछे कोई ऐसा हाथ जो उसका सहारा बनता। सदा अभाव रहा। ऐसे में हर्ष में उसने अपना अतीत, वर्तमान और भविष्य भी देखा तो क्या यह उसका अपराध था? कैसे कह देती-उससे उसे कोई उम्मीद नहीं। वह स्वावलंबी है। अर्थ के मामले में। तन्हाई का विकल्प क्या अर्थ हो सकता है? तो कैसे चिंता न होती उसे हर्ष की। कैसे तटस्थ रहे वह यह सोचकर कि हर्ष अब बड़ा हो गया है।

आफिस में भी अपने मन मस्तिष्क में हो रहे उथल-पुथल से निजात नहीं मिली उसे। सोचा छुट्टी के बाद आज कनाट प्लेस में ही समय बितायेगी। कौन बैठा है घर पर प्रतीक्षा में। उसने प्रयास भी किया लेकिन फालतू भटकना उसे रास नहीं आया। घर का बंद दरवाजा ऐलान कर रहा था हर्ष अभी लौटा नहीं है। वह अपने रूटिन वर्क में लग गई। कान दरवाजे की ओर लगे रहे। खाना बन गया। दो प्याला चाय भी उसने पी ली। खाना मेज पर लगा कर अपने कमरे में आ गई और बिस्तर पर अधलेटी पड़ रही भूखी। चिंता फिक्र के ज्वार में उसे एहसास

चित्रकार : भूपेन्द्र कुमार अस्थाना

तक नहीं हुआ हर्ष कब आया। वह अपने कमरे में गया। किसी खटका ने उसे सतर्क किया। चिंता के भंवर से उबर कर वह बिस्तर से उठी। कमरे से बाहर आयी।

हर ओर व्याप्त सन्नाटा रात गहराने का आभास दे रहा था। उसने हर्ष के कमरे की ओर देखा। वह रौशन था। हर्ष कब आया तनिक भी पता नहीं चला। खाना खाया या नहीं? क्या वह अभी तक जाग रहा है? वह फिर परेशान हो उठी। कैसी उलझन पाल रखा है इस लड़के ने जो उसे बेचैन किये हुये है। पहले तनिक भी उलझन होती थी उसे। फौरन चला आता था उसके पास। अब अपने स्पेस में क्या वह उसकी मौजूदगी नहीं चाहता? फिर टीस उठा उसका मन। जी में आया नहीं जाए उसके कमरे में। नहीं पूछे खाना खाया या नहीं? नहीं पूछे परेशान क्यों है? जब वह उसके लिए वांछित ही नहीं रही। सभी के अपने अपने स्पेस हैं। साझीदार हैं। नासमझ नादान तो वह ही थी। वर्जनाओं की दीवारें उठा रखी थीं अपनी भावनाओं के इर्द-गिर्द। जीवन के दिन दूसरों में अपनी पूर्णता तलाशने में नहीं कटते। नहीं सोचा उसने कभी।

अपने कमरे की ओर मुड़ी। फिर वही चिन्ता। वही दायित्व बोध। रोक न सकी स्वयं को। बच्चा और युवा में अधिक फर्क नहीं होता। बच्चा चीख-चीख कर अपनी बात मनवा लेता है। हठ करता है। युवा अपनी भावनाओं को दबाना चाहता है। परन्तु अक्सर वह असमर्थ होता है मनोभावों को छुपाने में। हर्ष जब बच्चा था कितने धैर्य से सुनती थी उसकी बातें। अब भी संयम उसी को बरतनी होगी। मुलायमियत से खोलनी होगी उसके मन की गांठ। तल्खी से रियेक्ट भी कर सकता है वह। कभी-कभी थक जाती है वह यह सोचकर इतना सहज नहीं होता माता-पिता और मित्र का किरदार एक साथ निभाना।

आहिस्ता से उसने हर्ष के कमरे का दरवाजा खोला। बिस्तर पर लेटा हर्ष टकटकी लगाए छत को निहार रहा था। धीरे से वह उसके बगल में बैठ गई। हर्ष कुछ नहीं बोला। सिर्फ करवट बदल लिया। क्षुब्ध हो उठी वह उसके इस व्यवहार से। हर्ष की इस उपेक्षा से आँखें डबडबा गई उसकी। जी में आया खूब डांटे हर्ष को लेकिन मन मसोस कर रह गई वह। डांट-डपट से परे जा चुकी थी हर्ष की उम्र।

''क्या बात है हर्ष, अभी तक जाग रहे हो?''

''नींद नहीं आ रही।'' छोटा सा उत्तर उछाल दिया उसने बिना उसकी ओर मुड़े।

''आफिस का वर्क लोड ज्यादा तो नहीं?''

''कोई विशेष नहीं है।''

''तो फिर इतना परेशान क्यों हो बेटे, दो लोगों की गृहस्थी में कितना कुछ चाहिए हमें?''

''मैं 'कुछ' के लिए कहां सोच रहा। आपने ही इतना 'कुछ' रख छोड़ा है कि ज्यादा...'' उसने वाक्य अधूरा छोड़ दिया और गहरा निश्वास लिया। उसकी बातों ने सुजाता को असमंजस में डाल दिया। समझ नहीं पाई वह। इतना 'कुछ' रख छोड़ा है वह ज्यादा है या कम। एक रीडर के लिए जीवन जीने का तरीका अलग होता है और एक एम. बी.ए. के लिए बिलकुल अलग। उसे पता है। उसे यह भी एहसास है हर्ष उसका इकलौता बेटा है, इस नाते उसका और हर्ष का कुछ भी अलग नहीं है फिर यह लड़का किस उलझन में उलझ गया है?

''कुछ तो बोल हर्ष, यह बेचैनी यूँ ही नहीं आती इंसान के अन्दर। तुमसे अधिक वक्त गुजारा है मैंने इस धरती पर। अनुभव के मामले में तुम से सीनियर जरूर हूं।'' कह कर वह हंसी। शायद उसकी हंसी हर्ष के मन की गांठ खोलने में सफल हो जाए। ऐसा होता भी रहा है पहले। तन्हाई से उपजे अवसाद से जब भी कभी हर्ष बेचैन होता था, वह डर जाया करती और फौरन कोई जोक सुनाकर हंस पड़ती। हर्ष भी हंस देता। उसे खुश रखने और स्वयं खुश दिखने के लिए कितने नाटक करने पड़ते थे उसे। तन्हाई में कभी-कभी अपने अभिनय की याद कर वह सोचती-एक अच्छी अभिनेत्री बन सकती थी वह। पर अपना सोचा समझा कब होता है इंसान का? जरा-सी भूल यानि ज्ञान को चाहने की। कितनी बड़ी सजा बन गई उसके जीवन के लिए न वह घर की रही न घाट की। घर छुड़ाया पिता जी के अंह ने। उनके थप्पड़ से उपजी जिद ने। तब मंजिल बना सम्मुख खड़ा था ज्ञान। घर छोड़ते वक्त दुख रही थी तो मात्र पिताजी के थप्पड़ की चोट। अकारण क्यों मारा उन्होंने उसे? ज्ञान से उसकी दोस्ती थी। वह उसे अच्छा भी लगता था। उसके साथ वह जीवन भी बिताने को इच्छुक थी बशर्ते पिताजी मान जाते। कट्टर कर्मकांडी ब्राह्मण पिता को पी-एच.डी. कर चुका ज्ञान का वैश्य होना ही अपमान की ज्वाला में लपेट लिया था और वे सब कर गुजरे थे जो एक एम.ए. पास लड़की के साथ किसी पिता को नहीं करना चाहिए था। कमरे बंद करना ओछे शब्द बाणों से बेधना। और थप्पड़ जड़ देना।

सुलग ही तो उठी थी वह आपाद मस्तक स्वयं को इंसान से मात्र कठपुतली समझे जाने पर। पिता के उस थप्पड़ ने वह सब कर गुजरने पर उसे बाध्य कर दिया था जो भले घर की लड़कियों के लिए नितांत वर्जित था और शेष बदनामी जो वह पिता जी को नहीं भुगतने देना चाहती थी भुगतने के लिए छोड़ कर ज्ञान के साथ चली आई थी राजधानी के अनन्त विस्तार में एक ठांव खोजने। घर छोड़ने से पूर्व ही ज्ञान को नौकरी मिल गई थी प्राइवेट स्कूल में शिक्षक की। एक कमरे का आश्रय स्थल भी तब ज्ञान के साथ किसी महल से कम सुखद नहीं लगा था उसे। नौकरी करते हुए ज्ञान किसी कालेज में स्टेबलिस्ट हो जाए प्रयासरत था। वह भी स्कूल में अर्जियां भेजते हुए नौकरी की जुगाड़ में जुट गई थी। नौकरी मिल भी गई उसे। उसी के साथ संसार का सबसे अमूल्य नेमत ने भी उसके द्वार पर दस्तक दी थी। हर्ष का उसके गर्भ में आना।

फिर वही वाक्य-अपना सोचा कब होता है इंसान का। बहुत ही मुख्तसर साबित हुई थी उसके प्यार की उम्र। जून की एक उदास दोपहरी थी जब ज्ञान का दोस्त रमन वह मनहूस खबर लेकर आया था--''ज्ञान की शादी होने वाली है वह घर चला गया है'' वज्रपात ही तो हुआ था जैसे उसके ऊपर। मस्तिष्क जैसे शून्य-सा हो गया था। बे दरख्त तो रेगिस्तान में खड़े होने जैसा अनुभव ने तत्क्षण होश शून्य कर दिया था उसे।

तीन दिनों सरकारी अस्पताल में नीम बेहोश रहने के बाद वह लौटी थी उस कमरे में तो लगा था उसे जैसे कब्र में लौटी हो हर किसी के सवालों से बचने और समाज में ससम्मान जीने के लिए विधवा का बाना पहन लिया था उसने। घर से भागी हुई लड़की किनारे से टूटी हुई उस नांव की भांति होती है जिसे मांझी चाहे तो किनारे लगा दे चाहे भंवर में डूबो दे यह उसके रहमोकरम पर हैं और इस उक्ति का महत्व आज भी बरकरार था। हाथ-पांव मारने तथा विधवा का बाना ने सहानुभूतिवश एक स्कूल में उसे शिक्षिका का पद दिलाया अब अर्थ की समस्या नहीं थी और इसी ने हौसला दी थी उसे और समस्याओं से लड़ने का। फिर तो हर्ष था वह थी और पीछे मुड़ कर देखने की फुर्सत

कहां थी उसे। और वह पल जिसने उसे फिर कभी किसी पर विश्वास नहीं करने दिया। नहीं किसी पुरुष को गंभीरता से लिया उसने। अपने मन को साध लिया था वीणा के तारों की तरह। साधने में समय और श्रम तो लगा पर एक बार जो सधा तो फिर कभी ढीला नहीं होने दिया। दूसरों पर यकीन करने से अच्छा समझा खुद पर यकीन करना, जो कभी पीड़ा का कारण न बने हर्ष का हल्का खर्राटा उभरा। दिमाग भिन्ना उठा उसका। इतनी जल्दी नींद आ गई इसे? या यह बहाना है मेरे प्रश्नों से बचने का? वह अनमना-सी उठी। बाहर निकल आई-कल रविवार है। एक आखिरी प्रयास करेगी वह हर्ष के अन्दर के अवसाद को बाहर निकालने का।

जुलाई के आखिरी हफ्ते की सुबह। रात में बारिश हुई थी। आसमान निखरा-निखरा सा था। लॉन की क्यारियों में पानी जमा था। फूल-पत्तियां धुली-पुंछी पुरवा हवा के झोंके से मस्ती में झूम रही थी। यह दृश्य छोड़ने को उसका जी नहीं किया। फिर भी हर्ष को आवाज देकर वह किचन की ओर बढ़ गई। जब तक हर्ष फ्रेश होगा चाय तैयार हो जायेगी। हर्ष को ग्रीन टी बहुत पसंद है। खास कर सुबह के समय। उसके मूड को सही रखना है आज। सप्ताह में एक दिन ही तो सकून का मिलता है रविवार। चाय का आनन्द लेने के लिए। छह दिन तो भागमभाग रहता है यहां से आफिस आफिस से घर।

चाय की ट्रे लिए वह बरामदे में आयी। हर्ष वहाँ नहीं था मेज पर चाय रख कर उसने फिर हर्ष को आवाज दी--

''हर्ष आ जाओ, चाय ठंडी हो जायेगी।''

''आ रहा हूँ।'' हर्ष की अलसाई आवाज आई।

''जल्दी करो बेटा।''

चाय की चुस्की लेते हुए वह मौन रहा। उसने भी खुद को जब्त रखा। माकूल समय देख कर बात छेड़ेगी। आज तय कर ही लेना है क्या करना है उसे। वह कुछ करेगा या उसे करने देगा?

''लगता है रात में जमकर बारिश हुई है, मौसम बहुत अच्छा हो गया है न मॉम?''

हर्ष ने कहा तो गदगद हो उठी वह। महीनों बाद आज उसमें इतनी सहजपन का अनुभव हुआ। उसने अवसर जाया न करते हुए झट बात छेड़ दी।

''हर्ष, कब तक टालते रहोगे मेरी बात?''

''कौन-सी बात मॉम?'' चाय की प्याली मेज पर रखते हुए उसने पूछा।

''तुम्हें खूब पता है मैं क्या पूछ रही हूं कोई तो जवाब दो। खीझ हो रही है अब तो मुझे।''

हर्ष कुछ बोलता, करीब से स्वर उभरा-

''घोर आश्चर्य! आज सुबह-सुबह ही कैसे जाग गया तू।'' नवेन्दु खड़ा था। हर्ष का दोस्त अभी उसे देखकर और दिनों की तरह खुशी नहीं हुई सुजाता को। इस समय को वह किसी तीसरे से शेयर करने के मूड में नहीं थी।

''तू भी तो सबेरे-सबेरे ही धावा बोलने चला आया।'' हर्ष बोला।

''आंटी जी खामोश हो गयीं, लगता है कोई गंभीर बात हो रही थी? नवेन्दु ने पूछा।

''नहीं रे, चल कमरे में चलते हैं।'' हर्ष उठ खड़ा हुआ। अपने कमरे की ओर बढ़ते हुए कहता गया दो कप चाय देना मॉम।''

झुंझला उठी वह। आज फिर हर्ष को बात टालने का मौका मिल गया।

खीझती, छींकती वह उठी। किचन की ओर बढ़ गई। हर्ष के रवैये से फिर संशय का भूत सवार हो गया उसके सर पर। जाने क्या-क्या खुसुर-पुसुर करते रहते है ये लोग? अब तो लड़के दोस्तों के साथ हर्ष को देखकर वह सहज नहीं हो पाती। बल्कि लड़कों के साथ उसे देखकर अधिक असहज महसूस करती है। लाख कुढ़ों-खीजों ये लोग सुनते कहाँ है किसी की। अपनी ही रौ में जीते हैं। सबकी उपस्थिति को नकारते हुए अपनी दुनिया में मगन। जैसे हमारी कोई जरूरत ही नहीं इन्हें। हम तो मात्र गवर्नेंस हैं देख-भाल करने वाले भावना रहित कठपुतली। चाय बनाते हुए वह चाय की भांति ही खौलती रही क्षोभ की आंच से।

चाय की ट्रे लिए वह हर्ष के कमरे की ओर बढ़ी। दरवाजा भिड़का हुआ था। खोलना चाहती थी कि अन्दर से आती आवाज पर उसके पैर वही थम गए।

''आंटी कुछ कह रही थीं, मेरे आने से अचानक चुप हो गई। कोई खास बात है हर्ष?''

''बहुत परेशान हूँ मैं यार! मॉम शादी के लिए जोर दे रही है।''

''तो फिर इसमें परेशान होने वाली क्या बात है?'' नवेन्दु ने ताज्जुब से पूछा।

''यार मैं शादी नहीं करना।''

''पर क्यों?''

''ऐसे ही।''

''क्या कोई पसंद आ गई है या लिव इन रिलेशनशिप में रहने का इरादा है?'' कह कर नवेन्दु हंसा।

''वैसा तो मैं सोच भी नहीं सकता, तू समझता क्यों नहीं नवेन्दु!''

''क्या मजाक है हर्ष, वह भी नहीं, यह भी नहीं तो फिर तू चाहता क्या है?'' नवेन्दु का स्वर खीझा हुआ लगा।

''जाने क्यों एक अनजाना-सा भय हमेशा सताता रहता है मुझे इसे मजाक मत समझ यार सच कह रहा हूँ।''

''कैसा भय हर्ष?'' चौंक कर पूछा नवेन्दु ने। कुछ पल सन्नाटा रहा। सुजाता की धड़कनें तेज हो गई थीं। भय का स्वरूप जानने के लिए उसके कान उतावले हो रहे थे ''जो एटीट्यूट देख रहा हूं आजकल लड़कियों का, ऐसे में हमारी शादी सफल होगी सोचकर ही आक्रांत हो जाता हूं। बाद में उपहास का पात्र बनने से अच्छा है शादी ही न करूं।'' हर्ष का उदास स्वर और मंशा जानकर सुजाता ने सकून की सांस लिया तो यह है इस लड़के की चुप्पी का राज। यह तो पहाड़ खोदने पर चुहिया निकलने जैसी बात हुई। यह इतना बड़ा भय भी नहीं जिसे हर्ष के मन से निकाला न जा सके।

चाय लिए वह कमरे में आई। प्याली दोनों को पकड़ाया और बिस्तर पर बैठी और बगैर किसी भूमिका के बोली,

''मैंने तुम्हारा भय सुन लिया है हर्ष, तेजी से बदलते समय में उसी रफ्तार से आगे बढ़ते लड़कियों के कदम के साथ उनकी सोच भी विकसित तथा परिमार्जित हुई है। वे अब अपने को व्यक्ति मान रही हैं और अपने साथी से उससे सहमति की अपेक्षा कर रही हैं। किन्तु इस मामले में पुरुष कहीं न कहीं ठिठके से रह गए हैं। सदियों की वही आदिम सोच अहं इतनी जल्दी छूट जाए। इसके प्रति न वे सजग हैं न प्रयासरत। मूल समस्या यहाँ है हर्ष। स्वयं को बदलो...सब कुछ ठीक हो जायेगा। भय के साथ जीवन का आनन्द नहीं लिया जा सकता। कह कर वह उठी। तेजी से कमरे के बाहर आ गई। n

पता : कोट बाजार, वार्ड न. 6, सीतामढ़ी-843302

मो. : 09470449526

एक और भीष्म प्रतिज्ञा

n स्वाति तिवारी

कालान्तर में मेरी कोई सन्तान आपकी पुत्री के सन्तान का अधिकार छीन न पाये इस कारण से मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं आजन्म अविवाहित रहूँगा। 'उनकी इस प्रतिज्ञा को सुन कर निषाद ने हाथ जोड़ कर कहा, ''हे देवव्रत! आपकी यह प्रतिज्ञा अभूतपूर्व है।' इतना कह कर निषाद ने तत्काल अपनी पुत्री सत्यवती को देवव्रत के साथ हस्तिनापुर भेज दिया।

देवव्रत ने अपनी माता सत्यवती को लाकर अपने पिता शान्तनु को सौंप दिया। पिता ने प्रसन्न होकर पुत्र से कहा, 'वत्स! तूने पितृभक्ति के वशीभूत होकर ऐसी प्रतिज्ञा की है जैसी कि न आज तक किसी ने किया है और न भविष्य में करेगा। मैं तुझे वरदान देता हूं कि तेरी इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने के कारण तू भीष्म कहलायेगा और तेरी प्रतिज्ञा भीष्म प्रतिज्ञा के नाम से सदैव प्रख्यात रहेगी। 'भीष्म ने सभी दिशाओं और देवताओं को साक्षी मानकर आजीवन ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा ली।

पता नहीं क्यों महाभारत की यह कथा मुझे पढ़ना पसंद है, जब भी यात्रा पर जाती हूँ सफर काटने के लिए यही पुस्तक उठाती हूँ। लोग कहते हैं महाभारत घरों में नहीं रखी जाती पर मैं रखती हूँ, मुझे महाभारत न रखकर घरों में महाभारत रचने वालों से अच्छा घर में रख लेना लगता है। आज इसी पुस्तक को पढ़ते हुये एक समानान्तर कथा अचानक याद आ गई है, लौट रही हूँ वापस अपने घर। मायके की देहरी से आते वक्त साथ है एक और दूसरी महाभारत की पूरी गाथा ----------मन में कितने ही सवाल थे जो अचानक आज हल हो गए थे। सोचती हूँ पिता शांतनु का वरदान क्या अलग-अलग युग में अलग अलग लोगों को हस्तिनापुर से हस्तांतरित होता रहा होगा तभी तो घर घर की महाभारतें सदियों से जारी है और पिता के उस वरदान को जो देवव्रत को दिया गया था तब से अब तक कितनी संतानों ने श्राप की तरह भोगा है, क्या युग बदल जाने से युगांतर हो जाते है ---------- मन उस वरदान और श्राप के बीच कहीं उलझा हुआ है। गाड़ी अपनी रफ्तार से चल रही है, जैसे समय चलता है पर पीछे छुट गई एक प्रेमकहानी के मर्म को कागज के पन्नों पर समेटने की जद्दोजहद से उलझी हूँ -------- शायद कोई सूत्र आपके हाथ लग जाय।

यदि आज ओसारे का छज्जा भरभराकर ना गिरता तो रूक्मिणी आत्या के जीवन के अकेलेपन को मैं इन पृष्ठों पर नहीं समेट पाती। एक हफ्ता हुआ मुझे गाँव आए। भैया का फोन आया था आई की तबीयत बिल्कुल ठीक नहीं है और पद्मा वईनी को लेबर पेन्स के साथ अस्पताल में भर्ती करवा दिया है। स्वाभाविक है ऐसे संकट के वक्त भैया मुझे ही तो याद करेंगे। पद्मा वईनी की पहली डिलेवरी है और आई चलने-फिरने से लाचार। साइटिका का दर्द बना रहता है। घर देख लेती हैं वही बहुत हुआ। अस्पताल, छोटा बच्चा, जच्चा कितने काम हैं अकेला संदीप क्या करेगा सोचते हुए मैं हफ्ते-पन्द्रह दिनों की तैयारी के साथ गाँव पहुँच गई थी। यूँ देखा जाए तो सामने वाले पुश्तैनी मकान में रूक्मिणी आत्या भी रहती हैं पद्मा को स्नेह भी उसी तरह करती हैं जिस तरह वे अपनी बहू या बेटी होती तो करतीं, पर आत्या की कोई सन्तान नहीं है। वे अविवाहित हैं और जापे-जजकी का उन्हें कोई अनुभव नहीं।

आत्या को मैंने सदा यहीं, इसी मकान में अपने मायके में देखा। वे कभी ससुराल क्यों नहीं गईं, उनका ब्याह क्यों नहीं हुआ? यह जानने की कोशिश ही नहीं की। बस घर में आत्या हैं जो जाने कब से ओसारे के बीचोंबीच लगे शीशम के खम्बे के सहारे बैठी अपने कार्य करती रहतीं। बचपन से मैंने उस खंभे से पीठ टिकाए रूक्मिणी आत्या को ऐसे ही देखा है। जब तक मेरा ब्याह नहीं हुआ था मैं भी वहीं उसी ओसारे में डेरा डाले रहती थी। एक मेज कुर्सी लगी थी। आत्या बताती हैं- बचपन में बाबा ने आत्या के लिए बनवाई थी पढ़ने के लिए, पर आत्या दसवीं से ज्यादा पढ़ नहीं पाईं, बड़ी अच्छी टेबल कुर्सी है, वो भी रेलवे-स्लीपर की लकड़ी से बनी। आई अक्सर मेरे बाबा से कहतीं, ''लड़की उस मनहूस टेबल-कुर्सी पर पढ़ने बैठती है! जिसके लिए बनी थी उसका उद्धार तो हुआ नहीं, मेरी लड़की को क्या कामयाबी दिलवाएगी?''

बाबा हँसने लगते-''मेज कुर्सी किसी का भाग्य नहीं गढ़ते?''

आत्या मेरे बाबा के बड़े बाबा (ताऊ) की एक अकेली सन्तान थीं। पुश्तैनी घर तीनों भाइयों के साथ-साथ ही लगे थे, जिसमें छज्जे, ओटले और ओसारे सब एक साथ थे। आत्या मुझे संदीप से ज्यादा लाड़-प्यार करतीं। तीनों घरों में कभी यह पता नहीं चला कि काका बाबा के घर हैं। खाना अलग-अलग बनता, पर कोई कहीं भी खा लेता। हाँ, छोटी काकू दादी थोड़ी तेज-तर्रार थी और निगरानी और लगाई-बुझाई भी कर लेती थी। वे मेरे बाबा की काकी थी। उनकी एक बेटी और एक बेटा था। इस नाते मेरी दो आत्या थी-एक रूक्मिणी आत्या और दूसरी कुमुदनी आत्या। रूक्मिणी आत्या भोली-भाली सरल हृदया और कुमुदनी झगड़ालू थीं।

मैं अक्सर आत्या के आसपास खेलते हुए ''आत्या भूख लगी है।'' या कभी ''आत्या बालों में तेल डाल दो, आत्या चोटी गूँथ दो'' जैसे अनावश्यक कामों में आत्या को उलझाए रहती। आत्या भी एक थाली में ढेर-सा खाना परोस मुझे पकड़ा देतीं और फिर ओसारे के खंभे से सटकर अपनी वायल की साड़ी में फूल टाँकने बैठ जाती या वहीं बैठी-बैठी मेरे बालों में तेल-वेल डालकर कसकर दो चोटी गूँथ देतीं। अब तक कहती हैं- ''शालू तेरे बाल इसीलिए इतने लम्बे हैं, खूब तेल डलवाती है मुझसे।''

गाँव पहुँची तो पता चला संदीप के घर बेटा हुआ-पद्मा वईनी के बेटे को सँभालना था, इसलिए तीन दिन तक अस्पताल में ही रहना पड़ा। संदीप थोड़ा बच्चा उठाने लगा, तब घर जाने की छुट्टी मिली। घर लौट रही थी तो पैर स्वतः नए फ्लैट की जगह पुश्तैनी घर की तरफ ही उठे। रूक्मिणी आत्या अब भी अकेली वहीं रहती हैं। छोटी काकू वाली जमीन बेच प्रभु काका अमेरिका चले गए और कुमुदनी आत्या पूना अपने ससुराल में हैं।

उनके दोनों बेटे डॉक्टर हैं। गाँव वाले इस घर में एक पीढ़ी गुजर जाने के बाद बस ये रूक्मिणी आत्या ही बची हैं आई के साथ और इतनी प्रॉपर्टी बेचारा संदीप ही देखता है। सिविल इंजीनियर तो है ही, बिल्डर भी हो गया है। सारी खाली पड़ी जमीन पर उसने मल्टीस्टोरी फ्लैट बनाकर बेच दिए हैं। दो बड़े-बड़े फ्लैट खुद के लिए भी रख लिए। एक खुद का और दूसरा रूक्मिणी आत्या का, पर आत्या ने घर बदलने से इन्कार कर दिया था। वे वहीं रहती हैं पास वाले पुश्तैनी मकान में, जिसे नगर पालिका ने खतरनाक घोषित कर दिया है, पर आत्या को उस भूतहा होते घर से जाने क्या लगाव है। कहती हैं, ''मरूँगी तो यहीं। इसी के मलबे में दबकर।''

विचारों में मग्न मैं दरवाजे पर पहुँच गई। दरवाजे पर अभी भी बड़ी कुंडी ही लगी है। मैं उसे किसी मन्दिर के घण्टे की तरह पकड़कर बजाती हूँ।

थोड़ी देर में आत्या ने दरवाजा खोला तो पूरे वातावरण में अजीब-सी नीरवता फैल गई। पूरे घर में जैसे आत्या की आत्मा की परछाइयाँ फैली हुई हैं। दोपहर के ढलते-ढलते शाम फैलने लगी थी। वे गर्दन उठा ध्यान से देखती हैं, फिर मुस्कराने की कोशिश में एक आत्मीय चमक उनके चेहरे पर फैल जाती है। ''अच्छा तो तू है शालूरानी?''

''आत्या, कैसी हो?'' कहते हुए मैं लिपट जाती हूँ।

''अच्छा तो पद्मा अस्पताल गई क्या?'' वे पूछती हैं।

''हाँ,उसे तो बेटा हुआ है तीन दिन का हो गया।''

''क्या?''

''तुमको नहीं बताया आई या संदीप ने?'' मुझे आश्चर्य हुआ।

''नहीं रे...आता होगा। बता देगा। अब मैं उसकी बात नहीं मान रही न इसलिए नाराज है वह।''

''कौन-सी बात?''

''यही फ्लैट में उनके साथ रहने की।''

''पर आत्या, यहाँ तुम्हें डर नहीं लगता? इतना बड़ा खाली घर। आज गिरा या कल कैसे अकेली रहती हो! मान लो ना संदीप की बात।''

''नहीं रे शालू तू भी यही चाहती है कि मैं अपने अतीत से अलग हो जाऊँ? मेरे पास भविष्य तो है नहीं, वर्तमान में ऐसा कुछ नया नहीं जिसके सहारे जिन्दा रहा जा सके। हाँ, यादों से भरा अतीत है जिसके सहारे मैंने ज़िन्दगी काट ली।''

''आत्या, अब तो संदीप का बेटा है न, वही तुम्हारा भविष्य है। उसके लिए नए घर में रहने चलो।''

''नहीं शालू मुझे जिन्दा रहने के लिए अब किसी नई रोशनी की जरूरत नहीं है। अतीत की परछाइयों के साथ मैं यहीं रहना चाहती हूँ। नए घर में जाने पर मेरा अतीत यहीं छूट जाएगा। मेरे बाद उन्हें वैसे भी कौन याद करेगा! और एक दिन मैंने भी अपने विगत में मिल जाना है। पिण्डदान करते वक्त पितरों के पिण्ड मिलाया जाता है न, बस मैं वही कर रही हूँ। जीते-जी अपने को उन पितरों से अलग नहीं कर रही। सोते-बैठते वे मुझे यहाँ महसूस होते हैं। कभी मुझे लगता है, बाबा वहाँ कुर्सी पर बैठ कैसे हुक्का गुड़गुड़ा रहे हैं। कभी लगता है, काका पास की खिड़की से आवाज दे रहे हैं- ''रूक्मी तेरी आई से पूछ क्या सब्जी बनी है।''

''आत्या, बस करो'' मैं रो पड़ी थी।

''जानती है, शालू सीढ़ियों से चढ़कर आते हुए हेमन्त की चप्पलों की आवाज तक सुनाई देती है मुझे।'' आत्या भावुक हो आई थी।

''आत्या बड़ी भूख लगी है क्या बनाया है तुमने?'' मैं वातावरण को बदलने के उद्देश्य से पूछती हूँ।

''हाँ, हाँ, चल हाथ धो। पटा डाल। मैं गरम करती हूँ, पातलभाजी और ज्वार की रोटी बनाई है।'' आत्या रोना भूल जाती हैं। घी नहीं होगा घर में इसलिए रोटी रूखी ही थी। आत्या को रोटी थाली में रखने में संकोच हो रहा था। मैंने परिस्थिति सँभालते हुए कहा, ''आजकल रोटी में घी डॉक्टर मना करता है। हमारे यहाँ सब रूखी रोटी खा रहे हैं। तुम घी मत लगाना रोटी में।''

चित्रकार : भूपेन्द्र कुमार अस्थाना

''अच्छा, अच्छा।''

प्यार भरी उन ज्वार की रोटियों में गजब का स्वाद था। रात में मैं आई के पास घर गई थी। ग्यारह बजे होंगे। हवा तेज चल रही थी। लग रहा था, बस मानसून आने ही वाला है। थोड़ी देर हुई थी कि कुछ भरभराने की आवाज सुनाई दी। एकदम चिल्लाते हुए मैं उठी और खिड़की से देखा, हमारा वह पुश्तैनी घर ताश के पत्तों के महल की तरह पसर रहा था। मैं साड़ी कमर में खोंसते हुए दौड़ी, ''आत्या, आई, आग आत्या वहीं हैं, घर गिर पड़ा।''

मेरे पीछे आई भी बाहर तक आ गई, पर मैं सुध-बुध भूल आत्या-आत्या करती पहुँच गई। ओसारे में आत्या वहीं खंभे के पास सिमटी हुई सो रही थीं। मैंने खींचते हुए आत्या को बाहर निकाला, आसपास के फ्लैट से भी लोग आ गए थे। आत्या जैसे नींद में थी। वे विश्वास नहीं कर पा रही थीं कि एक हिस्सा गिर गया और उन्हें नींद में भनक तक नहीं मिली।

उस रात आत्या मेरे साथ संदीप के फ्लैट में आ गई। आई ने दूध गरम कर आत्या को दिया। वे रोए जा रही थीं, ''शालू। आज सब कुछ खत्म हो गया इस मलबे को देख-देखकर मैं जी नहीं पाऊँगी।'' वे खिड़की में खड़ी हो देख रही थी फिर देखते ही देखते ओसारे का छज्जा भी भरभराकर धराशायी हो गया।

आत्या को मैं पलंग पर ले गई।

''आत्या आज शाम से एक प्रश्न मन में कौंध रहा है, पूछना चाहती हूँ।'' वे देखने लगीं।

''आत्या, तुमने शादी क्यों नहीं की?''

आत्या ने अपने घुटनों पर हाथ रखा, फिर उठकर खिड़की के पास चली गईं। कुछ देर चुप रहकर बोलीं, ''शादी होती तो बच्चे होते। संपत्ति वंश से बाहर चली जाती, इसीलिए।''

''तो क्या फर्क पड़ता उससे?''

''तुझे नहीं, तेरे आई-बाबा को तो फर्क पड़ सकता है ना।''

''तो क्या आई-बाबा ने?''

''नहीं रे, भाग्य ने किया मेरे साथ।''

मैं अविश्वास से परेशान हो उठी और आत्या के पास आ गई। आत्या के कन्धे पर विश्वास का हाथ रखा तो वह रो पड़ी, ''शालू''

''हाँ आत्या, मैं आपके साथ हूँ। कह डालो! अपने अन्दर के दर्द को अपनी पीड़ा को रोक रखा है तुमने। अब बहा दो, कब तक रोकोगी दर्द के सैलाब को?''

आत्या पर हुआ कोई पारिवारिक अत्याचार या उपेक्षा ही उनके अकेलेपन का उद्‌गम बिन्दु है। जड़बद्ध मूल परंपरागत चुप्पी के संस्कारों पर करारे प्रहार की ज़रूरत थी। खानदान की इज्जत के नाम पर वर्जनामूलक व्यवस्था में बने कायदे और बेटियों की आचार-संहिता की अभेद्य दीवार-तले ही ऐसे संस्कार जीवन को सड़ाते हैं। मुझे लगा शायद आत्या के शब्दों के साथ बहुरूपी सामाजिक यथार्थ वीभत्स रूप आज सामने आने वाला है। यह परिवारों और सम्बन्धों में व्याप्त खोखलेपन का ही प्रमाण सिद्ध होगा। मुझे एक अगली पीढ़ी की बेटी होने के नाते पिछली पीढ़ी की बेटी के पीड़ादाई अकेलेपन को जानना तो चाहिए ही। मैंने आत्या की पीठ पर हिम्मत का हाथ रखा।

''शालू, तू मुझे गलत मत समझना।''

''नहीं आत्या, हम दोनों इसी खानदान की बेटियाँ हैं। मात्र पीढ़ियों का अन्तर है तो क्या हुआ, दिल और भावनाएँ तो एक-सी ही हैं न।''

''मैंने तुझसे कहा था न, मुझे सीढ़ियों पर हेमन्त के चढ़ने की आवाज आज भी सुनाई देती है।''

''हाँ, पर हेमन्त कौन है, आत्या?''

''हेमन्त वही है जिससे कुमुदनी की शादी हुई थी।''

''क्या? पूनेवाले आतोबा?''

''हाँ शालू, मैं और हेमन्त एक-दूसरे से बहुत प्यार करते थे। हेमन्त अंग्रेजी पढ़ने मेरे बाबा के पास आते थे। वे इंजीनियरिंग की पढ़ाई कर रहे थे और उन्हें विलायत जाना था। बाबा को भी पता था, हम एक-दूसरे को पसन्द करते थे।

''हम एक-दूसरे पर एक दिन इसी ओसारे में समर्पित हो गए थे। प्यार का अथाह सागर था हेमन्त के पास। मैं आज भी ओसारे के खंभे के पास हेमन्त के उस सामीप्य को याद करती हूँ। महसूस करती रही हूँ, बस वही एक पल मेरे जीवन का सुख था। छोटी काकू जानती थी कि हम प्यार करते हैं। फिर भी उसने जब देखा हेमन्त विलायत से पढ़कर लौटने वाला है इतना अच्छा वर वे कुमुद के लिए कहाँ ढूँढ पातीं। बस तब हेमन्त के पिता दीवान साहब को बताया कि हेमन्त को हमारे परिवार की लड़की पसन्द है और दीवान साहब ने वचन दे दिया कुमुदिनी के लिए हेमन्त से विवाह का। हेमन्त ने केवल हमारे खानदान का नाम फोन पर सुना था और पिता से हाँ कही थी। मेरे बाबा इस सदमे से चल बसे, हेमन्त का ब्याह कुमुद से हो गया।

''मैं अभिशप्त रह गई इस खण्डहर की तरह यहीं भटकने के लिए। हेमन्त जब बारात लेकर गए तो फिर कभी इस घर की देहरी नहीं चढ़े। हाँ, पति का दायित्व निभाया कुमुद को दो बेटे देकर। तेरे आई बाबा मेरा साथ दे सकते थे, पर भाई से झगड़ा कौन ले, फिर मेरे बाद मेरे बाबा के हिस्से की यह प्रॉपर्टी तेरे भाई संदीप को ही तो मिलेगी, शायद यह विचार भी रहा हो मन में जो भी हो, पारिवारिक शतरंज पर मैं एक पिटी हुई गोट रही और मेरे बाबा हारे हुए जुआरी।''

आई जाने कब से दरवाजे पर खड़ी थी। चलकर आत्या के पास आ गई, ''रूक्मिणी ताई, तुमने मुझे गलत समझा।''

''छोड़ो आई, सब गलत थे आत्या के मामले में।'' मुझे गुस्सा आ रहा था।

''नहीं शालू दरअसल हेमन्त की शादी में मैं चुप इसलिए थी कि मैं चाहती थी कि रूक्मिणी का रिश्ता अपने गरीब भाई से करवा दूँगी, बस यही गलती हुई। रूक्मिणी ने तो भीष्म-प्रतिज्ञा ले ली थी अविवाहित रहने की।''

आई और आत्या लिपट कर रो पड़ीं और मैं भीष्म-प्रतिज्ञा के साक्षी रहे उस ओसारे के भरभराकर गिरे मलबे को देख रही थी जिसके नीचे कितना कुछ दबा। 'मन और इन्द्रियों को जीतने वाला, आसक्तिरहित बुद्धिवाला मनुष्य, जिसे कोई स्पृहा नहीं है वह, ज्ञानयोग द्वारा कर्म करते हुए भी कर्मबंधन से मुक्त होता है।' ▫

पता : ईएन-1/2 चार इमली, भोपाल
मो. : 09424011334

फिर वही शून्य

n मधु अरोड़ा

मिस्टर राय बहुत परेशान हैं। परेशान हों भी क्यों न चंद दिनों के बाद, उनसे वे सारी सुविधाएं छिन जायेंगी, जो आज की तारीख़ में उनके पास हैं। वे पछता रहे हैं कि उन्होंने अपने पैर चादर के अंदर ही क्यों नहीं रखे। यदि रखे होते तो आज ये दिन नहीं देखना पड़ता।

ये रुतबा, ये नमस्ते, उनके आने पर अधीनस्थों का खड़े होकर अभिवादन करना...कुछ भी तो नहीं रह जायेगा उनके पास। राय मध्य वर्गीय परिवार में पैदा हुए थे, जहां वे सपने तो देख सकते थे, पर उन्हें पूरा करने के लिये बहुत मशक्कत करनी पड़ती थी।

हर माता-पिता की तरह उनके माता-पिता की भी यही चाह थी कि बेटा जल्दी से कमाना शुरू कर दे और घर का सहारा बने। मां-बाप बेटों को पढ़ाते ही इसलिये हैं कि उनकी कमाई से उस ख़र्च की भरपाई हो सके, जो उन्होंने उनकी पढ़ाई-लिखाई और खाने-पीने पर की है। दो बहनें जिन्हें इतना तो पढ़ा लिखा सकें कि बेटे अपना पेट भर सकें और बेटियां इतना पढ़-लिख लें कि चिट्ठी-पत्री लिखना आ जाये।

लड़की का घर के कामकाज में पक्का होना जरूरी है, जैसे खाना बनाना, बर्तन घिसना, झक कपड़े धोना। कपड़ों पर पड़े दाग कैसे छुड़ाने हैं, उसे यह जरूर पता होना चाहिये। इसमें गलत भी क्या था? बेटियों को पराये घर जाना है मायके की नाक न कट जाये कि बेटी को कुछ नहीं सिखाया।

राय ने कॉरपोरेशन की नौकरी में आने से पहले क्या क्या पापड़ नहीं बेले। उन्होंने मुंबई की लोकल गाड़ियों में चड्डियां, रुमाल और बालों में लगाने की क्लिप तक बेची थी। क्या करते? घर में कुछ पैसा तो देना था। तब कहीं शाम को एक रसेदार सब्जी, थेचा (तीखी चटनी) और रोटी नसीब होती थी।

सब्जी भी एक एक कटोरी ही मिलती थी और उसके बाद कठौता खाली। जिस दिन मसालेदार सूखी सब्जी और पतला रायता बनता तो वह खाना उनके लिये पांच सितारा होटल के खाने जैसा होता था। तीन बच्चों में राय ही ने बारहवीं पास की थी।

वे थोड़े इंटेलिजेंट माने जाते थे। बारहवीं पास करने के बाद उनके भी मिजाज बदले। याने अब ट्रेन में सामान बेचने में शर्म आने लगी थी। मसें भीगने लगी थीं। अच्छे कपड़े पहनने का मन होता था। अपनी शैक्षिक योग्यता के अनुसार नौकरी के लिये पेपर में विज्ञापन दे दिया।

उन दिनों नौकरी ऐसे ही मिलती थी। जान पहचान वाले बहुत कम जोखिम लेते थे किसी की नौकरी लगवाने की। कल को कुछ गड़बड़ करके कहीं भग भगा गया तो वे जिंदगीभर अपने काम के लिये किसी को कुछ नहीं कह सकेंगे।

कभी-कभार कोई किसी को प्राइवेट कंपनी में चपरासी भी लगवा देता तो सबके सामने दस बार एहसान जताता कि उनके कारण उस परिवार की दाल-रोटी चल रही है। मारे रीस के वह लड़का नौकरी ही छोड़ देता और फिर पूरे मोहल्ले में कहता फिरता, 'एक सड़ी सड़ाई नौकरी के लिये रोज एहसान के जूते मारता था ले, मैंने लात मार दी तेरी दिलवाई नौकरी पर।'

चूंकि राय ने पेपर में विज्ञापन दिया था, एक दिन उडिपी होटल से हाउस कीपिंग की नौकरी के साक्षात्कार के लिये बुलावा आ ही गया। राय बहुत खुश हुए। उन्होंने यह खबर अपने पिताजी को सुनाई। उन्हें हाउसकीपिंग नौकरी के बारे में कुछ पता नहीं था, पर पिता खुश बहुत हुए। उन्होंने पड़ोस से सौ रुपये उधार लेकर राय के लिये पैंट शर्ट सिलने दे दिया।

यह पैंट शर्ट अर्जेंट के स्तर पर सिलवाया गया था तो सिलाई भी दस रुपये ज्यादा देनी पड़ी। जब काम बनता है तो ज्यादा देकर भी काम करवा लिये जाते हैं और यह व्या पता भी नहीं है। यही हाल राय के पिताजी का भी था। इस समय उन्हें कुछ भी ज्यादा नहीं लग रहा था।

उनकी यही इच्छा थी कि बेटे को नौकरी मिल जाये, बस...दो समय की नौकरी का जुगाड़ हो जाये तो उन्हें बुढ़ापे में अपनी हड्डियां नहीं गलानी पड़ेंगी। इधर राय भी खुश और एक सप्ताह बाद नौकरी के साक्षात्कार के लिये उस होटल में चले ही गये। होटल था या शीशमहल। टाइलें इतनी साफ कि बंदा अपना मुंह देख ले।

इतनी साफ टाइल्से देखकर राय को बहुत अच्छा लगा। उनके पैर टाइल्स पर फिसलने लगे और वे संभलकर चलने लगे कि कहीं गिर न जायें। वे सोच रहे थे कि नौकरी मिले या न मिले कोई बात नहीं, पर इस बहाने उन्होंने ढंग का एक होटल तो देख लिया, नहीं तो वे सड़क किनारे बनी हट्टियों पर ही चाय पी रहे थे।

उस होटल में लोग बिना वजह तेज तेज कदमों से चल रहे थे बल्कि भाग से रहे थे। धीरे भी चलते तो कुछ बिगड़ न जाता पर मुंबई की विशेषता है कि यहां लोग भागते से ही चलते हैं मानो सिर्फ उन्हें ही जल्दी है। बाकी लोग भाड़ भूंजने जा रहे हैं। राय रिसेप्शन पर जाकर खड़े हो गये।

रिसेप्शन पर बैठी लड़की ने एक मुस्कान बिखेरते हुए पूछा, 'हैव यू कम फॉर इंटरव्यू?' उन्होंने संभलकर कहा, 'यस।' लड़की ने हाथ के इशारे से उन्हें एक ओर बैठने के लिये कह दिया। राय ने घूमकर देखा कि एक ओर लाइन से कुर्सियां लगी थीं और दस-बारह लड़के वहां बैठे थे। वे भी चुपचाप एक कुर्सी पर जाकर बैठ गये।

एक नौकरी के लिये इतने लड़के? यदि उनको यह नौकरी मिल जाये तो वे भगवान को ग्यारह रुपये का भोग लगायेंगे। उन्हें याद आया कि घर में जब भी कोई अच्छा काम होता है तो पिताजी पांच रुपये के इलायचीदाने का भोग जरूर लगाते हैं। यह उनके घर की परंपरा है।

वे खुद ग्यारह रुपये का भोग लगायेंगे पांच रुपये के इलायचीदाने और एक हरा नारियल भगवान का इतना हिस्सा तो बनता है। इसी सोच-विचार के चलते राय का नाम पुकारा गया। वे जल्दी से उठ खड़े हुए और उस दरवाजे को खटखटाया जहां से एक उम्मीदवार निकलता है और दूसरा साक्षात्कार के लिये अंदर जाता है।

अंदर से आवाज आई, 'कम इन।' वे अंदर प्रवेश कर गये। उन्हें सामनेवाली कुर्सी पर बैठने के लिये कहा गया। राय के सामने तीन लोग बैठे थे जो उनका साक्षात्कार लेने वाले थे। राय खुद को संयत रखने की पूरी कोशिश कर रहे थे। कहीं माथे पर पसीना न आ जाये। ये तीनों देख भी तो ऐसे रहे थे मानो आंखों ही आंखों में खा जायेंगे।

सामने बैठे लोगों ने सवाल पूछने शुरू कर दिये, 'मिस्टर राय, आपको हाउसकीपिंग के काम का कितने साल का अनुभव है?' उन्होंने कुछ पल रुककर कहा, 'साहब, इस लाइन का कोई अनुभव नहीं है। काम मिल जायेगा तो अनुभव भी हो जायेगा। बात मौका मिलने की है।' इसके बाद उन लोगों ने परिवार संबंधी सवाल पूछने शुरू कर दिये।

राय ने अपनी ओर से एक बात साफ कर दी कि अगर यह नौकरी उनको मिली तो वे आगे पढ़ना चाहेंगे। भले ही कॉरेस्पॉन्डेन्स ही क्यों न पढ़ना पड़े। यह सुनकर अधिकारी खुश हो गये थे और यह खुशी उनके चेहरे पर दिखाई दे रही थी। उन्होंने राय को जाने के लिये कह दिया।

उन दिनों आज की तरह वेतन का मोल-भाव नहीं होता था। जैसी पढ़ाई, वैसी नौकरी और वैसी पगार। करीब दस दिनों बाद राय को होटल से पत्र मिला कि उन्हें नौकरी मिल गई है और सात दिनों के अंदर नौकरी ज्वॉइन कर लें। यह पत्र पाकर तो उनके पैर जमीन पर नहीं पड़ रहे थे। उन्हें बहुत खुशी थी कि इस नौकरी के जरिये वे आगे पढ़ भी सकेंगे।

सिर्फ क्लर्क बनकर जीना उनका सपना नहीं था। आखिरकार वे अपनी नौकरी ज्वॉइन करने पहुंच गये। नौकरी का पहला दिन। मैनेजर ने उन्हें अपने केबिन में बुलाया, 'वेलकम मिस्टर राय। आपको होटल की ओर से दो वर्दी मिलेगी। एक धोने का और एक पहनने का। हां, इनको धुलाने का भत्ता मिलेगा।

लंच भी मिलेगा और उस थाली में एक भाजी, दाल, चार चपाती और चावल होगा। पापड़, दही अचार तो आएंगा ही। काम क्या करने का होगा, वो भी बताता हूं। ये होटल पांच फ्लोर का है। हर फ्लोर पर दस कमरा है। हमारे पास पांच लड़का लोग है और हरेक के पास एक-एक फ्लोर है।

तुमको दूसरा माला दूंगा।' राय ने नोट किया कि मैनेजर अचानक 'आप' से 'तुम' पर आ गया था। पद इतना महत्वरपूर्ण होता है कि इंसान उस कॉम्लेक्स में आ जाता है और अपने सामने किसी को कुछ नहीं समझता मैनेजर हैं तो क्या हुआ हैं तो होटल के कर्मचारी ही न मालिक तो नहीं हैं, उस पर इतना घमंड?

'हां, तो राय, तुम्हारा काम होगा...दूसरे माले के कमरों के बिस्तर की चादरें और तकिये के कवर बदलना, टेबल पर सूखा फटका मारना। इन कमरों में अधिकतर बड़ी पोस्ट पर काम करनेवाले आकर रुकते हैं। वे सुबह नौ बजे चले जाते हैं और शाम को आते हैं। सुबह उनके जाने के बाद तुम्हारा काम शुरू होगा।

'पगार होगा तीन हजार रुपये। मंजूर है तो बोलो, नहीं तो वेटिंग लिस्टर बाकी हैं अभी।' राय ने मैनेजर का अंतिम वाक्य सुनकर जल्दी से हां कर दी। वे इस नौकरी को हाथ से बिल्कुल नहीं जाने देना चाहते थे। इस नौकरी से उनकी और उनके परिवार की उम्मीदें जुड़ी थीं।

दूसरे दिन से नौकरी पर नियमित रूप से आना था। इसलिये राय लंबे लंबे डग भरते हुए घर पहुंचे। घर पर उन्होंने अपने पिता को नौकरी मिलने की खबर सुनाई तो वे बहुत खुश हुए। सच तो यह था कि पूरा परिवार ही बहुत खुश था। अब राय को सुबह होने का इंतजार था। दूसरे दिन सुबह होते ही अच्छी तरह तैयार होकर साढ़े आठ बजे ही होटल पहुंच गये

स्टोरकीपर ने उन्हें बुला भेजा और उनके हाथों में हल्के पीले रंग की दो वर्दियों का बैग पकड़ा दिया। साथ ही दूसरी मंज़िल के कमरों की चाभियों का बोर्ड भी दिखा दिया जहां हरेक कमरे के नंबर के सामने उस कमरे की चाभी लटकी हुई थी। इंचार्ज उन्हें दूसरी मंजिल के कमरा नंबर एक में ले गये और काम समझाने लगे।

साथ ही यह ताकीद भी दी कि इन कमरों में बड़े पदवाले लोग आते हैं। यदि वे उसके काम से खुश होते हैं तो टिप भी अच्छी देते हैं। राय चुपचाप सब सुन रहे थे। नये कर्मचारी को सुनना ज्यादा होता है और बोलना कम होता है। घड़ी देखी कि सुबह के नौ बजने को थे। उन्होंने इंचार्ज से अपनी वर्दी पहनने की अनुमति चाही ताकि काम शुरू कर सकें। इंचार्ज ने उन्हें वह कमरा दिखा दिया जहां वे अपने कपड़े बदल सकते थे।

चित्रकार : आकांक्षा खन्ना

राय कपड़े बदलकर आये तो वे अपने आपको ही नहीं पहचान पाये। वर्दी इंसान का हुलिया ही बदल देती है। उन्होंने स्टोरकीपर से चादर वगैरह मांगीं और अपने काम पर चल दिये। दस बजे के आसपास वे कमरा नं. 201 में पहुंचे। डबल बेड पर चादर पूरा मुचड़ा हुआ पड़ा हुआ था। उन्होंने उस चादर को हटाया व धुली चादर को झड़कारकर बिछाने की कोशिश करने लगे।

पलटकर देखा तो इंचार्ज खड़े थे। वे हल्के से मुस्कराकर बोले, 'चादर बिछाना भी एक कला है' और यह कहकर उन्होंने चादर के कोने सही तरीके से मोड़ना व कंबल रखना सिखाया। राय को इंचार्ज का सहयोग करना अच्छा लगा। धीरे धीरे राय अपने काम में माहिर होने लगे थे। एक दिन वे कमरा नंबर 204 में कमरे की चादर बदलने गये तो हल्के नीले रंग की चादर पर खून के धब्बे देखकर डर गये।

उन्होंने जल्दी से अपने इंचार्ज को बुलाया और खून के धब्बे वाली चादर दिखाई। इंचार्ज ने चेतावनी भरे स्वर में कहा, 'इन बातों में इंटरेस्ट नईं लेने का। तुम्हारा काम चादर बदलने का है। अपने काम से काम रखने का। बड़े लोग के काम के बीच में न तो बोलने का और न कुछ पूछने का।' इंचार्ज के इस भाषण के उत्तर में राय सिर्फ 'जी' ही कह पाये थे।

इस बीच उन्होंने बी.ए. के लिये फॉर्म भर दिया। होटल के काम से साढ़े तीन बजे तक फारिग हो जाते थे तो एकाध घंटा पढ़ाई के लिये मिल जाता था। साथ ही उन्होंने तय कर लिया कि वे कोई दूसरी नौकरी देखेंगे। दाग-दगीले चादर ज्यादा दिन नहीं हटायेंगे। यह सोचकर वे और अधिक मेहनत से पढ़ने लगे थे। वक्त बीतते दिन ही कितने लगते हैं।

राय को बिस्तरों पर चादर बिछाते-हटाते तीन वर्ष बीत गये। वे सोचते कि जहां तीन साल बीते तो एक साल और सही। कहीं अच्छी वेकेन्सी आयेगी तो अर्जी भेज देंगे। अब वे अच्छी अंग्रेजी बोलने लगे थे जो उनकी दूसरी नौकरी के लिये प्लस पॉइंट होगा। जहां चाह, वहां राह की तर्ज पर उनको एक प्राइवेट फर्म में सेक्रेटरी की वेकेन्सी दिख ही गई।

ख़ैर थी कि उन्हें पुरुष सेक्रेटरी चाहिये। वरना तो अधिकतर सेक्रेटरी पद के लिये लड़कियों की डिमांड रहती है। उन्होंने बिना किसी देरी के उस पद के लिये अर्जी भेज दी। सौभाग्यशाली रहे कि उन्हें इंटरव्यू के लिये बुला भी लिया गया। इस मामले में हमेशा उनके नसीब ने साथ दिया था। ये अलग बात थी कि उस नौकरी की असलियत सामने आते ही राय दूसरी नौकरी तलाशने लगते थे।

इंटरव्यू में वही घिसी-पिटी बातें और एक सवाल यह भी कि पहली नौकरी क्यों छोड़ना चाहते हैं इस पर बेमन दिया गया जवाब, कैरियर की बेहतरी के लिये जबकि सच्चाई कुछ और ही थी। हां, इसमें पेनलवालों ने अपेक्षित वेतन जरूर पूछा था शायद सेक्रेटरी का पद था, इसलिये। राय ने इस बाबत खूब सोचा। बदलते समय को, महंगाई को और अपनी शिक्षा को देखते हुए उन्होंने रुपये 7000/- प्रति माह कह दिया।

सोचा तो था कि ये लोग सब्जी के भाव की तरह वेतन में मोलभाव करेंगे तो भी चार हजार पर आकर बात टिक ही जायेगी। आश्चर्य तो तब हुआ जब उसकी रु.7000 की बात मान ली गई और दो दिन बाद नौकरी पर आने के लिये कह भी दिया। सेक्रेटरी की सख़्त जरूरत थी। इसलिये देरी नहीं चलेगी। मन में कई शंकाओं ने जन्म भी लिया। कई बार एक बार में ही बात मान ली जाये तो सच में कई आशंकाएं अपना सिर उठाने लगती हैं।

राय ने एक लंबी सांस ली और राहत महसूस की कि उन्हें कम से कम नारकीय चादरों को उठाने से मुक्ति तो मिलेगी। अगले दिन उन्होंने होटल के मालिक को अपना इस्तीफा सौंप दिया। होटल के मालिक ने इस्तीफा मंजूर कर लिया और एक बार भी यह पूछने की जहमत नहीं उठायी कि वे नौकरी क्यों छोड़ रहे हैं। राय ने मन ही मन सोचा कि बड़ा ही खडूस और नामुराद निकला होटल का मालिक।

जहां चार साल काम किया उसकी यह कीमत, इतनी अवहेलना? हां मालिक ने इतना जरूर कहा कि महीने के आखिर में अपना हिसाब ले जाये। बीच में नौकरी छोड़ने पर पगार नहीं देते। वह तो महीने के आखिर में ही मिलेगी। राय यह रूखा इकतरफा संवाद सुनकर कंधे उचकाकर रह गये और कुछ प्रतिवाद किये बिना वापिस अपने घर की ओर चल दिये।

अंततः राय ने नई नौकरी ज्वॉइन कर ली। क्लर्क ने उन्हें सारी फाइलें बता दीं। साथ ही यह भी बता दिया, 'साहब वैसे तो बड़े नरम दिल के हैं पर गुस्सैल भी उतने ही हैं। जरा संभलकर...आप नये हैं इसलिये आगाह कर दिया है।' राय ने इस बात की पहली नौकरी से ही गांठ बांध ली थी कि किसी भी नई नौकरी में कम बोलना होगा और सुनना ज्यादा होगा। ज्यादा बोलनेवाला चाहे चपरासी ही क्यों न हो।'

थोड़ी देर बाद साहब ने बुलवा भेजा, 'मि. राय, आप मेरे सेक्रेटरी हैं। एक बात साफ कर दूं कि आपको मेरे निजी काम जैसे, बैंक का काम, जब कभी मेरी पत्नी को शॉपिंग करना हो तो कार में उनके साथ जाना भी आपके काम का हिस्सा होंगे। मैं मीटिंग में व्यस्त रहता हूं परिवार को उतना समय नहीं दे पाता और हां, घर में भी कई बार बिजनेस पार्टी होती हैं, उनका जिम्मा भी आपका ही होगा। समझ गये न'

राय ने चुपचाप सुन लिया और सोच रहे थे कि सेक्रेटरी याने पढ़ा लिखा नौकर। जो व्यक्ति काम की अधिकता की आड़ में घर की जिम्मेदारी से बचता हो, उसे क्या कहा जाये? लेकिन उन्होंने तय कर लिया था कि वे यह नौकरी भी ज्यादा दिन नहीं करेंगे। बेहतर नौकरी की तलाश जारी रहेगी। प्रकट में उत्तर दिया, 'जी सर, आपका सेक्रेटरी हूं। ऑफिशियली कौन कौन से काम मेरे जिम्मे होंगे, वे भी बता दीजिये।'

इस पर बॉस बोले, 'वह भी बता दिया जायेगा। एकाध दिन में ऑफिस का माहौल, फाइलें समझ लीजिये।' इसके बाद वे फाइलों पर झुक गये। इसका अर्थ हुआ कि राय को उनके केबिन से बाहर चले जाना चाहिये। कुछ सोचकर राय ने मुड़कर कहा, ''सर, मैं केबिन के बाहर बैठना पसंद करूंगा। इस बहाने लोगों से बातचीत भी हो जाया करेगी।' इस पर बॉस बोले, 'ठीक है, सोचते हैं।'

ये बॉस लोग सोचते बहुत हैं। जिस बात को तुरंत हां या ना में ख़त्म किया जा सकता है, ये महीनों लगा देते हैं और अंत में मसला ठंडे बस्ते में चला जाता है। शाम को चार बजे फिर बॉस ने उन्हें बुलवा भेजा, 'मि.राय, आपने मुझसे ऑफिशियली काम पूछे थे न तो सुनिये आप पार्टीज से मेरी मीटिंग तय करेंगे, सरकारी और गैर सरकारी कंपनियों से पत्राचार करेंगे। ऑफिस में होनेवाली पार्टियों का इंतजाम भी आपके जिम्मे होगा,'

और यह कहते कहते बॉस अपनी कुर्सी से उठकर राय के मुंह के करीब तक चले आये थे। वे उनकी सांसें महसूस कर सकते थे। वे घबराकर दो कदम पीछे हट गये और बॉस हंसते हुए अपनी कुर्सी की ओर पलट गये थे। इधर राय असमंजस में कि बॉस का इतने करीब आने का क्या अर्थ था बड़ी मुसीबत है इन थ्रीपीसधारियों से मिलने जुलने में। इनके मन की थाह मिलना आसान नहीं। एक विचार यह भी कौंधा कि बॉस कहीं 'गे' तो नहीं हैं।

उन्होंने गौर किया कि ऑफिस में अधिकतर आदमी ही थे। महिलाएं दो-चार ही दिख रही थीं। 'गे' के विचार मात्र से राय के शरीर में झुरझुरी दौड़ गई। ख़ैर देखा जायेगा सच एक न एक दिन सामने आ ही जायेगा। वे इन्हीं विचारों में उलझे थे कि उनकी मेज पर रखे फोन की घंटी बजी। फोन उठाने पर बॉस की आवाज सुनाई दी, 'मिस्टर राय, आज शाम को चार बजे कार लेकर मेरे घर चले जाना। ड्राइवर रहेगा साथ में। मेमसाहब को शॉपिंग करना है।'

बॉस का व्यवहार तो देख लिया। अब जरा मेम साहब का व्यझवहार भी देख लिया जाये। शाम को चार बजे राय कारसहित बॉस के घर हाजिर थे। दरवाजे की घंटी बजाई। चंद मिनटों के बाद दरवाजा खुला और पश्चिमी परिधान में एक महिला दिखाई दीं। उन्होंने कहा, 'आर यू मिस्टर राय? प्लीज कम इन। गिव मी टू मिनट्स। लेट मी गॅट रेडी।' यह कहकर वे अंदरवाले कमरे में गायब हो गईं। घर की नौकरानी एक गिलास पानी दे गई।

क़रीब दस मिनट बाद मेमसाहब तैयार होकर बाहर निकलीं। जींस पहने थीं और लो कट का छोटा सा टॉप। शरीर की हर गोलाई न दिखकर भी दिख रही थी। राय की उमर इतनी भी कम नहीं थी कि उन्हें कुछ समझ में न आये। हाउसकीपिंग की नौकरी ने उन्हें कम उम्र में ही परिपक्व बना दिया था। उन्होंने पानी पिया और उठकर खड़े हो गये। उस दिन मैडम ने खूब ख़रीददारी की और राय उनके पीछे सामान के पैकेट्स ढोते हुए चलते रहे।

उन्हें यह सब बहुत नागवार गुजर रहा था। पर वे क्या करते? हां, मन ही मन उन्होंने यह तय कर लिया था कि वे यह नौकरी भी ज्यादा दिन नहीं कर पायेंगे। जिस तरह से मियां-बीवी अपनी चाकरी करवा रहे थे, इससे तो हाउसकीपिंग की नौकरी ही ठीक थी पर वहां भी तो संबंधों का घालमेल था। जो लोग ऑफिशियली ट्रेनिंग पर आते थे और पता नहीं कौन किसको कौन सी गोली खिलाते थे, कि स्त्री -पुरुष रात में एक दूसरे के कमरे में पहुंच जाते थे।

एक बार स्टोरकीपर ने एक स्त्री पुरुष के बारे में बताया था कि ये दोनों साल में दो बार ट्रेनिंग के नाम पर मुंबई आते हैं और इधर ही रुकते हैं। देर रात को या तो वे साहब या वे मेम साहब एक दूसरे के कमरे में चले जाते थे। उन कमरों से खून के धब्बों वाली चादरें पाये जाने का यही कारण था। इसके आगे राय कुछ नहीं सुन पाये थे। उस समय वे लड़कपन में ही तो थे। वयःसंधि की देहरी पर थे...ना...ना. .वहां से तो यही नौकरी ठीक है।

यह नौकरी उनकी आर्थिक जरूरतें पूरी कर रही थी। अब वे अच्छे कपड़े पहनने लगे थे पर यही तो उनका गंतव्य नहीं था। उन्हें और आगे जाना था। मौका मिलते ही नौकरी बदलना था। इस मामले में राय किस्मत के धनी थे। एक कॉरपोरेशन में मैनेजर के पद का विज्ञापन निकला। योग्यता बी.ए. पास। उन दिनों बी.ए. पास काफी होता था। राय ने आवेदनपत्र भेज दिया। देखने-भालने और बोलने-चालने में अच्छे थे सो यह नौकरी मिल गई।

बस, इसी तरह की नौकरी की तलाश थी उन्हें। वहां लोग सुबह नौ बजे आ जाते थे। सब अधिकारियों की टेबल पर फोन था जीरो डायलिंगवाला याने आप सीधे फोन कर सकते थे, ऑपरेटर से नंबर मांगने की जरूरत नहीं। पूरी तरह से प्रायवेसी। सो अधिकारी ऑफिस आकर मेस से नाश्ता मंगवाते और नाश्ता करते करते फोन पर अपने मित्रों से बतियाते। एक पंथ दो काज। पेट पूजा और निजी फोन प्राथमिकता में होते थे।

यह सब होते होते साढ़े दस बज जाते। तब फाइलें खुलतीं कि ग्यारह बजे की चाय आ जाती और फिर सब लोग चाय पीने में आधा घंटा बिता देते। लंच के पहले मुश्किल से तीन फाइलें क्लीयर की जातीं बोले तो उनमें कुछ पत्रों के उत्तर, दो एक बैठकों की तारीखें तय करने के प्रस्ताव तैयार किये जाते। लो हो गया लंच का समय और कुछ लोग मेस-कैंटीन की ओर जाते और जो घर से टिफिन लाते, वे टेबल पर डिब्बे खोलकर खाने लगते।

वैसे तो लंच आधे घंटे का होता था पर लोग एक घंटा लगा देते थे। अब चूंकि इस संस्थान के लंच पर सरकार की ओर से सब्सिडी थी तो पांच रुपये में लंच मिलता था। लोग दबाकर खाते और सोडायुक्त चावल से नींद आने लगती तो अपनी कुर्सी पर बैठे बैठे आधे घंटे की झपकी ले ही लेते थे। तरोताजा दोपहर की तीन बजे की चाय के बाद ही होते थे। जैसी संगत वैसी रंगत। मिस्टर राय इससे कैसे अछूते रहते? अब तो मैनेजर थे और केबिन था।

वे भी इस रंग में रंगने ही लगे। उन्हें लगता कि वे अभी अविवाहित थे तो क्यों न जिंदगी के मजे उठाये जायें। कमियों में तो वे बहुत रह चुके। उनके पास कंप्यूटर भी था। सेक्सं संबंधी सामग्री कंप्यूटर की विभिन्न साइटों पर उपलब्ध थी। वे मन लगाकर इन साइटों को देखते। उन्हें लगता कि ये ज्ञान और अनुभव दोनों होने चाहिये। अब ये सब कैसे पाया जाये किसी से 'खुलकर' कहा भी तो नहीं जा सकता।

उन्होंने तय किया कि वे अपनी नौकरी लगने की खुशी में अधिकारियों को एक पार्टी दे दें। उनके खयाल से ऐसी पार्टियां देते रहना चाहिये। आगे चलकर प्रमोशन मिलने में आसानी रहती है। जब उन्होंने अपने अधिकारियों को अपनी इच्छा से अवगत कराया तो उन्होंने कहा कि वे ड्रिंक पार्टी चाहेंगे। ऑफिस छूटने के बाद किसी बार में चलेंगे। राय की मुराद बिन मांगे पूरी हो गई। वे सहर्ष तैयार हो गये इसके लिये। इस पार्टी के लिये रविवार तय किया गया।

रविवार शाम को करीब 10 अधिकारियों को लेकर राय बार पहुंचे। यह बार अधिकारियों का मनपसंद बार था। जब वे अंदर पहुंचे तो वहां चमकदार कपड़ों में लिपटी युवा लड़कियों को देखकर हैरान रह गये। वे नृत्य भी कर रही थीं और ड्रिंक्स भी सर्व कर रही थीं। ग्राहक बीच-बीच में छेड़छाड़ भी कर रहे थे उन लड़कियों से और वे बुरा नहीं मान रही थीं। यह उनकी नौकरी का हिस्सा था। ग्राहकों पर अपनी पकड़ बनाये रखने का तरीका था यह।

(शेष पृष्ठ 125 पर)

काट दो

n सुधा ओम ढींगरा

देखिये जनाब! मुझे लिखने-विखने का कोई शऊर नहीं। लेखन प्रतिभा से कोसों दूर हूँ। जो भी कहना चाहता हूँ, लिख कर नहीं कह सकता। वाचक हूँ। बस बोल कर कहता हूँ, अक्सर बहुत बोल जाता हूँ । प्रकृति मेरी मित्र है। हवा से, तितलियों से, पक्षियों से, पत्तों से, फूलों से, चाँद-तारों से बातें करता हूँ। वे चुपचाप मुझे सुनते हैं। बड़े अच्छे श्रोता हैं। कभी -कभी हवा लहराकर, तितलियाँ फरफराकर, पंछी चहचहाकर, पत्ते सरसराकर, फूल खिलकर, चाँद और तारे चमककर मेरा साथ देते हैं। कई बार जी करता है तो अपने-आप से बातें करता हूँ। कुछ लोग सोचते हैं मैं पागल हूँ। पागलखाने वाले सोचते हैं कि मैं दार्शनिक हूँ। बहुत बड़ी-बड़ी और ऊँची-ऊँची बातें करता हूँ। पागलखाने में पागल और पागलखाने से बाहर लोग मुझे घेर लेते हैं। मेरी बातें बड़े ध्यान से सुनते हैं। कई समाचार पत्रों ने मेरे दर्शन का जिक्र किया है। पर असल में मैं क्या हूँ? मेरे अलावा मेरे बारे में कोई नहीं जानता! यह भी अच्छी बात है मैंने स्वयं को पहचान लिया अन्यथा लोग उम्र भर स्वयं को खोज नहीं पाते। मरणासन्न पड़े हैं और सोच रहे हैं कि मैं कौन हूँ!

इस का भी अंदेशा हो गया है, अब मैं अपने बारे में कुछ भी छुपा नहीं पाऊँगा। आपकी दृष्टि मुझे देखने लगी है। मेरे हर हाव-भाव को पकड़ने लगी है। छुपाना चाहता भी नहीं, थक गया हूँ यह दोहरी जिन्दगी जीते हुए। चाहता हूँ कि आप भी देख लें, ऐसी मानसिकता को पहचान लें। मेरा सही परिचय मिलने के बाद, अगर आपके भाव बदल जाएँ, दार्शनिक सुनकर जो आपके चेहरों पर उभरे थे। मैं बुरा नहीं मानूँगा। अगर आपके हाथ उठ जाएँ!!! वह भी स्वाभाविक होगा।

अभी तो मैं हैरान हूँ, इस महिला को होश क्यों नहीं आया? अब तक तो इसकी आँखें खुल जानी चाहिए थीं।

चिंता है कि इसे देख कर मुझे क्या हो रहा है। मेरी उत्तेजना मर क्यों गई! मेरा उत्साह खत्म क्यों हो गया! मेरी ऊर्जा कहाँ चली गई! ऐसा मेरे साथ पहले कभी नहीं हुआ।

शायद यह गिड़गिड़ा नहीं रही। महिला को गिड़गिड़ाते देखकर मैं आक्रामक हो जाता हूँ फिर वह चाहे बूढ़ी हो, जवान हो, अधेड़ हो या बच्ची, किसी की माँ हो, बेटी हो, या पत्नी। मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता।

मुझे बस उसे नोचना होता है। उसके अस्तित्व पर चोट पहुँचानी होती है। जिसे वह अपनी अस्मिता कहती है, उसे लूटना होता है। वह जब रोती है, सुबकती है, रिहाई की भीख मांगती है तो मुझे आंतरिक खुशी मिलती है। मेरे भीतर के जख्मों पर मरहम लगती है, वे जख्म जो बचपन में कई औरतों ने मुझे दिए। तब सत्ता उनके हाथ में थी, उन्होंने मेरा शोषण किया। मेरा शोषण होने दिया। अब सत्ता मेरे हाथ में है। स्त्री वर्ग से नफरत है।

यह नफरत बेहद मजबूत है। इसने मेरे अन्दर छुपे जानवर को बहुत ताकतवर बना दिया है। शिकार देखते ही झपट पड़ता है। मेरे भीतर का डीमन (शैतान) नफरत का भोजन खा-खा कर इतना शक्तिशाली हो गया है कि उसने मेरे ऐंजल (फरिश्ता) को दबोच लिया है।

पर आज मेरा डीमन कहाँ गया। मेरे सामने पड़ी इस स्त्री का चेहरा देखकर वह कहाँ छुप गया। मेरा ऐंजल सिर उठा रहा है। मेरे हाथ काँप रहे हैं, मैं इस नारी को निवस्त्र नहीं कर पा रहा। यह तो मेरा शिकार थी। इसे मैं ही पार्क से उठाकर लाया था। कई दिन मैंने इसका पीछा किया था। यह पार्क में कब आती है, कब जाती है, कितनी देर जॉगिंग करती है। यह सब देखता रहा था। जॉगिंग करते हुए इसकी पिंडलियाँ ही तो मुझे उत्तेजित कर गई थीं।

मैंने पार्क का वह कोना देख लिया था, जिसमें बहुत कम लोग होते हैं और कभी-कभी वहाँ कोई भी नहीं होता। वह जॉगिंग करती हुई उस कोने के पास से निकलती थी। वहीं मैंने अपना निशाना साधने की सोची। दो दिन इस महिला के साथ-साथ भागा। भागते हुए हाय, हेलो हुई। एक सौम्य, सभ्य, सुसंस्कृत महिला लगी वह। यह भी सोचने का समय नहीं मिला कि उसने मुझे 'हाय सन' कहा था। इसका मतलब है कि यह अधेड़ उम्र की महिला है, इसके बच्चे मेरी उम्र के या मुझ से छोटे-बड़े होंगे। दिखने में युवा लगती है। मैंने तो बस तय कर लिया था कि यही मेरे जानवर की तलब पूरी करेगी। और एक बार जब मैं कुछ ठान लेता हूँ तो फिर मेरी सोच अपने दरवाजे बंद कर लेती है। सुना है, हर इंसान के पास विवेक होता है, अंतर्मन नाम की शै भी है, पर मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं। अँधेरों में गुम हुई मेरी सोच इन सबको भी निगल चुकी है।

आज जॉगिंग करते हुए इस महिला के साथ-साथ मैं भागने लगा। ज्योंही यह महिला उस कोने में पहुँची, जहाँ कम लोग होते हैं और आज तो वहाँ कोई भी नहीं था। मैंने सोचा मेरा काम हो गया और उसके पैर में अपना पैर अड़ा कर मैंने उसे गिरा दिया। वह गिरते ही बोली- सन, 'आई एम वैरी सारी। आई वाज इन योउर वे।' (बेटा मुझे क्षमा करना। मैं तुम्हारे रास्ते में आ गई)

लोग इतने अच्छे क्यों होते हैं! यही मुझे समझ नहीं आता। अच्छाई, शर्म, डर, आदर मेरे व्यक्तित्व का हिस्सा नहीं। मैं बेशर्म, क्रूर और घटिया प्रकृति का व्यक्ति हूँ। मैंने अपनी जेब से क्लोरोफार्म में लिपटा रुमाल निकाला और उसके नाक पर रख दिया और उसे चीखने का समय भी नहीं दिया। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों ने मुझे कुछ कहा था। उसे समझने का समय ही मेरे पास कहाँ था। बड़ी मुश्किल से उसकी आँखें मुंदी। फिर मैं उसे अपने साथ सटा कर कार तक ले आया था।

पार्क में घूम रहे, जॉगिंग कर रहे तथा वहाँ बैठे लोगों ने सोचा कि उस महिला को चक्कर आया है और मैं उसे थामकर उसकी कार तक लेकर जा रहा हूँ।

'हाउ स्मार्ट आई एम। आई मेक एवरी वन फूल' मैं खुश होता हुआ वहाँ से निकल गया।

अब मैं परेशान क्यों हूँ? अभी तक बेहोश है यह महिला। इसका शांत, मुस्कराता हुआ चेहरा मुझे भीरु बना रहा है। मैं कमजोर पड़ रहा हूँ।

अफगानिस्तान में इसी तरह शांत सोई किशोरी पर तो मैं टूट पड़ा था और गश्त करते हुए एक स्थान पर टूटी दीवारों के बीच बनी एक खोह में, एक माँ अपनी तीन बेटियाँ के साथ छुपी बैठी थी। कौन सा शहर था? अपने मस्तिष्क पर जोर डाल कर भी शहर का नाम याद नहीं कर पा रहा। खैर छोड़ो नाम में क्या रखा है, इतना जरूर याद है कि हम कुछ फौजी मानवी गंध सूँघते वहाँ पहुँचे थे और उस खोह में हमें डरी, सहमी नारी देहें मिल गई थीं। वे देहें ही थीं। न जाने कितने दिनों से वहाँ छुपी बैठी थीं। सिमटी, सिकुड़ी, भूख-प्यास से रूखी देहें।

स्त्री गोश्त के भूखे भेड़िये उन पर झपट पड़े थे। उनकी चीख -पुकार चहुँ दिशाओं में गूँज उठी थी पर सुनने वाला कोई नहीं था? आधी रात को अल्लाह, जीसिस, ईश्वर सब सो रहे थे। किसी ने उनकी फरियाद नहीं सुनी और वे लुटती रहीं। भूख शांत कर सारे भेड़िये आगे बढ़ गए पर मैं वहीं रहा। रोती, बिलखती, तड़पती बालाओं और उनकी माँ को देखता रहा। फिर उन पर गोलियाँ दाग कर उन्हें चुप करा दिया। अंदर शांति मिली। ऐसा महसूस हुआ जैसे मैंने अपनी सौतेली माँ और उन औरतों को गोली मारी, जिन्होंने मेरा बचपन तबाह कर दिया। मेरा शारीरिक शोषण किया और दूसरों से करवाया।

मुझे नहीं पता मेरी जन्म दात्री कैसी थी? डैड के पास मेरी माँ का कोई चित्र नहीं था, हाँ उसके प्रति उदासीनता जरूर थी उनके पास। मेरी सौतेली माँ बहुत जालिम थी। मुझ से नौकरों की तरह काम करवाती और खाने को बहुत कम देती। मैं डैडी को शिकायत करता तो वह झूठ बोल देतीं, मुझे ही मार पड़ती। तब मैं स्कूल भी नहीं जाता था।

एक दिन ड्राइवे पर बैठा रो रहा था। मेरी सौतेली माँ कहीं बाहर गई थी। साथ वाली पड़ोसन ने, जिसका नाम पैटी था, मुझे अपने पास बुला कर बहुत प्यार किया और मुझे बताया कि मेरी माँ उसकी सहेली थी और मेरी माँ बहुत अच्छी थी। मैंने उससे पूछा कि क्या उसके पास मेरी माँ की कोई तस्वीर है। उसके पास भी तस्वीर नहीं थी। पर उसने जैसे मेरी माँ का वर्णन किया, उसी वर्णन की कल्पना में मैंने माँ का एक चित्र बना लिया था, जो हर समय मेरे साथ रहता है। चित्र कला का शौक शुरू से था। काल्पनिक माँ के कई चित्र बना कर मैंने दीवारों पर टाँगे हुए हैं।

पैटी, पड़ोसन, माँ की सहेली से ही यह राज मुझे पता चला कि सौतेली माँ की वजह से ही मेरे मम्मी-डैडी का तलाक हुआ था और डैड ने मम्मी को बहुत तंग किया था। वकील थे और चालाकी से कोर्ट केस जीत गए थे। अब उसे भी पता नहीं मेरी माँ कहाँ है? उसी ने मुझे बताया था कि मुझे छोड़ते समय मेरी माँ बहुत रोई थी। उसने जज से फरियाद भी की थी। उसे मेरे डैड से कुछ नहीं चाहिए बस उसका बच्चा यानी मैं उसे दे दिया जाए। डैड ने मेरी माँ पर इतने झूठे दोष लगाए कि कोर्ट ने यह फैसला सुना दिया कि मेरी माँ मुझे कभी नहीं मिल सकती। पैटी ने मुझे समझाया अगर मेरी सौतेली माँ मुझे मारे-पीटे तो मैं 911 डायल कर दूँ। पुलिस आकर सब ठीक कर देगी।

एक दिन मैं भूखा था और सौतेली माँ का कहीं अता-पता नहीं था। 911 डायल कर दिया। पुलिस आ गई पर ठीक कुछ भी नहीं हुआ।

चाइल्ड वेल्फेयर के सामाजिक कार्यकर्ता मुझे मेरे घर से ले गए और एक पोषक गृह में मुझे पहुँचा दिया गया। वहाँ मेरे जैसे कई बच्चे थे। उन्होंने मेरा स्वागत किया। वहाँ मुझे भरपेट खाने को मिला और दूसरे दिन से मैं स्कूल जाने लगा। कुछ महीने ठीक-ठाक गुजरे। दो और लड़के वहाँ रहने आ गए। वे बड़े थे। किशोरावस्था पार कर चुके थे।

मैंने देखा, एक रात वे दोनों एक छोटे बच्चे को अपने साथ सोने का लालच देकर ले गए। हम सब बच्चे प्यार और सहानुभूति के भूखे थे। मैं उम्र भर मम्मी और डैडी के साथ सोने का मोह पाले रहा।

दूसरे दिन वह लड़का डरा, सहमा रोता रहा और वे लड़के पोषक गृह की गृह स्वामिनी रौनी के इर्द-गिर्द घूमते रहते। इससे वह बच्चा और भी डर गया। उसके बाद वे हर रात एक बच्चे को अपने कमरे में ले जाते।

चित्रकार : आकांक्षा खन्ना

रौनी रात को शराब में धुत हो कर सोती और उसे पता भी नहीं रहता था कि बच्चे क्या करते हैं? उसका पति डैनियल रात होते ही कहीं चला जाता और सुबह आता। उसके जाते ही बड़े लड़के किसी एक छोटे बच्चे को ले जाते। कभी प्यार से और कभी जबरदस्ती से।

मैं वहाँ सबसे छोटा था, मुझे कुछ भी समझ में नहीं आता था। पर इतना जरूर समझ गया था कि कुछ गलत होता है वहाँ, तभी तो लड़के डरे, सहमे रहते हैं। वहाँ सिर्फ लड़के ही थे। उस पोषक गृह केंद्र में लड़कियाँ नहीं थीं।

जिस दिन मुझे वे लड़के लेने आए, मैंने इंकार कर दिया। उन्होंने अपना हाथ मेरे मुँह पर रख कर जोर से उसे दबा दिया। मैं आवाज ही नहीं निकाल पाया। उसके बाद वे मुझे घसीटते हुए अपने कमरे में ले गए। बाकी सब लड़कों ने लिहाफों से अपने मुँह ढक लिए।

उस रात जिस नकारात्मकता से मेरा परिचय हुआ, आज तक उससे छूट नहीं पाया। गले पर चाकू रखकर उन्होंने डराया कि अगर इस रात के बारे में मैंने किसी को भी बताया तो वे मुझे मार डालेंगे।

मेरे गुप्तांगों में दर्द हो रहा था। मैं बहुत दुखी था। सुबह उठते ही मैंने रौनी को सब बता दिया। रौनी ने मेरा दर्द समझने की बजाए, मेरी गालों पर कई थप्पड़ जड़ दिए। 'नो चाइल्ड कम्प्लेंट्स टू मी। यू आर द ओनली वन, सेइंग दीज नैस्टी थिंग्स। डू यू थिंक आई विल बिलीव यू? दे आर नाइस बुयाज। इफ यू विल टेल दिस टू एनी बाडी, आई विल किल यू।'(किसी बच्चे ने मुझे शिकायत नहीं की। अकेले तुम्हीं हो जो ये घटिया बातें बता रहे हो। क्या तुम सोचते हो कि मैं तुम पर विश्वास करुँगी? वे अच्छे लड़के हैं। अगर यह बात तुमने किसी को भी बताई, मैं तुम्हें मार डालूँगी।'

मैं बहुत तकलीफ में था। किसी को बताना चाहता था। निडर हो गया था। मरने का तो मुझे पता नहीं था पर छोटी उम्र में विपरीत परिस्थितियों में जीना सीख गया था। मैं अपने डैड को फोन भी नहीं कर सकता था। उनका फोन डिस्कनेक्ट था।

स्कूल की मेरी टीचर बहुत अच्छी थी और मुझे प्यार भी बहुत करती थी। उसमें मुझे मेरी माँ नजर आती थी। उसे बताना मैंने उचित समझा। मेरी कथा सुनते ही उसने मुझे सीने से लगा लिया। पहली बार पता चला माँ कैसी होती है! ऐसा लगा उसने मेरी सारी पीड़ा हर ली। तुरंत प्रिंसिपल के पास ले गईं और स्कूल की काउन्सलर को भी बुला लिया और उसके साथ मुझे मेडिकल चैकअप के लिए भेज दिया। पुलिस के आने पर मुझे दोनों बाजुओं से थामे रही और पुलिस को हिदायत देती रही-'दिस स्मॉल किड इज इन पेन एण्ड ही इज इन शॉक। प्लीज टॉक टू हिम सॉफ्टली।' (यह छोटा बच्चा तकलीफ में है और इसे झटका लगा है। कृपया इससे प्यार से बात करें।)

पुलिस को मैंने अपने और दोस्तों के बारे में सब कुछ बता दिया। सब बच्चों का मेडिकल चैकअप हुआ। अगले कुछ दिन कठिन थे, तनाव भरे। हम सब फिर से बेघर हो गए थे। हमें अलग-अलग केन्द्रों में भेज दिया गया।

रौनी और डैनियल तथा दोनों लड़के माईक और रॉबी को पकड़ लिया गया था। वह पोषक गृह केन्द्र बंद कर दिया गया। मुझे बाद में पता चला था कि रौनी और डैनियल बेरोजगार, शराबी, आलसी और लापरवाह थे। पैसा कमाने के लिए फॉस्टर पेरेंट बने थे और फॉस्टर होम सेण्टर खोला था। ताकि हर बच्चे की परवरिश का सरकार से पैसा ले सकें। सरकार बेघर बच्चों की परवरिश करने वालों को पैसा देती है। यह केंद्र नया ही खुला था और जब तक सरकारी इन्स्पेक्टर की नजर उन पर रही, वे बच्चों की बहुत अच्छी तरह से देख-रेख करते रहे, ज्योंही उसने केंद्र को स्वीकृति दी और इंस्पेक्टर निश्चिन्त हो गया कि इस केंद्र में सब कुछ ठीक-ठाक चल रहा है तो रौनी और डैनियल अपने असली रंग-रूप में आ गये। बच्चों के पालन-पोषण में उनकी कोई रूचि नहीं थी। उन्हें सिर्फ अपने चैक से मतलब था, जो हर माह उन्हें मिल जाता था।

अट्ठारह वर्ष तक मैं भिन्न-भिन्न पोषक गृहों में भटकता रहा। विद्रोही हो गया था अतः तन और मन सजा भुगतते रहे। सजा देने वाली महिलाएँ थीं। भीतर रोष, आक्रोश, गुस्सा भर चुका था। पूरी तरह नकारात्मकता की लपेट में आ चुका था। नारी जाति के प्रति अपनी सच्ची भावनाओं का तब तक एहसास नहीं हुआ था।

एक दोस्त ने सलाह दी और मैं मिलिट्री में चला गया। मिलिट्री ट्रेनिंग ने मुझे बहुत सभ्य, सुसंस्कृत और अनुशासित बना दिया। मुझ में आत्मविश्वास जगाया और इसी आत्मविश्वास ने मुझे जीवन के प्रति एक सकारात्मक दृष्टि दी। मैं बहुत संतोषजनक जीवन जीने लगा और अतीत की कड़वी यादें धुंधलाने लगी थीं। मेरी गर्ल फ्रेंड भी थी, सुजन। आसमान की बुलन्दियाँ छू रहा था तभी एक दिन धरती पर आ गिरा।

बिना फोन किए सुजन के घर गया तो उसे किसी और के साथ हम बिस्तर हुए देखा। 'चीटर', इतना बड़ा धोखा दिया उसने। बस टूट गया। गुस्से में अपने घर चला गया। सोचा था उसे गोली मार कर खुद मर जाऊँगा। उसी दिन अफगानिस्तान जाने का आदेश मिल गया। निराश, हताश, टूटा दिल लिए वहाँ चला गया। इस हादसे ने अतीत का रोष, आक्रोश और गुस्सा भीतर-बाहर फैला दिया, जिसे मिलिट्री ट्रेनिंग ने मिटा दिया था। शायद वह मिटा नहीं था, दब गया था कहीं। पागल हो गया था मैं वहाँ। तब महसूस हुआ, आधी आबादी से मैं कितना चिढ़ता हूँ।

मेरे पागलपन को देखकर मुझे वापिस बुला लिया गया। मनोविशेषज्ञों ने मेरा मनोविश्लेषण किया। पागलखाने में भर्ती कर दिया गया। कई वर्ष इलाज चला। बिजली के झटके दिए गए। एक दिन उन्हें लगा कि मैं ठीक हो गया हूँ और मुझे छोड़ दिया गया। क्या मैं सच में ठीक हुआ था? मेरी सोच, मेरी प्रवृत्ति ठीक हुई थी।

पागलखाने में मैंने मनोचिकित्सकों के साथ बहुत बैठकें कीं तो एक बात मेरी समझ में आई, कुछ मनोवृत्तियाँ बच्चा साथ लेकर पैदा होता है। इसे पूर्व जन्म के संस्कार कहें या पूर्व जन्म के संचित अच्छे -बुरे कर्म। सोचिए, एक परिवार में सभी बहन-भाई अच्छे होते हैं, एक बच्चा कैसे आपराधिक प्रवृत्ति का हो जाता है? परवरिश तो सबको एक जैसी मिली होती है। यह विमर्श का विषय है। विचारों के गम्भीर समंदर में डुबकी लगाने का। इसमें उलझ कर मेरी सोच कुंद हो रही थी। मैंने जब डॉ. एबेन ऑलेक्सेंडर की पुस्तक 'प्रूफ ऑफ हेवन'(एक न्यूरोसर्जन की जीवन के बाद की यात्रा) पढ़ी, तो यह बात पुख्ता हो गई। आप सोच रहे होंगे, मैं यह क्या कह रहा हूँ! स्पष्ट करता हूँ, मेरे साथ और लड़कों ने भी मेरी तरह जीवन के थपेड़े सहे। वे तो बलात्कारी नहीं हुए, मैं ही क्यों बना? जो वृत्तियाँ मैं लेकर जन्मा यह उसी का परिणाम है। विपरीत परिस्थितियाँ और सही परवरिश की कमी, मेरे जैसी सोचवालों

के लिए आग में घी का काम करती हैं। हर बीते पल ने मेरी सोच की दृष्टि को भरमाया। पुरुषत्व और सत्ता के अहं में उलझा रहा।

मैं जानता हूँ कि मेरा दोहरा व्यक्तित्व है। दार्शनिक और रेपिस्ट का। पागलखाने में मैं एक दार्शनिक मशहूर था। अपना दर्शन प्रकृति के सारे तत्त्वों को सुनाता रहता था-'हे तत्त्वों सुनो। पूरे विश्व के पुरुष अपने पुरुषत्व के मद में हैं। तभी तो नारी को सिर्फ भोग की वस्तु माना जाता है। इतिहास के पन्ने पलटिये...आदिकाल से अब तक सभी युगों और सभी सभ्यताओं में, प्रथम विश्व युद्ध, द्वितीय विश्व युद्ध, वियतनाम, ईरान, अफगानिस्तान युद्धों में औरतों के बलात्कार हुए, उन्हें तरह-तरह से पीड़ित किया गया। कितने बलात्कारी पकड़े गए! कभी पकड़े भी नहीं जाएँगे? पितृसत्ता जानती है कि नारी पुरुष से मजबूत है और नारी कभी गुटों की, गिरोहों की, सभ्यताओं की मुखिया हुआ करती थी और समाज का संचालन करती थी। बड़े षड्यंत्रों और प्रयासों के बाद पुरुष ने सत्ता सम्भाली और पितृसत्ता का वर्चस्व हुआ है। बलात्कार ही ऐसा शस्त्र है, जिसके भय से समस्त नारी जगत को दबा कर रखा जा सकता है।

अरे मैं भी किन बातों में उलझ गया। जिस वर्ग से बदला ले रहा हूँ, उसी से सहानुभूति। तभी तो आज तक पकड़ा नहीं गया। लोग मेरा दर्शन सुनते हैं। मेरे असली रूप को पहचान नहीं पाते। मेरे दार्शनिक रूप के आकर्षण में मोह ग्रस्त रहते हैं।

यह लेडी अभी तक सचेत क्यों नहीं हुई? मेरी सोचने-समझने की शक्ति जवाब दे रही है। मुझे शराब की जरूरत है। मैं बेसमेंट से शराब लेकर आता हूँ। फिर शरीर और दिमाग काम करेगा।

शराब ले आया हूँ और हैरान खड़ा हूँ, इसे अभी तक होश नहीं आया। शायद गलती से आज रुमाल पर अधिक क्लोरोफॉर्म डाल दिया होगा और यह उसे बर्दाश्त नहीं कर पाई। मैं इसके सचेत होने का क्यों इंतजार कर रहा हूँ। पहले मैंने कब किसी के सचेत होने का इंतजार किया था।

'पुलिस' बाहर से आवाज आई और साथ ही दरवाजे पर किसी ने थपथपाया। उस महिला ने आँखें खोल लीं और वह तेजी से उठने की कोशिश करने लगी। मैं बौखला गया।

धोखा मैं चिल्लाया। तब तक पुलिस दरवाजा तोड़कर, हाथों में रिवॉल्वर थामे, भीतर आ गई। मैंने हाथ खड़े कर दिए। मेरे हाथों पर हथकड़ी लगा दी गई।

एक महिला पुलिसकर्मी ने उस महिला को पूछा-'आप ठीक हैं? इसने आपको हर्ट तो नहीं किया।' पुलिस के साथ उस महिला की बेटी और पति भी हैं। दोनों ने उस महिला को आलिंगन में ले लिया।

'नहीं मैम, यह मुझे हर्ट नहीं कर सका। दीवारों पर इसके बनाए चित्र देखें। इसकी माँ के साथ मेरी शक्ल मिलती है।' मैं स्तब्ध रह गया। तो यह कारण था कि इस महिला को देखकर मैं कमजोर पड़ गया। घटिया हूँ मैं। बेहद लचर। जिन महिलाओं पर मैंने अत्याचार किए वे भी किसी की माँ थीं? छीं अपने से घिन आ गई।

हकलाते हुए उस महिला से पूछा-'पुलिस को फोन कैसे किया? फोन तो मेरे पास था।'

'तुम मेरा मोबाइल फोन मेरी जेब से निकालना भूल गए। मेरी चेतना लौट आई थी और मैंने आँखें खोलीं तो तुम सिर झुकाये बैठे अपने आप से बातें कर रहे थे। मैंने एकदम आँखें बंद कर लीं। मुझे बहुत कुछ समझ में आ गया था और मैं तुम्हारे वार का इंतजार कर रही थी और स्वयं को तैयार कर रही थी कि मुझे अपने-आप को कैसे बचाना है! तभी तुम बेसमेंट में गए तो मैंने अपनी बेटी और पति को एसमएस कर दिया। मेरे फोन की लोकेशन से तुम्हारा घर ढूँढ़ लिया गया।' मैं ठगा सा महसूस कर रहा हूँ। मेरी सतर्कता, मेरी चालाकी मेरे पर हँस रही हैं। इस छरहरी महिला ने मुझे पछाड़ दिया। पुलिस के पीछे घिसटता उनकी गाड़ी में आ कर बैठ गया।

वह महिला मेरे पास आई और मेरी ओर देखकर बोली -'आर यू डेविड कूपरज सन?' मैं एकटक उसे देखता हूँ, गरिमामय चेहरा- 'तो यह मेरी माँ है।' इसने शायद चित्रों को देखकर अंदाजा लगा लिया है। कुछ देर मौन उसकी ओर देखता रहता हूँ। जिसे ढूँढ़ता मैं दर-दर भटका हूँ, आज वह सामने है और मेरे भीतर कोई भाव नहीं, कोई उल्लास, कोई उमंग नहीं। ग्लानि, अपराधबोध और शर्मिंदगी का बोझ क्या होता है, पहली बार ढोह रहा हूँ। आँखें झुक गईं। कैसे कहूँ! माँ तुम्हारी जात का विरोधी हूँ, और इस वहशीपन का कारण डैड हैं, जिन्होंने मेरे कोमल हृदय में नफरत का बीज बोया। गुनहगार हूँ, अपमान किया है मैंने पूरे स्त्री समाज का। एक शालीन औरत को माँ के रूप में देखकर आज डैड को थप्पड़ मारने का दिल करता है। वह जानते थे, मेरा पालन-पोषण नहीं कर सकते और माँ से भी मुझे छीन लिया। माँ के पास रहता तो उन्हें मेरा खर्चा देना पड़ता। किस कमीनगी से उन्होंने अपना खर्चा बचा कर, मुझसे भी छुटकारा पा लिया। माँ को कुछ भी नहीं बता सका! हिम्मत जुटा कर 'नो' कहते हुए मैंने अपना सिर घुमा लिया। बता देता तो वह जिंदा ही मर जातीं और मरते दम तक अपनी कोख को कोसतीं।

मैंने आप से इतनी बातें कीं, क्या आप मेरा नाम नहीं जानना चाहेंगे? सही कहा। बलात्कारियों और अपराधियों का कोई नाम नहीं होता। यह विकृत मानसिकता है, जो हर देश, हर शहर, हर गाँव, हर घर, हर गली, हर कूचे में मिलेगी। इस मानसिकता के शिकार कई बार बहुत अपने भी होते हैं, बाप, भाई, चाचा, ताऊ, दूर-करीब के रिश्तेदार, कोई भी हो सकता है, जिन्हें पहचानना मुश्किल होता है। पराये तो भीड़ का हिस्सा हैं। इस बीमार, निडर सोच का अंत होना चाहिए। यह प्रवृत्ति महामारी सी पूरे विश्व में फैल रही है और अब तो शिकार होने लगी हैं अबोध बच्चियाँ।'

बुद्धिजीवियों की तरह मैंने बहुत बड़ी-बड़ी बातें की हैं। आपको यह क्यों लगा कि मैं बलात्कारियों के हक में बोल रहा हूँ, नहीं मैं इस मानसिकता से निपटने का आपको हल दे रहा हूँ। आपको यकीन नहीं हो रहा। आपने मेरा जो रूप देखा है, उसके बाद कोई भी मेरा विश्वास नहीं करेगा। फिर भी आपको इसका समाधान बताऊँगा जरूर। कोई भी प्रवृत्ति लेकर बच्चा जन्में, किन्हीं भी हालत परिस्थितियों में वह पले, बलात्कार करना घिनौना जुर्म है। उसे सख्त से सख्त सजा मिलनी चाहिए।

जानता हूँ, मुझे सात से चौदह वर्ष का कारावास मिलेगा। किडनैपिंग और बलात्कार की मंशा तथा कई और छोटी-मोटी धाराएँ लगा कर जेल में डाल दिया जाऊँगा। पर इससे क्या होगा! एक बलात्कारी को सही सजा मिलेगी। यह बीमारी इतनी फैल चुकी है, इसका कठोर इलाज किया जाना चाहिए। बच्चे को छुटपन से सिखाया जाता है, गलत काम करोगे तो परिणाम भुगतने पड़ेंगे। बलात्कारी को

क्या परिणाम भुगतना पड़ता है? कुछ वर्षों की जेल। उसका डर नहीं होता घिनौनी सोच वालों को। फिर इस मानसिकता को समाप्त कैसे किया जाए। मैं बलात्कारी हूँ और अपने कृत्य पर शर्मिंदा हूँ। चाहता हूँ, कड़ी सजा मिले और सजा में मेरा लिंग काट दिया जाए। एक लिंग कटेगा, सौ लिंग सतर्क हो जाएँगे। यह जरूरी है। जहर का बीज वृक्ष बनने से पहले ही दब जाएगा।'

'आपको भी इसी बात का डर है, जो मुझे है। पितृसत्ता इस निर्णय पर अपनी मोहर नहीं लगाएगी? लिंग कभी नहीं कटेगा, लिंग की तो पूजा होती है। और फिर मानवाधिकार वाले अपना अलग झंडा फहराएँगे। मानवीय अधिकारों के हनन की बात करेंगे। इसका मतलब बलात्कारी छूटते रहेंगे।' जोर-जोर से जार-जार रोना आ गया है। घृणित कृत्यों के बोध से पीड़ित हूँ और मुझे इस पीड़ा में जीना नहीं।

'क्रेजी मैन' पुलिस वाले ने कहा।

'मैं पागल नहीं हूँ, मुझे पता है मैंने क्या-क्या किया! हाँ, वकील बलात्कारी को, अपराधी को, पागल घोषित कर बचा लेते हैं। मुझे अपने किये का दंड चाहिए, अंग-भंग दंड।' लगता है कोई नहीं सुन रहा मेरी बात। इस सदी के समाज की यही समस्या है। सही और सच्ची बात कभी नहीं सुनी जाती।

वैन पुलिस स्टेशन के आगे रुकी और मुझे पुलिस की कोठरी में डाल दिया गया है। अब कानूनी कार्यवाही चलेगी।

आप सब मेरी ओर इस तरह क्यों देख रहे हैं। मैंने अपनी सच्चाई और स्वयं की सजा आपको बता दी। एक बलात्कारी की सजा, जो उसे मिलनी चाहिए। घिनौने कृत्यों को रोकने की सजा। इसे लागू करवाना आपका काम है। इसके लिए स्त्री समाज को आगे आना पड़ेगा। पितृ सत्ता तो इसके आड़े आएगी, उसके पुरुषत्व का प्रश्न है। अहं और अस्तित्व का सवाल है। महिलाओं को सुदृढ़ता से इसके लिए लड़ना पड़ेगा।

आपकी नफरत की तरंगे मेरे तक पहुँच गई हैं। सहानुभूति और क्षमा के लिए यह सब नहीं कह रहा...जो समाधान मैंने सुझाया है, उसकी ओर ध्यान जरूर दें... शायद भावी पीढ़ी की नव कोंपलें फूटने से पहले कुचले जाने से बच जाएँ...। ▫

पता : 101, Guymon Court, Morrisville
NC-27560, USA
मो. : 919-678-9056

(पृष्ठ 83 का शेष)

हो तो वह स्त्री-विमर्श की साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में कथालेखन होना चाहिये। विमर्श के लिये गद्य की विधाएँ अधिक उपयुक्त हैं। कहानी और उपन्यास खास तौर से। स्त्री-विमर्श के नुक्ते कथानक में अच्छी तरह ढलते हैं, उनके साथ सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक परिप्रेक्ष्य जुड़ते हैं, वर्चस्व के समीकरण, सम्बन्धों के जटिल जाल जिन्हें आलोचना की प्रविधियों से विश्लेषण का विषय बनाया जा सकता है, जबकि मौजूदा दौर में हिन्दी में उनकी कविताएँ अक्सर उद्‌गार बन कर रह जाती हैं और आलोचना की प्रविधियों के सामने टिकी नहीं रह पातीं। लेकिन गम्भीर कविताओं के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। प्रविधियाँ उसकी भी विकसित हुई हैं। अनामिका ने कविताएँ लिखने के अलावा कविता की आलोचना की शब्दावली भी विकसित की है और बहुत अच्छी अलोचनाएँ लिखी हैं।

प्रश्न : किन किन आलोचकों के नाम लेना चाहेंगी जिन्होंने स्त्री-लेखन को सशक्त आधार दिया है?

अर्चना वर्मा : बहुत मुकम्मल सूची न दे पाने के लिये माफी चाहूँगी। इसका व्यवस्थित लेखा जोखा मेरे पास नहीं है। लेकिन स्त्री-विमर्श पर बड़े पैमाने पर काम किया जा रहा है। शोध से लेकर स्वतंत्र आलोचना तक। बहुत सारे नामों में से अनायास याद आने वाले ये कुछ नाम निर्मला जैन, अनामिका, रोहिणी अग्रवाल, प्रमिला के.पी, सविता सिंह, गरिमा श्रीवास्तव और शायद मैं भी।

इसके अलावा पुरुष आलोचकों में राजेन्द्र यादव, परमानन्द श्रीवास्तव। शायद और भी कुछ युवा आलोचक। लेकिन ज्यादातर पुरुष आलोचकों को विरुद्ध ही खड़े पाया है।

प्रश्न : पश्चिम में Exploration of femininity और psycho-linguistic की जो गहरी समझ अर्जित की गयी है, हिन्दी में स्त्री-लेखन की भाषा और संरचना पर कोई बात नहीं हो रही है। अभी देखने में यह आ रहा है कि पुरुष सत्ता पूरे विमर्श को श्लील और अश्लील के विवाद में उलझाये रखना चाहते हैं। ऐसा क्यों?

अर्चना वर्मा : मनोभाषिकी और स्त्रीत्व की छानबीन का रिश्ता साहित्य के नहीं, मनोविज्ञान के अनुशासन में स्त्री-विमर्श के साथ है। किसी वास्तविक स्त्री-प्रयोक्ता के स्वत्व की संरचना के सन्दर्भ में उसकी भाषा के प्रायोगिक रूप का अध्ययन किया जाता है। सामाजिक पारिवारिक पृष्ठभूमि में किन निर्देशों के द्वारा उसके स्त्री-स्वयं की रचना होती है, किन हदों और बाधाओं से निर्मित स्वत्व को वह कैसे अनुभव करती है, किस किस्म के सेन्सर उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति को रोकते हैं? उसमें भाषा क्या भूमिका निभाती है? लेकिन अचेतन की संरचना भी भाषा के नमूने पर देखी परखी है। लेकिन भाषा का वह सहज, निरवधान, प्रयुक्त रूप है। लेखन की भाषा सजग, सचेत, सावधान सृजनात्मक व्यवहार की भाषा होती है। उस पर हम चाहें तो मनोभाषिकी और स्वत्व की छानबीन के नियम लागू कर सकते हैं, लेकिन बहुत विश्वसनीय और प्रामाणिक नतीजों की आशा नहीं कर सकते। भाषा का सजग सचेत व्यवहार इस छानबीन के मूल उद्देश्य से अलग ले जाता है। ▫

पता : अर्चना वर्मा, जे-901 हाई-बर्ड, निहो स्कॉटिश गार्डेन
अहिंसा खण्ड 2, इंदिरापुरम, गाजियाबाद-201014
मो. : 09871282073
पता : सुनील कुमार मिश्र, रूम न0 104, डी.एस. कोठारी हॉस्टल
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007
मो. : 08010262232

थोड़ी सी ज़मीं थोड़ा आसमां

n जयश्री राय

वीलो के एक अधझड़े पेड़ की छांव के परे धूप का वह मीठा टुकड़ा बिछा था- गर्म और चमकीला! उसी के घेरे में लकड़ी की वह आत्मीय निमंत्रण से भरी छोटी-सी बेंच! हिमालय उस पर जा कर बैठ गया था-''भूख लगी है, सैंडविच खा ले! आज इतवार है और उसका डे ऑफ। एक दुर्लभ दिन, पल-पल कीमती! उसे जीना है इसे धीरे-धीरे- पूरे वजूद से।

सामने ऐल्बे नदी की बर्फीली लहरों में दोपहर का सूरज पिघल कर बह रहा है। सतह पर चांदी दमक रही है। हाम्बोर्गा हाफेन! जर्मनी का विश्व प्रसिद्ध बंदरगाह। प्राचीन और विशाल। जब भी फुर्सत मिलती है, हिमालय यहां चला आता है। यहां का माहौल उसे बहुत पसंद है। कहीं से आश्वस्त करता हुआ कि वह अकेला नहीं है, विस्थापित नहीं है, आश्रित नहीं है। हैमबर्ग एक कॉस्मोपॉलिटन शहर है। यहां पूरी दुनिया है. हर देश, मजहब, नस्ल के लोग। हिमालय सिल्बर फॉयल हटा कर धीरे-धीरे अपना सैंडविच कुतरता है। पीछे दायीं तरफ सीढ़ियों से भीड़ रंगीन पानी की तरह उतर रही है। कितने रंग, कितने चेहरे-नदी के किनारे-किनारे क्यारियों में खिले मिले-जुले मौसमी फूलों की तरह। छुट्टी का दिन हो और धूप हो तो यहां का शायद ही कोई व्यक्ति घर में बैठता है। सब निकल पड़ते हैं अपनी-अपनी सहूलियत के हिसाब से। आज ऑटोभान में गाड़ियां ही गाड़ियां। कैराभान भी। किसी की गाड़ी के पीछे साइकल लगी है तो किसी के कैराभान की छत पर बोट। साथ में घोड़े भी अपनी विशेष गाड़ियों में चल रहे हैं। सब कुछ सुंदर और अदभुत!

दस साल पहले जब वह यहां आया था, उसकी आंखें चौंधिया गईं थीं। वह जवाहर टनल की लम्बी, अंधेरी सुरंग पार करके कश्मीर से दुनिया के इस छोर में आया था, पॉलिटिकल असायलम की उम्मीद में। अपनी गतिविधियों की वजह से वह लम्बे समय से जेहादियों के निशाने पर था। उस पर कई बार जानलेवा हमले हो चुके थे। आखिरी बार जम्मू के जगती इलाके में आतंकवादी हमले के बाद वह किसी तरह हिन्दुस्तान से बाहर निकल आया था। वह समझ चुका था, जम्मू में तो क्या, वह देश के किसी भी हिस्से में इन लोगों से बच नहीं सकता। जो देश खुद सुरक्षित नहीं वह अपने नागरिकों की क्या रक्षा करेगा! तो वह जेब में अपने वतन की मुट्ठी भर मिट्टी और चनार के पत्ते लेकर यहां चला आया था उजाले की तलाश में। पीछे मैले-सांवले दिनों की अनगिन कतारे थीं और था एक डर- हार-मज्जे में धंसा हुआ। रुह में गहरे तक जज्ब। ये डर उसे-उसकी जाति को विरासत में मिला है- किसी आनुवंशिक रोग की तरह। जिस डर में वह रात-दिन थरथराता है, उसी डर में उसके पूर्वज पीढ़ियों से जीते-मरते रहे हैं. इस डर से मुक्ति नहीं। ये डर उनके डी.एन.ए. में है। ये डर है अल्पसंख्यक होने का, अपने आततायियों से संख्या में कम होने का, कमजोर और असहाय होने का। इस डर से बड़ा कोई डर नहीं जिसमें हर क्षण अस्तित्व का संकट बना रहता है।

वर्षों रात-दिन भय और अवसाद में रह कर हिमालय और उसके जैसे लोग भयभीत पशु से चौकन्ने और डिफेंसिव हो गये हैं। उन्हें हर जगह खतरा नजर आता है, साजिश की बू आती है. वे अक्सर अपनी परछाई से डर जाते हैं। कल रात एक अंधेरी गली से गुजरते हुये हिमालय को भ्रम हुआ था अपना पीछा किये जाने का। अचानक उसने मुड़कर गुलाबों की झाड़ियों पर अंधाधुंध पत्थर चलाया था। पेड़ों पर सोये पंछी जाग गये थे। इमारतों के पीछे से कहीं-कहीं से झांकती सफेद चांदनी में चमकते हुये पेड़ उसे नकाबपोश-से लगे थे। ये डरावने साये सदियों से उनका पीछा कर रहे हैं। ये स्मृतियां, विभ्रम जीवन के पार से है- कई जन्मों के! वह भागते हुये सात समंदर पार चला आया, मगर इनसे पीछा नहीं छूटा। ये डर कब तक, ये दौड़ कहां तक, हिमालय, हिमालय जैसे लोग थक गये हैं। उन्हें अपनी जमीन चाहिये, अपने हिस्से का आकाश चाहिये जो हो कर भी नहीं है। एक उम्मीद का किसी तरह ना मरना, हर हाल में बने रहना उन जैसों की त्रासदी है।

अपनी अधखायी सैंडविच बगल में बेंच पर रख कर हिमालय ऐल्बे नदी की पारे-सी कौंधती धार को तकता रहा था। टेम्स उसे अपनी वितस्ता की याद दिलाती है। वही चमक, वही रवानगी, गर्मी में रेशमी दुपट्टे-सी सरसराती, ठंड में बर्फ बनती बोझिल और फिरोजा से शनैः-शनै सफेद होती हुई पाईन की गंध में, सुलगते चिनार में, स्टाबेरी की सुर्ख लतरों में कश्मीर की याद है, याद जो एक ही साथ उसे सुख और दुख से भर देती है। अपनी जमीन अपनी भीतर ले कर वह वर्षों से जी रहा है, मगर बेघर, बेवतन है! हर बार, जब भी वह यहां, ऐल्बे के किनारे घूमने आता है, इसके पानी को छू कर अपनी वितस्ता से वादा करता है- वह-वे-जल्द लौटेंगे उसके पास, उसकी पवित्र लहरों में दीये फिराने के लिये, उसे अंजुरी में भरकर सूरज को अर्घ्य चढ़ाने के लिये। ठीक अपने पूर्वजों की तरह जो आज भी उनके तर्पणों के लिये प्यासे कंठ भटकते हुये उनकी राह देख रहे हैं।

अपने ख्यालों में डूबा हिमालय ना जाने कब तक उसी तरह एकटक नदी की तरफ देखता हुआ बैठा रहा था। तंद्रा तब टूटी थी जब एक युवती उसके बगल में बेंच पर आ कर बैठी थी-गुडेन टाक! आज मौसम कितना खूबसूरत है! हिमालय ने उसे उचटती निगाह से देखा

था-दुबली-पतली, बादामी आंखों और सुनहरे बालों वाली बीस-बाइस साल की युवती। 'गुडेन टाक' कह कर हिमालय फिर से पानी की तरफ देखने लगा था। उसे अपने में होने की, निरंतर बने रहने की आदत पड़ गई है। वह-उस जैसे लोग अपने भीतर की दुनिया के बाशिंदे हैं। जिस मिट्टी से बेदखल किये गये उसी मिट्टी में हर सांस बसे रहने की पागल जिद्द उन्हें अपनी दीवानगी से रिहा नहीं होना। ये दीवानगी उन्हें रास आ गई है. स्मृतियों में बसे घरों की नींवें दिल में गहरी पैठी होती हैं। पाताल में उतरी हुई जड़ें...

थोड़ी देर चुप रहने के बाद उस युवती ने शायद संवाद शुरू करने के ईरादे से फिर कहा था- इस नदी में ऐसा क्या है जो इस तरह देख रहे हो? जवाब में ना चाहते हुये भी हिमालय ने कहा था- इस नदी में मेरी नदी की स्मृति है...

सुनकर वह युवती अचानक से थोड़ी देर के लिये चुप हो गई थी और फिर जाने कैसी आवाज में कहा था-सब के भीतर कोई न कोई नदी होती है, पहाड़, मरुभूमि और समंदर भी मेरे भीतर भी है मृत सागर-ब्लैक सी!

उसकी बातों ने हिमालय में उसके प्रति उत्सुकता जगाई थी। उसने अब उसे कुछ ध्यान से देखा था- मृत सागर! आप कहां की हैं? जवाब में उस युवती की आंखें बुझ गई थीं-कहीं की नहीं! मैं यहूदी हूं! हिमालय को उसकी बातें, जुबान, आंखों की उदासी-सब पहचानी हुई लगी थी। वह उन जैसी है-अपनी जमीन की तलाश में सदियों से भटकती हुई रुहें! उसने इस बार आत्मीय लहजे में उसका नाम पूछा था। उसने अपना नाम लिजा बताया था। बात करते हुये दोनों जहाज पर चढ़े थे। यह जहाज शैलानियों को दो घंटे तक घुमायेगा। जहाज के डेक पर खड़े होकर दोनों नदी के किनारे खड़ी ऊंची, विशाल इमारतों को देखते रहे थे। कितनी पुरानी और गंभीर! पानी में लंगर डाले हुये जहाज, दूर मछलियों पर झपटते सी गल और आसपास से गुजरते हुये जहाज, याच...और नावें। आकाश खुला था इसलिये ठंड भी तेज थी। हवा चाकू की तरह धारदार! अपने हाथ एक-दूसरे से रगड़ते हुये हिमालय ने लिजा की दुबली बाहों में उभरते सुर्ख दानों को देखा था। उसने इस समय टी शर्ट के ऊपर एक बांह कटा हल्का स्वेटर पहना हुआ था। वह अंदर जाकर रेस्तरां से दो ग्लु वाईन ले आया था जिसका एक गिलास उसने आभार के साथ स्वीकारा था। गर्म लाल वाईन से धुआं उठ रहा था। कांच के गिलास को घुमा-घुमाकर हाथ सेंकते हुये दोनों ने साथ-साथ वाईन पिया था। वाईन की गर्मी थोड़ी ही देर में नसों में सुखद ताप की तरह फैल गई थी। हिमालय को कांगड़ी की याद हो आई थी। चिलेकलां के बेरहम चालिस दिनों के दौरान यही उनका सम्बल हुआ करती थी। फिरन के भीतर हीरे-मोती की तरह लोग उन्हें छिपाये फिरते थे। सर्दी से पहले ही कांगड़ी के लिये चिनार के पत्ते इकट्ठा करने की धूम पड़ जाती थी। यहां के मटमैले, ठिठुरे हुये सर्द दिन बार-बार उसे उस जमीन की याद दिलाती है जहां नाल के साथ-साथ उनकी जान भी गड़ी है... एक गहरी सांस के साथ उसने सोचा था, उन स्मृतियों से रिहाई नहीं! चाहे वह दुनिया के किसी कोने में चला जाय।

लिजा के सूखे, सुनहरे बाल हवा में बेतरतीब उड़ रहे थे। आंखों में आकाश का नील नीलम की तरह चमक रहा था। इतने उजले दिन में भी उसकी त्वचा और पूरी सख्शियत में उदासी कोहरे की तरह जमी हुई थी। वह मुस्कराती थी, बोलती थी मगर जाने क्या था जो उसमें नहीं था. उस कुछ ना होने ने ही शायद उसे भीड़ से अलग कर दिया था। एक परछाई की तरह सबके साथ हो कर भी वह कहीं नहीं होती थी। दूर पानी की सतह पर चिल्लाते और गोल-गोल चक्कर लगाते हुये जल पंछियों की ओर देखते हुये उसने अन्यमनस्क भाव से बताया था, रुस में उसका जन्म हुआ और वही पली-बढ़ी। फिलहाल एक प्रायमरी स्कूल में बच्चों को चित्रकला सिखाती है। शादी हुई थी मगर तीन महीने में ही टूट गई।

हिमालय ने पूछा था, वह घूमने के लिये जर्मनी ही क्यों आई? जवाब में लिजा ने गहरी सांस ली थी-अपने पुर्खों से मिलने आई हूं फिर थोड़ी देर बाद रुक-रुककर बोली थी-उनके कब्र तो नहीं मिले मगर इस देश की जमीन पर जहां भी पैर रखती हूं, उनकी धड़कनों को महसूस करती हूं। मेरे अपनों के खून और आंसू से यहां की मिट्टी सात पर्तों तक गीली है। एक छोटी चुप्पी के बाद फिर वह कुछ हैरत से बोली थी- जाने इस देश को नींद कैसे आती है!

लिजा की बातें हिमालय के भीतर आग की तरह कौंधी थी। जिस मद में डूबकर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से घृणा करता है, उसे सताता, प्रताड़ित करता है, उसी मद में चूर हो कर वह सोता है। जैसे उनके हमवतन सो रहे हैं, ये जागे हुये लोगों की नींद है इसलिये शायद कभी ना टूटे! वर्ना बाईस साल बहुत होते हैं जागने के लिये।

जहाज से उतर कर स्टेशन की तरफ बढ़ते हुये लिजा ने कहा था- अच्छा हिमालय! सोचो तो, अगर ये चींटियों की कतार की तरह उतरते इन्सानों के चेहरे, कपड़े, भाषा, कद-काठी एक जैसे होते तो कैसा लगता? दुनिया कितनी बदसूरत और उबाऊ होती ना? फिर क्यों लोग दूसरों को बदलने की कोशिश करते हैं, उन्हें अपनी तरह बनाना चाहते हैं! आई टेल यू, इट्स वर्सूट काइंड ऑफ वायलेंस! लिजा की बातों ने हिमालय को जाने क्या-क्या याद दिला दिया था। अपनी ही मिट्टी के लोग आंखों में अंगार भर कर चिल्लाते हुये-अल जेहाद! अल जेहाद! अल जेहाद! उन नफरत के जहर उगलते फेनिल होंठों ने उन्हें कितना त्रस्त, कितना अकेला कर दिया था कि कुछ ही दिनों के भीतर लाखों

चित्रकार : भूपेन्द्र कुमार अस्थाना

पंडितों ने अपनी जन्नत, अपना कश्मीर छोड़ दिया था। हिमालय ने थकी हुई आवाज में कहा था-ये बातें रहने दो...जाने कब से भाग रहे हैं हम इस नफरत से। इतिहास के पन्ने पलट कर देख लो, यह सातवां विस्थापन है हमारा! अपनी रुह, अपनी पहचान, आस्था, पवित्र किताबों की हिफाजत के लिये बस भाग रहे हैं-आज भी! पीछे-पीछे वही फतवा-या रलिव, या गलिव, या चलिव या तो हम में विलीन हो जाओ, या खत्म हो जाओ या इस जमीन से दफा हो जाओ इन्हीं तीन विकल्पों के बीच हम भट्ट लोग वर्षों से जी या मर रहे हैं!

लिजा को शायद उसकी बात समझ नहीं आई थी। उसने असमंजस से कहा था-तुम क्यों भागोगे? तुम्हारा वतन है, तुम्हारे लोग हैं, तुम हिन्दुस्तानी हो! उसके सवाल पर हिमालय चुपचाप उठ खडा हुआ था। वह लिजा को क्या बताता या समझाता। यही तो उनका कसूर था-हिन्दुस्तानी होना-हर अर्थ में! निर्दोष होना शायद सबसे बड़ा गुनाह है इस दुनिया में। इसकी सजा कभी माफ नहीं होती! उनकी ट्रेन आ रही थी। अब तक वे स्टेशन की एक बेंच पर बैठकर बात कर रहे थे। उन्हें हैम्बर्ग से वेन्टॉर्फ जाना था। वही हिमालय एक जर्मन बुढ़िया के यहां पेइंग गेस्ट की हैसियत से रहता है एक कमरा लेकर। लिजा राईन्बेक में अपनी एक आंटी के यहां ठहरी है। उसकी आंटी एक यहूदी स्कूल चलाती है यहां के यहूदी बच्चों के लिये। हैम्बर्ग से ट्रेन वेन्टॉर्फ तक सीधी नहीं जाती। इसके लिये हिमालय को राईन्बेक या बैरगेडर्फ से बस पकड़नी होती है। वेन्टर्फ के एक पिज्जारिया में वह काम करता है। अस्थायी काम। विगत दस सालों में उसने शायद यहां पचास नौकरियां की है, हर तरह की-अधिकतर ब्लैक में। एशिया के और प्रवासी हिन्दुस्तानियों के यहां। शोषित तो हुआ मगर किसी तरह जीने की जुगाड़ भी होती रही। एसाइलम की लम्बी कानूनी लड़ाई के बाद अब कही जा कर उसे काम करने का परमिट मिला है। सिर्फ अस्थायी नौकरी के लिये। मगर यह भी कम नहीं उसके लिये। वह खुश है। जिन्दा रह पाना उन जैसों के लिये सबसे बड़ी लक्जरी है, एक तरह से अय्याशी ही।

उसके निमंत्रण पर लिजा उसके साथ उसके कमरे में चली आई थी। हिमालय ने उससे कहा था 'अगर यकीन कर सको तो...' उसकी बात पर लिजा खूब खुल कर हंसी थी-यकीन नहीं तभी डर भी नहीं! हम लोग दुख-दर्द, डर से इम्युन हो गये हैं। खोने के लिये हमारे पास कुछ भी नहीं! उसकी बात पर हिमालय भी हंसा था- तब ठीक। देने के लिये मेरे पास भी कुछ नहीं।

हिमालय बुढ़िया के घर के तहखाने यानी 'केलर' में रहता है। यहां धूप नहीं आती, हवा नहीं आती। कमरे के बाहर की गैलरी के ऊपर लगी जाली पर से या तो रात-दिन गुजरते हुये लोगों के पांव दिखते हैं या मटमैला, धूसर आकाश। इसी कमरे में मुफ्त रहने के लिये हिमालय को बूढ़िया के हजार काम करने पड़ते हैं- उसके लॉन की घास छिलना, कचरा फेंकना, बाजार करना, हर तरह के बिल भरना। फिर भी बुढ़िया खुश नहीं रहती उससे। हर समय बड़बड़ाती है। वह उसके लिये 'आउस लैंडर' यानी विदेशी है जिन्हें यहां सब शक और अवज्ञा की नजर से देखते हैं। हिमालय को अब इन बातों से कोई फर्क नहीं पड़ता। वह वर्षों से बेघर है, शरणार्थी है। इन अजनबी, नफरत भरी आंखों की उसे आदत हो गई है। देश में भी, यहां भी। वह यहां की दीवारों पर लिखे नारे-'आउस लैंडर, राउस' यानी विदेशी यहां से निकलो-पढ़कर चुपचाप आगे बढ़ जाता है, बद्तमीज पंक और उद्दंड किशोरों के बीच की अंगुली के अश्लील इशारों को अनदेखा कर देता है। उसकी अपनी जमीन पर भी उनके लिये ऐसी ही तहरीरे लिखी होती थीं-पंडितों! कश्मीर छोड़ों!

उसके कमरे में आ कर लिजा गंभीर हो गई थी- तुम्हारा यह कमरा मुझे कॉन्सेंट्रेशन कैम्पों की याद दिला रही है-तंग, अंधेरी कोठरियां एक-दूसरे से चिपकी माचिस की डिबियों की तरह, हवा, उजाले, धूप से वंचित...मेरी दादी कहती थी हमारे 'घेटो' खुले हुये कचरा पेटी की तरह गंदे और तंग हुआ करते थे। कंटीली तारों से घिरी ऊंची दीवारों के पीछे की खूबसूरत दुनिया को यहूदी एक तरह से भूल ही चुके थे। कभी किसी ने इन्हें पार करने का दुःसाहस किया तो उन पर सेफर्ड डॉग्स छोड़ दिये गये! कहते हैं वे यहूदियों की बोटियां नोच-नोचकर भेड़ियों की तरह आदमखोर बन चुके थे। ओह! वे कॉन्सेंट्रेशन कैमप्स, घेटो, किलिंग सेंटर, लेबर कैम्पस...पूरे यूरोप में फैले हुये। पोलैंड में जर्मनी ने पहला घेटो 1939 को बनाया था। जानते हो हिमालय, दूसरे विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी ने एक हजार घेटोस का निर्माण जर्मनी अधिकृत पोलैंड और सोवियत यूनियन में किया था। घेटोस के नरक में लाखों यहूदियों को कैद कर नाजी उन्हें पूरे यूरोप से मिटा देने का कुचक्र रच रहे थे जिसे वे 'फाइनल सॉल्युशन' कहते थे।

कहते हुये लिजा सिगरेट के कश जल्दी-जल्दी लेती है। बिना रूम हीटर के इस ठंडे कमरे में भी हिमालय उसके माथे पर पसीने की बूंदे देखता है। उसे जम्मू के शरणार्थी कैम्प याद आते हैं- घेटोस! किसी नाजी जर्मनी में नहीं, अपने देश भारत में! विश्व के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश में! मुट्ठी कैम्प के वे अवसाद भरे दिन उसे भी सिगरेट की तलब होती है। बिना पूछे वह लिजा के हाथ से सिगरेट ले कर पीने लगता है। लिजा कुछ नहीं कहती। वह समझती है जलावतन हुये लोगों का डर, ये उनके साझे का है।

हिमालय फ्रिज से रेड वाइन की एक बोतल और पिज्जा के चार टुकड़े निकाल लाया था। बोतल आधा खाली था। लिजा टुना फिश पिज्जा के वे टुकड़े ओवन में गरम कर लाई थी। कमरे में एक ही पुराना सोफा था जिसका एक पैर टूटा होने की वजह से वह एक तरफ झुका हुआ था। उसी पर बैठकर दोनों ने वाइन के साथ पिज्जा खाया था। हिमालय ने गौर किया था, लिजा स्वभाव से बहुत सीधी-सादी लड़की थी। उसकी अंग्रेजी टूटी-फूटी थी और बोलने का लहजा रशियन। हिमालय को उसका यूं मिलना और सहज घुल-मिल जाना बहुत अच्छा लगा था। एक तरह से वह एकदम अकेला था यहां। जिस पिज्जारियां में वह काम करता था, वहां उसके कुछ दोस्त जरूर थे जिनमें पाकिस्तान का जमील खास था। वह शिया मुसलमान था और कहता था कि शिया मुसलमानों के लिये पाकिस्तान वैसा ही है जैसे यहूदियों के लिये नाजी जर्मनी। मुहर्रम के दौरान हुये एक मजहबी दंगे में अपना सब कुछ गंवाकर वह यहां भाग आया था। दूसरा था यशपाल। वह अफगानिस्तान में युद्ध के दौरान राजनीतिक एसाइलम ले कर यहां आ गया था। अक्सर मजाक में कहा करता था, भला हो इन जेहादियों का, मुझे इस जन्नत में आस्ताना मिल गया! वर्ना जो लोग बुद्ध की मुंडी मरोड़ देने से बाज नहीं आते वे हमारी गर्दनों का क्या हश्र करते! सुनकर हिमालय को कश्मीर के टूटे हुये शिवालय याद आते। इस दुनिया ने भगवान को भी बेघर कर दिया है। करोड़ों लोगों के साक्षात भगवान दलाई लामा

भी शरणार्थी हो कर धर्मशाला में बैठे हुये हैं। फिर उसकी-उसके जैसे लोगों की औकात क्या! यशपाल जर्मनी में एक दिन अपना रेस्तरां खोलने का सपना देख रहा था। इसके लिये एक जर्मन लड़की से पेपर मैरिज करने के लिये वह पैसे जमा कर रहा था। पेपर मैरिज यानी इस देश में रहने के सारे कानूनी अधिकार पाने के लिये यहां की किसी लड़की को पैसे दे कर उससे नाममात्र का कागजी विवाह! खैर! इन्हीं दोनों के साथ उसका विशेष सम्पर्क था, वर्ना वह अकेला ही था।

उसे हर पल अपनी पैसठ साल की बूढ़ी मां की याद आती है जो आज भी जम्मू की जगती में बनी नई कॉलोनी की एक छोटी-सी कोठरी में बैठकर अपनी बेटी की लूटी हुई अस्मत और लूटे हुये डेजिहोर के जोड़े के लिये रोती रहती है। उसे नालायक मानती है और भगोड़ा भी। उसके एकलौते बेटे ने इस बुढ़ापे में उसका साथ न दिया। पति भी ऐसा ही था-भगौड़ा! गांधरबल इलाके के वंदहामा गांव में आतंकवादियों ने कत्ले आम किया तो 25 पंडितों के साथ वे भी मर कर उससे जान छुड़ाई! एक बार भी नहीं सोचा, जालिमों के निजाम में जवान होती लड़कियों को चील-कौये नोंच खाते हैं।

लिजा खा-पी रही है, उससे बोल भी रही है मगर अपने में है-अपने भीतर की किसी दुनिया में। इस एक दुनिया में सबकी जाने कितनी-कितनी दुनिया है! नक्शे पर दुनिया के जिस्म पर खींची बदसूरत लकीरों को देखकर वह सोचता है, सारा खेल इन लकीरों का है। लकीरें खींचते-खींचते इंसान खुद में भी कई-कई टुकड़ों में बंट गया है। फिर भी इन लकीरों को विराम नहीं! चल रहे हैं दिलों पर, जिन्दगी पर, मुहब्बत और यकीन पर सोचते हुये हिमालय बोझिल हो उठता है। पिज्जा के टुकड़े समेत प्लेट उठाकर सिंक में रख आता है। लिजा उसके सी.डी. कलेक्शन से ढूंढ़ कर एल्विस प्रेसली का गीत लगाती है-सम वन बिल्डिंग कैंडी हाउस फॉर मैं स्वीट सिक्सटीन...हिमालय की तरफ हाथ बढ़ा कर कहती है-डांस? हिमालय सी.डी. का वॉल्युम कम करके उसके साथ नाचता है-रोमियो-जुलियट आज भी तेज संगीत की धुन पर नाच नहीं सकते ये वही जर्मनी है लिजा! 'हूं' लिजा अपनी बुझी आंखों में चमक भरने की कोशिश करती है-अल्वेयर कामू ने हम जैसों की ही कहानी लिखी है न।

लिजा की देह से बासी परफ्यूम, वाइन और पिज्जा की गंध आ रही है। उसकी त्वचा की रंगत उबले हुये अंडे की तरह धूसर सफेद है मगर छूने में बेहद नर्म और रेशमी शायद इसीलिये हिटलर यहूदी स्त्रियों की खाल से जूते बनवाने के लिये वैज्ञानिकों से प्रयोगशाला में प्रयोग करवा रहा था!

हिमालय खुश होना चाहता है, इस पल को, एक स्त्री देह के सानिध्य को महसूसना चाहता है मगर स्त्री देह के नाम से उसे अपनी बहन जान्हवी का उघड़ा हुआ शरीर याद आता है-असंख्य नील-लाल दागों से भरा बीच बाजार पड़ा हुआ। सूजकर एकदम ढोल! हिमालय के हाथ अनायास लिजा की कमर के इर्द-गिर्द शिथिल पड़ जाते हैं। वह वापस सोफे पर जा कर बैठ जाता है। बेहद थका, शर्मिंदा-सा। लिजा कुछ नहीं कहती और वह भी आकर उसके करीब बैठकर अपने गिलास में बचा हुआ वाइन पीने लगती है।

थोड़ी देर बाद हिमालय ने सफाई देने के-से अंदाज में कहा था-जब एक मनःस्थिति प्रखर रहती है तब दूसरी इच्छायें शिथिल पड़ जाती हैं. वर्षों अवसाद में रह कर हमारी सहज-स्वाभाविक इच्छायें नष्ट-सी हो गई हैं। आंकड़े बताते हैं, हम खत्म हो रहे हैं।

लिजा अपनी आवाज में चहक भरने की कोशिश में नाकाम होती हुई कहती है- मैं इन जर्द मौसमों में रंगीन तितलियां ढूंढ़ती फिरती हूं। हमें अपनी कोशिश जारी रखनी है हिमालय, खुशियों पर से, जिन्दगी पर से अपना दावा कभी नहीं छोड़ना है। हिमालय उसकी आंखों में वाइन की फैलती लाली देखता हुआ चुप बैठा रहता है। अचानक उसे लग रहा है वह बहुत थक गया है। कल से फिर वही दस घंटे की कमरतोड़ डयूटी! रात-दिन इस रफ्तार से गुजर रहे हैं मगर वक्त उसके लिये वहीं ठहरा रह गया है- कश्मीर की वादियों में! वह आगे बढ़ना चाहता है मगर हर कदम पीछे की ओर लौटता है, वही, उसी जमीन पर जहां वे अपना आप वर्षों पहले छोड़ आये थे।

लिजा उससे कहती है, बड़ा अनोखा है तुम्हारा देश! वहां दुनिया के हर कोने से लोग आते हैं और शरण पाते हैं। पारसियों की पवित्र आग जो वे इस्लामी जेहाद के दौरान ईरान से बचा ले आये थे, आज भी तुम्हारे देश में अक्षुण्ण जल रही है...अल्पसंख्यक समुदाय जैसे सिख, जैन, पारसी समृद्ध और सुरक्षित हैं...लिजा हिन्दुस्तान के विषय में अच्छी जानकारी रखती है यह उसकी बातों से समझ आता है। हिमालय उसकी बात चुप रह कर सुनता है, कुछ कहता नहीं। कहता भी तो क्या? यही कि जिस देश में पूरी दुनिया के लिये जगह है, जहां करोड़ों की संख्या में पड़ोसी देशों से आये शरणार्थी हैं, उसी देश में उसकी अपनी संतानों के लिये जगह नहीं है! कैसा विरोधाभास है! हिमालय बातों का रुख बदलना चाहता है क्योंकि यह प्रसंग बहुत अप्रिय है उसके लिये-जहां इस समय हम बैठे हुये हैं, उस देश ने तुहारी जाति के साथ बहुत अन्याय किया है, नहीं? लिजा उसकी बात अनसुनी करके देर तक बैठी रहती है फिर उठ कर सिंक पर पड़े बर्तन धोने लगती है. उसने देख लिया था, इस छोटे-से कमरे में कोई डिश वासर नहीं है। थोड़ी देर प्रतीक्षा करके हिमालय ने फिर अपना प्रश्न दोहराया था और इस बार एप्रोन में अपने हाथ पोंछती हुई लिजा एक बार फिर उसके करीब आ बैठी थी- सच है नाजी जर्मनी ने हमारी कौम के साथ बहुत बुरा किया मगर यह भी सच है कि सिर्फ इन्होंने ही हमारे साथ बुरा सलूक नहीं किया। बहुतों ने किया। यहूदी जाति के साथ बर्बरता और घृणा का व्यवहार बहुत पहले शुरू हो चुका था, दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में। जानते हो हिमालय, सारे यहूदियों को चरित्र से हमेशा एक माना गया और इसी लिये सब को बराबर सजा का हकदार माना गया-एक दूध मुंहे बच्चे ले कर एक सौ साल के बूढ़े तक को! पूर्वाग्रह की हद समझ सकते हो। और यह सब खुद को सभ्य और सुसंस्कृत समझने वाली पश्चिमी दुनिया करती रही है हमारे साथ!

कहते हुये लिजा की आवाज और सांसें तेज हो गई थी मगर बिना रुके वह कहती रही थी-एंटी सेमिटिस्म यानी यहूदियों के प्रति घृणा इस दुनिया की एक बहुत पुरानी और खतरनाक बीमारी है। मगर इस बीमारी का नामाकरण पहली बार 19वीं सदी में जर्मनी ने किया। यहूदियों के विरुद्ध पहला तथाकथित जेहाद 1096 में हुआ। फिर 1290 को उन्हें इंगलैंड से निकाला जाना, स्पेन के यहूदियों की सामूहिक हत्या 1391 को, फिर वहां से भी उनका निष्कासन 1492 को यातना,

उत्पीड़न का एक लम्बा इतिहास है हिमालय! कहां तक गिनाऊं! युक्रैन में भी कोसाक नर संहार, दी होलो कॉस्ट, रशिया में यहूदी विरोधी तरह-तरह के सरकारी फरमान...इन सबके साथ यहूदियों का इस्लामी तथा अरब देशों से निकाला जाना तो है ही!

'हूं'! कहते हुये हिमालय उसे सुनता रहता है. बीच में कुछ कह कर वह उसकी सोच की प्रवाह, तारतम्य को तोड़ना नहीं चाहता। वह चाहता है कि लिजा आज बोले खुद को हल्का करे। ये बोझ इंसान को भीतर ही भीतर दफ्न कर देता है। वह स्वयं इस घुटन का वर्षों से शिकार है। लिजा के भीतर की उत्तेजना उसके चेहरे पर है। वह अपनी मुट्ठियां बांधे कमरे में टहल रही है-किस तरह एक सभ्य, सुसंस्कृत दुनिया एकदम सुनियोजित तरीके से एक अल्पसंख्यक जाति को बदनाम, प्रताड़ित और निःशेष करने की साजिश रचता है! यहूदियों से नफरत करने के सौ कारण वे ईजाद करते हैं-यहूदियों की नस्ल आर्य नस्ल से कमतर है, उसके खून में नीचता है, वह पूरी दुनिया के लिये दुर्भाग्य का कारण है, वह किसी का वफादार नहीं होता, जिसकी शरण लेता है, उसी की बुराई करता है, नमकहराम, देशद्रोही, येसू का हत्यारा, हिमालय को ये शब्द जाने-पहचाने लगते हैं। वह लिजा के भीतर की खौल को महसूस करता है। उसकी आंच उसके जिस्म तक पहुंच रही है। अपने भीतर इतनी आग समाये वह जिन्दा कैसे है! अब तक राख कैसे नहीं हो गई! ये चलते-फिरते जिस्म, मुस्कराते चेहरे वास्तव में कब्रिस्तान हैं। इनके भीतर जिन्दगी नहीं, बस मौत है, लाशें हैं सड़ती-बसाती हुयीं।

लिजा जैसे एकालाप किये जा रही है, खुद में बड़बड़ाती हुई-बुद्धिजीवियों की बुद्धी का भी सदुपयोग देखो- साहित्यकार, इतिहासकार, चित्रकार, संगीतकार- सभी अपनी कला के माध्यम से यहूदियों के खिलाफ जन साधारण के मन में नफरत पैदा कर रहे थे। कोई अखबार निकाल रहा था, कोई पैमप्लेट छाप रहा था तो कोई पर्ची बांट रहा था। यहूदियों की वजह से सबके धर्म, संस्कृति, अस्मिता खतरे में पड़ गये थे। जाने कितनी किताबें यहूदियों की कारस्तानियों पर लिखी गईं। उस समय हमारे समुदाय को ले कर हर जगह तरह-तरह के चुटकुले प्रचलित थे। फिल्मों में दिखाये जाने वाले अधिकतर खल पात्र भी यहूदी ही होते थे। हमारी जाति शैतान की जाति है। हम एक दिन पूरे विश्व का धर्मांतरण कर सबको यहूदी बना देना चाहते हैं। संक्षेप में सारी बुराई, तकलीफ, फसाद की जड़ में हम यहूदी ही थे। इसलिये हमें इस दुनिया के नक्शे से मिटा देना सबका परम कर्तव्य बन पड़ा था। इन बातों के माध्यम से तुम समझ ही सकते हो, यहूदी जाति के प्रति घृणा लोगों के डी.एन.ए. में है। इसे मिटाना इतना सहज नहीं!

उसकी बातें सुनते हुये हिमालय एक नयी सिगरेट सुलगाता है। बाहर मकान मालकिन का कुत्ता ऊपर की बॉल्कनी में रह-रहकर भौंक रहा है। मकान मालकिन मिसेज वॉल्टर्स उसे डांट रही है। उसने शायद बॉलकनी की लाईट भी जला ली है। हिमालय जानता है, वह खब्ती किस्म की महिला है। उसे चिंता हो रही है। यहां बहुत सावधानी से रहना पड़ता है। युवा लड़के, खासकर एशियन और अफ्रीकन लड़के हमेशा शक की नजर से देखे जाते हैं। कभी रात को काम से लौटते हुये देर हो जाय तो खाली पड़े स्टेशनों में कभी हुड़दंगी लड़के परेशान करते हैं तो कभी सुनसान सड़कों पर पेट्रोलिंग पर निकली पुलिस रोक कर पूछताछ करती है।

बाहर के शोरगुल से लिजा का ध्यान हटाने के लिये हिमालय लिजा से दूसरा प्रश्न पूछता है-और पूर्वी देशों में? जहां तुम लोगों की उत्पत्ति हुई।

लिजा भी बाहर की आवाजों को सुन रही थी। फिर भी खुद को सहज दिखाते हुये वह बात करती रही थी- हर जगह वही दुर्व्यवहार, उत्पीड़न, धार्मिक अल्पसंख्यक होने की वजह से हर जगह हमें बहुसंख्यक समुदाय से शोषित और अपमानित होना पड़ा। येसू मसीह की हत्या का कलंक और सजा हमारी हर पीढ़ी को सहनी पड़ी, हालांकि येसू हमारी ही तरह खुद भी एक यहूदी थे।

लिजा की बातें हिमालय को अनायास अपने देश की ओर निशेषः ले चलती हैं। कश्मीर में वे यानी पंडित समुदाय भी अल्पसंख्यक थे। उन्हें भी हर पल आतंक में गुजारना पड़ता था, चुप रह कर सब कुछ सहना पड़ता था। उसे याद आता है 1992-आतंकवाद के शुरुआती दौर में मां का धीमे स्वर में गायत्री मंत्र पाठ करना, शाम ढलते ही पूरे परिवार का दरवाजा बंद कर घर के भीतर बैठ जाना, छोटी बहन जान्हवी का सर से पैर तक खुद को ढक कर स्कूल के लिये घर से निकलना। कोई धार्मिक अनुष्ठान, सांस्कृतिक कार्यक्रम। राजनीतिक गतिविधि वे खुलकर नहीं करते। बहुत लो प्रोफाइल रखते ताकि किसी की नजर में ना आये, ना खटके। पड़ोसी देश के साथ कारगिल का युद्ध हो, सीमा पर तनाव हो या क्रिकेट मैच हो, उनकी स्थिति शोचनीय हो जाती। हिन्दुस्तान के किसी भी तथाकथित अपराध या गलती का दंड उन्हें ही भरना पड़ता। देश के किसी हिस्से में दंगे भड़कते, साम्प्रदायिक तनाव होता, वे सूख कर काठ हो जाते। कोई उन्हें हिन्दुस्तान का जासूस समझता तो कोई सरकारी पिट्ठू! बिना किसी जुर्म को अंजाम दिये जाने वे किस जुर्म के गुनाहगार थे। छोटी-मोटी झड़प में भी युवकों, बच्चों का उसकी मां-बहन को चिढ़ाना- भट्टिनी-भट्टिनी दोदयय मस...यह सब कुछ बहुत अपमानजनक था।

सोचते हुये उसकी आंखें एक गीली चमक से भर गई थीं शायद जिसे देख कर लिजा ने उसके कंधे पर हाथ रखा था-हम सब के अवचेतन मन में एक समूह मन भी होता है जो अपनी जाति और पूर्वजों के सुख-दुख, करुणा, संत्रास की स्मृतियों में सुप्त भाव से जीता है। तभी तो कभी-कभी सुख में हम दुखी हो जाते हैं और दुख में भी सुख के अबुझ भाव से भरे रहते हैं। वास्तव में हर इंसान के भीतर कई-कई इंसान होते हैं। युगों पहले प्रताड़ित मेरे पूर्वज मेरे भीतर भी रोते हैं, उच्छवास भरते हैं और रातों को मैं सो नहीं पाती। मैं जानती हूं कॉन्सेंट्रेशन कैम्पों में, घेटोस में, किलिंग सेंटर में, लेबर कैम्पों में भूख से, अत्याचार से, बीमारी से मरने वाले लाखों यहूदियों की मैं आत्मा हूं। हर यहूदी के साथ हर बार, बार-बार मैं ही मरती हूं। मेरे जिस्म में अनगिनत अदृश्य दाग हैं जिन्हें मैं ही देख सकती हूं, कोई और नहीं। जानते हो, कोई रात-रात भर मेरे सिरहाने बैठ कर रोता है, मुझे बच्चों की चीखें सुनाई देती हैं। सपनों में मास ग्रेव्स दिखते हैं। लाश ही लाश जमीन खून से लाल, हवा में सड़ते इंसानी जिस्म की बदबू...ओह! बहुत

भयावह है यह सब! असह्य! वर्षों से अवसाद में हूं, नींद की अनगिनत गोलियां भी अब काम नहीं करतीं।

''इन सब से बाहर आओ लिजा! बहुत जरुरी है यह'' उसकी बातें सुनते हुये हिमालय ने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया था। तो यह नर्क उसके अकेले का नहीं है! इस नर्क के बाशिंदे पूरी दुनिया में फैले हैं।

कोशिश करती हूं हिमालय! मगर खुद से छुट कर भी कहां जाऊं! बाहर भी तो वही सब हैं। नये मुखौटे के नीचे दुनिया वही पुरानी है। जानते हो, कितनी बार हमारे स्कूलों पर हमले होते हैं? सीनागॉग- हमारे मंदिर- तोड़े जाते हैं? एक छिपा हुआ, प्रच्छन्न पूर्वाग्रह, घृणा तो है ही दिलों में। ये रक्तबीज की संताने हैं, कभी मरेगी नहीं। यूरोप में अरब देशों के लोग हमारे विरुद्ध हेट क्राइम करते हैं। फिलहाल सबसे बड़ा खतरा उन्हीं से है हमें।

इसके बाद एक लम्बी चुप्पी में समय गुजरता रहता है। उस छोटे-से ठंडे, सिले कमरे में दो शरणार्थी एक-दूसरे के हाथ पकड़ कर मोम के पुतलों की तरह स्तब्ध बैठे रहते हैं। उनके चेहरों पर जाने कितनी लकीरे हैं, कुछ कांपती हुयी, कुछ बेजान शब्दों के परे उनकी यंत्रणा अभिव्यक्ति के नये मार्ग ढूंढ़ रहे हैं। आंसू, उच्छवास भी अब पुराने हो चुके, अभिव्यक्ति में असमर्थ हो चुके।

लिजा अचानक बेचैन हो उठती है-''थोड़ी ताजी हवा चाहिये थी, दम घुट-सा रहा है!'' हिमालय खिड़की खोलता है। खिड़की के बाहर गैलरी की जाली पर पत्ते ही पत्ते बिखरे हैं। उनमें से झांक रहा है एक टुकड़ा आकाश, नीला, मटमैला...हल्की बहती हवा में सूखे पत्ते खड़खड़ा रहे हैं। दीवारों पर झूलती लतरों पर दूध के छींटे जैसे नन्हें सफेद फूल खिले हैं। उनकी धीमी, मादक गंध हवा में है। हिमालय लिजा को खिड़की के पास आने का संकेत करता है-''इस समय रास्ते पर टहलना ठीक नहीं होगा। इतने-से आकाश से काम चला लो...लिजा कुछ नहीं कहती। बस सूखी, चमकती आंखों से आकाश की ओर देखती रहती है। जाने क्यों वह यकायक बहुत बेचैन हो गई है! उसे याद आ रही है अपनी दादी से हजार बार सुनी हुई एक कहानी- उनके पूरे परिवार का नाजी जर्मनी से भाग कर हंगरी में आश्रय लेने की कहानी। उसकी 99 साल की दादी सालों से पागल है और रात-दिन बस एक यही कहानी सुनाती रहती है। हर बार जब भी लिजा पागल खाने में जाती है उनसे मिलने, उनसे यह कहानी सुनती है और रोती है. साथ में दादी भी रोती है। दादी अपने बेतरह कांपते सर और हाथों को हिला-हिलाकर विस्फारित आंखों से कहती हैं- ''वो एक बहुत सर्द रात थी। चारों तरफ खेत-खलिहानों में पाला पड़ा हुआ था। जिधर देखो, पेड़, जंगल, जमीन सफेद। जैसे कफन में लिपटी हो। नाजियों के अत्याचार से बचने के लिये हम तीस यहूदियों का एक दल हंगरी की ओर रात के अंधेरे में भाग रहे थे। तब तेरा बाबा पांच साल का रहा होगा और हमारी जुड़वा बेटियां तीन साल की। हमारे कपड़े गीले थे, बर्फ की तरह ठंडे। तेरे दादा के पैरों की सभी उंगलियां ठंड से मर कर काली पड़ चुकी थी। बच्चों के फटे होठों से खून रिस रहे थे। भूख, प्यास और नींद से बेहाल जाने कैसे और कितने दिनों में नाजियों से छिपते-छिपाते हम हंगरी पहुंचे थे। मगर वहां भी अंततः हम कुछ ही दिनों में पकड़ लिये गये थे और एक भीड़ भरे घेटो में बंद कर दिये गये थे। वहां से तेरे दादा को किसी लेबर कैम्प में ले जाया गया था, जहां से वे कभी नहीं लौटे...'' कहते हुये दादी पहले खूब जोर से हंसती फिर हिलक-हिलक कर रोती। अपने आंसू पोंछती हुई लिजा उनके शांत होने का इंतजार करती रहती और अचानक दादी शांत हो भी जाती और निर्लिप्त ढंग से कहानी सुनाने लगती-''...उस कैम्प में हमारी हालत जानवरों से भी बद्तर थी। किसी बात की सुविधा नहीं थी। छोटी-छोटी कोठरियों में लोग ढोर-डंगरों की तरह ठूस-ठूस कर रखे जाते। यहूदी पुलिस के द्वारा ही यहूदियों पर कड़ी निगरानी रखवाई जाती। हर दूसरे-तीसरे दिन बूढ़े और बीमारों को मारने के लिये चुन कर किलिंग सेंटर भेजा जाता। कभी किसी काम को करने से मना करने पर इन यहूदी पुलिस वालों को भी खुले आम गोलियों से उड़ा दिया जाता।

दादी कहती जाती और लिजा सांस रोक कर सुनती जाती। उसे यकीन नहीं होता...ऐसा भी हो सकता है! दादी बीच में तालियां बजा कर झूम-झूम कर गाने लगती- ओ जर्मनी! नाजी जर्मनी...सबका प्यारा-दुलारा जर्मनी...और फिर थू-थू कर थूकने लगती।

उस कहानी को सुनने लिजा बार-बार दादी के पास जाती, उनका मान-मनुहार करती. कभी दादी महीनों नहीं बोलती और कभी अचानक से बोलना शुरु कर देती-''उस कैम्प में लाशें नालियों में दिनों तक पड़ी रहतीं, बच्चे सड़कों में पड़े धीरे-धीरे मरते, आकाश में चीलों, गिद्धों का जमघट लगा रहता...हर तरफ भूख, बीमारी, अमानवीय अत्याचार...नरक था वह! जीवित नरक!''

लिजा बिल्कुल चुप रहती। कुछ कह कर वह दादी का ध्यान भंग नहीं करना चाहती थी। एक बार वे बिदक गई तो फिर महीनों मुंह नहीं खोलेगी। कभी-कभी दादी के चेहरे की रेखायें नर्म पड़ती, एक उजली हंसी से उनकी काया भर उठती-उन शैतानों में एक भला आदमी भी था-डॉक्टर मिल्कमान! बच्चों से खास लगाव था उन्हें। जब भी कैम्प आते, बच्चों के लिये मिठाई, खिलौने ले आते। मेरे बच्चे उन्हें 'आर्ज्ट अंकेल' कह कर पुकारते थे।

लिजा को दादी की कहानी सुन कर तसल्ली मिलती-''चलो! इस दुनिया में कुछ अच्छे इंसान भी होते है। दादी अबाध बोलती जाती-''एक दिन वह डॉक्टर, जब मैं कहीं गई हुई थी, मेरी दोनों बच्चियों को उठा कर ले गया और ऑपरेशन के द्वारा उन्हें एक-दूसरे की पीठ से जोड़ दिया! सुन कर पहली बार लिजा सन्न रह गई थी-''जोड़ दिया!'' ''हां, जोड़ दिया'' कहते हुये अब दादी के चेहरे पर उन्माद के भाव दिखने लगते-''कुछ ही दिनों में उनके घाव पक गये थे। उनकी पीठ से खून, मवाद बहता रहता और वे बच्चियां हलाल किये हुये जानवरों की तरह रोती-चिल्लाती रहती। मैं उन्हें तड़पते हुये देखती मगर कुछ नहीं कर पाती। उनके जख्मों में कीड़े पड़ गये थे। वे कीड़े मेरी बच्चियों को खोद-खोद कर खा रहे थे...मैं यह सब बर्दाश्त नहीं कर पा रही थी। उन दिनों मैं मुट्ठियां भींच-भींच कर अपने ईश्वर जेहोबा को कोसती रहती थी। कमजोर भगवान की संतानों को सब सताते हैं...'' ''फिर? दादी फिर?'' पूछते हुये लिजा को प्रतीत होता उसकी सांस रुक रही है। दादी अनमनी-सी कहती-''फिर मुझे एक दयालु नर्स मिल गई। उसने मुझे थोड़ा मॉरफिन दिया। मैंने वह मॉरफिन खिला कर दोनों

बच्चियों को जिन्दगी से निजात दिलाई'' अपनी कहानी खत्म करके दादी फिर झूम-झूम कर गाने लगती- ओ हिटलर...हेर हिटलर...मायने हिटलर! लिवलिंग हिटलर!

खिड़की पर खड़ी लिजा अचानक जमीन पर ढहने-सी लगती है। हिमालय उसे लपक कर सम्हालता है। लिजा निरंतर बड़बड़ा रही है, जाने क्या हिमालय अपनी बांहों में लिजा के कांपते हुये शरीर को समेटे खड़ा रहता है। सामने की दीवार घड़ी में रात के बारह बजे हैं। पूरे मोहल्ले में सन्नाटा छाया हुआ है। शनिवार को लोग पार्टियां करते हैं, देर रात तक जागते हैं, मगर रविवार को जल्दी बिस्तर में चले जाते हैं। दूसरा दिन सोमवार होता है- भाग-दौड़, व्यस्तता का दिन। पहले हिमालय रातों को टहलने निकल जाता था मगर कई बार पेट्रोलिंग पुलिस से सामना होने के कारण अब नहीं निकलता। हजार तरह के सवाल करते हैं, कागजात देखना चाहते हैं। यह सब परेशान तो करता ही है, साथ ही अपमानजनक भी है। बहुत देर बाद थोड़ी शांत हो कर लिजा कहती है, ''सारा झगड़ा किस बात का है, पता है? पूर्वाग्रह का! जो हमारी तरह नहीं दिखता, हमारी भाषा नहीं बोलता, हमारे ईश्वर को नहीं पूजता वह गलत है, अपराधी है, पापी है। पूरी दुनिया एक-दूसरे को 'कंवर्ट' करने में लगी हुई है। किसी को वह जो है, उसी रूप में ना स्वीकारना एक बहुत बड़ी हिंसा है। दुनिया का एक बहुत बड़ा हिस्सा हमें किन-किन बातों के लिये सताती रही, सजा देती रही। किसी को हमारे बाल, मूंछ और जुल्फों से आपत्ति थी तो किसी को हमारे पहनावे से। किसी को हमारी भाषा पसंद नहीं तो किसी को हमारी टोपी। पूजा स्थल तो हमेशा निशाने पर रहे। हमें अपमानित करने के कितने तरीके ईजाद किये गये। अछूतों की तरह हमारी बस्तियां शहर से बाहर होतीं, हमें शहर के भीतर आने की इजाजत नहीं होती। पहचान के लिये हमें बाहों में पट्टा या बैज बांधना होता, हमारे घर भी चिन्हित किये जाते 'स्टार ऑफ डेविड' से। हंगरी के बुदापेस्ट में हमारे लोग जाने कितने अर्से तक ऐसे घरों में रहे। हर जगह हम दागी लोग थे। ऐसे लोग जिन पर यकीन नहीं किया जा सकता, जिन्हें वे कॉसमिक इवल पुकारते थे।

हिमालय उसकी बातें सुनता है और अपने दर्द में डूबता है। ये बातें जानी-पहचानी है, एक हद तक उसका जिया-भोगा भी है। साम्प्रदायिकता, जातीय हिंसा, पूर्वाग्रह का शिकार हो कर ही आज उनका समाज अपने ही देश में शरणार्थियों का अपमानजनक जीवन बाइस सालों से जीने पर बाध्य है। वह दुनिया को समझा नहीं पाता कि जिस देश में लोग अपने धर्म की रक्षा के लिये शरण लेने आते हैं उसी देश के मूल निवासी साम्प्रदायिकता का शिकार हो कर कैसे दर-ब-दर भटकने के लिये विवश हो सकते हैं। वोट और तुष्टिकरण की राजनीति शायद उनकी समझ से परे है। लोकतंत्र का यह एक काला पक्ष है। सोचते हुये वह अपनी हथेली पर पिघले मोम की गर्म बूंदों की तरह टपकते लिजा के आंसुओं को महसूस करता है। उसके भीतर भी एक पिघलाव है, लिजा की कहानी सुन कर वह अपने दुख में नम हो रहा है। सबके सुख का स्वाद अलग-अलग होता है, मगर दुख की अनुभूति एक-सी। नसों में धीमे-धीमे घुलते जहर की तरह, कच्चे कब्र की तरह उदास बहता हुआ...

लिजा बाथरूम से अपना चेहरा धो आती है. उसकी आंखें और गाल, नाक की नोंक लाल है। बाल भी भीग कर माथे से चिपक गये हैं। उसके साफ, धुले चेहरे की तरफ देखते हुये हिमालय को अहसास होता है, लिजा आकर्षक है। किसी और परिस्थिति में वह दोनों मिलते तो न जाने कैसी कहानी बनती। मगर आज तो उसे सुख-दुख बांटने वाला कोई दोस्त चाहिये था। आज उसके पिता की बरसी थी। उन्हें गये हुये इक्कीस साल हो गये और जान्हवी को? वह सोचना नहीं चाहता। जान्हवी के साथ सतरुपा भी आ खड़ी होती है। जाने उसके पीछे इस लड़की का क्या हुआ! कभी-कभी जानने की इच्छा होती है मगर सम्पर्क करने की हिम्मत नहीं होती। एक दिन उसे छोड़ कर चुपचाप भाग आया था। क्या बताता उसे! उस समय यही लगा था कि अपने साथ उसकी जिन्दगी बर्बाद करके क्या होगा। उसे भूल जाय, इसी में उसकी भलाई है।

लिजा को फ्रिज से पानी निकाल कर पीते हुये हिमालय कुछ देर देखता है और फिर अचानक पूछता है-''हम इतना बर्दाश्त क्यों करते हैं लिजा? हमारे पास खोने के लिये अब कुछ नहीं है, फिर किस बात का डर!''

''शायद इसलिये कि हमारा प्रतिरोध सिर्फ आत्महत्या साबित होगा...ऐसा नहीं कि हमने प्रतिरोध नहीं किया। प्रतिरोध किया था हमने, अपने तरीके से जबर्दस्त किया था। सशस्त्र संघर्ष! तुमने पढ़ा होगा 1943 में वार शो के सशस्त्र विद्रोह के बारे में। और भी कई घेटो में। बूढ़े, बच्चे, जवान, औरतें...सब! मगर क्या हुआ? नाजियों ने हमें कुचल कर रख दिया। दूसरों के देश में, जमीन पर सम्मान के साथ जीया नहीं जा सकता हिमालय। अपने देश का महत्व, घर का महत्व क्या होता है, हम यहूदियों से पूछो! इसलिये तो हम इसरायल के लिये अपनी जान देते हैं।''

कहते हुये लिजा ने उठ कर फिर से गाने का सी.डी. लगा दिया था-'खूब मना लिया शोक हमने जीवन का, चलो अब थोड़ा जीते हैं!' लैम्प की पीली रोशनी में लिजा का मुस्कराता चेहरा सुनहरा दिख रहा है, 'त्वचा मसृन और मोतिया आब से भरा' हिमालय उठ कर उसकी कमर के इर्द-गिर्द अपनी बांहें लपेटता है और दोनों संगीत की मादक धुन पर थिरक उठते हैं। हल्के उजाले में लिजा की बोलती हुई-सी नीली आंखें सितारे-सी चमक रही हैं। उनकी तरफ देखते हुये हिमालय के भीतर जाने क्या घटता है और वह धीरे से लिजा के चेहरे पर झुक आता है और ठीक तभी कमरे के बाहर कुछ आहट होती है और कोई दरवाजे पर जोर से दस्तक देता है। दोनों बेतरह चौंक कर एक-दूसरे से अलग होते हैं और हिमालय सशंकित हो कर दरवाजा खोलता है। बाहर पुलिस खड़ी थी। साथ ही मकान मालकिन कुछ पड़ोसियों के साथ। ऊपर बालकनी में उनका कुत्ता लगातार भौंक रहा था। बूढ़ी मकान मालकिन पुलिस से कह रही थी-''मैंने इसे कई बार चेतावनी दी, मगर इसी तरह रातों को अपने आवारा दोस्तों के साथ मिल कर यहां हुड़दंग मचाता है, तेज संगीत बजा कर पड़ोसियों की नींद खराब करता है. दूसरे पड़ोसी भी उसकी हां में हां मिला रहे थे। सबकी बातें सुनते हुये पुलिस अफसर ने लिजा को घूर कर देखते हुये उसका नाम पूछा था और पूरा नाम सुन कर कुछ कौतुक से भर कर बोला था-''यहूदी! लिजा का चेहरा सफेद पड़ गया था। मकान मालकिन लगातर चिल्ला रही थी-''इसे कह दीजिये मेरा कमरा खाली कर देने के लिये, कल ही! पुलिस अफसर ने उसे चुप कराके बहुत तीखे लहजे में हिमालय से कहा था कि उसका ऐसा असमाजिक व्यवहार बर्दाश्त नहीं किया जायेगा, यह बात वह अच्छी तरह समझ ले और अपने दोस्तों को भी समझा दे। फिर

कॉमप्लेन मिलने पर उस पर कानूनी कारवाई की जायेगी। इसके बाद सब चले गये थे। जाते हुये कोई हंस रहा था, कोई सीटी बजा रहा था। 'आउस लैंडर', 'इंडिस', 'युडे' (यहूदी) जैसे शब्द हवा में उछल रहे थे।

सबके जाने के बाद दोनों देर तक स्तब्ध-से खड़े रह गये थे फिर हिमालय ने लिजा से कहा था-''चलो, तुम्हें तुम्हारी आंटी के घर पहुंचा दूं।'' लिजा बिना कुछ कहे उसके साथ चल पड़ी थी।

रात एकदम स्याह और ठंडी थी। ओस में भीगे स्ट्रीट लैम्पस की रोशनी सफेद धब्बे की तरह दिख रही थीं। रास्ते के किनारे खिले गुलाबों की खूशबू से हवा तर थी। बस स्टॉप पर बस का इंतजार करते हुये भी दोनों बिल्कुल चुप रहे थे। जैसे उनके बीच की सारी बातें एकदम से खत्म हो गई हों। अपनी-अपनी सांसों के भाप में घिरे दोनों ठंड में ठिठुरते खड़े रहे थे। एक लगभग खाली बस में बैठ कर दोनों बैरगेडर्फ रेलवे स्टेशन पर पहुंचे थे। स्टेशन भी लगभग खाली था। एक कोने में कुछ पंक किस्म के लड़के कैन से बीयर पीते हुये हुड़दंग मचा रहे थे। दो अफ्रिकन लड़के बीयर के खाली कैन को ही फुटबाल बना कर खेल रहे थे। उन्हें देख कर लिजा अपने आप में और सिमट गई थी। उसका यूं सहमना देख हिमालय जाने क्यों भीतर ही भीतर ग्लानि से भर उठा था। इस समय लिजा की डरी हुई आंखें उसकी बहन जान्हवी की तरह दिख रही हैं। वह हमेशा इतना मजबूर क्यों है!

ट्रेन हमेशा की तरह एकदम समय पर आई थी। लिजा ने डिब्बे में खड़ी होकर जाने उसे किस नजर से देखा था-''फोन करना...'' हिमालय ने उसका हाथ अपने हाथ में लेकर धीरे से कहा था-''तय कर लिया लिजा, अपने वतन लौट जाऊंगा, अपनी जमीन के लिये लड़ते अपने लोगों का मुवमेंट ज्वाइन करुंगा...बहुत भाग लिया...सच, भगोड़ों का कोई वतन नहीं होता!'' उसकी बात सुन कर लिजा मुस्करायी थी-''तुमने मेरे मन की बात कह दी...चलो, अपने घर लौटते हैं! फिर वहां जो मिले...'' घोषणा के साथ ट्रेन के दरवाजे झटके से बंद हुये थे और थोड़ी दूर तक धीरे-धीरे सरक कर अचानक तेज गति से चल पड़ी थी। कांच की चमकीली खिड़की पर लिजा के हिलते हुये हाथ की तरफ देखते हुये हिमालय अचानक से हल्का हो आया था-''उसका वनवास पूरा हुआ। वह अपने घर, अपने वतन लौट रहा है। मां को यह खुश खबरी दे दे...'' सोचते हुये उसने जेब से अपना मोबाइल निकाल लिया था। ▫

पता : Teen Maad Maina siolim Bardez Goa-403517
मो. : 09822581137

(पृष्ठ 112 का शेष)

राय को यह माहौल रास आ गया और संगत भी अधिकारियों की मिली तो फिर डर किसका जब सईंया भये कोतवाल। अधिकारियों ने भी राय की कमजोरी को भांप लिया और जब तब उनको उन पार्टियों के लिये उकसाने लगे। राय एक कदम और आगे बढ़े। बार की लड़कियों में से जो उन्हें पसंद आती, उसे एक रात के लिये बुक कर लेते। धीरे धीरे वे चारित्रिक पतन के गर्त में धंसते जा रहे थे।

राय के बदलते तेवर और चेहरे पर आई अतिरिक्त चमक को उनका स्टाफ समझ रहा था। पर बोले कौन? राय के परिवारवाले भी परेशान थे कि राय बिना बताये रातभर घर नहीं आते थे। जवान बेटे से पूछने का साहस नहीं कर पाते थे। एक दिन जब पिताजी ने पूछने का साहस किया तो उन्हों ने दो टूक उत्तर दिया, 'मैनेजर हूं। कई बार पार्टियों में देर हो जाती है तो वहीं दोस्त के घर रुक जाता हूं। अब मैं बच्चा नहीं हूं।' पिताजी ने पूछना बंद कर दिया।

इस नौकरी में आये राय को तीन साल पूरे हो गये थे। अब वे मंजे हुए खिलाड़ी हो गये थे। अपने हस्ताक्षर की कीमत वसूलने लगे थे। यह सब वे देखादेखी कर रहे थे। उनका मानना था कि जब और लोग ऊपरी कमाई कर रहे थे तो उनका क्या कसूर था कि वे न करते। वे बड़े बड़े घोटालों में माहिर होते जा रहे थे। यह तथाकथित ऊपरी कमाई बीयर बारों की भेंट चढ़ती जा रही थी। माता पिता हाशिये पर धकेल दिये गये थे।

राय को अब अपने से ऊंचे अधिकारियों के हथकंडे समझ में आने लगे थे कि किस तरह काली कमाई की जा रही थी। उन्होंने सोचा कि क्यों न इन अधिकारियों को ब्लैकमेल किया जाये ताकि वे लोग अपने काले क़ारनामे छिपाने के लिये उन्हें पैसा देंगे और इस तरह राय के पास अकूत धन आने लगेगा। विनाश काले विपरीत बुद्धि। उन्हें क्या पता था कि उनका दांव उनको ही भारी पड़ जायेगा।

उधर अधिकारी भी राय का दुस्साहस देख रहे थे। अपना सिखाया अधिकारी ही उनको भारी पड़ने लगा था। कंपनी के प्रमुख को यह चिंता होने लगी कि कहीं राय ने नशे में सबकी करनी की पोल खोल दी तो सबकी इज्जत की लुटिया डूब जायेगी। उनकी पैसे की भूख सुरसा के मुंह की तरह बढ़ती ही जा रही थी। ऊंचे स्तर के अधिकारियों की तात्कालिक बैठक बुलाई गई और साथ ही उन अधिकारियों को भी बुलाया गया जो राय के साथ बीयर बारों में जाया करते थे।

इन अधिकारियों ने मैनेजमेंट का साथ देना मान लिया। यह उनकी मजबूरी भी थी, अन्यथा उनकी नौकरी पर भी आंच आ सकती थी। गवाह के तौर पर उन पार्टियों के प्रतिनिधियों को बुलाया गया जो राय को अंडर द टेबल पैसा दिया करते थे। यह पूरा काम योजनाबद्ध तरीके से किया और राय को इसकी भनक तक नहीं लगने दी। अंतिम निर्णय लेने से पहले राय को बुलाया गया और बिना ज्यादा बात किये उनके सामने वे दस्तावेज रख दिये जो उन्हें नौकरी से निकाले जाने के लिये पर्याप्त थे।

राय ने पहले तो ना-नुकुर की पर जब उनसे यह कहा गया कि या तो वे स्वैक्षिक सेवानिवृत्ति ले लें या फिर अपने खिलाफ अनुशासनिक कार्रवाई के लिये तैयार रहें। इसमें उनकी थुक्काफजीहत ज्यादा होगी क्योंकि सबकुछ लिखित रूप में उपलब्ध था। राय के हाथों से तो मानो तोते ही उड़ गये।

अपनी नौकरी का अंत ऐसा तो न सोचा था। उनके पैसों से बारों में मजा करनेवाले अधिकारी उनके ही खिलाफ हो गये थे। राय को समझ नहीं आ रहा था कि वह क्या करे इस मामले में वह कच्चे खिलाड़ी निकले। उनकी करतूतें उन्हें सड़क पर ले आयी थीं। जीरो से शुरू हुई जिन्दगी अति महत्वाकांक्षी बनने की चाह में एक बार फिर वहीं ले आई है जहां सामने फिर वही शून्य है। ▫

पता : एच-1/101, रिद्धि गार्डन्स, फिल्म सिटी रोड
मालाड (पूर्व), मुंबई-400097
मो. : 09833959216

डायरी, आकाश और चिड़िया

n गीताश्री

''ओ डायरी...ओ माई फ्रेंड...आई लव यू...''

देखो..मेरे चारो तरफ रौशनी की तितलियां उड़ रही हैं। मेरे कंधे पर कौन बैठा है आकर। वह तब भी नहीं उड़ती जब मैं हाई हील पहन कर खटर पटर करती घूमती हूं घर भर में। तुम तो जानती हो, मुझे कितना लगाव है इन सबसे। मुझे अंधेरे में सोना बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। अंधेरे में तुमसे बात नहीं कर पाती ना...। जानती हो, ब्लैक वाली ड्रेस मुझे हर हाल में चाहिए। प्लीज प्लीज...मम्मा को मनाओ ना...उसे पहन कर मैं औसम लगूंगी ना। डिस्को भी जाऊंगी उसे पहन कर...पिक्स एफबी पर अपलोड करूंगी।

अरे हां...एफबी से याद आया...आज कल मम्मा ने सख्ती कर दी है। रोज एक घंटे के लिए मैं उस पर बैठ सकती हूं।

ओह...कितना धुप्प अंधेरा है यहां...कुछ सूझता नहीं, जिंदगी इतनी अंधेरों से क्यों घिर गई है, बताओ। क्या वजह है। जो चाहती हूं, मिलता नहीं, जो सोचती हूं, ठीक उसके उल्टा हो रहा है इन दिनों, मेरे दिन कब आएंगे...कुछ बता पाओगी...मैं चाहती हूं, तुम मुझे किसी ऐसी घाटी का पता दो, जहां मेरा अगला कदम वहां ही पड़े। फूल हो, झरने हो, तितलियां हो...बादलों के टुकड़े हों, नदी हो...मैं फूलों का बिस्तर बना कर सो जाना चाहती हूं...सूकून की नींद, कोई चीख, कोई गाली, कोई गूंज सुनाई न दे...

वीडा...सुनो, इंटरेस्टिंग बात...

''आज में मैनहट्टन घूमी, टाइम स्क्वायर देखा। ओलेक्जेंडर मेरा अच्छा जीवन साथी हो सकता है। वह इंडियन्स की तरह नही है। मेरा कितना ध्यान रखा उसने। उसने खूब पैम्पर किया मुझे। हैंडसम है ना। मुझे मैनहट्टन में उसके साथ रिक्शे की सवारी बहुत अच्छी लगी। देखो, इंडिया की तरह वहां भी फुटपाथ पर छोटी दुकानें हैं। आईसक्रीम खाते हुए अपना वैशाली मार्केट बहुत याद आया। छोड़ो, कल हम नासा की ओर निकल जाएंगे। मुझे डिज्नीलैण्ड भी जाना है अब अमेरिका आई हूं तो सारा घूम लूं। यही तो यादें रह जाएंगी। मुझे हडसन नदी में क्रूज पर चढ़ना है। हां, शायद कल मैं स्टैचू आफ लिबर्टी देखने जाऊं...तो क्रूज में ही जाना होगा ना। नदी के बीचो बीच जो है। मुझे अमेरिका की हवा अच्छी लगती है। खास कर इसका मैसी स्टोर। सब कहते हैं। महंगा स्टोर है, यहां से मत खरीदो। पर मुझे यहां की ड्रेसेज बहुत पसंद है। मैं पहन कर बहुत क्यूट और सेक्सी लगती हूं ना। तुमने मुझे देखा है ना...मैंने अपने हेयर रिबांडिंग भी करा लिया है...खुले बाल हवा में लहराते हुए...।''

अच्छा, ये बताओ, मेरी फेस पेंटिंग कैसी लग रही है। मैंने डिज्नीलैंड में बनवाया। आह...क्या जगह है। सभी बच्चों को एक बार यहां जरूर आना चाहिए। अलग ही दुनिया है। कल्पनालोक की तरह। सपनों की परियों को मैंने वहां घूमते देखा। कितनी सुंदर ड्रेस हेयर स्टाइल। अरे पता है, कार्टून के सारे कैरेक्टर वहां शाम को फेरी लगाते हैं, मैंने हाथ मिलाया। और हां...यू कांट इमेजिन...मैंने वहां देखे, तरह तरह के भिखारी, कैसी वेश बनाए। अपने इंडिया के भिखारी कितने घटिया तरीके से रहते हैं। यहां के भिखारी भी गाते बजाते रहते हैं या अजीब अजीब सा वेश धरे...मैंने तो खूब फोटो खिचवाई...''

ओह...पढ़ते पढ़ते रागिनी रुक गई। हथेलियों के बीच मरियल सी डायरी कसमसा रही थी। उसकी धड़कन रागिनी की नसों में महसूस हुई। कोई सांस जैसे तड़क कर टूट जाना चाहती हो। रागिनी ने अपना हाथ अपने सीने पर रखा। धड़कनों के कोरस में एक जिंदगी अपने पन्ने खोल रही थी।

रागिनी को डायरी पढ़ते हुए यकीन नहीं आ रहा था कि कोई 14 साल की लड़की, इस हद तक सोच सकती है। वो तो कल तक बच्ची थी सबकी नज़र में। मां, मौसी और मामा सबकी नजर में। दबी-चुप चुप सी रहने वाली रोली, किसी ने घर में उसकी तेज आवाज नहीं सुनी होगी। लिखना पढ़ना और टी.वी. देखना जैसे उसकी दुनिया थी। वैसे किसे फुरसत भी थी कि बड़ी होती रोली की हथेलियों को अपने हाथ में लेकर पूछता कि तू इतनी शांत क्यों है रोली। आज चंद पन्ने पढ़ने के बाद रागिनी का मन हो रहा है, रोली से पूछे...कई सवाल, जो आंधी की शक्ल में उठे हुए हैं।

रोली तो कभी अमेरिका गई नहीं? ओलेक्जेंडर से मिली नही? डिज्नीलैंड कभी गई नहीं। फेस पेंटिग कभी कराया नहीं। ऐसा कुछ नहीं किया जैसा उसने साफ साफ डायरी में दर्ज किया है।

ओलेक्जेंडर तो बुआ की लड़की सोनाली का मंगेतर है। मंगनी के लिए सोनाली हाल ही में अमेरिका से होकर आई है। रागिनी अपने परिवार समेत उसकी मंगनी में गई थी। रागिनी की बड़ी बहन हिमानी नहीं जा पाई थी। अमेरिका की यात्रा कोई आसान भी तो नहीं। फिर क्या

हुआ इसे। सारे विवरण ऐसे लिख रही है जैसे खुद वहां हो। सारी सटीक और सही। बिना वहां गए, कहां से आया ये अनुभव...सब सुनी सुनाई बातें, इतने विश्वसनीय ढंग से लिखा है।

रागिनी ने दूसरा पन्ना पलटा।

''माई वीडा...

''शीला की जवानी'' पर मैंने कल डांस किया...सबको पसंद आया। मौसी भी कितनी खुश थी। मैं डांसर भी बन सकती हूं...तुम क्या कहती हो। चलो, कोई बात नहीं...मैं अच्छी इंगलिश बोलती हूं..सब बहुत तारीफ करते हैं। पूछते हैं, कहां से आया अमेरिकन एक्सेंट...अरे भाई...मैं हूं ही अमेरिकन...इंडिया तो बस कुछ दिनों के लिए आई हूं। मुझे फिर वहां वापस चला जाना है ना...''

आधा पन्ना पढ़ते पढ़ते रागिनी के हाथ कांप गए। ये लड़की किसकी बातें लिख रही है?

''आज फेसबुक पर मुझे दोस्त मिला है। मेरी ही उम्र का है। वो सबसे अलग है। वो मेरा साथ देगा। उसने कहा है कि बस तुम घर से निकल जाओ। हमारे पैरेंटस अभी तक अपने सपने देखने और पूरा करने में लगे हैं। उन्हें हमारी क्या परवाह। चलो आओ...मैं तुम्हें दुनिया दिखाता हूं। मैं जाऊं उसके साथ? तुम क्या कहती है...हमेशा की तरह मुझे सही जवाब देना वीडा...''

''देखो वीडा मैं कल सारी रात डिस्को में नाचती रही। मज़ा आया सब मुझे कैसे घूर रहे थे न। ब्लैक चमचम ड्रेस मुझ पर अच्छी लगती है न। मैंने बीयर भी पी। खूब धमाल किया। मेरे दोस्तों ने मुझे पैम्पर किया। अहा मज़ा आया। कितनी रोशनी थी न वहां...कोई बात नहीं...मैं तैयार हूं, इसी वीकएण्ड, उसी नियोन लाइट में ठुमकने के लिए...''

''अरे वीडा...अभी अभी लॉग ड्राइव पर गई थी। ओह...मैं क्या बताऊं...कितना मजा आया। खुली हवा, सरसराते पेड़, सीटियां बजाते पेड़, झूम झूम कर नाचते पेड़, हल्का अंधेरा और हम और वो...ये मत पूछना कि कौन...बस हम साथ थे...दूर निकल गए थे। कोई शोर नहीं था। मुझे अच्छा लग रहा था...मैं सड़क पर उतर कर दौड़ रही थी...वह हार्न बजा बजा कर परेशान और मैं...यमुना एक्सप्रेस वे पर मस्ती कर रही थी...अमेरिका में मिस करूंगी ये सब...''

पढ़ते पढ़ते थरथरा गई रागिनी।

यकीन नहीं आया कि यह डायरी रोली की है या सोनाली की, जिसकी जिंदगी डायरी में रोली दर्ज करती जा रही है। अपनी जिंदगी जीते जीते वह परकाया प्रवेश कर जाती है।

पूरी डायरी रागिनी से पढ़ी नहीं गई। आंखें डबडबा आईं। डायरी भरी हुई थी ऐसे अनगिनत रोमांचक विवरणों से। पढ़ना जरूरी था। शायद कोई क्लू मिल जाए। रागिनी की हथेलियों में सांसे लेती हुई डायरी थी, जिसमें अधेरे और रौशनियों में डूबी हुई अनेक आवाजें आ रही थीं। समंदर पार से यहां तक की आवाजें। तरह तरह की कामनाएं, अभिलाषाएं और परकटी छटपटाती तितलियों का रंगीन संसार। इतनी किताबें पढ़ी होंगी रागिनी ने, किसी किताब ने इतना विचलित नहीं किया अभी। जिंदगी की किताबें शायद, ज्यादा बेचैन और कातर करती हैं।

हर पन्ने पर लिखी थी रोली ने अपने दिल की दास्तान। अपने दुख, अपने सुख...वह डायरी से रोज बातें करती थी। लिख लिख कर उसे अपनी बात कहती थी। और अंत में पूछती थी...''बता मैं क्या करूं?'' ढेर सारे सवालों के चिन्ह लगा देती थी। जवानी की दहलीज से चंद कदम दूर एक छोटी लड़की जिंदगी और रिश्तों के कितने सारे सवालों से जूझ रही थी और उसके माता पिता को इसका अहसास तक नहीं। रागिनी को उसकी डायरी से पहली बार पता चला कि हिमानी और उसके पिता रौशन में अक्सर झगड़े होते हैं और कुछ दिन पहले ही वह हमेशा के लिए घर छोड़ कर चला गया था। तब से रोली की उदासी बढ़ गई थी।

आखिरी कुछ पन्नों में उसने लिखा था-

''मेरी दोस्त...अब पापा घर नहीं लौटेंगे। मुझे पता नहीं वे कहां होंगे। उन्होंने कभी मुझे फोन नहीं किया। उन्हें हमारी जरा भी परवाह नहीं। होती तो क्या वे फोन नहीं करते। चुपके से मिलने भी तो आते। मम्मी कौन सा दिन भर घर में रहती हैं। क्या वे हमें बिल्कुल प्यार नहीं करते। बताओ वीडा...???''

एक पन्ने पर लिखा था...

''आज मम्मी किसी से मोबाइल पर बात कर रही थीं कि मैं भी घर छोड़ कर कहीं चली जाऊंगी। उन्हें बता देना, फिर आएंगे बच्चों से मिलने। जब उन्हें परवाह नहीं तो मैं ही क्यों अपनी जिंदगी बच्चों के पीछे खराब करूं। वैसे भी मेरी कमाई से ये घर नहीं चल सकता। मैं इतने महंगे स्कूल में दोनों बच्चों को कैसे पढ़ा पाऊंगी। रोली की पढ़ाई छुड़ा दूंगी। काम पर लगा दूंगी...''

''दोस्त..बताओ..क्यों न मैं खुद ही घर से चली जाऊं..कोई काम तलाश लूं। मैं अच्छी इंगलिश बोल लेती हूं, सुंदर हूं, स्मार्ट हूं, कहीं न कहीं काम मिल ही जाएगा। यहां से दूर, किसी शोरूम में रिशेप्निस्ट का काम कर लूंगी..लेकिन अब कभी यहां लौट कर नहीं आऊंगी..मैं मम्मी पर बोझ नहीं बनना चाहती। क्या कहती हो दोस्त..माई वीडा..''

रागिनी को 'वीडा' शब्द परेशान कर रहा था। वह इतना तो समझ गई थी कि यह अंग्रेजी का शब्द नहीं है। किसी अन्य विदेशी भाषा का कोई शब्द है और जिसका जरूर कोई खास अर्थ होगा।

उसने तुरंत सोनाली को फोन लगाया। सोनाली ने जो बताया, सुन कर रागिनी सन्न रह गई। 'वीडा' एक फ्रेंच शब्द है जिसका अर्थ

चित्रकार : भूपेन्द्र कुमार अस्थाना

होता है लाइफ यानी जीवन। रोली ने अपनी डायरी को अपनी जिंदगी बना लिया था और उससे सारी बातें करती थीं। वह डायरी में अपनी नहीं, दूसरो की जिंदगी जी रही थी। खास कर सोनाली की जिंदगी। जब से सोनाली अमेरिका से लौटी है, उसकी तस्वीरें रिश्तेदारों में घूम रही है। सोनाली ने बताया कि उसका अल्बम रोली के पास काफी समय तक पड़ा रहा। एक एक तस्वीर के बारे में वह विस्तार से जानना चाहती थी। पूछती रहती थी। सुनते समय उसकी आंखें जुगनुओं की तरह चमकतीं। तब किसी ने इतना ध्यान नहीं दिया था कि रोली यह सब देखते सुनते सोनाली में तब्दील हो चुकी थी। वह अपनी देह में नहीं थी।

अब तो वह सदेह गायब थी।

पूरे घर में कोहराम मचा हुआ था। परिवार के हरेक सदस्य के चेहरे का रंग उड़ा हुआ था। ऐसी अनहोनी की किसी ने कल्पना तक नहीं की थी। जो नहीं होना चाहिए था, वो हो गया था। रोली घर से गायब थी। संकट की इस घड़ी में पूरा परिवार इकट्ठा हो गया था। सोसायटी में अभी किसी को भनक नहीं लगी थी। रागिनी मौसी ने मना कर दिया था रोली की मां हिमानी को। किसी को कानोकान ये खबर न हो। रोली के मामा इस बात से चिंतित थे कि कहीं सोसायटी में बात खुल गई तो कितनी बदनामी होगी। कई बार समाज का भय, मातम मनाने की इजाजत भी नहीं देता।

हिमानी भी कुछ कुछ इसी बात को लेकर परेशान थी। किशोर बेटी की चिंता के साथ साथ अपनी बदनामी का भी भय उन्हें खाए जा रहा था। कहां ढूंढे उसे। रोली का अपना मोबाइल हाल में उसके पिता ने गिफ्ट किया था जिसे वह ट्यूशन पढ़ते समय साथ ले जाया करती थी, वह भी घर पर रखा था। उसकी किताबें, कपड़े, कुछ भी नहीं ले गई। सारा सामान यथावत धरा हुआ था। फिर गई कहां। क्या हुआ उसे...किसी की समझ में नहीं आ रहा था।

रागिनी मौसी का दिमाग लगातार सोच में डूबा हुआ था। आखिर कोई लड़की स्कूल से सीधे कहां और क्यों गायब हो सकती है।

रात घिर आई थी। काली स्याही में डूबी रात कुछ ज्यादा भयावह लग रही थी। हिमांशु मामा सिर पकड़े बार बार घड़ी देख रहे थे। बेचैनी से मोबाइल की तरफ देखते। शायद कहीं से कोई फोन आ जाए और लड़की का पता लग जाए। वे पुलिस को तुरत बताने के पक्ष में नहीं थे। वे चाहते थे, मामला परिवार के स्तर पर निपट जाए तो अच्छा है। वे बार-बार हिमानी से पूछते कि रोली के साथ कहीं उसका कोई झगड़ा तो नहीं हुआ था। वह इनकार करती। रोली के पिता अब तक नहीं आए थे। उन्हें खबर तो दे दी गई थी। सुबह तक लड़की नहीं लौटती है तो पुलिस को खबर देनी होगी। उसके बाद खबर सब जगह फैल जाएगी।

हिमानी के होठों पर प्रार्थनाएं और बद्दुआएं दोनों थीं। वह ईश्वर से दुआ भी कर रही थी और अपने पति रौशन का नाम लेकर कुछ बुदबुदा भी रही थी।

रागिनी ने नोटिस किया। उसे लगा कहीं कुछ गड़बड़ है जिसकी परदेदारी है। वह हिमानी से कैसे पूछे। बेटी के गायब होने से खुद ही अधमरी सी हो रही है। ज्यादा पूछने पर बिखर जाएगी। आंखें दिन से ही बरस रही है। रागिनी मौसी जल्दी धैर्य नहीं खोती और न ही जल्दी किसी बात पर रिएक्ट करती हैं। उनका दिमाग संकट की घड़ी में भी संयम से चलता है। तभी घर में सभी उन्हें संकटमोचक भी कहते हैं।

रोली के गायब होने की सबसे पहली सूचना हिमानी ने रागिनी को ही दी। रागिनी ने फिर भाई को खबर दी। रोली का छोटा भाई पूरे घर में दी दीदीईदीईदीईई करता घूम रहा है। कभी रोता है तो कभी मां का कुरता खींच कर पूछना चाहता है। किचन सूना पड़ा था। किसी का मन चाय तक बना कर पीने का नहीं हुआ। अनजाने भय ने सबको जकड़ लिया था। रागिनी भी भीतर से भयभीत थी। आए दिन शहर में इतनी घटनाएं हो रही है। अखबार घटनाओं से पटे रहते हैं। रोली नादान है, कमसिन है। इतनी छोटी लड़की खुद तो नहीं भाग सकती। इसके पीछे जरूर किसी का हाथ होगा...रागिनी ने सोचते सोचते रोली का सामान खंगालना शुरू किया। सबसे पहले उसका मोबाइल चेक किया। वह कटैक्ट लिस्ट देख कर चौंक गई। सारे नाम और नंबर वह डिलीट कर गई थी। कोई मैसेज तक नहीं छोड़ा था। सारे डिलीट। इसका मतलब रोली ने सबकुछ प्लान ढंग से किया।

'हिमानी...रोली को कोई भगा नहीं ले गया, वह खुद भागी है-'' रागिनी ने हिमानी को स्पष्ट किया।

''लेकिन क्यों वह क्यों भागेगी...क्या कष्ट दिया था उसे?''

हिमानी सुबक रही थी।

हिमांशु चीखा-''मैं नहीं मान सकता। इतनी हिम्मत कहां से आई उस लड़की में...जरूर उसके बाप का हाथ होगा उसे भगाने में. ..देखना, आने दो उसे...अभी तक पहुंचा नहीं...कैसा बाप है, खबर सुनकर दौड़ा चला आता। उसे कोई क्या फर्क पड़ता है...तुम लोग मरो या जीओ...सेल्फिश मैन...''

हिमांशु की पूरी देह गुस्से से कांप रही थी। उसका बस चलता तो रोली के पापा का गला दबा देता।

रागिनी ने उसे टोक दिया।

''भाई...इतनी जल्दी किसी निष्कर्ष पर पहुंचना ठीक नहीं है। हमें कुछ पता नहीं, एक्चुअली हुआ क्या है। कोई क्लू भी नहीं मिल रहा है। कल पुलिस को बताना तो पड़ेगा हीं पर मुझे हैंडल करने दो भाई...तुम शांत हो जाओ। ये वक्त आपस में झगड़ने का नहीं है। परिवार पर बहुत बड़ा संकट आ खड़ा हुआ है। मुझे उस नन्हीं सी जान की चिंता है। रात इतनी हो गई है, कहां गई होगी, क्या कर रही होगी, उसके साथ क्या हो रहा होगा?''

''हम हाथ पर हाथ धरे तो नहीं बैठ सकते न...''

हिमानी सुबकते हुए चिल्लाई। ''खोजो उसे...जाओ पुलिस को बताओ...अब देर करोगे तो पता नहीं क्या होगा...''

''प्लीज...डोन्ट क्रिएट पैनिक...'' रागिनी ने सबको टोका।

उसके दिमाग में कुछ चल रहा था। वह उठी और रोली की बुक सेल्फ तलाशने लगी। सारी किताबें उलट पुलट डालीं। नोट बुक देखें। एक एक पन्ना चेक किया, शायद कुछ लिखा हो, कोई क्लू छोड़ा हो। कपड़े देख लिए, स्टडी टेबल पर भी कुछ नहीं मिला। अचानक रागिनी को कुछ ध्यान आया।

हिमानी के रूम में झपटती हुई पहुंची। डायरी अब भी उसके हाथ में थी,

मुझे रोली का फेसबुक चेक करना होगा। शायद वहां कुछ मिले।

बोलते बोलते रागिनी ने कम्प्यूटर आन कर दिया। वाई फाई बंद पड़ा था। ऑन किया फिर भी चारों लाइटें नहीं जलीं दो लाइट जली

बाकी भुक भुक कर रही थीं। जब मुसीबत आती है तो चारो तरफ से आती है...भुनभुनाती हुई रागिनी ने अपना बैग टटोला। शायद डाटा केबल, फोटोन मिल जाए तो उससे ही नेट कनेक्ट हो जाए।

''सुनो...मोडम को दो चार बार और ऑफ करो...तब चलने लगे शायद। रोली ही इसका इलाज जानती थी...अक्सर गड़बड़ ही रहती है...''

हिमानी की बेदम आवाज आई।

कुछ देर की मशक्कत के बाद नेट चलने लगा। रागिनी ने राहत की सांस ली। कई बार जिंदगी तकनीक पर कितनी निर्भर हो जाती है. ..। फेसबुक खोलते ही जैसे ही रोली का नाम लॉग इन किया, ईमेल अपने आप सामने आ गया। असली मुसीबत तो पासवर्ड की थी,

''रोली का पासवर्ड किसी को पता है?''

रागिनी के सवाल का किसी के पास कोई उत्तर नहीं था। उसने सबकी तरफ सवालियां निगाह से देखा। कैसी मां हो...?? कम से कम अपने बच्चों के बारे में पूरी नजर रख सकती हो या उसकी गतिविधियों के बारे में जानकारी रख सकती हो।''

रागिनी के स्वर में धिक्कार भाव को हिमानी ने समझा और सिर झुका लिया। वह मौन भाव से अपने तमाम अपराधों को स्वीकारने को तत्पर थी जैसे।

''अपनी बेटी से इतना कन्सर्न रहता तो आज ये नौबत न आती...'' मन ही मन बुदबुदाती हुई रागिनी ने तरह तरह के पासवर्ड ट्राई करने शुरू किए। कभी हिमानी का नाम, पापा का नाम, छोटे भाई का नाम, सोनाली का नाम, फिर नामो से थक गई तो रागिनी ने टाइप किया...डायरी। नहीं खुला। फिर टाइप किया-माई लाइफ...नहीं खुला। डायरी आई लव यू टाइप किया, फिर भी नहीं खुला। रागिनी पूरी कोशिश करके थक गई।

हिमानी असहाय आंखों से रागिनी को देखती रही।

एक बार टाइप करके देख...''मम्मा, आए लव यू...'' शायद खुल जाए।

नहीं खुला...।

''पापा कम बैक' टाइप करके देख...''

फिर भी बात नहीं बनी...रागिनी सोच में डूब गई। पूरी कोशिश कर ली। आखिर इस लड़की ने क्या पासवर्ड रखा होगा। रोली का छोटा भाई कबीर दौड़ता हुआ आया और टेबल पर पड़ी डायरी झपट्टा मार कर ले भागा।

रागिनी उसके पीछे भागी। तब तक हिमानी ने डायरी देख ली। हल्की रौशनी में रागिनी ने 'वीडा' शब्द देखा। भक्क से रौशनी जली। उसकी बांछे खिल गई। उसने 'वीडा' टाइप किया...

फेसबुक ऑन नहीं हुआ।

ओह...

अब सारी आशाएं धूमिल। फेसबुक से कोई क्लू मिलने की संभावनाएं खत्म सी हो गईं। यूं ही अनमने ढंग से रागिनी ने टाइप किया...'वीडा माई लाइफ'

और फेसबुक नहीं ऑन हुआ। रागिनी अब हताश होने लगी थी। कई तरह शब्द ट्राई कर चुकी थी। ये आखिरी कोशिश थी, ये भी सफल नहीं हुई। कई तरह के सवालों के बादल मन में उमड़ने लगे। क्यो रोली इतनी चालाक हो सकती है कि पासवर्ड इतना कठिन रखे।

पासवर्ड का अपना मनोविज्ञान होता है। लोग आमतौर पर आसानी से याद आने वाला, घर के लोगों के नाम, जन्म दिन, अपनी उम्र...

रागिनी सोचते सोचते रुक गई। उंगलियां अपने आप टाइप करने लगीं...'वीडा माई लाइफ14।

रागिनी जोर से चिल्लाई...खुल गया खुल गया...ओ माईगाड।

हिमांशु आवाज सुन कर भी अंदर नहीं आया। हिमानी भी अंदर नहीं आई। शायद वह फेसबुक पेज से खुलने वाले रहस्यों से सामना करने को तैयार नहीं हुई थी।

रागिनी अधैर्य थी। उसने बिना किसी का इंतजार किए फेसबुक के वाल पर सर्च न करके सीधा इनबाक्स में खोजना शुरू किया। वह जानती थी कि फेसबुक वाल तो सार्वजनिक जगह है, सब कुछ दिखता है, इश्तिहार की तरह। जो भी राज होगा, वह इनबाक्स में होगा।

और इनबाक्स जैसे अंटा पड़ा था। कई अनजान लड़को और लड़कियों से। जिनमें शुरुआत रोली की तरफ से की गई थी।

हाय, हैलो के बाद...वह एक सवाल पूछती थी सबसे..व्हेर आर यू फ्राम?

हैव यू वीन टू अमेरिका, हैव यू सीन इट?

एक लड़के शोएब से सबसे ज्यादा लंबी चैट थी। बाकी टुकड़ो टुकड़ों में बातचीत थी। शोएब से पूरी चैट पढ़ते हुए रागिनी समझ गई कि वह शोयब से अपनी परेशानी शेयर करती थी।

रोली के गायब होने वाले दिन या उससे ठीक पहले का चैट तलाशती हुई रागिनी की आंखें ठिठक गईं। किसी रोमांचक कथा गाथा की तरह चीजें सामने खुली पड़ी थीं।

रोली ''व्हाट टू डू, डूड?''

''यू टेल मी...आए एम विद यू बेबी''

''अब क्या हुआ...?''

''मैं अपने घर में नहीं रहना चाहती, फीलिंग लोनली डूड''

''अब क्या हुआ..?''

''बहुत कुछ हो गया...अब तुम सुनो, जो मैं कहूं, वो करो...मैं कल स्कूल जाऊंगी, पर वापस घर नहीं आऊंगी। मैं मोबाइल भी साथ नहीं ले जाऊंगी। मैं नहीं चाहती कि कोई मुझे खोज ले। मुझे कभी घर वापस नहीं आना।''

''कहां जाओगी स्वीटी?''

''कहीं भी...तुम कहीं रख देना...कहीं काम दिलवा दो...मैं कहीं भी रह लूंगी...यहां से दूर...घर का माहौल बहुत खराब हो चुका है। मैं अपने छोटे भाई की मां बना दी गई हूं। पापा घर से गायब हैं, मम्मी बंटी को मुझे थमा कर निकल जाती है अपने काम पर। देर रात आती हैं। मैं न पढ़ाई कर पाती हूं न कहीं निकल पाती हूं। मैं बंटी की आया बन कर रह गई हूं।''

''हम्म्म्...ये तो अच्छा नहीं हो रहा तेरे साथ''

''मुझे अपनी जिन्दगी जीनी है...यहां से आजाद...वैसे भी मम्मी हमेशा सुनाती रहती हैं...क्या क्या बताऊं...''

''बात क्या है...ये तो बता...कुछ और वजह तो नहीं?''

''शोएब...''

''हां बोल...''

''मेरी मम्मी का दोस्त सूरजपाल मुझे बिल्कुल पसंद नहीं। मैंने मम्मी को बोला...आपको कोई और नहीं मिला था दोस्ती के लिए? आप

किसी को भी अपना दोस्त बना लीजिए, इस लंपट को क्यों घर बुलाती हैं? जब देखो तब ड्रिंक की बोतल लेकर धमक जाता है। उसके साथ कई अजीब अजीब लोग होते हैं...वे मुझे घूरते हैं, मुझे घिन्न आती है। मैं बंटी को लेकर कमरे में बंद हो जाती हूं..''

''तूने मम्मी से बात की?''

''कहा था...मम्मी ने कहा कि पापा की तरह बातें मत कर.. ये लोग मुझे मेरी डिजाइन ड्रेसेज के एक्सपोर्ट इम्पोर्ट में हेल्प करते हैं। कभी कभार यहां आ जाते हैं...कुछ पल मैं भी हंस बोल लेती हूं तो तुझे भी अच्छा नहीं लगता...तू दूर रहा कर...''

''ओह...वेरी बैड...''

चल कल मिलते हैं फिर बात करते हैं

''पर रहेगी कहां, करेगी क्या...'' मैं इसी चिंता में हूं...मैं भी तो छोटा हूं...हम तो बच्चे हैं न...पकड़े गए तो जानती है हमारा क्या हाल होगा...मेरे मम्मी पापा भी मुझे मार डालेंगे...मैं तेरी मदद भी करना चाहता हूं...तेरी तकलीफ देखी नहीं जा रही''

''वेट...वेट...मैं एक अटैचमेंट भेज रहा हूं...देखो...कल यहां ट्राई करेंगे, उसके बाद कुछ सोचेंगे''

''चल बाय..''

''सी यू डियर...''

रागिनी ने अटैचमेंट खोला। ओह...तो मैडम यहां मिलेगी। हल्की राहत महसूस हुई। उसने शोएब का प्रोफाइल खोला। उम्र 16 साल, मोदी नगर निवासी, स्कूल का कोई जिक्र नहीं। मोबाइल नंबर जरूर चमक रहा था। रागिनी ने अपने मोबाइल में नम्बर सेव किया और फेसबुक लॉगआउट कर दिया।

रोली के प्रति अथाह स्नेह से भरी हुई रागिनी को सारा माजरा समझ में आ गया था। बहन होते हुए भी हिमानी ने इतनी बड़ी बात हम सबसे छिपाई। असली कारण तो अब समझ में आया। डायरी लिए हुए रागिनी कमरे से बाहर निकली। वहां पहले की तरह ही सब बैठे हुए थे। रागिनी कुछ कहती कि दरवाजे पर किसी ने बेल बजाई। हिमांशु उठ कर खोलने गया। रात के 12 बज गए थे। इतनी रात और कौन होगा। रौशन ही होगा। वही थे। बदहवास से खड़े। रागिनी को डर था कि कहीं दोनों एक दूसरे को देखकर चिल्लाने न लग पड़े।

हिमांशु की आंखें क्रोध से लाल थीं और वह कुछ बोलना चाह रहा था। रौशन को देखते ही हिमानी दौड़ी, रौशन ने उसे थाम लिया। दोनों का विलाप देर तक कमरे में गूंजता रहा। उन आंसुओ में सारी शिकायतें, सारे विषाद, सारे झगड़े सब बह रहे थे। शब्द जैसे मौन थे। दोनों कुछ बोल नहीं पा रहे थे। रागिनी की आंखें बरस रही थीं। हिमांशु ने अपना चेहरा छिपा लिया था। रागिनी को लगा कि दुख सबको जोड़ता है।

डायरी की बात सबको पता चल गई। तय किया गया कि सुबह तक इंतजार करने के बजाए रात को ही खास खास जगहों पर खोजने निकला जाए। दो गाड़ियां निकलीं। रागिनी और हिमांशु एक साथ।

हिमानी और रौशन एक गाड़ी से चले। रागिनी चाहती थी कि इस खोज में पुलिस का साथ लें। लेकिन उसकी लंबी प्रक्रिया से सभी घबरा रहे थे। फिर भी रागिनी ने रोली की तस्वीर अलबम से निकाल ली थी।

जरूरत पड़ने पर पुलिस को दे सकती थी। नोयडा की पुलिस वैसे भी दिल्ली पुलिस की तरह सक्रिय दिखाई नहीं देती। रागिनी के दिमाग में कुछ चल रहा था। शायद वह स्पष्ट थी कि खोज में कहा जाना है। रागिनी ने किसी को कुछ नहीं बताया। अलग कारों में रागिनी और हिमांशु, हिमानी और रौशन बंटी का लेकर घर से निकले।

मोबाइल पर लगातार हिमानी रोती जाती और रौशन की आवाज डूबती जाती। हिमांशु का भाषण फिर से चालू था-''सब मां बाप का कसूर है। बच्चों को टाइम नहीं देते। उनके कलह का असर है ये सब, इस उम्र में बच्चे सबसे ज्यादा केयर चाहते हैं। उन्हें तन्हा छोड़ेंगे तो यही होगा...ऐसे मां बाप को अपनी इगो ज्यादा प्यारी है...''

रागिनी ने प्रतिवाद किया...''भाई, रोली को भी क्या ऐसे करना चाहिए। कोई घर छोड़ कर जाता है भला। वह भी इस तरह। उसने कभी अपने मन की बात अपनी मां को बताई। मुझसे इतनी करीब थी। मुझसे कहती। किसी से भी कहती। घरेलू तनाव में कई बार बच्चे इग्नोर हो जाते हैं। इसका ये मतलब तो नहीं कि घर छोड़ दें। घर तो बच्चों का भी होता है न। रोली बड़ी हो रही है, उसे अपने मां बाप की समस्याओं को भी समझना होगा, उसके साथ तालमेल बिठाना होगा। बुरे दिन हमेशा नहीं रहते। अच्छे दिन भी आते हैं। हमें बुरे दिन काटने होते हैं। साथ रह कर। जैसे सुख में साथ रहते हैं तो दुख में कैसे भाग सकते हैं अपने घरवालों को छोड़ कर। वह भी अपनी जान को जोखिम में डाल कर। समय कितना खराब है। कुछ हो जाएगा उसे तो...जिस जिंदगी को वह इतना प्यार करती थी, उसे खतरे में कैसे डाल सकती है वह...''

बातें करते करते दोनों बहुत दूर निकल आए थे। डायरी का अंतिम पन्ना फड़फड़ाया...हल्की लाइट में कुछ अक्षर चमके...''यहां से कुछ दूर...काम की तलाश...''

''भाई...गाड़ी हापुड़ हाइवे की तरफ ले चल।''

''क्यों?''

''चल तो सही।''

''क्या है वहां?''

''चल तो...बताती हूं...'' हिमांशु ने तेजी से गाड़ी बढ़ाई। मोबाइल बज रहा था।

रागिनी ने कहा, ''मत उठा, अब रोली के साथ बात करेंगे।''

हापुड़ हाइवे पर एक नया मॉल बन रहा था। गाड़ी सीधे वहीं खड़ी की। दोनों उतर कर गेट की तरफ भागे। गार्ड कुर्सी पर बैठा बैठा ऊंघ रहा था।

गार्ड को जगाया। मोबाइल स्क्रीन पर रोली की फोटो दिखाई। उसने कुछ बहस की, कुछ पूछताछ की।

जब गाड़ी वहां से मुड़ी तो सबके चेहरे पर हताशा थी। वहां कुछ पता नहीं चला। रागिनी ने शोएब का फोन कई बार मिलाया, हर बार स्वीच ऑफ आता रहा। रोली के मिलने का कोई ओर छोर नजर नहीं आ रहा था। रागिनी ने ऐलान किया...हम कल सुबह फिर यहां आएंगे। रात खराब करने से कोई फायदा नहीं। उसे इतनी तो तसल्ली थी कि रोली कहीं महफूज है। बस एक बार शोएब का फोन लग जाए या फोन ऑन हो जाए। पुलिस की सहायता ले तो रात भर में ही खोजना कोई मुश्किल न होता। पर हिमांशु और रौशन दोनों इस हंगामें के लिए

(शेष पृष्ठ 142 पर)

बहत्तर धड़कने, तिहत्तर अरमान

n आकांक्षा पारे काशिव

अभय शुक्ला ने देखा एक ख्वाब

हवा में न नमी है न खुनक। जो भी थोड़ी-बहुत हवा बह रही है वह अपने साथ जगह-जगह जल रहे टायरों की दुर्गंध को पीठ पर लादे-लादे घूम रही है। आवाज के नाम पर सिर्फ सायरन का शोर है। पूरा शहर जल रहा है और मेरे आंसू भी उस आग को बुझाने में नाकामयाब हैं। आखिर हमने किसी का क्या बिगाड़ा हैं। बस हम दोनों साथ ही तो रहना चाहते हैं। दो लोग प्यार से साथ रहें तो तीसरे को तकलीफ क्यों होना चाहिए। मैं चीखना चाहता हूं। चिल्ला-चिल्ला कर सभी को कहना चाहता हूं, प्यार करना गुनाह नहीं है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि इंसान कहां और किस धर्म में पैदा हुआ है। वह बड़ा हो कर क्या बनता है इस पर ध्यान देने की जरूरत है। हम दोनों की आड़ में लड़ना बंद करो। शहर फिर वैसा कर दो। किसी के मन में किसी के लिए डर या शक मत पनपने दो। मुझे अभी भी उससे प्यार है। बावजूद इसके कि मेरा घर जल गया है। मैं अभी भी अपने मां-पापा को खोज रहा हूं, मेरे छोटे भाई की जान का खतरा है और मेरी बहन को हमने किसी रिश्तेदार के यहां छुपा दिया है।

इस भयानक ख्वाब के बाद जब बिस्तर पर कुनमुनाते हुए जब मेरी नींद अचानक खुल गई तो कमरे में वही हल्की नीली रोशनी थी। नौरीन की पसंद नीली रोशनी। मैं पसीने-पसीने हो रहा था और नौरीन वहां नहीं थी। नौरीन को गए आज तीसरा दिन था और उस दिन से लगभग मैं ऐसे ही सपने देख रहा था। मैंने पानी पिया और दोबारा पलंग पर लेट गया। सपना सच में भयानक था। खराब बातें आपके जीवन में नहीं घटना चाहिए। पर उस वक्त मुझे लगा, काश यह सपना ही मेरी हकीकत होती। इतना सब होने के बाद भी यदि नौरीन मेरे पास होती तो मुझे कोई परेशानी नहीं होती।

नौरीन ख्वाब नहीं देखती

मुझे लगता है मां-बाप को लड़की के अठारह साल की होने पर शादी कर देनी चाहिए। कोई जरूरत नहीं है उन्हें पढ़ाने-लिखाने की। पढ़-लिख कर कौन सा तीर मार लेती हैं। अपनी मर्जी की चलाती हैं सो अलग। और यदि वो अपनी मनमर्जी की चलाएं तो कान पकड़ कर उल्टा लटका देना चाहिए और दो झापड़ रसीद कर वही कराना चाहिए जो मां-बाप चाहते हैं। मां-बाप पहले तो बच्चों को कुछ कहते नहीं। फिर कुछ गलत हो जाए तो कहते हैं, हम तो पहले ही कह रहे थे ऐसा मत करो। अरे ऐसा मत करो से क्या मतलब। पता नहीं क्यों कुछ मां-बाप को लिबरल होने का चोगा पहनने का बड़ा शौक रहता है। जैसे मेरे अब्बू को है। अम्मी को हालांकि ऐसा शौक उनसे कम है। पर दोनों डॉक्टर जो ठहरे। सोसाइटी में पढ़े-लिखे लोगों में गिने जाते हैं। अरे तो क्या पढ़े-लिखे लोग जिद्दी नहीं होते क्या। माता-पिता को तो अपने फैसले पर अटल रहना आना ही चाहिए। और हां उन्हें बच्चों को भूल से भी नहीं कहना चाहिए कि बेटा जो भी करना सोच समझ कर करना। लो अब कर लिया। भुगतो। खुद भी और हम भी। बच्चों को क्या अक्ल होती है फैसले लेने की। बस बच्चों ने कुछ कहा नहीं कि तुरंत पूरा कर दिया। अब्बू तो जैसे बचपन से तैयार ही बैठे रहते थे कि अब मैं कुछ कहूं और वह मेरी बात मान लें। जब मैं इतना बड़ा फैसला सुना रही थी तब भी बस ठंडी सांस ले कर इतना ही कहा, अब जब तुमने सोच ही लिया है तो ठीक होगा। अरे ठीक क्या खाक होगा। पूछना तो चाहिए था, ऐसे कैसे तय कर लिया। हमारे होते हुए यह नहीं हो सकता। अगर तुम ऐसा करोगी तो तुम्हें हमारी लाश पर से हो कर गुजरना पड़ेगा। खबरदार जो तुमने इस कमरे से बाहर पैर रखा तो, टांगे तोड़ देंगे। अपने घर की इज्जत का कुछ तो खयाल करो। मजहब इसकी इजाजत कभी नहीं देगा। अरे ऐसे डायलॉग न मारते कम से कम विरोध तो करते। कुछ नहीं तो यह तो समझाते कि दोनों परिवारों की सोच में जमीन-आसमान का अंतर है। दोनों परिवारों की संस्कृति बिलकुल अलग है। तुम लड़का देख कर शादी कर रही हो। उसका परिवार भी तो देखो। एक लड़की की शादी सिर्फ लड़के से नहीं होती, उसके पूरे परिवार और सारे रीति-रिवाजों से होती है। पर नहीं तब तो इकलौती लड़की के कहने पर आंख-मुंह बंद किए रहे और अब बिसूर रहे हैं। अरे एक बार तो कहते बेटा, प्यार-व्यार तो सब ठीक है लेकिन शादी बहुत अलग चीज होती है। शादी में बहुत से समझौते करने पड़ते हैं। कोई कुछ भी कहे लेकिन शादी निभानी ही पड़ती है। अपने लोगों में रहोगी तो थोड़ी सुविधा होगी। पर नहीं जी, खुद को भी तो कहलाना था, लिबरल और मॉडर्न। अब नतीजा सामने है। ख्वाब और हकीकत में कितना अंतर है यह अब समझ में आ रहा है।

मन की बातें अभय की

देखो तो चेहरे पर कोई शिकन नहीं है। न आंखों में कोई दुख। मुझे यकीन ही नहीं हो रहा कि यह उसी नौरीन की आंखें हैं जो कभी मेरी जिंदगी का सबब हुआ करती थीं। वह मेरे बगल से गुजर गई, बिलकुल अजनबी की तरह। उसके काले बाल वैसे ही खुले हैं जैसे मुझे नापसंद

हैं। जरूर मुझे चिढ़ाने के लिए बाल खोल कर आई है। वरना उसे अच्छी तरह पता है मुझे उसकी गुंथी हुई चोटी ज्यादा अच्छी लगती है। बलखाती किसी नागिन की तरह। और यह क्या। फिर यह सफेद चूड़ीदार पाजामे पर हरे रंग का कुरता पहन कर आ गई। यह कुरता तो उस पर बिलकुल अच्छा नहीं लगता। इसका यह नारंगी रंग का बैग तो मुझसे बिलकुल सहन नहीं होता। उफ्फ कितनी बार समझाया है उसे, यह नारंगी बैग ले कर न चला करे। बिलकुल बेकार लगता है। एक तो सफेद चूड़ीदार पर हरा कुरता पहन लेगी और नारंगी बैग ले लेगी। चलता-फिरता तिरंगा लगने लगती है। पर उसने किसी की मानना कहां सीखा है। पंद्रह अगस्त-छब्बीस जनवरी के आसपास यह कपड़े पहने तो ठीक भी है। कोई सोचेगा चलो देशभक्ति में पहन लिया होगा। पर यह दिसंबर के महीने में तिरंगा बन कर घूमने का क्या तुक है। मुझे क्या इसे जो करना है करे। अब मुझे इससे लेना-देना भी क्या जो मैं इसके पहनावे और बैग के रंग पर कोफ्त करूं। और देखो बन कितना रही है। अच्छी खासी ठंडक में भी बिना स्वेटर चली आई है। अब कल-परसों तक नाक बहेगी और फिर गला दर्द हो कर बुखार आ जाएगा। हर बार यही होता है। पर नहीं, शॉल पहन कर आने से तो उसकी स्टाइल खराब हो जाती है न। स्वेटर से तो खैर पता नहीं क्या बैर है। कंपकंपाती रहेगी पर स्वेटर नहीं पहनेगी। हुंह। अगर अभी टोक दूंगा तो कहेगी, तुम्हारी तरह बोरी की तरह बंद रहना मुझे पसंद नहीं। अब सर्दियों में भी क्या आदमी इसकी तरह खुला-खुला घूमे। खैर मुझे क्या। एकाध बार और मिलना है फिर इसे जो करना है करे। रोज यह सड़ा हुआ नारंगी बैग ले कर घूमे। और भरी सर्दी में स्लीवलेस पहने।

नौरीन ने भी सोचा मन में

हाय राम। कितनी दफा कहा है, कम सर्दी में हाफ स्वेटर पहन लिया करो। जरा सी ठंडी हवा आई नहीं कि इसका यह तोते के रंग का जैकेट फट से बाहर आ जाता है। मां ने तीस साल के लड़के को भी ननमुन बना के रखा हुआ है। आज तो कितना अच्छा मौसम है। कितने दिनों की उमस के बाद मौसम खुशगवार हुआ है। और यह चला आया अपनी तोतई जैकेट में। मुझे तो लगता है मुझे चिढ़ाने के लिए ही यह जैकेट पहन कर आया है। उसे अच्छी तरह पता है कि मुझे न यह जैकेट पसंद है न ही उसका यह रंग। और इतनी जल्दी जैकेट पहनने वालों से तो मुझे वैसे भी सख्त चिढ़ है। मैं तो गलती से, जल्दी-जल्दी में यह ऑरिंज बैग ले आई। याद ही नहीं रहा कि इसे यह बैग पसंद नहीं। अब यह पक्के से सोच रहा होगा कि मैं इसे चिढ़ाने के लिए बैग लाई हूं। पहले तो ऐसे बातें करता था कि मेरे सिवाय इसके जीवन में कुछ है ही नहीं और अब देखो। मेरे इतने पास खड़े हो कर भी अपनी मां से ऐसे बतिया रहा है जैसे कुंभ में बिछड़ कर बस अभी मिली हों। जैसे अगर अभी बात नहीं करेगा तो फिर शायद मौका ही न मिले। हुंह। मेरा क्या। मैं कौन सा उससे बात करने के लिए मरी जा रही हूं।

न ख्वाब न फसाना

दोस्तों कहते हैं कहानियां कहने के लिए होती हैं और जीवन जीने के लिए। लेकिन यदि जीवन ही कहानी बन जाए तो क्या किया जाए। मैं जानता हूं अब लोग हमारे बारे में बात करते हैं और हमारी कहानी सुनाते हैं। सुनाते पहले भी थे। मगर तब तरीका अलग था। अब तरीका बिलकुल बदल गया है। अब कहानी सुनाने में कुछ मुझे दोष देते हैं तो कुछ उसे। लेकिन सही मायनों में देखा जाए तो दोष किसी का नहीं है। किसी का भी नहीं। न मेरा न उसका। मुझे कभी-कभी लगता है यह हमारे जीवन का मध्यांतर है। एक दिन ऐसा जरूर आएगा जब हमारी फिल्म का अगला भाग आएगा और आखिर में द एंड के वक्त इसकी हैप्पी एंडिंग होगी। कॉलेज के दिनों में जब हम मिलते थे तो वह कहती थी, यह तो ट्रेलर है बाबू आगे-आगे देखिए होता है क्या। तो जब वह ट्रेलर था तो यह यकीनन मध्यांतर ही होगा। काश ऐसा ही हो। पर जब मैं यह बोल देता हूं तो मन खुद ही दोबारा पूछता है, क्या वाकई मैं ऐसा चाहता हूं। क्या वह वाकई ऐसा चाहती है। हमारे चाहने या न चाहने से ऐसा कैसे होगा। पर हुआ तो हमारे चाहने से ही था न। और अब जो हम कर रहे हैं वह भी हमारे चाहने से ही हो रहा है।

एक आम लड़के-लड़की की तरह हम दोनों ने कॉलेज में पढ़ने के लिए एडमिशन लिया था। हम दोनों की बहुत सी बातें कॉमन थीं। दोनों का पढ़ने में मन कम हिंदी फिल्में देखने में ज्यादा लगता था। हम दोनों को ही बोलने की बीमारी थी जिसकी वजह से कभी-कभी हमें सुनने की बारी रखनी पड़ती थी। हम दोनों ही बात-बात पर तुनक जाते थे। बस वह एक कदम आगे थी। वह तब तक हार नहीं मानती थी जब तक मैं यह न कह दूं कि मैं उससे हार गया हूं। तमाम अच्छाइयों-बुराइयों के साथ हमने फिर भी एक-दूसरे को दिल दे दिया और उसकी वजह से मैंने केमेस्ट्री में एमएससी किया। वरना मैं एमबीए करना चाहता था। हालांकि बाद में मैंने यह किया भी। फिर मुझे एक फार्मेसी में नौकरी मिल गई और हमने शादी का फैसला कर लिया।

फैसला क्या हमें लगा शादी कर लेनी चाहिए और मैंने अपनी पंडितानी मां को और उसने अपनी धर्मपारायण मां को बता दिया। सच कहूं तो थोड़ी खींचा-तानी तो हुई थी। एकदम से कोई तैयार नहीं हुआ पर फिर वह सूर्ख लाल गरारा पहने हमारे यहां आ ही गई।

अब असली कहानी तो यहीं से शुरू होती है। जब वह आई तो मुझे लगा कॉलेज में बहस करना आसान है, बहस में कोई अच्छा लगने लगे यह भी आसान है लेकिन वही बहस जब घर में शुरू हो जाए तो बड़ा मुश्किल है। खींचातानी तब शुरू हुई जब हमारी शादी के सात महीने बाद रमजान आया। नौरीन ने बड़े चाव से रोजे रखे। हमारे घर का माहौल बिलकुल बदल गया। अब रोज सुबह चार बजे से ही रसोई में खटर-पटर शुरू हो जाती। शाम को खजूर और तरबूज आते। मां बहुत आगे-पीछे तो नहीं घूमती थीं लेकिन उन्होंने मेरी बहन को कह दिया था कि वह ध्यान रखे कि नौरीन को कोई परेशानी न हो। चलो

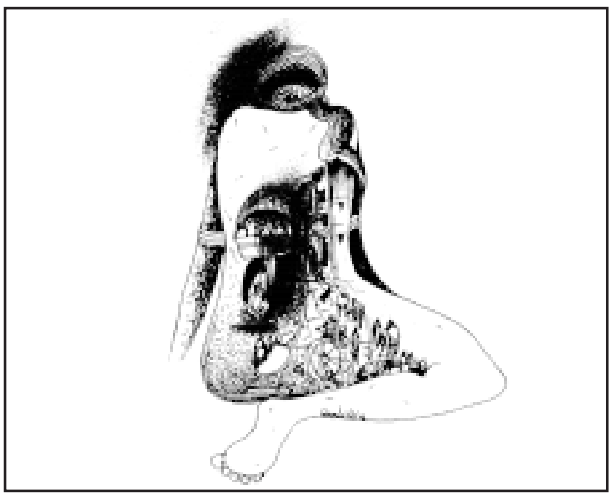

चित्रकार : गायत्री

जी ऐसे ही करते-कराते एक महीना बीत गया और हमारे घर में पहली बार ईद मनी। सेवइयां बनी और नौरीन के तीनों भाई हमारे यहां खाना खाने आए। अब जी कुछ एक या डेढ़ महीने बाद मां का एक व्रत आया। हरतालिका तीज नाम का। इसमें भी सुबह से पानी नहीं पीते हैं और पूजा के बाद रात को बारह बजे पानी पीते हैं। मां ने एक दिन पहले ही नौरीन को समझाया कि कल उसे भी व्रत रखना है सो आज ही हाथों पर मेंहदी लगा ले और रात को ठीक से खा ले और रात बारह बजे तक पानी भी पी ले। फिर चौबीस घंटे पानी नहीं मिलेगा। नौरीन ने मेंहदी तो लगा ली लेकिन जी व्रत रखने से मना कर दिया। उसने कहा, हमारे धर्म में नहीं होता और फिर वह पूरे दिन भूखी-प्यासी नहीं रह पाएगी। अब आप ही बताइए मां को तो बुरा लगेगा ही न। भई रमजान भी तो उसके यानी मेरी मां के धर्म में नहीं होता है। और यह व्रत भी सेम टू सेम, डिट्टो रोजे की तरह था। पर नौरीन नहीं मानी तो नहीं मानी। मां ने सुहाग का भी हवाला दिया। अरे सुहाग यानी मैं। मैं नौरीन का सुहाग ही तो हूं। हां तो मां ने कहा यह व्रत सुहाग के लिए होता है। उसने फिर भी कोई ध्यान नहीं दिया। मां ने अकेले पूजा की और पड़ोसियों को कहा, नौरीन की तबीयत ठीक नहीं सो वह इस बार यह व्रत नहीं करेगी। खैर।

दिन तो कट ही रहे थे। तनाव तो रोज का ही था। बस एक ही बात अच्छी थी कि घर में किचकिच नहीं होती थी। यानी कोई ऊंची आवाज का झगड़ा कभी नहीं हुआ। मां दुखी होती तो मुझसे कह लेती कि देख वह ऐसा नहीं करती और नौरीन दादागिरी से मुझ से कहती, देखो तुम्हारी मां के ये चोंचले मुझसे नहीं होते। पर दोनों की पीठ सुनती है जी दोनों कभी ऐसे नहीं झगड़ी कि मुहल्ला इकट्ठा हो जाए। वैसे हम कॉलोनी में रहते हैं। हां तो एक दिन इसी बात पर दोनों ने खाना नहीं खाया कि मां चाहती थीं नौरीन बिंदी लगाए, बिछिया पहने, गले में मंगलसूत्र पहने, मांग भरे। यानी नौरीन की भाषा में सदा सुहागन का रोल निभाए हमेशा। नौरीन ऐसा करवाचौथ लुक नहीं चाहती थी। मां इसके लिए उस पर दवाब बनाती थी। लेकिन अंततः जीत नौरीन की ही हुई। यह बात सेटल हुई ही थी कि सच्ची वाला करवाचौथ आ गया। वही बिना पानी पीने वाला व्रत। हे भगवान एक तो मैं ये बिना पानी वाले व्रतों से उबर ही नहीं पाता। तब नौरीन ने कहा, तुम्हारे यहां तो हर दूसरे-तीसरे महीने ऐसी नौटंकी चलती रहती है। मैं क्या-क्या करूं। पर इस बार मां का रुख काफी शांतिपूर्ण रहा। नौरीन एलओसी का उल्लंघन करती रही और मां भारत की तरह चुपचाप तमाशा देखती रही।

लेकिन यह शांति ज्यादा दिन कायम नहीं रह सकी। जब दीवाली आई तो मां ने एक बार फिर द्विपक्षीय वार्ता की शुरुआत की और नौरीन को कहा कि चूंकि शादी के बाद पहली दीवाली है इसलिए पूजा पर उसे मेरे साथ बैठना है। यानी मुख्य पूजा हम दोनों करें। लो जी वार्ता का एजेंडा नौरीन को इतना नागवार गुजरा कि उसने सीज फायर की धज्जियां उड़ाते हुए भयंकर गोलीबारी शुरू कर दी। एक तो दीवाली का दिन। ऊपर से इतने आने-जाने वाले। बाहर पटाखों का शोर और अंदर नौरीन का। उसने ऐन पूजा के वक्त शाम को कहा कि चाहे जो हो जाए वह बुतपरस्ती नहीं करेगी। मां भी इस बार हार मानने के मूड में नहीं थी। उन्होंने भी कह दिया कि यदि वह आज पूजा पर नहीं बैठी तो इस घर में कल से वह नमाज नहीं पढ़ पाएगी।

अब नौरीन सब कुछ कर सकती है पर नमाज पढ़ना नहीं छोड़ सकती। वो तो कॉलेज में भी लाइब्रेरी में जा कर नमाज पढ़ती थी। यह अतिश्योक्ति लग सकती है पर भगवान की कसम वो ऐसा करती थी। जब उसने छह महीने एक प्राइवेट फर्म में काम किया था तो उसने ज्वाइनिंग से पहले ही बता दिया था कि वो जुमे की नमाज दफ्तर में ही पढ़ेगी।

अरे विषयांतर हो गया। चलो खैर। हां तो वैसे तो उस दिन राजा राम अयोध्या पधारे थे। लेकिन मां और नौरीन ने उसकी भौगोलिक स्थति को अयोध्या की बजाय कुरुक्षेत्र में तब्दील कर दिया। राजा राम बेचारे यानी मेरे पापा चुपचाप थे और हमने उस दिन इतनी जबानी आतिशबाजी देख ली कि बस जी भर गया। लक्ष्मी जी फोटो में चुपचाप खड़े हुए सिक्के बरसाती रहीं और मैं उनके वाहन की तरह आंखें मूंदे बैठा रहा।

हां तो इतनी राम कहानी सुनाने का तात्पर्य ये है कि आज हम दोनों अदालत में मिले हैं। अदालत क्या वही फैमिली कोर्ट। उस दिन नौरीन घर से चली गई और उसने दो टूक फैसला सुना दिया कि उससे गलती हो गई है इसलिए अब वह तलाक लेगी। मैंने उसे समझाया पर उसने कहा कि वह चिकन मिस करती है, हलीम खाने के लिए उसे हर बार अपनी मां के यहां दौड़ना पड़ता है इसलिए बेहतर होगा कि हम-दोनों अलग-अलग रहें। उसके मम्मी पापा का स्टैंड वही है जो शादी से पहले था। वहीं तुम देख लो बेटा। पर मुझे पता है अंदर ही अंदर वो दोनों बहुत खुश होंगे कि बेटी घर आ रही है। उसके भाई भी कुछ कम नहीं हैं। कभी समझाते ही नहीं हैं अपनी बहन को। हालांकि मां ने देखिए बहन जी के राग के साथ थोड़ी शिकायत करने की कोशिश की थी लेकिन उसकी अम्मी ने कुछ खास तवज्जो नहीं दी। अब हालात यहां तक आ पहुंचे हैं कि हम अपनी साल भर पुरानी शादी को खत्म करने के लिए अदालत में खड़े हैं। चूंकि तलाक रजामंदी से हो रहा है। हां मैंने भी यही सोचा है कि हमें अलग हो जाना चाहिए तो आज के बाद छह महीने बाद फिर से हमें बुलाया जाएगा। अगर उस वक्त तक भी हमारे फैसले यही रहे तो हम फिर अपनी-अपनी दुनिया में लौट जाएंगे। बस तभी से मैं तरह-तरह की बातें सोचता रहता हूं। मुझे लगता है हम उस प्यार का हिस्सा नहीं बन सके जिसे मीडिया बड़े चाव से दिखाता। किसी आमिर खान टाइप प्रोग्राम में मैं और नौरीन साथ-साथ जाते। फिर डींगे हांकते, हमने परिवार का बहुत विरोध सहा फिर भी हम एक-दूजे के लिए थे इसलिए साथ हैं। बैकग्राउंड में कोई अच्छा सा गाना बजता। हमारी क्लीपिंग दिखाई जातीं। हमारी वजह से शहर में दंगे नहीं हुए। हमें घर भी नहीं छोड़ना पड़ा। किसी पंडित ने हमें जात बाहर नहीं किया, किसी ने फतवा जारी नहीं किया। हमें कहीं छुपते-छुपाते अपने दिन नहीं गुजारने पड़े। हिंदू-मुस्लिम होते हुए भी हमारी शादी में कोई रोमांच नहीं रहा। शायद यही वजह है कि हम आम मियां-बीवी की तरह रहे, लड़े और अब अलग हो रहे हैं।

पहले जब मैंने अपने दोस्तों को बताया था तो उन्हें यह किस्सा बहुत रोमांचकारी लगा था। लेकिन अब सब टांय-टांय फिस्स हो गया। एक हिंदू लड़का और एक मुस्लिम लड़की की इतनी साधारण दास्तान तो कहीं भी बिकाऊ नहीं है। एक बार जब मैं नौरीन की फरमाइशों और शिकायतों से तंग आ गया था तो मैंने उससे कहा था, दिल भी एक बार में बहत्तर बार ही धड़कता है, पर तुम्हारी फरमाइशें तो उससे भी आगे हैं। उसने पलट कर तुनक कर जवाब में कहा था, बहत्तर ही पूरी कर दो। क्योंकि तिहत्तरवीं फरमाइश हो सकता है तुम्हें भारी पड़े। ▫

पता : आउटलुक (हिन्दी) एबी 5, सफदरजंग इन्क्लेव
नई दिल्ली-110029
मो. : 09990986868

यथार्थ इन दिनों

n वंदना देव शुक्ल

शहर के सुप्रसिद्ध मनोचिकित्सक डॉक्टर निमित्त घोष टेबल पर कुहनी टिकाये कुर्सी पर पैर पर पैर रखे बैठे चश्मे के पार एकटक खुले रजिस्टर के उन कोरे पन्नों को देख रहे थे जो छत पर घूमते पंखे की हवा में फड़फड़ा रहे थे गोया लिखे जाने या बंद कर देने की गुजारिश सी कर रहे हों। उन्हें न जाने क्यूँ लगा जैसे ये पन्ने नहीं बल्कि कोई घायल पक्षी है जो उनकी आत्मा पर बैठा दर्द से छटपटा रहा हो। डॉक्टर ध्यान के किसी जंगल में जो वीतराग और अबूझ था भटक रहे थे खोज रहे थे इस जादुई दुनिया में जन्म लेने और उसे भोगने का रहस्य। आखिर क्या है इस तिलिस्म और यथार्थ के अंतर्संबंधों का अंतरजाल। बस आशा निराशा के धुंध भरे दिन के अंधे कुँए में हर सुबह उठना, आसमान से बरसती अभ्रकी रोशनी की चकाचौंध पर नजरें टिका उस अदृश्य ध ागे का कोई एक सिरा पकड़ कुँए से बाहर निकलने की कोशिश, मुहाने तक आकर फिर गिर जाना रात की तलहटी में सुबह फिर रोशनी के धागे को साँसों की अबूझ सी छुअन से टटोलते उम्मीद का कोई सिरा ढूँढना कल से बेहतर कल के लिए पकड़ना...छूटना? क्या इसी को कहते हैं दिन को जिंदगी की तरह जीना और रात को मौत की तरह मर जाना...क्या हर चौबीस घंटे का यथार्थ यही है या दो थकी हुई कमजोर सुबहों के बीच का अंतराल?

'नीमा' उन्होंने पत्नी को एक बुझी सी आवाज दी, 'एखोंन थिके शुओनाई तुमि?(अभी सोई नहीं तुम?)

हाँ एखोंन ओब्दी तुमि ओ जेगे आच्छा?(हाँ, आप भी तो जाग रहे हैं?) पत्नी ने कहा

जाग नहीं सोच रहा हूं कुछ...यूँ ही...घड़ी देखने की जरूरत के साथ डॉक्टर घोष की आँखें आदतन दीवार पर पहुँच गईं वहां अब सिर्फ घड़ी की स्मृति टंगी थी। उन्हें याद आया कि घड़ी को तो अब वो उस बड़े फूलदान के पीछे टिकाकर मेज पर रख चुके हैं अब इस घर को समय की जरूरत नहीं मानकर। ये सोचकर कि घड़ी जिंदा लोगों की निश्चिन्तता के लिए होती है मरे हुओं की निराशा के लिए नहीं। उन्होंने पेन का ढक्कन लगाया, रजिस्टर के फड़फड़ाते पन्नों के बीच रखा रजिस्टर बंद किया और खड़े हो गए। ऊंघते खुले पृष्ठों का बासीपन और कलम के नोंक पर सूख चुकी स्याही की ठिठकी हुई बूँद उन्हें आज फिर अवसादित करने लगी। अपराध बोध सा कुछ सांस कुछ भारी सी हो गई थी सो विक्स इन्हेलर को एक लंबी गहरी सास के साथ खींचा और गाऊन की जेब से सिगरेट और लाइटर निकाल सिगरेट होठों के बीच दबा ली और बगल के कमरे के द्वार पर आकर खड़े हो गए।

सम्पूर्ण पृथ्वी का सबसे जहीन खूबसूरत और प्यारा सपना उनकी इकलौती बेटी सुप्पी अपनी इकहरी काया लिए खुली खिड़की के बगल में पड़े पलंग पर गुड़ीमुड़ी सो रही थी। अब क्या फर्क पड़ता है? मानों वो उनकी बेटी सुप्पी नहीं बल्कि उनके मृत सपनों का ढेर हो या फिर युद्द स्थल पर युद्ध के बाद पसरा नियति का बेढंगा हास्य। भविष्य का उजला नीला आसमान देखते हुए इकलौती होनहार बेटी को सुसंस्कार और मर्यादा की जिस सीढ़ी पर उंगली पकड़कर वो दंपत्ति चढ़ा रहे थे वो भरभराकर किसी अँधेरे में ढह चुकी थी और अब एक मलवे में तब्दील हो गयी थी। कामनाओं से बनी एक एक ईंट, एक एक स्तंभ सब धराशायी। आँखों के आगे एक सपनों का उबड़ खाबड़ ढेर था लेकिन पीछे अब भी हरे भरे दृश्यों की स्मृतियाँ कुलबुला रही थी गोया जिस्म का कोई ताजा कटकर अभी अभी अलग हुआ हिस्सा दूर पड़ा छटपटा रहा हो।

वे एहतियात से सुप्पी के निकट आये वो दीवार की तरफ करवट लिए सो रही थी। उन्होंने उसके सिर पर हाथ फेरना चाहा लेकिन एक अजीब से अपराध बोध ने उन्हें घेर लिया। जिस बेटी को उन्होंने उंगली पकड़कर चलाना सिखाया गोद में खिलाया डांस क्लास ले जाकर कत्थक नृत्य में पारंगत बनाया, पति पत्नी दोनों ने जिसे हथेलियों में पाला आज उसकी फूल सी कोमल देह के साथ? ये दुनिया का एक ऐसा गुनाह है जिसे करता कोई है भोगता कोई तथा अपराध-बोध का दंश समूची कौम व् काल के हिस्से बदा होता है।

'डॉक्टर ने सुप्पी को एंटी एंजाइटी टेबलेट्स दूध या ज्यूस में मिलाकर देने को कहा था और वो एक अस्वाभाविक नींद सो रही थी'

उन्होंने उसके कमरे की खिड़की खोलकर बाहर देखना चाहा कि सुबह हो गई है या नहीं। सुबह की महीन लकीरें आसमान की छत से झाँकने लगी थीं। डॉक्टर को कुछ राहत मिली कि अब रोशनी में वो जिंदा रहने का यकीन पा सकेंगे। आदमी भुलावे में ना रखे तो कैसे जिए अपनी जिंदगी?

चा बनाबो? (चाय बनाऊं?) पत्नी नीमा ना जाने कब पीछे आकर खड़ी हो गई थी।

जेकोम तुमि चाओ (जैसा चाहो) प्रोफेसर ने कहा।

सुप्पी उस कमरे में सो रही थी जबकि उसकी यादें पूरे घर में बिखरी पड़ी थीं...माँ नीमा के साथ यहाँ रसोई में भी चली आईं...

मम्मी...बहुत भूख लगी है...कुछ खाने को दो न स्कूल से घर आते ही बिना युनिफोर्म बदले सुप्पी सारे बर्तनों को खोल खोल कर देखने लगती थी

तुमि एखोंन ठीके हाथ पाओं धोओ नाईं? (तुमने हाथ पैर धोए? नहीं ना) नीमा कहती

सुप्पी कुछ देर सोचती रहती गंभीरता से और फिर वो वॉश बेसिन पर रगड़-रगड़ कर हाथ धो रही होती कितनी जल्दी मान जाती है ये लड़की सब कही बातें? ना कभी बहस करती ना विरोध। कभी नीमा को सुप्पी की ये आदत उसका गुण लगती और कभी उसका भोलापन जो घसीटकर उसको एक अनजान सी फिक्र की हद में ले जाकर पटक देता था। कभी तो विरोध या जिद्द करना चाहिए उसे किसी चीज की जैसे उसकी उम्र की लड़कियां करती हैं? माँ अक्सर सोचती। एक बार मार्केट में जब कपड़े खरीदने गए थे उसके तब सुप्पी ने धीरे से जींस खरीदने की मंशा जाहिर की थी तब नीमा ने उसे प्यार से समझाया था ''ना बाच्चा एखोम कापोड एतो भाल लागे ना सोबर ताकते लागे (नहीं बेटा...लड़कियों को कुछ मर्यादा से रहना चाहिए ये ड्रेसें अच्छी नहीं लगतीं)'' और सुप्पी ने सर हिलाकर माँ की बात मान ली थी।

सुप्पी का खूबसूरत भोला चेहरा, आज्ञा पालक और होशियार होना माँ और बाबा के सपनों को हरा भरा कर देता। डॉक्टर अपनी बेटी को हमेशा दुनिया में होने वाली सार्थक खोजों, लड़कियों की उपलब्धियों और विकास की चीजें बताते, प्रतिष्ठित लेखकों के उपन्यास और कवितायें पढ़ने की प्रेरणा देते। सुप्पी की लिखी गई कविताओं की भूरी-भूरी प्रसंशा करते और उनमे संशोधन भी। वो घर उन आदर्श और संतृप्त परिवारों में से एक था जिनकी महत्वाकांक्षाएं अपनी हदें जानती हैं और उसमे प्रसन्न रहना भी।

जिस दिन सुप्पी का पी.एम.टी. का रिजल्ट आया पूरा घर मानों खुशी से थिरक उठा। बेटी अब डॉक्टर बन जायेगी ये अहसास घोष साब और उनकी पत्नी नीमा को कितने दिन तक रोमांचित करता रहा था। इतना ही नहीं उन्होंने खाली पड़े प्लाट पर बेटी के लिए एक शानदार नर्सिंगहोम बनाने की योजना भी बना ली थी पूरा नक्शा आँखों में सहेज लिया था...नीचे अस्पताल और ऊपर घर। 'सुपर्णा नर्सिंग होम' में एक केबिन डॉक्टर निमित्त घोष वरिष्ठ मनोचिकित्सक का मेडीकल कॉलेज घर से दूर था लेकिन अच्छी बात ये थी कि डॉ. घोष का क्लीनिक बीच में ही पड़ता था इसलिए वहां तक वो सुप्पी को कार से छोड़ देते और वहां से सुप्पी सिटी बस में या ऑटो में बैठकर कॉलेज तक चली जाती लेकिन लौटते वक्त वो सिटी बस से ही आती थी। कभी-2 जब रात में देर हो जाती तो पति पत्नी उसका इंतजार करते। हालाँकि दोनों चुपचाप उसकी राह तकते कहते कुछ नहीं। घोष बाबू स्टडी टेबल पर सिगरेट के कश खींचते कोई किताब पढ़ने का उपक्रम करते पर कान कॉल बैल की आवाज पर टिके रहते तो पत्नी नीमा बालकनी में बैठी स्वेटर बुनती या कोई सब्जी वगेरह काटती हुई आते जाते वाहनों को ताकती रहती। सुप्पी ने खुद कह रखा था कि वे लोग बिलकुल फिक्र ना करें वो आ जायेगी अब वो बच्ची नहीं। कभी-कभी देर हो जाती सुप्पी को आने में और घोष बाबू क्लीनिक में ही होते तो नीमा के मन में फिक्र की कुलबुलाहट शुरू हो जाती वो पति को फोन करती। वो कहते ''हमने बच्ची को अच्छे संस्कार दिये हैं निमू, मुझे पूरा विश्वास है उस पर और तुम्हे भी करना चाहिए। शी इज वेरी ऑनेस्ट एंड ब्रेव चाइल्ड...फिर हँसते हुए कहते ''अरे भाई हम हिन्दुस्तान में रह रहे हैं तालिबान में नहीं।''

ये वर्ष 2007 घोष परिवार के लिए विशेष उपलब्धियां लेकर आ रहा था। सुप्पी की मेडिकल की पढ़ाई का उत्तरार्ध था और उधर नर्सिंग होम की योजनाओं के क्रियान्वन की तैयारी शुरू हो चुकी थी। यानी सपनों की फसल पकने का वक्त नियति की ऊबड़-खाबड़ जमीन से उगता सायंकालीन संधि प्रकाश रात हो गई थी सुप्पी नहीं लौटी थी। वैसे ये पहली बार नहीं था कॉलेज में देर हो ही जाती थी कभी लेकिन फिक्र की बात ये थी कि हमेशा की तरह आज सुप्पी का 'देर से लौटने' का कोई फोन नहीं आया था और उसके फोन की घंटी बज रही थी पर वो उठा नहीं रही थी। जैसे-जैसे शाम अपने अंधेरों में दाखिल हो रही थी घर का वो शांत सुकून भरा माहौल चीखती खामोशियों में तब्दील होता जा रहा था जिस घर की शाम परिवार के सदस्यों की प्रतीक्षा के अंत से शुरू होती थी वही एक असीमित इंतजार हो गई थी। अंधेरी रात और अब तो बारिश की फुहारें भी पड़ने लगी थीं। घोष दंपत्ति कार लेकर गलियों, सड़कों, मुहल्लों भटक रहे थे पर सुप्पी कहीं नहीं थी। कॉलेज का गेट भी बंद था और वहां सन्नाटे पसरे थे। सहेलियां भी अपने-अपने घर पहुँच गई थीं पर सुप्पी का कहीं आता पता नहीं था। उनकी मनोदशा उनकी कार के पहियों से लिपट गई थी गोया। चप्पा चप्पा छान मारा उन्होंने शहर का लेकिन सुप्पी नहीं मिली। आधी रात में वे थकी हुई उम्मीदों से खाली हाथ घर में प्रविष्ट हुए थे। डॉक्टर निमित्त घोष को शहर में कौन नहीं जानता! शहर के नामी मनोचिकित्सक और एक समझदार इंसान थे। सीधे साधे डॉक्टर घोष ये जाने बिना कि आजकल दुर्घटना के लिए वजह का होना जरूरी नहीं अपने दुश्मनों की सूची खंगालते रहे थे जो निपट कोरा पन्ना निकली। उनकी इकलौती बेटी सुप्पी यानी सुपर्णा घोष लापता थी उनकी आत्मा पर ये सच हथोड़े की तरह चोट कर रहा था। शब्द भय और फिक्र के घटाटोप में मौन हो गए थे। सुप्पी के पैदा होने से सुःसंस्कार, भारतीय मूल्य और नैतिकता की शिक्षा का जो ताना बाना बुना था माँ पिता ने बेटी के जेहन के इर्द गिर्द वो अचानक तार तार हो गया था। नंगी सच्चाई सामने खड़ी थी। पति पत्नी एक अजीब सी दहशत की गिरफ्त में थे। पूरी रात कहाँ किस हाल में किसके साथ होगी उनकी बेटी? क्या बीत रही होगी उस फूल सी कोमल बेटी के साथ...और कल सुबह...? जब लोगों को पता चलेगा...क्या क्या बातें होंगी उसके बारे में? उसे बदनाम किया जाएगा माँ पिता की परवरिश को कोसा जाएगा...बेटी के भविष्य पर काले बेढंगे अक्षरों में इस त्रासद घटना की इबारत खोद दी जायेगी। यहाँ वो दुःख के इस अगाध समंदर में डूब रहे होंगे और वहां टी वी पर उनकी बेटी की तस्वीरें और ज्यादतियों का बखान चैनल बढ़ चढ़कर कर रहे होंगे ...इस भयानक खबर का हिस्सा उनकी प्यारी बेटी? डॉ. कटे पेड़ की तरह सोफे पर ढह गए। नीमा को तो मानो होश ही नहीं था। वो खिड़की के पास खड़ी फटी-फटी आँखों से अब भी बाहर देख रही थी। काश सुप्पी सामने से तेज कदमों से आती दिख जाए और आकर माँ के

चित्रकार : भूपेन्द्र कुमार अस्थाना

गले में हाथ डालकर कहे 'सौरी माँ, इतनी बिजी थी की फोन ही नहीं कर पाई चलो भूख लग रही है कुछ खाने को दो। लेकिन ये इस रात का सबसे झूठा बहलावा था...सच न होने वाला एक सुन्दर सपना...दिन कब रात में बदल गया और रात कब सुबह बनकर नमूदार हुई पता ही नहीं चला। दिनचर्या का सारा गणित ही गड़बड़ा गया कब सोना कब जागना? जागते हुए सोना या सोते से जागना। पति पत्नी जिनकी जिंदगी बेटी के परवरिश के इर्द गिर्द घूम रही थी सहसा उसकी धुरी ही गायब हो गयी थी। कभी दोनों एक दूसरे से लिपट कर फफक फफक कर रो पड़ते और कभी शून्य में ताकते रहते अब उनके जीवन की भाषा में बस ये दो मौन ही रह गए थे 'ब्लैक होल'।

घर के दरवाजे यूँ बंद थे जैसे सदियों से खुलने को तरस गए हों। डॉक्टर ने आकस्मिक अवकाश ले लिया था बेमियाद। आखिर क्या कहते कि कितने दिन के लिए? उन्हें तो अपनी बेटी के लापता हो जाने के बाद हर दिन एक पुनर्जन्म की तरह लग रहा था। जब आदमी मर जाता है तो उसके परिजन ये सोचकर संतुष्ट हो जाते हैं कि वो राख हो चुका है यादों के अतिरिक्त अब उसका कोई वजूद शेष नहीं बचा है लेकिन कोई इतना अपना मानों अपने प्यार की देह का एक हिस्सा कहीं खो जाता है तो यादें सूखती नहीं और हरिया जाती हैं समय के साथ...उसके जन्म से लेकर अब तक की एक-एक घटना उसकी फिक्र बनकर आत्मा को कुतरती रहती है गोया। उन्हें अजीब सी बेचैनी होने लगी।

''यथार्थ इन दिनों
घर हो या बाजार,
हर जगह उसके दांत चमकते हुए दिखते हैं
अँधेरे में रोशनी में
घबराया हुआ मैं नींद में जाता हूँ
तो वह वहां मौजूद होता है
एक स्वप्न से निकलकर बाहर आता हूँ
तो वह वहां पहले से घात लगाए हुए रहता है।''(मंगलेश डबराल)

सुप्पी को ना लौटे पूरे चौबीस घंटे बीत चुके थे। क्या कहें किससे कहें? पुलिस? एक अजीब सा खौफ समा गया था उनकी रगों में...पुलिस ने कहीं शिनाख्त करवाई? दुनिया में सबसे अजीज सबसे लाडली बेटी सुप्पी के जिस्म और मन के जख्म कैसे देख पाएंगे वो? किस हालत में लेकर आयेगी पुलिस उनकी जान से ज्यादा प्यारी बेटी को? पुलिस के लिए तो ये घटनाएँ रोजमर्रा के जीवन का एक हिस्सा ही हैं, उनकी लाडली बेटी पुलिस फाइल का एक पन्ना? नहीं...नहीं पुलिस नहीं...एक सिहरन सी कौंध गई। इंसानी मन -मस्तिष्क को पढ़ लेने और व्याधि को पकड़ उसका उपचार करने वाला उनका वो अतीत आज स्वयं विडंबना और रहस्य के धुंए में ठगा सा खड़ा था। डॉक्टर को लग रहा था जैसे वो देह ही नहीं बल्कि मन से भी इतने कमजोर हो चुके हैं कि कोई भी निर्णय लेने के लायक नहीं रहे...एक मांस का लोथड़ा।

कॉल बैल बजी तो पति पत्नी सिहर गए। घड़ी देखी रात के दो बजे थे...पति को रुकने का इशारा कर नीमा ने द्वार खोला। पुलिस अफसर के.पी. शर्मा जो डॉक्टर घोष के सहपाठी रहे थे और पुलिस विभाग में एक बड़े ओहदे पर पदस्थ थे एक वर्ष पहले ही इनका ट्रांसफर दिल्ली हुआ था सामने खड़े थे। नीमा कुछ पल उनकी ओर देखती रही।

''नमस्ते भाभी...घोष है क्या?''

नीमा चुपचाप साईड में हो गई और शर्मा घर के भीतर आ गए। नीमा के पीछे पीछे वो कमरे तक गए जहाँ डॉक्टर सोफे पर निढाल से बैठे थे सिगरेट उनकी उँगलियों में फंसी थी और वो कुछ सोच रहे थे।

''सॉरी तुमने बुलाया था डॉक्टर...तुमने कहा था जब भी समय मिले तुरंत आना...अब मिला है वक़्त...घर भी नहीं गया हूं...कहो क्या अर्जेंसी है? सिगरेट के धुंए के उस पार के.पी. शर्मा खड़े थे ''बैठिये'' नीमा ने सोफे पर बैठने का इशारा करते हुए बहुत थके हुए से स्वर में कहा।

वाकया सुनकर वो स्तंभित रह गए।

''दो दिन होने को आये बिटिया को लापता हुए और तुम अब बता रहे हो? एफआईआर भी नहीं लिखवाई? हद्द करते हो यार''

पति पत्नी मौन थे...एक हारा हुआ मौन...एक विरक्त चुप्पी

उस दिन कॉलेज से कोई फोन वगैरह आया था क्या उसका?'' शर्मा ने पूछा।

''हाँ, शाम के करीब सात बजे आया था कहा बस एक इमरजेंसी है एक घंटे में आ जाऊंगी। इन्होंने कहा भी कि मैं कार लेकर आ जाता हूँ तुम्हे लेने...लेकिन उसने मना कर दिया बोली कि दो लेडी डॉक्टर्स और भी हैं उनके पास कोई व्हीकल होगा तो ठीक नहीं तो कैब से आ जाऊंगी...लेकिन उसके बाद हम लोग फोन लगाते रहे पर उसका फोन स्विच ऑफ आ रहा था।'' मिसेज घोष ने बताया।

बरामदे में जाकर मोबाइल पर किसी से बात की शर्मा ने।

''देखो खुद को संभालो आप लोग...मुझे सिर्फ उसके दोस्तों का पता दो'' उन्होंने फोन बंद करके कहा।

''उसके फ्रेंड्स अच्छे थे...मैं जानती हूं सबको...बेटी ने कभी हमसे कुछ नहीं छिपाया...वो बेहद समझदार और मेच्योर है उसे पता है कि हमें किस बात से दुःख पहुंचेगा...वो हमें कभी दुःख नहीं पहुंचायेगी ये हम जानते हैं।'' नीमा ने कहा। उसकी आवाज बहुत सहमी हुई और धीमी थी। ''वो ये भी जानती है कि वो जो कहेगी हम उस पर विश्वास करेंगे उसका कहा मानेंगे हमारे घर में उसकी इच्छाओं पर कोई बंदिश नहीं थी, आगाह जरूर करते रहते थे हम उसे किसी दुर्घटना से...सपने में भी नहीं सोच सकते थे कभी कि ऐसा भी हो सकता है। शर्मा कुछ देर सोचते रहे फिर बोले, ''ओ.के. देखते हैं... डोंट वरी घोष...कुछ ना कुछ पता जरूर लगेगा...आप लोग नॉर्मल रहिये...''

''नॉर्मल? सब कुछ लुट जाने के बाद आदमी नॉर्मल रह सकता है क्या?''

सुपर्णा को लापता हुए आज तीसरा दिन था। घर में मनहूसियत पसरी थी। घोष दंपत्ति जिनका शरीर और मस्तिष्क दो अलग अलग ध्रुव हो गए थे और वो उन दोनों में चाहकर भी ताल मेल नहीं बिठा पा रहे थे।

फोन की घंटी बजी दोनों एक दूसरे को सहमे डरे हुए से देखने लगे घंटी बजी जा रही थी। नीमा ने उठकर मोबाइल उठाया,

''हेलो...भाभी बोल रही हैं?'' शर्मा का फोन था।

''जी भाई साब मैं बोल रही हूं, नीमा...''

''भाभी...घोष को दीजिए फोन'' शर्मा ने कहा।

नीमा ने पति को फोन दिया।

''क्या?'' डॉक्टर घोष लगभग चीखे।

नीमा के पैरों के नीचे से मानों जमीन खिसक गई। वो फटी फटी आँखों से बहराई सी पति को देखने लगी शब्द मानों जुबान में जम गए हों निकल ही ना रहे हों ''अच्छा अभी आते हैं हम'' कहकर डॉक्टर घोष ने मोबाइल पटका और नीमा से चलने को कहा कार सड़क पर मानों फिसल रही थी। लगभग पन्द्रह मिनट की वो मौन यात्रा मीलों लम्बी हो गयी थी। दोनों के मन में एक खलबली और हाहाकार मचा था। पुलिस चौकी के बाहर अन्ध ाकार में लिपटा एकांत था लेकिन भीतर रौनक। पुलिसकर्मी आ जा रहे थे कोई बैठा फाइलें पलट रहा था।

''शर्मा जी ने बुलाया था'' उन्होंने एक बाहर आते पुलिस वाले से कहा।

''वहां जाइए उसके आगे वाला कमरा है।'' उसने कहा और चला गया।

जब वो दोनों भीतर कमरे में घुसे तो शर्मा जी फाइलें पलट रहे थे,

''अरे आओ भाई...राम लाल पानी तो लाओ भई जरा'' घोष दंपत्ति डरे हुए से बैठ गए। कभी कभी लगता है जैसे समय ने चलना बंद कर दिया है बिलकुल स्थिर हो गया है या इतना तेजी से भाग रहा है कि सिर्फ बहराए से देख पा रहे हैं उसे उम्र की हथेली से रेत सा फिसलता हुआ।

एक प्रश्न उन तीनों के बीच लटका गया था। शर्मा ने फाइल बंद की ''सुपर्णा का पता चल गया है...अभी वो लेडी हॉस्पिटल में है।''

''अरे! क्या हुआ?'' नीमा के मुंह से जैसे शब्द सहसा फिसल रहे थे। नहीं कुछ खास नहीं थोड़ा मेडीकल करवाना था वो ठीक है कल मिसेज और हम दोनों मिले उससे आज घर से ही खाना भी भेजा था उसे। मैं जानता हूँ ये वक्त किसी भी माता पिता के लिए एक नाकाबिलेबर्दाश्त सजा से कम नहीं होता एक ऐसी सजा जिसका गुनाहगार कोई और है एनी वेज हमें अब सिर्फ इंतजार करना है। तफ्तीश के नतीजों और वक्त के गुजर जाने का शर्मा कहकर फाइलों की और देखने लगे जैसे उन लोगों से नजरें मिलाने की हिम्मत खो चुके हों।

फाइलें पलटते हुए उन्हों कहा ''वो दो लोग थे पकड़े गए हैं...प्राइवेट टैक्सी ड्राइवर...उस रात सुप्पी उन्हीं की टैक्सी से आ रही थी घर...खैर...उन्हें सजा जरूर मिलेगी पर आप लोगों को इस वक्त हिम्मत से काम लेना होगा इतना ही क्या कम है कि बेटी जिंदा है हमारे सामने है।''

''हम कब मिलेंगे उससे?'' घोष के चेहरे पर दुःख की छाया थी, ''अभी चलते हैं...। रिलेक्स्ड...शर्मा, तुम्हारा शुक्रिया हम कैसे अदा करें लेकिन प्लीज बात बाहर ना जाये।'' डॉक्टर मानो भीतर ही भीतर रो रहे थे।

शर्मा कुछ देर टेबल पर रखी फाइलों को देखते रहे फिर बोले, ''हद है मित्र...आई कांट बिलीव दिस कि तुम जैसा स्ट्रांग और मेच्योर डॉक्टर जो दूसरों के मनोविज्ञान को टटोलता है इलाज करता है खुद इतना कमजोर है अंदर से। बस क्या बोलूं अब? खैर चलो तुम्हे मिलवा देते हैं बेटी से लेकिन प्लीज उसके सामने...''

''डोंट वरी आई नो दिस'' डॉक्टर घोष की आवाज थकी हुई थी।

सुप्पी अर्ध बेहोशी में थी वो सो रही थी। उसके बाल बिखरे हुए और चेहरा सूजा हुआ था उसकी गर्दन तक कम्बल उढ़ा हुआ था और एक नर्स उसके बेड के पास उल्टी लटकी सेलाइन की बोतल को ठीक कर रही थी जब घोष दंपत्ति ने कमरे में प्रवेश किया।

दोनों सुप्पी के चेहरे को अपलक देख रहे थे उन्हें अपनी ही बेटी को देखकर लग रहा था जैसे वो उसे पहली बार देख रहे हैं जैसे उस दिन देखा था जब वो पैदा हुई थी। प्रश्नों की हजारों नोकें निकल आई थीं और दिल प्रायश्चित का कुरुक्षेत्र बना हुआ था। आज उन्हें अपनी ही बेटी अजनबी सी लग रही थी। घोष ने नीमा के कंधे पर हाथ रखा पता नहीं वो पत्नी को हौसला देना था या उसके कंधे का सहारा लेना पर नीमा ने अपनी आत्मा तक स्पर्श के उस गीलेपन को महसूस किया।

''अब कैसी है ये?'' घोष ने पूछा उस डॉक्टर से जो उनके पीछे पीछे आ गया था।

''कल से बेहतर हैं, अभी नींद का इंजेक्शन दे रखा है।''

''हम घर कब तक ले जा सकते हैं अपनी बेटी को?'' नीमा ने डॉक्टर से पूछा।

''कह नहीं सकते... आज कुछ टेस्ट हुए है रिपोर्ट आने पर ही पता चलेगा।'' कुछ घंटों बाद सुप्पी को होश आ गया था तब तक घोष दंपति ने खुद को थोड़ा संयत कर लिया था।

जब सुप्पी ने ऑखें खोलीं तो माँ बाबा उसे सिरहाने बैठे दिखे। वो कुछ देर अर्ध-होशी में पथराई सी नजरों से असहाय-अपलक देखती रही बाबा को जैसे इस दुर्घटना के पहले उनसे अपने रिश्ते पहचानने को याद कर रही हो जैसे पूछ रही हो कि क्या संस्कार सिर्फ लड़कियों को दिये जाते हैं? कि आप लोगों ने ही तो कहा था कि लड़कियां यदि खुद बोल्ड रहें और एहतियात बरतें तो उनका बाल भी बांका नहीं हो सकता?'' माँ और बाबा पराजित से बेटी को अपलक देख रहे थे कभी कभी दुःख आँखों और दिल के रस्ते बहता हुआ आत्मा की नदी में समा जाता है आत्मा शुद्ध होती है शाश्वत सूखी और चमकीली जहाँ हर ग्लानी-खुशी दुःख-सुख उस निस्सारता बोध की नीली रोशनी में डूब जाते है और तब दुनिया की कोई भी पीड़ा उसके स्त्रोत से कोसों दूर उर्द्धगामी हो आसमान का रास्ता जोहने लगती है।

सुप्पी घर आ रही थी वो माँ नीमा के साथ कार की पिछली सीट पर आँखें मींचे बैठी थी माँ के कन्धों का सहारा लिए निस्पृह, विरक्त निढाल। कार बाबा यानी डॉक्टर घोष ड्राइव कर रहे थे सब मौन थे। जेहन के तपते आंगन में विषय लावारिस सन्नाटों की तरह भटक रहे थे। ये जिंदगी के वही पल थे जब शब्द जुबां से इस कदर मासूमियत से मुंह फेर लेते हैं गोया कभी थे ही नहीं। माँ ने बेटी का हाथ कस कर पकड़ रखा था मानों अब उसे कोई नहीं ले जा सकता ये आश्वस्ती की छुअन थी या पश्चाताप की मुद्रा नहीं जानती वो।

''देखो मैंने अपनी नौकरी छोड़ी तुम्हारी अच्छी परवरिश के लिए पर मुझे माफ कर दो सुप्पी मै तुम्हे सहेज नहीं पाई'' नीमा के मन में हाहाकार मचा हुआ था।

सुप्पी लौट रही थी उस जगह जो उसका घर था। दुनिया में कहीं जाये पर लौटने का एकमात्र स्थान जहाँ वो हमेशा ही माँ बाबा के प्रति आभार और अपने सपनों का एक भरापूरापन लिए लौटती थी। पर आज वो लौट रही थी बीते हुए कल के जख्मों और ध्वस्त व सपनों की लाश को अपनी ही खाली हथेलियों में भरे। घर जाने के रास्ते, पेड़ पौधे ,वो चर्च जो घर के रास्ते के बीच में पड़ता था,वो खूबसूरत पार्क, जहाँ वो गर्मियों में जॉगिंग करने आती थी कानों में आई पोड से संगीत सुनती हुई। थोड़े ही दिन पहले तो कितना उल्लास उमंग भरा सहज जीवन और दिनचर्या थी कुछ पलों में ही उम्मीदें,

सपने, इच्छाएं सब ध्वस्त हो जायेंगे, कितने असोचे दोराहे पर खड़ा कर देती है कभी कभी जिंदगी भी। घर आने जाने के रस्ते, घर की भीतरी बनावट ,पेड़ पौधे, सुबह, रात सब वैसे ही थे फिर भी ना जाने क्या हुआ था इस घर को कि वो हंसना बोलना भूल चुका था। दिल पर पत्थर रख कितनी बार चेहरे पर मुस्कुराहट की हल्की सी परत ओढ़ माँ बाबा बेटी से सहज होने की कोशिश करते लेकिन वो चुपचाप उनकी ओर देखती रहती या दीवार की ओर करवट फेर आंखें बंद कर लेती।

आज घर लौटने का पन्द्रहवां दिन था और आज ही सुप्पी के चेहरे पर कुछ शांत भाव आये थे और वो मम्मी के कहने पर खाना खाने डाइनिंग टेबल पर बैठी थी। नीमा ने उसका मन पसंद झोल भात बनाया था। लेकिन अब भी ''आगे क्या'' सोचने की हिम्मत वो परिवार नहीं जुटा पाया था। धीरे धीरे वो घर सामान्य होने की कोशिश कर रहा था, लेकिन सब कुछ बदल गया था दीवारें, पौधे, वस्तुएं यहाँ तक की एक दूसरे को देखने वाली दृष्टि और बातचीत के विषय भी जो किसी जरुरत के मोहताज हो चुके थे। शायद सुप्पी के मस्तिष्क से उन मनहूस पलों के बादल छंट रहे थे माँ बाबा ये महसूस कर रहे थे लेकिन सुप्पी? वो खुद को जिंदा लाश से ज्यादा नहीं मान पा रही थी उसकी निश्छल हंसी कहीं खो चुकी थी।

खाना खाकर वो रोज की तरह फिर कमरे में जाकर दीवार की और मुंह करके लेट गयी। डॉक्टर घोष से बेटी की ये दशा नहीं देखी जा रही थी। वे एहतियात से सुप्पी के निकट आये उन्होंने उसके सिर पर हाथ फेरा,

''सुपर्ण?'' उन्होंने धीरे से कहा

सुप्पी वैसे ही निर्भाव लेटी रही।

''सुप्पी कुछ बात करोगी बेटा?''

''नहीं...मन नहीं है...'' सुप्पी की आवाज धीमी और बीमार थी।

''प्लीज देखो...बहुत जरूरी है बस कुछ मिनट।''

सुप्पी ने करवट बदली।

''गुड अब बैठो जरा''

वो बैठ गयी।

''नीमा... सुप्पी और मेरे लिए कोई ज्यूस लेकर आओ यार कितने दिनों से हम सबने साथ में ज्यूस नहीं पिया है न?'' उन्होंने सुप्पी की तरफ देखकर उत्साह से कहा।

सुप्पी चुपचाप जमीन पर निगाहें गड़ाए बैठी थी।

''सुप्पी...आर यू ओके? हाउ आर यू फीलिंग नाऊ?'' उन्होंने बहुत प्यार से पूछा पता नहीं। सुप्पी की आँखों में एक अजीब सा खौफ अब भी तारी था।

''कुछ बात करूँ?''

खामोशी।

''मेरे कुछ प्रश्न हैं, जरूरी नहीं कि तुम उसका जवाब दो। सिर्फ प्रश्न, तुम्हारे साथ जो कुछ हुआ वो एक दुर्घटना थी जैसे सड़क एक्सीडेंट, या कोई और घटना लेकिन इस घटना की क्या तुम दोषी थीं? कतई नहीं।

दूसरा प्रश्न, वो घटना शारीरिक मानसिक रूप से बहुत जघन्य और अमानवीय है हम जानते हैं और ये या ऐसी घटना का शिकार कोई भी कभी भी हो सकता है जैसे हम हुए। लेकिन ये भी तो गलत नहीं कि जैसे दुर्घटना में घायल लोग कुछ दिनों के इलाज के बाद सामान्य हो जाते हैं क्या हमें भी अपने शरीर और मन को सामान्य नहीं कर लेना चाहिए? तब जबकि इसके अलावा हमारे पास फिलहाल और कोई उपाय नहीं और जिंदगी अभी भरी पूरी हमारे आगे दूर तक बिछी है?

तीसरा प्रश्न-तुम्हारे साथ हम हैं, हमारे शुभचिंतक हैं तुम्हारा एक सुनहरा भविष्य है लेकिन क्या तुम जानती हो कि उन नर पिशाचों के लिए ये घटना पूरी जिंदगी के लिए कितना बड़ा अभिशाप और कुंठा बन चुकी है? परिवार, समाज, कानून यहाँ तक कि वे स्वयं की आत्मा को कोई जवाब देने लायक नहीं बचे हर तरफ से धिक्कार।

बेटा, ना तुम इस दुर्घटना की पहली भोग्या हो ना इस भ्रष्ट न्यायिक व्यवस्था से हम किसी उचित न्याय की उम्मीद कर सकते। कितनी ही नैतिकता की बड़ी-बड़ी बातें कर लें नारेबाजी कर लें विरोध में पन्ने रंग डालें लेकिन ये एक अंतहीन बहस और ऐतिहासिक कटु सत्य है इतिहास साक्षी है इसका! हिस्ट्री बताती है कि स्त्री पुरुष से कहीं भी और कभी भी कम नहीं रही। उसका वात्सल्य, बुद्धि, धैर्य, प्रेम पुरुष से अधिक जाग्रत और मजबूत हैं। हम ये भी मान सकते हैं कि ऐसे कृत्य पुरुष की इसी पारंपरिक कुंठा के परिणाम हैं, औरत को डराने और नीचा दिखाने की मंशा के तहत किये जाते हैं। बिटिया, भूलना अपने सभी दुखों को माफ करना ही होता है। क्या हमें भी अब हमारे परिवार की पटकथा के इस दुखद एपीसोड को भुलाकर अपना अगला जीवन सामान्य रूप से नहीं बिताना चाहिए? बजाय इसके कि अब हम उन दरिंदों को सजा दिलवाने की नाकाम कोशिश और वक्त बर्बाद करें या अपने परिवार की बदनामी को सोचते हुए पूरा अमूल्य समय उसी घटना को याद कर बिता दें? करने को हम बहुत कुछ कर सकते हैं। अभी टी.वी. पर तुम उन दरिंदों को गिरफ्तार होते देख सकती हो और कुछ दिनों बाद छूट जाते हुए भी। ये घटना और भी नाकाबिलेबर्दाश्त होगी। कहीं न कहीं न होते हुए भी हम खुद को दोषी मानने लगेंगे। न्याय पाने या दिलाने की कोशिश हम जैसे सहज सामान्य नागरिकों के लिए एक दलदल में फंसते जाना है।

तुम एक समझदार और योग्य लड़की हो। हम जानते हैं कि वो हम सबके दिल दिमाग पर एक बुरा आघात था। वास्तविकता ये है कि इस तरह की घटनाओं का तमाशाबीन तो पूरा समाज हो जाता है मीडिया और स्वयंसेवी संस्थाएं उन कसूरवारों को खूब कोसती हैं लेकिन कितने दिन? मानसिक त्रास भोगना सिर्फ लड़की के परिवार को ही पड़ता है। इसलिए अब हमें खुद को व एक दूसरे को संभालना होगा क्यूँ कि हम तीनों के सुख-दुःख, खुशियाँ सब एक दूसरे से ही जुड़ी हुई हैं...हम तुम्हारे साथ हैं...इसे जीवन की दूसरी पारी समझकर कर उत्साह और अपने सपनों को पुनर्जीवित कर आओ हम एक बार फिर अपना एक नया संसार बुनें...चलो...लो माँ ज्यूस ले आईं पियो और आज हम लोग लॉन्ग ड्राइव पर जायेंगे अपने नर्सिंग होम का काम फिर शुरू होगा. ..अच्छा ये बताओ अपना नर्सिंग होम बनकर लगभग तैयार है उस पर बोर्ड क्या लगायें डॉक्टर सुपर्णा घोष नर्सिंग होम या संजीवनी नर्सिंग होम?''

उसके बाद सुप्पी ने खुद को बाथरूम में, शावर के नीचे भीगते हुए पाया। बंद आँखों में उसे लग रहा था जैसे शरीर और मन का एक एक जख्म शीतल जल की उन बूंदों के साथ बह रहा हो। ▫

पता : डी 200, विद्या विहार
पिलानी-333031 (राजस्थान)
मो. : 09928831511

कैनेडियन माउंटेन टाइम

n पंखुरी सिन्हा

वो कहते हैं न कि ढेरो मेहनत करना और खुद ही काम को सफल न होने देना...। रात के लगभग साढ़े आठ या नौ बजे होंगे कैनेडियन माउंटेन टाइम। शुभांगी अपने लैपटॉप के आगे बैठी पोलिश प्रेजिडेंट के रूस में हुए प्लेन क्रैश की खबर पढ़ रही थी। बहुत विस्तार से। सुर्खियों में एक दो दिन पहले, शायद सुबह, देख लेने के बाद, आज शाम उसने वो खबर गूगल की थी। कई सारे लिंक्स उभर कर आए थे, वह हर एक को बहुत विस्तार से पढ़ रही थी। छिटपुट खबर के बाद, बहुत विस्तार से पढ़ने को वह रपट मिली थी विकिपीडिया पर ही। अजीब बात। इतनी जल्दी सारे न्यूज रिपोर्टर्स के ऊपर विकिपीडिया हावी हो गया, विचित्र बात। न्यूज रिपोर्टस इतने संक्षिप्त, सारी न्यूज एनालिसिस गायब। जरा जरा सी खबरों में, वही दो चार वाक्य पढ़ने के बाद, शुभांगी ने विकिपीडिया पर क्लिक किया था। क्लिक करते हुए उसे अपने विभाग की उन प्राध्यापिका की बात याद आई थी, जिन्होंने भयानक युद्ध के माहौल में, लिफ्ट के पास खड़े होकर कहा था, 'आई रिमेम्बर व्हाट आई क्लिक्ड ऑन, ऐसी ऐसी घटनाओं की खबरें आ रही थीं कि विश्वास करना मुश्किल था, दिल दहल रहे थे, लोगों के इर्द गिर्द हर कुछ का तापमान बढ़ रहा था, एक साथ इतनी वारदातें!

उन प्राध्यापिका के कहने का मतलब कि किन न्यूज आइटम्स को क्लिक करके पढ़ने का वक्त निकाला, ये गौरतलब है। पर यही नहीं था केवल उनके कहने का मतलब। लोग इस तरह एक भयानक इलेक्ट्रानिक सर्वेलेंस की बात किया करते थे। यह इतिहास की उच्च शिक्षा का केंद्र था, एक विश्वविख्यात यूनिवर्सिटी में इतिहास का विभाग। शुभांगी ने यहाँ पीएचडी की पढ़ाई के लिए दाखिला लिया था। एक बहुत कठिन समय में, एक बहुत दारुण तलाक से गुजरने के बाद। एक ऐसा तलाक जो पूर्णतः कृत्रिम था, करवाया हुआ। ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करते हैं कि लोग आत्महत्या कर लें। अभी अभी ही एक बहुत प्यारी सहेली की आत्महत्या की खबर उसे मिली थी। उस सहेली ने उसे तलाक से लौटने के बाद फोन किया था, अपने और उसके पति की निंदा करते। आखिर कौन थे ये लोग? उसका तलाक केवल तलाक नहीं था, उसके विदेशी घर में न लौटने देने का आदेश था। पर किसका? न लौटने देने का समूचा इंतजाम। विनाश का प्रबंध। जाने किसका? सबकुछ मटियामेट कर दुबारा शुरू करने का विकल्प शेष केवल।

केवल वही एक रास्ता। चलना जिसपर हो बेहद कठिन। आगे की पढ़ाई बहुत मुश्किल। घर जैसे कांच का बना हो, ऐसे तोड़ दिया गया, जिन्दगी जैसे कांच की बनी हो ऐसे बिखेर दी गई। और अब चुभते हों केवल काँच के टुकड़े। रात दिन। शुक्रवार की शाम का सन्नाटा। शुक्रवार की शाम का अकेलापन। आक्रोश किताबों की लिखाई में उतरने नहीं देता।

तहकीकात करने वाले प्लेन का ब्लैक बॉक्स ढूँढ रहे थे ताकि क्रैश के पहले के आखिरी घंटों और मिनटों का पता किया जा सके। उसे शक था कि ये हादसा भी किसी लड़ाई का हिस्सा था। बिल्कुल जासूसी निगरानी के साथ वह यह खबर पढ़ रही थी। लैपटॉप की हर हरकत खुफिया लग रही थी। स्क्रॉल डाउन की इस आखिरी क्लिक के आधे सेकंड बाद फोन बजा था। उसकी आशंका ठीक थी। माँ का ही फोन था। 'हैलो?' उसकी आवाज दूसरी दुनिया से ही आ रही थी। दुनिया में पहली और तीसरी दुनिया की चर्चा तो बहुत थी, लेकिन दूसरी दुनिया की कम। ''तुम्हारी पढ़ाई कैसी चल रही है?'' इतनी कड़क आवाज उनकी महीनों बाद सुनी।

उसके दोनों शक सही थे। उसका फोन और कंप्यूटर दोनों हैक्ड था। यह तो वह कुछ वक्त से जानती थी। लेकिन घरवालों के द्वारा भी हैक्ड था, इसके प्रमाण अब मिल रहे थे। ठोस प्रमाण। किसे चाहिए थे ये प्रमाण? जैसे एक्स रे, कैट स्कैन के बाद ये प्रमाण कि हाँ है ये बीमारी आपको! जैसे जासूस नियुक्त करने के बाद ये पता चलना कि आपका पति आपके दफ्तर की राजनीति में किस तरह उलझा है! किसे चाहिए ये प्रमाण? कितना अच्छा हो कि ये सारे शक गलत साबित हों! कितना दर्द होता है। घरवाले भी हैकिंग में शामिल हैं। बल्कि घर वालों की भी हैकिंग है, और घर वाले भी हैकिंग में शामिल हैं, दोनों दो बातें हैं।

एक दूसरे की पूरक। एक दूसरे को और खतरनाक बनाती हुईं। और किसकी हैकिंग थी, ये जाने बिना जीना मुश्किल था। घरवालों की भी कैसे हैकिंग थी, ये जाने बिना ा मुश्किल था। वह पूरी तरह जासूसी की अंदरूनी दुनिया में खिंचती जा रही थी, किताबें दूर होती जा रही थीं।

उसका दूसरा शक भी सही था। उसके क्लास से बातें बाहर बिखेरी जा रही थीं। क्लास में केवल पढ़ाई होनी चाहिए, लेकिन भयानक राजनीति खेली जा रही थी। युद्ध की रणनीति की क्लास पढ़ाने वाले जर्मन प्रोफेसर, कुछ अजब अधूरे वाक्यों में उसकी कुछ कहानियों के नायकों के नाम ले रहे थे। नस्लवाद संबंधी कुछ फिकरे कसने के बाद, वह अपनी माँ का भी हवाला देते हुए सिद्धांत बघार रहे थे, ''माई 81 इयर्स ओल्ड मदर'', वाक्य यहीं तक सुना था शुभांगी ने, और अपनी मर्जी से पूरा कर लिया था, ''ऑफटेन गिव्स मी अ जर्मन इनसाइट आई सीम टू लैक!''

ये उसका दूसरा ब्लैक आउट था। क्लास में पहला। ये जर्मन प्रोफेसर क्लास के पहले दिन से ही सवाल पूछने को कुछ इस तरह प्रेरित कर रहे थे जैसे उन्हें मालूम हो कि पिछली यूनिवर्सिटी में, पिछले देश में बल्कि, एक दूसरे जर्मन प्रोफेसर से ही यह सवाल पूछने पर कि वह क्यों और कैसे उसका पीछा कर रहे थे, उसे जेल हो गयी थी। या फिर ये सबकुछ बिल्कुल ही न मालूम हो। एक तीसरी स्थिति होती है, जिसमें आप जानकर अनजान बनते हैं। और एक चौथी स्थिति होती है जिसमें आप सब जानते हैं, दिखाते हैं कि न कुछ जानते, न बूझते हैं, और खूब चिकोटियां काटते हैं। 'इफ यू डोंट गो फर्स्ट, यू विल लूज' कुछ भी नहीं है मौलिक सोच जैसा, हर बात पूछ ली जानी है, पूछनी है कुछ इस तरह कि मेरे हिस्से के न्याय का क्या हुआ? इसलिए पहले पूछो, अव्वल पूछो, उम्दा पूछो हर बात को केवल सवाल बना देना, हर बैठक को इतना बोझिल, उसे लगता था बड़ी खराब राजनीति थी।

लेकिन उस रोज उन्होंने हद कर दी। सवाल ही पूछने को कह रहे थे वह फिर से, लेकिन दबाव कुछ इस तरह कि लगे ही नहीं कि हम एक पढ़े लिखे माहौल में हैं। दरअसल, वो शायद कुछ शुभांगी की ओर से ही बोल रहे थे, बाहर की खबरों और घटनाओं को भीतर लाते, शुभांगी के हाल बताते, भीतर की भी कुछ अंदरूनी बातें साफ करते, 'पीपुल हू स्पीक फ्रेंच, एंड द ग्रेट वाल', कहकर वो उसकी बगल की कुर्सी पर बैठे, लेकिन कहते हुए उन्होंने अपनी नाक की वह मुद्रा बनाई, जो बेहद वीभत्स थी और पिछली यूनिवर्सिटी से चली आ रही थी। नाक को यों फैलाकर और फुलाकर बातें, या बातों से तालमेल बिठाकर नाक फुलाना, फैलाना। इसकी शुरुआत उस एक शिक्षिका ने की थी, जो बाकायदा वाशरूम तक में उसका पीछा कर रही थीं। फिर उनकी देखा देखी लड़कियाँ, सहपाठी सभी, बोलते में नाक की वह हरकत करने लगे थे, कभी कभी बहुत हल्की, जो बहुत खिझाती। इसकी नकल में चीनी और चिंकी लड़कियाँ, आँखें झपकाकर बातें करती।

मिला जुला कर स्थिति खिजाए वाली और दारुण थी। लेकिन फिलहाल जो लोग फ्रेंच बोलते थे और उसके साथ 'द ग्रेट वाल', दोनों ही बातों के कुछ खास माने थे उसके लिए। फ्रेंच हिस्ट्री के एक अमेरिकन प्रोफेसर के साथ प्रेम सम्बन्ध थे उसके। विवाहेतर प्रेम सम्बन्ध। शायद अपने से 30 या 35 साल बड़े अपने शिक्षक के साथ। बहुत विवादास्पद हो गया था यह संबंध। पहले ही दिन से लोग उसके इर्द गिर्द तितली की तरह मँडराने लगे थे, बन्दूकधारी सिपाही की तरह, बल्कि प्राइवेट मिलिशिया की मानिंद। किसी ऐसे नैतिक शहरी की तरह, जिसे नैतिकता का सारा कॉन्ट्रैक्ट मिल गया हो। तंग आ गयी थी वह लोगों की इस माफिया सरीखी पोलिसगिरी से। दुष्टों की पहरेदारी से। पहरेदारी क्या, एक अजब किस्म की शैतानी से। उसकी हमवतन शिक्षिका, अक्सर उसे स्टूडेंट यूनियन की बिल्डिंग में दिख जातीं, ठीक उसके चार कदम आगे चलतीं। कहने को वह उसका पीछा कर रही थीं, पर चल रहीं थीं आगे ताकि पीछा साफ नजर आए। गाड़ी चलाने की भाषा में जिसे टेल गेटिंग कहते हैं और जिसे देखने बूझने में उन शीशों का बहुत बड़ा हाथ होता है, जो रियर व्यू मिरर्स हैं, दोनों का एक बड़ा चालाक प्रयोग करतीं।

पैदल की टेल गेटिंग में सेल फोन का बहुत बड़ा हाथ लगता था। लेकिन फिलहाल, इस इतनी दूर के दूसरे देश के, क्लासरूम में बैठे शीशा उसके आगे कुछ इस तरह आ रहा था, और वह भी हॉस्टल के उसके कमरे का चौकोर, लंबोतरा शीशा, जैसे कोई नटखट, नन्हा जादूगर, उसके तैयार होने के बीच के उसके प्रतिबिम्ब लगातार दफ्तर में आगे करता रहे!

जादूगरों से बातें इन दिनों फितरत हो गयी थी उसकी। पागलपन नहीं, अकेलापन बहुत। कुछ अपना ओढ़ा हुआ भी, कुछ लादा गया, ऐसी विरक्ति हो रही थी दुनिया से, कि लोग साथ के लायक नहीं। उन हमवतन प्राध्यापिका से इतर, एक जर्मन प्रोफेसर के कैंपस से बाहर, सिनेमा हॉल तक पीछा करने पर और उनकी छात्र छात्राओं के भयानक प्रहार करने पर, जब उनसे सवाल किया कि ये पीछा आखिर कैसे और क्यों है, तो पुलिस, यानि कैंपस पुलिस, उसके थाने, यहाँ तक कि जेल का भी चक्कर लगवा देने के बाद, उसे देश निकाला मिला था।

और यहाँ आते ही, कक्षा में जाते ही, यह कटाक्ष कि करो सवाल तुम, करो अब सवाल तुम! और कक्षा में आने से पहले शहर भर का बवाल। जूते की दुकान में लोगों के गोल चक्कर, बस स्टॉप पर उसके बिल्कुल नए नवेले, अब छूटे, छुड़वाए, घर में जिस बढ़ई ने बाद में बनाया था एक आइलैंड, उससे मिलता एक चेहरा! हजार मिलते चेहरे देखे, हजार मिलते चेहरों की राजनीति देखी, पर उस जैसा तो किसी ने नहीं बेधा।

समूची जिन्दगी बिंध गयी थी. घर तोड़ने के बाद कैसे लगते हैं पुराने दिनों से मिलते चेहरे? जिन्होंने घर बनाया था, उससे मिलते चेहरे को अब, घर तोड़कर, आपके सामने, आपकी बगल में ला खड़े करने का क्या मतलब?

वह एक दोस्त के साथ थी, जब लगा, माँ का फोन जानते बूझते आया था। इत्तफाक हो सकता था. पर नहीं। इससे पहले केवल दो बार माँ का फोन जानते बूझते आया था। इत्तफाक हो सकता था? पर नहीं। इससे पहले केवल दो बार माँ का फोन आया था। उस पहले वाले घर में। उसके छोड़ने से पहले। वह मना कर रही थीं, मत छोड़ो। उनकी वह आवाज याद है. उसने बहुत ठंडी आवाज में जवाब दिया था, ठंडी से ज्यादा संयत। उसे पूरा विश्वास था सबकुछ उसके काबू में होगा।

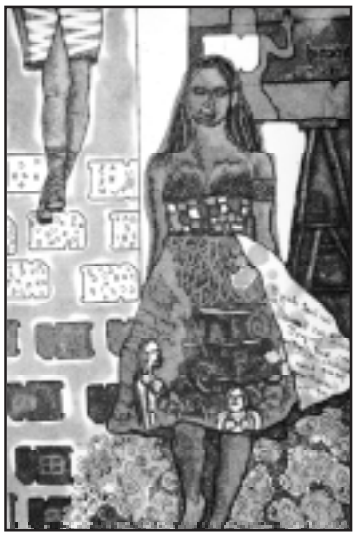

चित्रकार : भूपेन्द्र कुमार अस्थाना

और घर काँच के बंदनवार की तरह तोड़ दिया गया था। माँ ने अपने बिलख-बिलख कर रोने की बात कही थी, बिल्कुल भरभराती हुई आवाज में। उसे लगा था वह सब सँभाल लेगी। बेहतर होगी तबसे स्थिति। आजाद आकाश होगा, प्रेम से भरा हुआ उन्मुक्त, स्वछंद। हाथ आई थी हिरासत, अधिकारों की चोरी, जो कुछ भी बचा था, सब कुछ की छीन झपट, नोच खसोट। माँ की आवाज का टूटना, उसके भीतर टूटता रहा था, कभी बादल, कभी बिजली, कभी पहाड़ बनकर।

वह इस दोस्त के बारे में माँ को बताना चाहती थी। लेकिन सबकुछ जल्दी ही खत्म हो गया था, तत्काल, तत्क्षण। और फिर खत्म ही होता रहा था सबकुछ। एक के बाद दूसरा रिश्ता टूटता रहा था, फोन पर की दो चार बातों के बाद, शुभांगी ही तोड़ती रही थी। दरअसल, जुड़ने से पहले ही खत्म होती रही थीं सारी बातें। शुभांगी को किसी मल्टी नेशनल कम्पनी के कॉल सेंटर में दाखिल होने का अनुभव हो रहा था, कुछ इस तरह कि जो सबसे महँगी चीज खरीदी जिंदगी में, उसे घर लाते ही मरम्मत की जरुरत पड़ गई!

उसे याद आया कि किस तरह प्रस्ताव ठुकराए जाते थे लड़कियों के। कैसे सवाल किए जा रहे थे उससे भी! नामुमकिन कर दें जो आगे बातें। बड़ी खराब जगह थी, ये मैरिज मार्केट। कुछ भी रूमानी नहीं। मीठा तक नहीं। उसे याद आया कि किस तरह वसंत, या बारिश या मौसमों के परे की किसी रंगीन हवा, किसी पागल धुन की तरह, आये थे वो शुरूआती लड़के! एक क्रश जिसका इजहार नहीं हुआ, अरे यार! कई क्रश जिसका इजहार नहीं हुआ, कई जिसके इजहार की इच्छा नहीं हुई। मौसम, फितरत, रंग भाषा, जबान, सबकुछ बनकर आया था वह वक्त, वह केवल उम्र थी। वह उम्र थी केवल। एक पूरा प्यार जिया था उसने, कितना गहरा प्यार जिया था उसने, इतना गहरा कि फिलहाल उसके रिक्त स्थान को यूँ ही भर लेना, किसी मिलती जुलती शक्ल, फितरत, आदत के व्यक्ति से संभव नहीं जान पड़ता था। दुनिया बियाबान लगती थी, रेगिस्तान लगती थी। बिलकुल फांके के दिन थे। हर किस्म का फाँका, हर किस्म की किल्लत। वह सबूत के साथ कह सकती थी कि बाकी लोगों की तरह माँ की भी उस पर नजर थी।

यकीनन थी। जब पहले दिन उसका फोन आया था, वह चाय बागानों पर एक पेपर टाइप कर रही थी। बहुत सी बातें थीं, चाय की पत्ती पर, चाय का इतिहास था, शराब विरोधी और फिलहाल ड्रग्स विरोधी। 'एक्टिव एजेंट ऑफ द वेजिटेबल किंगडम', वह टाइप कर रही थी, एकदम एंटर की गति से, उसकी खटाक आवाज के साथ, ये बात दिमाग में प्रवेश कर गयी थी कि हैकिंग है यह। उसे जैसे वो पन्ना हाथ से छुआ हुआ याद है। मानो कागज का पन्ना। उसके बाद कई फोन्स आये, सारे हैकिंग के मद्देनजर, उसके अंतर्गत। और फिर खुलेआम सड़क चलते, लोगों द्वारा नजर के तहत। अब आखिर में उन्होंने उस दिन सड़क पार करते फोन किया था। बिलकुल हार चुकी थी, जिन्दगी का दांव वह, यह समूची बिसात। छोड़ देनी थी यह दुनिया उसे, उसकी नहीं होनी थी. यह पहले लोगों की पहली दुनिया!

बन्दूक की नोक पर सवाल उसने नहीं किया था। छीन ली गयी थी पढ़ाई उससे, अरब दुनिया के अत्याचार की तरह नहीं, पहली दुनिया के अत्याचार की तरह, जहाँ अधिकारों की पूरी पेटी चोरी हो जाती है और चोर की उंगलियों के निशान तक नहीं मिलते। उसकी उम्र, इस तरह छीन ली गयी थी उससे जैसे कोई संदूक में पड़ा सामान उठा ले जाए। उसके अधिकारों और उसकी आवाज की चोरी के दरम्यान, नजरबंदी वाले फोन बढ़ गए थे। बात कंप्यूटर से निकलकर टेलीविजन तक पहुंच गयी थी।

महीनों बाद, वाकई डूबकर, मन से एक फिल्म देखते उनका फोन आया। 'बोलो', उन्होंने कहा। पल भर को विश्वास नहीं हुआ। क्यों नहीं कहा, कि फोन मैंने नहीं तुमने किया है। तुम बोलो। मैं एक फिल्म के बीच में हूँ, जिसका विज्ञापन कई दिनों से टीवी पर देख रही थी, और कई दिनों से तय किया था कि ये फिल्म देखूँगी। यूनिवर्सिटी से निकलने के बाद, (परीक्षा में फेल होने के बाद) मेरी पहली फिल्म है। फिल्म पारिवारिक हिंसा समेत, बड़ी संस्थाओं की राजनीति, कुरीतियों और बलात्कारी भ्रष्टाचार पर थी।

उसके सारे पारिवारिक झगड़े फोन पर चुपचाप सुलग रहे थे। टीवी के परदे पर फिल्म का गहरा और पेंचीदा बलात्कारी दृश्य और उसके तत्पश्चात का बदला निकला जा रहा था। कभी, कभी तुरत लिया गया बदला, कानूनन सजा दिलाने से ज्यादा कारगर होता है। कम से कम फिल्मों में। कानून की राह बेहद लम्बी दिखाई देती है। वह पूर्णतः विश्राम की मुद्रा में थी, या यों कहें कि सुशुप्तावस्था में थी। कुछ, कुछ पेनकिलर लिए हुए सा, और फोन की बागडोर उसने संभाल ली थी, यहाँ वहां की छिटपुट खबरें सुनाकर। जल्दी जल्दी बोलती गयी थी, ढेर सारी बातें। लगता था बेमतलब ही होता था फोन पर इतना कुछ कहना। आशंकाओं में जीते हुए। वाकई बहुत कुछ खुद को पता नहीं होता था। अजीब होती है प्रियजनों की राजनीति।

फोन की कंप्यूटर पर वापसी उतनी ही आक्रामक होती, जितनी आकस्मिक। आक्रोश का बम अक्सर सुबह सवेरे आँखें खोलते, नींद के पूरा टूटने से भी पहले फूटता था। आक्रोश, गहन, सघन आक्रोश, मारक, पीड़क, हारक आक्रोश। भयानक अकेलेपन के दिन थे।

किताबों का जरा भी साथ पाने के लिए, उसे सरकारी कागज का वह टुकड़ा चाहिए था, जिसपर रहने की अनुमति बकाया नहीं, मिल गयी लिखा हो। उन्होंने उसके इंटरव्यू की चिट्ठी गोल कर दी थी, गायब, वह दिन छू मंतर, चिट्ठी देर से मिली। अब क्या, अफसोस, दुबारा सब, दूसरी शुरुआत। एक अजीब सा सन्नाटा, ठंडी हवा की सनसनाहट सा, जो चील और गिद्ध की सी आवाज में बोलता है।

चिट्ठी न मिलने की पूर्व संध्या पर, माँ ने पूछा था तुम्हारा काम कैसा चल रहा है? अप्रत्याशित रूप से कठोर आवाज जैसे बनायी गयी हो। चिट्ठी न मिलने की पूर्व संध्या पर, वह जर्मन लड़का, जो कभी प्रेमी था, अपना लेटर बॉक्स खोलकर चिट्ठी तलाश रहा था। उसके जवाब में उसका ध्यान चिट्ठी तलाशने से दूर केवल अपनी पढ़ाई पर केंद्रित हो गया था। मुमकिन है, अगर वह चिट्ठी न तलाश रहा होता, ठीक उसके गुजरते वक्त, एक ऐसी मुद्रा में जो पहचानी थी, तो वह रूककर, स्वभावतः लेटर बॉक्स चेक करती। लेकिन सवाल तो लेटर बॉक्स चेक करने का था ही नहीं। उसे तो कमरा बदलना था। बदला, बड़े जतन से कमरा बदला। कष्टपूर्वक। बड़े आधुनिक किस्म के लॉक थे दरवाजों में। बंद होने पर आटोमेटिक लॉक जैसी खचाक आवाज होती थी। उसे बड़ी सावधानी से चौखट से भेड़ कर, चाभी जेब में रखे, रात भर में गलत समय का प्रयोग करते,

क्वाइट आवर्स के दौरान कमरा बदला। मुमकिन है, इसी से नहीं दी हो वो चिट्ठी! उसे उस बीती तारीख को देखकर दिल का वो टूटना याद है।

जिन्दगी कागज के पन्ने पर नहीं जी जाती! कागज का पन्ना सबसे अजीज था, जिन्दगी बसती थी, उस पर लिखे में, लेकिन बेघर, लगभग बेघर होने पर, कोई मतलब नहीं था कागजों का, सिवाय उन्हें टेबल क्लॉथ की तरह बिछाकर, उन पर थाली धर कर खाने के। पत्ते के पत्तल पर खाने का ख्याल आता, जिसपर खाना कितना सुखद होता। कितना कौशल चाहिए पत्ते का दोना बनाने के लिए, लकड़ी की सींक, सिलने के सुई धागा से इतर। उसे बेलपत्र पर खाए बचपन के सारे भोज याद हो आये। अभी कल ही किसी ने पूछा था, ''आप कहाँ से हैं?'' एक ऐसी सभ्यता से जहाँ उत्सव केवल शादियों पर होते थे, उसकी कहने की इच्छा हुई थी, बल्कि यहाँ तक कि कागज की प्लेट और जन्मदिन दोनों बाद की उपज है। जन्मोत्सव यानि जन्म का उत्सव. जिन्दगी को बसाने और बसाए रखने की कला। लेकिन आज पता नहीं यह पश्चिमी प्रभाव था या अपने ही समाज की भीतरी उपज, बसाए रखने से ज्यादा, बचाए रखने पर जोर था। घर तोड़ने वालों की न केवल संख्या बढ़ रही थी, उनके तरीके भी बहुरंगी, बहुविध हो रहे थे।

बचाना एक साथ सिद्धांत और कला दोनों हो रहे थे। वह चुक गयी थी, निशाना चूक गया था। वह थक गयी थी। अब ये जो किसी सम्बन्धी की सहायता से, उसकी अपनी माँ के हैक्ड फोन कॉल्स आ रहे थे, वो उसकी बची हुई जिन्दगी का एक ऐसा पता दे रहे थे, कि हिम्मत टूट रही थी। ये जो उसके बचे हुए अपने लोग थे, उनकी जिंदगियों में उसकी जिन्दगी का कुछ भी नहीं था. उसकी जिन्दगी कहाँ थी, क्या कहीं नहीं थी?

दो दिन बाद, जब बीते इंटरव्यू की चिट्ठी देखी तो सन्न रह गयी। किसको हक था एक भूतपूर्व प्रेमी से ये बतवाने का कि उसकी चिट्ठी आई है? अगर नाहक फिर उसके कमरा बदलने से पहले, उसने लेटर बॉक्स का पचड़ा न किया होता, तो वह जरूर गुजरते में अपनी चिट्ठी देख चुकी होती। या शायद देख चुकी होती। पर अब ये चिट्ठी न देकर, दुबारे का काम करवाना दरअसल, तीसरी बार का तोड़कर जोड़ना था, और सुर्खी, चूना, गिलावा, बालू, गिट्टी सीमेंट से भी लाख जोड़ने पर जुड़ नहीं पा रही थी, वह इस बार के काम से। कुछ नहीं, कुछ भी नहीं का एक बहुत बड़ा प्रदेश, तेजी से दौड़ता हुआ, उसकी ओर चला आ रहा था। ▫

पता : 204, प्रकृति अपार्टमेन्ट, सेक्टर 6, प्लाट न. 26, द्वारका नई दिल्ली-75
मो. : 09430052028

(पृष्ठ 130 का शेष)

तैयार नहीं थे। पुलिस तक मामला जाते ही सारे रिश्तेदारों में बात फैल जाती। रागिनी समझती थी कि इसका असर रोली की जिंदगी पर भी पड़ेगा और एक और खतरा जो उसे सताने लगा था, हल्के, हल्के। हिमानी ने सुबकते हुए बोल ही दिया था-रोली ने ये क्या किया. ..पूरे फेसबुक पर भागने के लिए उसे ये मुसलमान लड़का ही मिला था. ..क्या होगा...भगवान जाने..''

रागिनी जानती थी कि कल रोली नहीं मिलती है तो बवाल तय है। उसके जैसी संतुलित स्त्री भी एक पल के लिए कंपकंपा गई। कुछ भी हो, उसे जी जान लगा कर रोली को खोजना ही होगां आधी रात को मदद के लिए किसे पुकारे। इस रात की सुबह जरूरी थी।

और रागिनी को जैसे डूबते को तिनके का सहारा मिलता है वैसे ही सुभाष चोपड़ा की याद आई। ऊंची पहुंच वाला दोस्त। आधी रात को फोन करना उचित नहीं लगा लेकिन मुसीबत में पड़ा इनसान करे तो क्या करे। रागिनी ने फोन मिला दिया। कई बार रिंग जाने कि बाद उधर से किसी ने फोन उठा ही लिया।

लंबी बात हुई। सबने देखा, रागिनी का चेहरा खिल उठा था। जैसे केस सॉल्व कर लिया हो। अब सबको सुबह का इंतजार करना था। नोएडा के ग्रेट इंडिया मॉल के बाहर रोजमर्रा की चहल-पहल शुरू हो चुकी थी। 11 बजे मॉल खुल जाता है। सुबह सुबह वहां की हवा में सनसनी फैली हुई थी। सुभाष चोपड़ा और रागिनी, बैक साइड एक्जीट गेट के पास खड़े थे। अधछिपे से। मेन गेट के पास हिमानी और रौशन बेचैनी से टहल रहे थे। रात भर की जागी आंखें लाल हो रही थीं। कॉलेज स्कूल के स्टुडेंट आने शुरु हो गए थे। सस्ती टिकट पर सिनेमा देखने का चस्का उन्हें वीक डेज में मल्टीप्लेक्स में ले आता है। सुभाष चोपड़ा की निगाह हर आने जाने वाले पर जमी थी। उन्होंने रोली और शोएब की तस्वीर दिमाग में बिठा ली थी। इनके साथ दो लोग और थे जो लगातार मोबाइल पर कुछ निर्देश ले रहे थे। गेट का गार्ड शायद भरोसे में ले लिया गया था। वह भी इस चहल पहल को नजरअंदाज कर अपने काम में जुटा था। अचानक सुभाष चोपड़ा का मोबाइल बजा। रागिनी और सुभाष झपटते हुए अंदर भागे। सितंबर की हल्की ठंड में चेहरा, माथा, ढके एक दुबली पतली लड़की, एक मंझोले कद के लड़के के साथ चुपचाप कब अंदर दाखिल हो गई थी, किसी ने देखा नहीं था।

रागिनी ने लड़की को दबोच लिया और सुभाष के साथ के दो लोग उस लड़के को अपनी गिरफ्त में लेकर वहां से दूर चले गए। सब कुछ इतना आनन फानन में हुआ कि आते जाते लोगों को कुछ समझ में नहीं आया। रोली मिल गई थी। शोएब का मोबाइल सुभाष चोपड़ा के कब्जे में था। शोएब का सुबह सुबह मोबाइल ऑन करना ही उसे भारी पड़ा था।

रोली की कलाई भिंचे हुए हिमानी को बस एक ही चिंता खाए जा रही थी आखिर लड़की रात को कहां रह कर आई? कुछ किया तो नहीं? रौशन लगातार शोएब को गालियां बकता जा रहा था...''छोडूंगा नहीं साले को...उसके पूरे खानदान को अंदर करवाऊंगा..याद रखेगा कमीना... ।''

हिमानी ने रागिनी से कहा...'पहले डाक्टर के पास चल।''

रोली ने रागिनी मौसी को देखा, वह ड्राइव कर रही थीं। चेहरे पर आंधी तूफान के चिन्ह मौजूद थे और पेशानी पर चिंता की लंबी लकीरें, दूर तक खींची हुई। बदहवास रोली ने मां को देखा, उसे लगा मां की आंखें एक्सरे मशीन में बदल चुकी हैं। ▫

पता : डी-1142 गौर ग्रीन ऐवन्यू, अभय खण्ड-2, इंदिरापुरम
गाजियाबाद-201301
मो. : 09818246059, 08860080245

कोखघर

n कविता

दिल्ली की शामें बहुत धुंधली और संवलाई-सी होती हैं। कस्बे और गांवों की शामों जैसी धुली-धुली और रक्तिम नीलाभ तो बिल्कुल भी नहीं। डीजल, पेट्रोल की गंध और पास के कई कारखाने उसका मन ऊबकाई से भर जाता है। यहाँ वह ऊबकर अपने कमरे से छत तक जाती है फिर लौट आती है। फिजां में भरी कसैली-बनैली गंध उसे उबकाई से भर देती है...गुड़िया के समय भी तो बिल्कुल ऐसे ही. ..पर बहुत कुछ था... ऐसा जो गुड़िया के समय जैसा नहीं था...

तब गांव से आई उसकी सास उसका बहुत ख्याल रखती। उसके बदलते हुये मूड, उसके खान-पान और स्वाद का भी। इसी तरह जब उस वक्त भी जी घबड़ाने लगता तो सुदीप उसके पास आकर बैठ जाते। ढेरों बातें करते, उसका सिर सहलाते। उसकी बेचैनी जैसे बर्फ-डली सी पिघलने लगती उनके आत्मीय स्पर्श से, थपथपाहट से। कभी-कभी ऐसे में ही उसकी आंखें लग जातीं तो सुदीप उसके सिर के नीचे तकिया लगाकर और देह पर चादर उढ़ाकर बैठे रहते उसके पास ही...

वहाँ... वह शाम को छत से कपड़े उतारते-उतारते दो पल को ही सही ठिठकती जरूर थी। लगता था जैसे सारी थकान घुली जा रही हो उस एक पल में। सुरमई उजास में खुद को क्षण भर को भी नहाने देना उसे अच्छा लगता था। पर घर की जिम्मेदारियां बेबस-सी खींचतीं, धकेलती नीचे जीने की तरफ जहां नीचे चूल्हा-चौका, उसकी नन्ही सी गुड़िया और कमोवेश खाली से कनस्तर उसकी राह तकते होते।

उसे कस्बे की साफ-सुथरी हवा बहुत याद आती है जिसमें हर मौसम के गंध घुले रहते, खुश्बू पास के घर में पकती चीजों की, सपन दादा के मौसमी और सदाबहार फूलों की, ननकू हलवाई के यहां बनते मिष्ठानों-पकवानों की। उसकी नासिका उन्हीं पहचाने हुये गंधों की तलाश में भटकती फिरती है। ताजी हवा के उसी स्पन्दन और उल्लास की खातिर तरसती। अब ऐसे में तो और भी ज्यादा जब उसकी इंद्रियां ज्यादा संवेदी हो चुकी है, खासकर के उसकी नाक तो और भी ज्यादा...

गुड़िया के होने के वक्त सुदीप उसे संभाले रहते, समझाते रहते. पर फिर भी सबकुछ आसान न होता। पर अब तो आदत सी होती जा रही है...चुपचाप वह सुईयां लगवाती है। कई बार जब गुड़िया आसपास होती है, पूछती है 'मम्मी बहुत दुखी क्या?' वह 'नहीं' कहते हुये अपनी आंखें हौले से पोंछ लेती है। सोचती है मन ही मन, जब सिर ओखल में डाला तो... और सचमुच गुड़िया के चेहरे को देखकर ही सहती है यह सब सहती हैं चुपचाप...भीतरी जांचवाला अल्ट्रासाउंड, पैप स्मीयर, स्थानांतरण के लिये कैथेटर का भीतर डाला जाना और फिर गर्भ-आरोपण की प्रक्रिया। हालांकि उसे बताया गया था पहले भी सबकुछ...बेचैनी, त्वचा की लाली, जलन और दाने, अत्यधिक स्राव...

पर अचानक उग आये दानों और त्वचा की जलन से वह घबड़ा उठी थी। तभी उसने डॉक्टर दी यानी नैना दी को फोन किया था और वो हंस दी थीं। उनकी हंसी ही उसकी आधी पीड़ा हर लेने में सक्षम होती है।' तुम्हें कहा तो था... घबड़ाने की कोई बात नहीं। ठीक हो जायेगा सब जल्दी। दवा बता रही हूं...'

डॉक्टर दी कहती हैं, यह सब नेचुरल है। 'आई-वी-एफ'- '(इनवीटो फर्टिलाइजेशन), 'में ऐसी मुश्किलें आती रहती हैं। एस्ट्रोजेन और प्रोजेस्टोरॉन के कारण कई तरह के हल्के-फुल्के साईड्स-इफेक्ट्स हो सकते हैं।'

'एस्ट्रोजेन' लेने में बिल्कुल भी नहीं घबड़ाई थी वह। बस उसे किसी बाम की तरह पेट के निचले हिस्से में लगाना भर तो था। पर, प्रोजेस्टोरॉन का डोज एक इंजेक्शन की शक्ल में दिया गया था। उसे सुई से डर लगता था हमेशा से। उसने मांसपेशियों को एकदम कड़ा कर लिया था, नर्स के यह कहते रहने के बावजूद कि शरीर को ढीला छोड़ो।

सूडॉन, एस्पीरिन, मेड्रॉल, ट्रेट्रासाइक्लीन के लगातार दिये जाने वाले खुराक...कुछ के साइड इफेक्ट बिल्कुल नहीं, कुछ के थोड़े-बहुत। पर वही थोड़े-बहुत उसे परेशान कर देने को काफी होते और उनमें से भी कई इंजेक्शन...छोटे में जब एक बार पांव में कील गड़ गया था और टिट्नेस का इंजेक्शन लेना पड़ा था तो पापा और भाई सब तो गये थे साथ। तीनों ने जबरन पकड़कर किसी तरह सुई दिलवाई थी और वह बुक्का फाड़कर रो पड़ी थी, इतना कि सारे सुननेवाले घबरा उठें। फिर पापा ने उसे किसी तरह संभाला था, किसी तरह ढेर सारी चीजें दिलवाकर उसे चुप किया था। फिर उसके बाद गुड़िया के होने तक उसे कोई सुई नहीं लगी, याकि उसने कोई सुई नहीं लगवाई।

सब कुछ सचमुच तकलीफदेह था शारीरिक से भी ज्यादा कहीं मानसिक...इस तरह अपने शरीर का...पर वह आंख बंद किये सिर्फ गुड़िया के बारे में सोचती रहती...

और उस समय उसके लिये सबसे बड़ी राहत वह औरत थी, 'वह' जो उसकी भाषा बिल्कुल भी बोलती-समझती नहीं थी। पर उसकी आंखों में उसके लिये तकलीफ होती, सिर्फ हमदर्दी नहीं। उस प्रक्रिया के बाद उसने उसे गले लगा लिया था और फूट-फूटकर रोई थी।

जो कुछ भी घट रहा था उसका तर्जुमा मोटा-मोटी धन्यवाद हो सकता था, हालांकि सुलभा यह सोचती थी कि 'धन्यवाद' उसके आसपास का शब्द बिल्कुल भी नहीं था।

कैथरीन की आंखों का वह भाव उसे हर पीड़ा सह लेने की ताकत देता। गुड़िया और कैथरीन के अलावा भी कई और लोग थे उसकी जिंदगी में जो इनदिनों उसके संबल थे विडियो चैटिन्ग में जब-जब वह कैथरीन को अपने बढ़े हुये पेट का आकार दिखाती उसके आँखों की खुशी छिपाये नहीं छिपती। वह गर्व महसूस करती कि उसने कैथरीन को उन खुशियों को देने का वायदा किया है जिसका उसकी जिंदगी में सर्वथा अभाव था।

पर दूसरी तरफ थीं, अनिंदिता की बातें...अनिंदिता का भय.. अनिंदिता की चिंतायें...जो उसकी नसों में उतरकर उसके शरीर को ठंडा कर देतीं। वह जानती है, उसकी चिंताएँ और उसके सरोकार निराधार नहीं। वह जो कुछ भी कर रही है, उन्हीं की खातिर तो। वर्ना...

अनिंदिता की बड़ी-बड़ी आंखों में कांपता-उतराता भय उसे दहलाता कभी-कभी...अनिंदिता से ही सुनी-जानी थी उसने प्रमिला वाली बात। अनिंदिता हमेशा से कहती है-'भारतीय सरोगेट मांओं का जीवन खतरे में है, उन्हें संरक्षण की जरूरत है और एक नये कानून की भी। दरअसल उच्च-सफलता-दर और कम-चिकित्सा- लागत भारत में किराये के गर्भ के मुख्य आकर्षण है। इसी कारण अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, ब्रिटेन और अन्य यूरोपीय देश भारत मे सरोगेसी के लिये एजेंसियों और मांओं की तलाश में रहते हैं। सरोगेट-मातृत्व अब एक वैश्विक उद्योग है और इसे रेगुलेट करने के लिये एक वैश्विक संस्था और कानून व्यवस्था जरूरी है।'

अनिंदिता के शोध का विषय ही है 'सरोगेट- मदर', और वह चाहती है कि बाद में इस शोध को बाकायदा एक उपन्यास का रूप दे। दरअसल लेखन की तरह समाज-सेवा भी अनिंदिता का शौक है..

अनिंदिता यहाँ..इतनी आसानी से आ जा सकती है, किसी से भी अपने मन का बोल और कुछ पूछ सकती है तो सिर्फ इसलिये कि वह 'सिंह साहब' की भांजी है। उसकी मां की मौत के बाद से उन्होंने ही उसे अपने पास रखा और पाला पोसा है। अनिन्दिता की शिक्षा अमरीका में रहकर पूरी हुई है और वहां रहकर भी उसने वहाँ की बड़ी -बड़ी एजेंसियों को देखा-परखा है। इसीलिये तुलनात्मक रूप से वह इतनी बातें कर या बता सकती है।

अनिंदिता ने कहा था एक बार-'उसकी मां ने उसके पिता से प्रेम विवाह किया था। खालिस पंजाबी कुड़ी और बंगाली बाबू का प्रेम और प्रेम विवाह अनिंदिता के चेहरे में इन्हीं दो समुदायों से मिले नैन-नक्श हैं। खालिस बंगालियों से लम्बे काले बाल पंजाबियों सा गोरा, भरा-पूरा चेहरा, बंगालियों वाली बड़ेरी आंखें और पंजाबियों सा नाक का सुतवांपन। कुल मिलाकर अनिंदिता का व्यक्तित्व बहुत ही ज्यादा प्रभावशाली है और उससे भी ज्यादा प्रतिभाशाली। अनिंदिता का विद्रोही -तेवर उसके माता-पिता की देन है, खासकर उसके लेखक पिता की, जिनके साथ वह कभी रही नहीं उसकी मां की मृत्यु उसे जन्म देने के क्रम में ही हुई थी। इसीलिये गर्भावस्था से जुड़ी तमाम परेशानियां उसे परेशान करती है, झकझोरती हैं।

उसमें से भी खास करके गरीब औरतों पर ऐसी आरोपित गर्भावस्थायें। इसीलिये तो उसने अपने शोध का विषय इसे ही चुना।

मां मरीं तो मामा जगजीत उसे अपने साथ लेते आये। वे वैसे भी उनकी शादी से उतने खुश नहीं थे और फिर 'दिलजीत' के जाने के बाद 'आनंद' उस बच्ची की जिम्मेदारी उठा सकेंगे, इसका भरोसा उन्हें बिल्कुल भी नहीं था। लेखक और जिम्मेदारियां! उन्हें ये बातें बिल्कुल दो ध्रुवों की तरह लगतीं। शादी के पहले उन्होंने दिलजीत को बहुत समझाने की कोशिश की पर उसकी जिद जब उन्होंने आनंद से अनिंदिता को ले जाने की बात की तो वह बिल्कुल चुप-सा खड़ा रहा। उन्होंने उसकी चुप्पी को' हां 'मान लिया था। क्या सोच रहा था वह इसकी उन्हें क्या परवाह। क्या सचमुच दिलजीत के बगैर बच्चे को पालने के बोझ से कतरा रहा था वह क्या दिल की निशानी को अपने पास नहीं रखना चाहता था वह या फिर जगजीत और नैना का सूना -घर, सूनी -गोद और भरी-पूरी गृहस्थी उसे अनिंदिता के लिये ज्यादा सुरक्षित लगे थे...

कारण चाहे जो भी हो, अनिंदिता जगजीत और नैना के साथ ही रही। कभी-कभी पिता उससे मिलने आते या फिर छुट्टियों में कभी वह जाती उनके पास।

मामा भले ही पिता को ज्यादा पसंद न करते हों पर मामी नैना ने उसे हमेशा यह याद दिलाये रखा कि उसके पिता 'आनंद' हैं और 'आनंद' एक बेहतरीन इंसान हैं उसके पिता ने उसकी मां के मरने के बाद दूसरी शादी नहीं की। ऐसा तो तभी हो सकता है न जब कोई अपनी पत्नी से बेहद प्यार करता हो...

अनिंदिता के मन में पिता द्वारा स्वयं से अलगाये जाने के दुख को मामी नैना कोशिश करके धोती-पोंछती रहती... होगी जरूर कोई बड़ी वजह... और होगी क्या है एक वजह, बस मेरी ही खातिर...मैंने हमेशा दिलजीत और आनन्द की तरफदारी की। उनके प्यार को अंजाम तक पहुंचाने में मदद दीं। तुम्हारे मामा न मानें तो न माने। सबकुछ नहीं होता

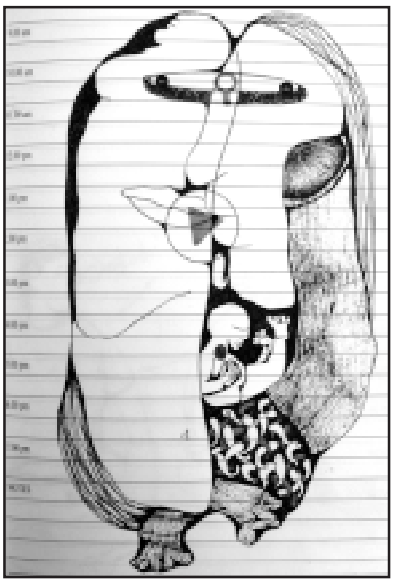

चित्रकार : भूपेन्द्र कुमार अस्थाना

रुपया-पैसा सारे सुख इसी से नहीं होते। 'दिल' को उसने हमेशा अपनी पलकों पर बिठा के रखा। उसकी ऊलजलूल जिदें भी पूरी की हमेशा उसका मुँह ही ताकते होते। और दौलत के गुमान में डूबे तेरे मामा वे कभी नहीं मानते आनंद का कोई उपकार...

उसे याद आया था, जिदों से उसका साबका पिता के घर तक ही बना रहा, पति के घर तो हमेशा वह समझदार और प्रौढ़ की भूमिका में रही...दोनों अगर भावुक हों, बच्चें हों तो जिंदगी कैसे चले?

अपने पिता के घर तक तो वह भी खासी जिद्दी थी। अब बच्चों की चाहतें भी तो बच्चों जैसी ही बचकानी। न जाने क्या अल्ल-बल्ल मांगती फिरती, जिस चीज पर मन आ गया, सो आ गया। तीन भाइयों के बाद हुई थी वह। उसकी माँ कहती तेतर बेटी राज करावे और हंसी खुशी, सुख समृद्धि की कोई कमी सचमुच उस घर में उन्होंने न होने दी घर... भर की लाड़ली छोटी बेटी। उसकी हर चाह पूरी करते उसके माता-पिता...

'प्रमीला' की मौत पर तिलमिला उठी थी अनिंदिता। वह कहती- ''एक ऐसे देश में जहां महिलाएं नार्मल चाइल्ड बर्थ में भी दम तोड़ देती हैं, वहाँ किसी सरोगेट के मरने पीआर कोई क्या रपट दर्ज करायेगा? परिवारवालों का मतलब तो मुआवजे से होता है। मुआवजा मिला कि वे तो चुप बैठ ही जाएंगे।

अनिंदिता कि बातें सुनकर उसे डर लगता है उसकी तरह प्रमीला भी तो अपने दोनों बच्चों की बेहतर जिंदगी के लिए...अगर उसे कुछ हुआ तो... उसके पीछे तो कोई परिवार भी नहीं गुड़िया फिर...

उसे अनिंदिता कि बात याद आती है-किराए के कोख के लिए किसके मन में संवेदना होगी? सबका ध्यान तो उस बच्चे में लगा होता है जिसे दुनिया में लाने के लिए इतनी मशक्कत की गई है, इतने पैसे खरचे गए हैं? यहाँ तक कि डॉक्टरों को भी...जैसे वे केवल उत्पाद पैदा करने की मशीन हों। वे जिनका सामान्य मातृत्व चक्र बाधित कर दिया जाता है। केवल एक बच्चा पैदा करने कि खातिर...जिनकी कोख में चार से भी अधिक भ्रूण आरोपित किए जाते हैं...

ये एक से ज्यादा भ्रूण अगर सरवाइव कर गए तो? तो सिजेरियन पक्का, सिजेरियन पक्का तो रिस्क भी अधिक... कभी अपने एक छोटे से घर की चाहत, कभी बच्चों की शिक्षा-दीक्षा के नाम पर तो कभी कुछ मूलभूत आवश्यकताओं और जरूरतों के नाम पर...बेचारी हमारे देश की गरीब औरतें तुम सोचो रेशमा, अभी तुम सिर्फ इक्कीस की हो। तुम्हारे पहले दो बच्चे हो चुके है और अभी पेट में जुड़वा

इतना ही नहीं तुम अपनी सुख सुविधा भरी जिंदगी के लिया ऐसे कुछ और प्रसव की योजना रखती हो...यह जानते हुए भी कि हर सिजेरियन के बाद तुम्हारा स्वास्थ्य और बिगड़ेगा...

जगजीत जानते हैं अनिंदिता' मातृत्व सदन' में क्या करती है बताने वाले मुख-आमुख कितने पर कुछ नहीं कह सकते अनिंदिता से वे अनिंदिता जो करे सब क्षम्य अनिंदिता जो करे सब सही जो है सब उसी का तो है...वो जो कुछ करते हैं सब उसी के लिए...उन्हें हमेशा उसमें 'दिल' दिखती वही लंबा गोरा चेहरा, वही भरी-पूरी कद काठी बालों का रंग अलग है बस दिल से दिल के केश हल्के भूरे-सुनहरे थे. ..। पर दिल का साथ नहीं दे सके थे वे...। कैसे समझ सकते थे वे उसकी बात? जिस दिल पर वे जान निछावर करते थे, वह एक साधारण टीचर का घर बसाये, उसके लिए चौका-बर्तन, खाना-पीना बनाए यह उनके लिए अकल्पनीय था। दिल तो उनके घर की रौनक थी, बहार थी। हँसती, मुसकाती, धूम मचाती, मस्तियाँ करती हुई...

वे असहाय हो चले थे...और अपनी असहायता में ज्यादा क्रूर और कठोर भी...चलाये उसी...ज्ञान के महान आलोक से अपनी गृहस्थी पैसा अगर सब कुछ नहीं है उसी के शब्दों में तो फिर क्यों करे वो उसी पैसे से उसकी मदद?

दिल ने कभी उनसे कोई शिकायत नहीं की...कभी उनसे कुछ नहीं कहा...पर उसका यह अहं तोड़ता रहा उन्हें...कहती कुछ क्यो नहीं वह? जो कुछ है सब उसी का तो है।

दिल की माली हालत...दिल की मेहनत...दिल का पेट से होना सब तो बताती थी नैना उन्हें पर वे जड़ बने रहते...और फिर दिल चली गई थी, इस दुनियाँ से ही वे अनिंदिता को ले आए थे। उस नन्ही दिल को...यह सोचकर की वे उसे कभी अपने से दूर नहीं जाने देंगे...

आनंद ने उनसे उनकी...दिल को छीना था...और उन्होंने आनंद से अनिंदिता...भीतर जलती आग सिराई थी...अनिंदिता दूसरी दिल... अनिंदिता का सब इसीलिए क्षम्य...बल्कि उन्हें अच्छा लगता अनिंदिता का यूं बड़े सरोकारों से जुड़ा होना। जगजीत बदल गए थे बहुत हद तक। बड़े उद्देश्यों से उनका जुड़ाव, यही तो दिल चाहती थी, दिल के जाने और अनिंदिता को पाने के बाद उन्होंने की थी 'मातृत्व सदन' की शुरुआत...अपने ही जैसे किन्हीं चमक-विहीन आंखों के लिए जगमगाहट की तलाश में। लोग भले ही कहें की 'मातृत्व सदन' उनके लिए कमाने खाने का एक जरिया भर है पर...

अगर अनिंदिता उनकी दाता-माताओं के लिए कुछ बेहतर कर जोड़ सके इसमें उन्हें क्या बुरा लगेगा सो अनिंदिता का उन औरतों, खासकर 'सुलभा' से लगाव उन्हें जरा भी नहीं सालता...वह उन्हें उनके हक के लिए ही तो सचेत करती है, और वे भी चाहते हैं उन्हें उनका हक, उनका दाय जरूर मिले...

वे कहे कि न कहें सुलभा उन्हें भी प्रिय है। उसकी सहजता स्थिरता उसका गांभीर्य उन्हें हमेशा कुछ बेहतर करने सोचने के लिए उकसाता है, इसी कारण तो उन्होंने उसे एक विदेशी दंपति के लिए दत्तक माँ के लिए चुना। वे जानते हैं। ऐसे सौदों के लिए सभी सरोगेट मायें कामनाएँ-प्रार्थनाएँ किया करती हैं, प्राप्य और भत्तो के दर में आई गुणात्मक वृद्धि उन्हें यह सोचने को उकसाती है...पर उन्हें लगा कि सुलभा को इसकी सबसे ज्यादा जरूरत है।

सुलभा के साथ उसका पति नहीं था, बच्ची थी बहुत छोटी सी। सुलभा हिन्दी के एक मासिक पत्रिका में उनके बारे में पढ़कर आई थी...उसे याद आता है वो दिन, जब उसने हिन्दी की एक पत्रिका में पड़ोसी के घर 'मातृत्व सदन' के बारे में पढ़ा था और सुदीप से उसके बारे मेन बातें भी की थी, तब तक तो गरीबी भले ही थी जीवन में पर और सबकुछ ठीक-ठीक ही चल रहा था। उसकी आंखों में आंसू आ जाते हैं जिन्हें वह पोंछती है बरबस। कितने अच्छे दिन थे वे, कितने प्यार भरे। पर हर बीते अच्छे वक्त की तरह वे भी पंख लगाकर उड़ गये थे।

वह बगल में सोई हुई गुड़िया को सीने से चिपका लेती है। भीतर कहीं पेट में भी कुछ खुदबुद है...क्या वह जो भीतर है वह भी समझ लेता है उसकी उदासी और अपने होने का, साथ होने का अहसास कराता है उसे। बताता है कि वह अकेली नहीं है कोई और भी है उसके साथ या फिर कि जब भी वह गुड़िया को इस तरह से प्यार

करती है तब वह भी उमगता है, हुलसता है कहता है प्यार करो मुझे भी। हक मांगता है बराबर का...

इसीलिये वह चाहती है कि वह उदास न हो कभी भी। पर जितना ही चाहती है उतना ही उदास होती जाती है।' उसके लिये 'और गुड़िया के लिये भी। गुड़िया को क्या पता कि जिसके इंतजार में वह यों दिन-रात बिता रही है, उस नन्हें के आते ही उसे गोद में लेने का अपना सपना पूरा नहीं कर सकेगी वो। न ही खुद वह गुड़िया की तरह कलेजे लगा सकेगी उसे। कि जब तक वह उसके भीतर जी रहा है तभी तक उनका है। वह गुड़िया को अक्सर सुनाती है अपने पेट में उठनेवाले हलचलों की आवाज। गुड़िया के चेहरे पर खुशी तैर उठती है और उसके चेहरे पर कभी मुस्कान कभी उदासी।

कभी गुड़िया की तरह लोरियां और कहानियां नहीं सुना पायेगी उसे। थोड़े दिन का ही तो है उनका साथ। अब जबकि वह अपनी उपस्थिति जतलाने लगा है, उन्हें यह भूलना होगा कि वह था भी कभी उनकी जिंदगी में...उन्हें याद रखना होगा कि वह अमानत है किसी की। वह समझती है यह, बार-बार स्वीकारना चाहती है यह सच कि उसने ही तो तय किया है...पर यह सच्चाई एक कसक की तरह उठती है, गड़ती है उसके सीने में। वह समझा भी ले खुद को तो गुड़िया को क्या कहेगी...

कोई आसान तो नहीं होता अपने कोख से जने बच्चे को किसी को यूं उठाकर दे देना; नौ महीने का जुड़ाव-लगाव। अपनी साँसों के साथ किसी के साँसों का चलना, अपनी भूख-प्यास से जुड़ी किसी और की भूख-प्यास, किसी के अपने भीतर पलने का एहसास। किसी के पल-पल आतुर होने की आहट...

बहुत मुश्किल होता है अपने रक्त-माँस से बने किसी फरिश्ते को खुद से अलगाना। यह एक परीक्षा है उसकी, उसके सोच की...और सचमुच डरती है वह आने वाले दिन की इस कल्पना से। अपनी इस अग्निपरीक्षा से। उसे खाली कोख और खाली गोद लौटना होगा। उसे पार ही करनी होगी वह हद जो कबसे स्त्रियों के लिए सुविचारित रूप से चली आ रही हैं।

लक्ष्मणरेखाएँ तो कई आई हैं उसके जीवन में पहली बार सुदीप के लिए अपने घर की देहरी को लाँघना, छोड़ आना पीछे सारे स्नेह संबंध दूसरा गुड़ियाँ और उसके भविष्य की खातिर अपने और सुदीप के बसे...बसाये घर को छोड़ना...ये सिर्फ लक्ष्मणरेखाएँ भर नहीं अग्निपरीक्षा थी उसकी...और हर बार उसने हौसले से सबकुछ सहा। तानों की, व्यंग्यों की परवाह नहीं की। बहुत-बहुत पढ़ी-लिखी लड़कियां भी कहाँ जुटा पाती हैं इतनी हिम्मत? घर-परिवार और मान-मर्यादा के नाम पर सहती रहती हैं सबकुछ। तिल-तिलकर घुटते रहने की बेबसी उनकी किस्मत, उनका स्वभाव। उसने यह साबित किया कि हिम्मत और कलेजे का संबंध सिर्फ शिक्षा से नहीं होता...

गुड़िया तो अभी बच्ची है...जब खुद को ही समझाना मुश्किल हो उठता है कभी-कभी तो उसे...। पर वह मानती है गुड़िया बड़ी होकर समझ सकेगी सबकुछ। कि उसी के लिये तो लिया है यह निर्णय, कि शायद बड़ी होने पर उसे याद भी न रहे यह सबकुछ। बच्चों की स्मृतियां ही कितनी! अभी तो सिर्फ छः की हुई है वह, उसे ही कहां याद है अपने छुटपन की कोई बात। कुछ धुंधले-धुंधले चित्र होते हैं जेहन में और वक्त के साथ उसपर भी राख की इतनी परतें कि गुड़िया को याद नहीं रहेगा यह सबकुछ, वह सोचकर थिराती है।

आसान नहीं था यह सबकुछ इतना पर जिंदगी में उसने आसान कुछ चुना ही कहां था और जो किया उसके लिये किसी और को कसूरवार क्या ठहराना? उसने खुद सोचा, खुद चुना, और फिर खुद ही झेलती रही सारे परिणाम, सारे दुख...

अब भी जो कुछ भी होगा उसके खुद का निर्णय...पर उस वक्त उस क्षण यही उचित लगा था उसे। एक रास्ता था उसके सामने। बहुत दूर कहीं एक मंजिल भी, कुछ सपने भी। गुड़िया का एक सुंदर-सा भविष्य उसकी आंखों के आगे होता और फिर फैसला लेना आसान हो गया था। पीछे थी जिल्लतें, भूख। पांच बरस की गुड़िया को स्कूल न भेज पाने की बेबसी। गुड़िया जिद करती स्कूल ड्रेस, बस्ते, कॉपी-किताबों के लिये। सुदीप उसे एक सस्ती-सी चॉकलेट पकड़ा देते और साथ में अनगिनत बड़े-बड़े सपने भी। गुड़िया ऐसे छुटके स्कूलों में नहीं जायेगी, गुड़िया ऐसे वाहियात यूनिफॉर्म थोड़े ही पहनेगी...गुड़िया का बस्ता होगा मुलायम-मुलायम कपड़े, फरों और जानवरों के चेहरेवाला। गुड़िया का टिफिन बॉक्स सबसे सुंदर। उसमें दिये जाने वाले ढेरों पकवानों के नाम. ..गुड़िया बहल जाती, मुस्कुरा देती पर उसके लिये यह सब असह्य था। एक दिन चीख पड़ी थी वह 'मत दिखाओ बच्ची को इतने सारे सपने, इतनी आशायें कि जिन्हें तुम कभी पूरा नहीं कर पाओ, जैसा कि तुमने मेरे साथ किया...जीवन के न जाने कितने रंग तुम उन दिनों मेरे मन में भरते रहे पर मिला क्या मुझे, सिवाय तकलीफ और दुखों के...

अपनी जिंदगी के अनमोल आठ बरस मैंने...इसी आस में बिताये कि अब संवर जायेगा सबकुछ...अब बदलेगा...आनेवाला वक्त हमारे जीवन में खुशियां लायेगा...पर कभी नहीं बदला वक्त। कभी कोई खुशी नहीं आई जीवन में।

जिंदगी हमेशा ही वैसे ही अनसुलगी आग की तरह धुंआती, सिराती सी पीछे जो कुछ था वह खुद छोड़ आई थी। पीछे लौटना उसकी फितरत नहीं थी सो जीती रही, सुलगती रही। सुदीप की आदत- 'कहने' और 'केवल कहते रहने' की। स्वप्नजीवी और स्वभाव से अधीर और अपने गुस्से पर नियंत्रण न रख पाने वाले सुदीप उस दिन सुनते-सहते रहे थे चुपचाप...

अब सोचती है वह तो लगता है, गलती उसमें सुदीप की भी बहुत ज्यादा नहीं थी। वह स्वभाव से ही ऐसे थे। वे सपने देख सकते थे सपनों को पूरा करने के लिये लम्बे-लम्बे प्लान बना सकते थे पर उसे क्रियान्वित करने वाली मेहनत और दूरदर्शिता उनमें नहीं थी। उसने साथ काम भी करना चाहा लेकिन सुदीप को यह पसंद नहीं था। उन्होंने सोचा तो हमेशा यही था कि उसे महारानियों की तरह रखना है, दो पैसे कभी हाथ में आये तो कल की बगैर सोचे पहले उस पर, फिर बिटिया पर और फिर बचे तो गांव-जवार पर खर्च डालना। रोज नई-नई और बेहतरीन योजनायें बनाने वाले सुदीप पैसे खर्च करने के मदों और जरूरतों के लिये कभी कोई योजना नहीं बना सके। यहीं पर, इसी बिंदु पर अलग थे वे दोनों। उसने कभी भी कल की नहीं सोची जबकि उसकी चिंता में हमेशा कल ही रहा...वह अभी भी बिछावन के नीचे से अपना पासबुक निकालकर देखती है। थोड़ी सी राहत उसके कलेजे में घूंट-घूंट उतरती है, उसकी बेचैनी को कम करती हुई। गुड़िया का भविष्य अब इतना भी असुरक्षित नहीं...वह सोचती है इस सबसे उबरने

के बाद सबसे पहले वह गुड़िया को स्कूल भेजेगी। सबसे बड़ी प्राथमिकता तो यही है...पर मन है कि फिर भी बेचैन हुआ जाता है। कहां के स्कूल में भेजेगी वह गुड़िया को...क्या सुदीप मान जायेंगे कल को...क्या बाद में वह लौट सकेगी अपने परिवार में। या फिर यहीं कहीं रुकना होगा उसे।

जब निकली थी तब भरोसा था, सुदीप मान लेंगे कल को। गुस्सा उतरेगा तो थिर चित्त से सोचेंगे, समझ सकेंगे...रोज-रोज नई-नई योजनायें बनानेवाले सुदीप उसकी एक छोटी-सी योजना को भी नहीं समझ सके थे। यह भी नहीं सोच सके थे कि यह सब किसकी खातिर उन्हें अपने पुरुषत्व का मजाक लगा था यह सबकुछ। मजाक से भी बढ़कर अपमान की बात उनके रहते हुये वह किसी दूसरे के बच्चे की मां यह सोचना भी उन्हें गंवारा नहीं था। उसके कितनी-कितनी बार कहने, समझाने के बावजूद कि इसमें ऐसा गलत क्या है कुछ' और कुछ कर सकूं कि न कर सकूं प्रकृति ने यह वरदान तो दिया ही है, स्त्री होने के नाते यह सुविधा तो है ही केवल नौ महीने की तो बात। आप साथ रहें तो कुछ भी मुश्किल नहीं रहेगा। पहले नई गृहस्थी, बाद में गुड़िया चाहकर भी कुछ कर नहीं सकी आपके लिये, आपके सपनों के लिये। वैसे भी मैं कोई गलत काम तो करने नहीं जा रही, विज्ञान ने इतनी तरक्की कर ली है कोई एक सूनी गोद भरेगी, कोई एक उदास घर नन्हीं खिलखिलाहटों से जगमगायेगा...और इसमें 'अनैतिक' जैसा भी कुछ कहां है 'पर सुदीप इस मुद्दे पर कुछ भी समझने-सुनने को तैयार नहीं होते। कभी गुस्से के आवेग से बात धुंधली हो जाती कभी उनकी ठंडी निस्पृहता से वहीं की वहीं धरी रह जाती और कभी बात बढ़ती तो इतनी बढ़ती कि मार-पीट और गाली-गलौज तक चली जाती। वह समझकर भी नहीं समझ पाती कि सुदीप इतनी दिक्कतों के बावजूद इस बात को इस तरह क्यों लेते हैं। क्या इसे उसकी देह से, संसर्ग से देखकर जोड़ते हैं वे इतने भी तो अपढ़ नहीं हैं सुदीप...विज्ञान और तकनीकियों के विकास से अंजान नहीं वे। फिर...वह कभी भी नहीं सुलझा पाई यह पहेली कि सुदीप क्यों बौखला उठते थे इस जिक्र से और आग बबूला हुये जाते थे...

और एक दिन उसके सब्र का बांध टूट पड़ा था। वह गुड़िया को साथ लेकर दिल्ली चल पड़ी थी, सुदीप के नाम एक चिट्ठी छोड़कर। कि सुदीप दो दिन से लापता थे किसी दोस्त के यहां जाने की बात कह कर। और घर में इतना कुछ भी कच्चा-पका नहीं कि एक वक्त भी भूखी गुड़िया को खिला सके। उसने अपनी मां की पहनाई हुई वह...पायल उतारी थी। बनिये को उसे देकर एक किलो आटा, थोड़ी सी चीनी, दो बिस्किट के पैकेट और कुछ पैसे लेकर चली आई थी जिससे कि वह जनरल बोगी की एक टिकट खरीद सके। वह चल दी थी पीछे एक दुनिया छोड़कर, पीछे अपना सबकुछ छोड़कर। उस क्षण उसे लगा था कि रास्ता यही है, सिर्फ यही। उसे कोई ग्लानि, कोई दुख, कोई तकलीफ नहीं हुई थी ऐसा करते हुये। पर आज मन में सुदीप के लिये तकलीफ जागती है। कौन रखता होगा उनका ख्याल, कौन बनाता होगा उनके लिये खाना, कौन साफ करता होगा उनके कपड़े...वह भूल गई थी यह सबकुछ कि अपने सपनों के टूटने के क्रम में या फिर सरोगेसी का जिक्र आते ही सुदीप कितने क्रूर हो उठते थे और अमानवीय भी।

सुलभा आज अपने शरीर के उन घावों को याद करके जगाना और सहलाना चाहती है कि सुदीप के लिये मन में पनपी बेचैनी को लेकर इस तरह परेशान न हो। पर फिर-फिर याद आती हैं यादें, और बस सुखद यादें...सुदीप का प्यार, अपनापन, वह उन्माद जिसके पीछे एक हंसती-खेलती दुनिया छोड़कर चल दी थी, उनके और उनके सपनों के साथ हो ली थी। फिर पीछे मुड़कर कभी नहीं देखा उसने, जरूरत-गैर -जरूरत कभी नहीं। सब बस एक सुदीप के संग साथ के लिये पर आज जब सुदीप को पीछे छोड़कर आ चुकी है वह मन उन्हीं के पीछे क्यों भागता है, क्यों बेचौन हो उठता है। कितनी बार उसने पड़ोसी के घर फोन करके सुदीप के लिये संदेश छोड़ा कितनी बार यहां का पता और फोन नंबर और फिर घंटों बेचैन रही। पर सुदीप की तरफ से कभी कोई पहल नहीं हुई फिर उन्हीं के लिये यह बेचैनी क्यों?

वह घबड़ाकर खिड़की पर आ खड़ी होती है। खिड़कियां यहां के बहुत कम कमरों में हैं और इस मामले में खुशकिस्मत है वह। जबकि खिड़कियों का यहां होना बहुत जरूरी था। क्रम से तंग और उससे ही सटे किचनवाले कमरों की एक लम्बी पंक्ति के अंतिम कमरे की यह खिड़की कमरों के बीच बने एक छोटे-से आंगन में खुलती थी। ठीक वहीं नीम का एक छोटा-सा पेड़। जब वह आई थी आशा दीदी जी ने उससे कहा था कि वह खाली कमरों में से कोई एक कमरा चुन ले तो झट से उसने यह कमरा चुन लिया था। यहां की कई साथिनें इस खिड़की वाले कमरे की खातिर रश्क भी करती हैं...

उसे लगा पासवाले किसी कमरे से किसी के खिलखिलाकर हंसने की आवाज आ रही है। आवाज से पहचान की खुश्बू आई। रेशमा की हंसी में कांच की चूड़ियों जैसी खनखनाहट सुनाई देती है। उसी के होने से तो मातृत्व-सदन की दीवारें भी हंसती हैं और कभी-कभी उस जैसी उदास और चुप्पी लड़कियां भी। उसे हैरत हुई, रेशमा अभी किसके साथ हो सकती है। शाम 6:30 से 8 बजे तक का समय विजिटर्स के लिये निश्चित है। यहां विजिटर्स से मतलब रिश्तेदारों और 'उड-बी पैरेंट्स' से है। यहाँ तक कि आसन्न माओं और लड़कियों को भी शाम साढ़े पांच बजे के बाद एक दूसरे के कमरे में जाने की मनाही है। पर अभी तो साढ़े आठ बज रहे थे। जबकि कायदे यहां के सख्त हैं और उनका पालन भी यहाँ उतनी ही सख्ती से करवाया जाता है। वह समझ नहीं पाती, बिल्कुल भी नहीं कि उनके साथ होने पर यहां इतनी पाबंदियां क्यों हैं। उनका साथ-साथ होना आखिर किस मुश्किल का बायस हो सकता है। रेशमा को इन नियमों की कोई परवाह नहीं। वह किसी न किसी तरह कोई जुगाड़ बैठा ही लेती है और वे तीनों यानी वह, रेशमा और नीमा जब मिलकर समय बिताती हैं ढेर सारी बातें करती हैं तो वे सब अपनी सारी परेशानियां भूल जाती हैं।

रेशमा के कमरे से आती हंसी में अब गिरते हुये सिक्कों की सी खनखनाहट सुनाई दे रही है। 'इतना क्यों हंस रही है वह और इस तरह असमय' उसके कान खड़े हो गये। उसने ध्यान दिया तो कोई दबा-दबा मर्द स्वर-सा भी सुनाई पड़ा उसे यह रेशमा भी न अपनी खुराफातों से बिल्कुल भी बाज नहीं आयेगी। 'मातृत्व-सदन' के डायरेक्टर जगजीत सिंह का दौरा कल ही हुआ है। आज ही वे शहर से बाहर गए हैं। अगले चार-पांच दिन तक उनके आमद की कोई गुंजाइश नहीं। को-ऑर्डिनेटर दीदी यानी आशा बहन जी अपनी नींद की गोलियां लेकर सो चुकी हों शायद। रेशमा ने शायद इसी मौके का फायदा उठाकर 'गुलाब' को बुलाया हो या कि फिर रोक रखा हो विजिटर्स आवर में आने पर। वह फुसफुसाकर कहा करती है उसके कानों में। गोरखे को

पच्चीस-पचास दे दो तो घंटे-आध घंटे रुकने दे ही देता है। अगर कोई अचानक इंस्पेक्शन पर आ जाये तो आंखें बचाकर निकाल भी ले जाता है...सब इसी पैसे का कमाल है और क्या...

रेशमा की बातों में पैसों का जिक्र अनखन आता ही रहता है। उसके मायके वाले बड़े पैसेवाले थे। फिर बिजनेस डूब गया एक समय। बड़ी बहनों की शादी अच्छे घरों में हुई पर उसी के ब्याह के समय.।

''यूं मेरे ससुराल वाले इतने बुरे भी नहीं, पर पैसे कम हैं घर में ऊपर से लंबा-चौड़ा संयुक्त परिवार। पंचकुईयां में फर्नीचर का वही फटीचर सा बिजनेस। कमानेवाले हाथ कम और खाने वाले ज्यादा। तिस पर से जो कमाओ बड़ों के हाथ में धर दो। वे पैसे-पैसे का हिसाब पूछेंगे। थोड़ा कुछ जहां खर्च कर लिया अपने मन से, तो पूछेंगे यह जरूरी था क्या अरे, जरूरी नहीं तो ऐसे ही कर रहे हैं फालतू में थोड़े ही और अगर बे-जरूरत ही कर लिया कुछ शौक में ही तो कौन सी आफत आन पड़ी। अभी नहीं तो क्या बूढ़े होने पर शौक पूरे करेंगे पर उनसे कौन कहे कुछ और करे भी तो क्या?''

वैसे मेरा मर्द बुरा नहीं, पर क्या करे वह बेचारा भी अब, परिवार में ऐसे ही चलता आया है। पूरे घर में एक टी.वी. है और वह भी बुढ़ऊ के कमरे में। गैस सिलेंडर महीने में एक से ज्यादा नहीं आता। कहो तो कहेंगे लकड़ियां जलाओ। अरे हम से नहीं होता यह सब...कभी किया है क्या? अरे कोई कहे उनसे कि महीने में एक सिलेंडर तो छोटे-मोटे परिवार के लिये होता है, किसी संसार के लिये तो नहीं...

पर गुलाब बहुत ख्याल रखते हैं मेरा। थोड़े-थोड़े पैसे बचा-बुचा कर कभी मेरे लिये गजरा ले आते हैं, कभी गुलाब जामुन। कभी दही-टिक्की, कभी चूड़ी, बिंदी। कभी-कभी महंगी साड़ियां भी। मेरी किसी बात को कभी भी काटते नहीं और मना भी नहीं किया कभी...अरे पूरी की पूरी फैमिली टूट पड़ी थी मुझपर कि ऐसी क्या आफत आन पड़ी, ऐसी क्या बेहयाई कि किसी गैर के...बच्चे को पेट में रखा जाये, उसे पैदा किया जाये। पर गुलाब मेरे साथ खड़े रहे। उन्होंने कहा कि रेशमा कोई गलती नहीं कर रही। सबकी बोलती भी उन्होंने ही बंद करवा दी

''अगर रेशमा जिंदगी में सुख-सुविधा के सामान चाहती है और वह भी अपने बल बूते पर तो मैं नहीं रोकूंगा उसे। और मैं होता भी कौन हूँ रोकनेवाला जबकि उसके लिए मैं ये सब...।''

सबकी बोलती बंद हो गई थी। अरे जब खसम ही साथ दे रहा है तो हम क्या करें...अरे पैसा आने दो एकबार सब पीछे-पीछे हो लेंगे। हां...मैं तो बस इतना ही जानती हूं।

रेशमा और गुलाब को साथ-साथ देखकर उसे हमेशा सुदीप की याद आती है। टीसता है भीतर कुछ। काश! सुदीप भी गुलाब की ही तरह...

रेशमा की ही तरह नॉन-स्टॉप होती हैं उसकी बातें और उसकी उछल कूद बिलकुल बच्चों वाली। लाख चिल्लाती रहें आशा दी रेशमा इस तरह उछला तो नहीं करो। पर रेशमा कभी इस कमरे तो कभी उस कमरे। अट्ठाइस कमरों का यह घर उसके लिये एक परिवार की तरह ही है जिनमें से बस सोलह कमरे भरे हुये हैं और उनमें भी सिर्फ नौ में हैं प्रिगनेंट लड़कियां, बाकी सरोगेसी के क्रम में हैं

जल्दी कोई कहां बनना चाहती हैं 'सरोगेट मदर'। कुछ उस जैसी बेचारियां, कुछ विधवायें, कुछ परित्यकतायें और बहुत कम रेशमा जैसी मॉडर्न और केवल शौक के लिये मां बननेवाली लड़कियां।

रेशमा सचमुच अनोखी है। अकेले उसी के कमरे में यहां छोटा टी.वी. है, फ्रिज है, अपना मोबाईल भी। जिन्हें वह जब यहां से जायेगी तो अपने साथ लेती जायेगी...

रेशमा अपने पति से कहकर हरबार अपने लिये नये कपड़े मंगवाती है और हर दूसरी बार अपने मनपसंद डिजाइन में सिलने के लिये अपने फेवरिट टेलर को भिजवाती है। वह कहती भी है उससे, इतने सारे कपड़े क्या सिलवाना। बाद में बेकार हो जायेंगे सब। फिर इतना क्या खर्चना। वह हंसती हुई कहती है ''बाद में इन्हें पहनेगा ही कौन। किसी गरीब को दे दूंगी।''

रेशमा के दो बच्चे हैं और दोनों को उसके पति ने अपने साथ रखा है। स्कूल जो जाते हैं दोनों। कभी-कभी मिलवाने ले कर आता है बच्चों को। वह हंसकर कहती है 'इतना बड़ा परिवार आखिर किस दिन काम आयेगा। मैं तो बस छुट्टियां मनाने यहां आई हूं, सोचा है कुछ दिन बस आराम करूंगी, केवल आराम। वह फिर घूमफिर कर उसे पैसे बचाने की राय देने लगती है- 'जगजीत सर से पूछती क्यों नहीं कि कैसे और कहां इनवेस्ट करना है।' रेशमा चुपचुप सुनती है सब, अपनी उसी सदाबहार मुस्कुराहट के साथ। उसे देख उसे सुदीप याद आते हैं, बहुत याद आते हैं...। कभी-कभी उसकी बातों की अनदेखी करते हुए वह अचानक उठकर बाहर की तरफ चल देती है। कोई आया है शायद, ठीक सुदीप की ही तरह उसकी बातों को नजरंदाज किया जाना...

'अरे इस तरह अचानक भागते हैं, कुछ हुआ तो' मैंने दो-दो बच्चे ऐसे ही पैदा किये हैं, भागते-दौड़ते, खेलते-कूदते हुये। अरे मुझसे चुप नहीं बैठा रहा जाता, न शांत। अब क्या करूं जो मैं ऐसी ही हूँ' वह लाड़ में आकर बिल्कुल उसके गालों से चिपक जाती है, बिल्कुल गुड़िया की तरह।' ठीक है बाबा जो तुम्हारी मर्जी। पर इस तरह शौकीनियों में पैसे तो न जाया किया करो। न सही जमा करना पर अपने खाने-पीने पर तो ध्यान दो, तभी तो स्वस्थ रहोगी और बच्चा भी तंदुरुस्त। कुछ तो हमारी भी जिम्मेदारी बनती है न कि जो लोग हम पर इतना खर्च रहे हैं उन्हें एक स्वस्थ संतान दे सकें।''

''कौन सा दान बांट रहे हैं वे जिया...अरे हम भी तो उनकी जिंदगी की उस कमी को पूरा कर रहे हैं जो शायद हमारे बिना पूरी होती ही नहीं''

''बच्चा बिल्कुल स्वस्थ ही पैदा होगा जिया!'' वह लाड़ से भर उठती। मेरी कोई भी औलाद कमजोर पैदा नहीं हुई, भले ही मैं पिद्दी-सी दिखती रहूं। उस बूढ़े मौलवी के लिये बच्चा पैदा कर रही हूं यही कम है क्या...पता नहीं कहां से इतने पैसे हैं उसके पास और जब देखो तब घूरता रहता है ऊपर से नीचे तक और उसकी वह बीवी मुझे शऊर सिखाती है-'सिर ढंक कर क्यों नहीं रखती?' मैंने तो एकबार मना कर दिया था सरजी से कि मैं उसका बच्चा नहीं पैदा करूंगी। तो सरजी बोले इन लड़कियों में तू अकेली मुस्लिम है और उसे अपनी संतान किसी मुस्लिम औरत से ही चाहिये। मैंने फिर भी सर जी से कहा था तो कोई और मुस्लिम ढूंढ़ लाओ, मैं नहीं लेती इसके बच्चे को अपने पेट।

उन्होंने समझाया था 'रेशमा ऐसे नहीं कहते, तुझे आये चार महीने हो चुके पर किसी ने नहीं कहा कि उसे तुम से ही बच्चा चाहिये. काट ले यह नौ महीने और पा ले अपनी मनचाही मुराद। तू जल्दी से अपने घर और अपने बच्चों के पास नहीं जाना चाहती?

और तुझे पता है, वह मुल्ला जब आता है ढेर सारी दीन-धर्म की किताबें और सी.डी. दे जाता है। मैंने तो अखकर कह दिया था.. 'अरे इतना ही पढ़ना होता मुझे या कि शौक होता तो कहीं मास्टरनी नहीं बन गई होती? यहां पड़ी होती क्या? 'वह चुपचाप चला गया था हंसकर। रेशमा कहे कि न कहे वह खुद जानती है सरजी हो या कि वह कठमुल्ला या फिर उसका पति रेशमा की बात सब मानते हैं। रेशमा की बात सब सुनते-सहते हैं। उसमें है ही कोई ऐसा अजीब सा-जादू।

वह जब भी लाड़ में होती है उसे जिया ही कहकर बुलाती है। उसने एकबार पहले भी बताया था कि उसकी तरफ बड़ी बहन को जिया कहा जाता है। यूं शायद उम्र में वे दोनों बराबर की हों पर अपने गंभीर स्वभाव के कारण सुलभा उसकी जिया है।

दीदी वह किसी और की भी है जो सचमुच उसकी छोटी बहन की उम्र की होगी। बस वह और रेशमा जानते हैं कि उसे पहले कभी कोई बच्चा नहीं हुआ और वह शादी-शुदा भी नहीं है। सरजी को यही पता है कि उसके पति ने उसे छोड़ दिया है और वह अपनी दूसरी पत्नी और बच्चे के साथ रहता है। यह भी सिर्फ वह दोनों ही जानते हैं कि वह सुदूर के एक छोटे-से गांव की है और वहीं से अपने प्रेमी के साथ भागकर दिल्ली आई थी पर वह उसे छोड़कर कब का जा चुका है। घर लौटने की कोई इच्छा भी नहीं है उसकी। पिता सौतेले हैं और मां भी सौतेली जैसी ही। अपने नये पति से उसके दो-दो बेटे हैं और मां उन्हीं में फूली-फूली घूमती है। नीमा कहती है कि उसने दिनेश को कभी भला लड़का नहीं समझा पर उस घर में रहना बहुत मुश्किल था। कोई तो राह निकालनी ही थी। जो सामने दिख गई वही सही। फिर किसी से उसे इस क्लीनिक का पता चला। वह शुद्ध करती है उसको-क्लीनिक नहीं। सरोगेसी होम...

नीमा बहुत डरती है। डरती रहती है अक्सर। अगर मैं मां बनने के लायक नहीं हुई तो...अगर मैं मां नहीं बन पाई तो...पिछले छः महीने से मैं हूं यहां और कोशिशें दो बार नाकामयाब हो चुकी हैं...

उससे खाना खाना मुश्किल हुआ जाता है...कल भी अगर नीमा फिर...वह दुआ करती है अपने ईश्वर से, नीमा इस बार अपनी कोशिश में कामयाब हो। उसके लिये जिंदगी का रास्ता यहीं से होकर निकलता है।

वह देखती है लेटी-लेटी ही उस खुली खिड़की से। रेशमा के पति को चोरों की तरह दबे पांव जाते हुये पता नहीं रेशमा को घबड़ाहट होती है या नहीं, पर उसे बहुत होती है। वह सोचती है, वह रेशमा को जरूर चेतायेगी कल। ऐसा न करे वह, यह ठीक नहीं...वह सबके लिये डरती है, सबके लिये सोचती है और इस पूरी प्रक्रिया में अपने डर को अपने से किसी तरह दूर किये रहती है। डर फिर भी तैरते रहते हैं उसके आसपास, बिल्कुल घात लगाये। मौका मिला नहीं कि फिर आमद...। वह गुड़िया को खिलाये गये दूध रोटी के कटोरे से नाक बंद कर दूध पीती है, उबकाई रोकती हुई...

नींद न आने के कारण वह गुड़िया के लिये मंगाई गई किताब-कॉपियों को खोलकर देखती है। अच्छा लिखती है गुड़िया। उसने तो शायद ही इतने छोटे में कभी इतना सुन्दर लिखा हो...। गुड़िया अपने पापा की तरह लिखती है, इत्मीनान से और सजाकर। गुड़िया में पढ़ने के लिये बहुत चाव है। शायद इसलिये भी कि अब तक इस सुख से वंचित रही है वह पेट में फिर कुछ कुड़बुड़ है। क्षुधापूर्ति के लिये वो नन्हा धन्यवाद कह रहा है शायद। वह बरबस मुस्कुरा पड़ती है यह सोचकर।

वह सोचती है कि समय के हिसाब से कुछ ज्यादा ही चेत नहीं है इस बच्चे में। कुछ ज्यादा ही हड़बड़ी दिखती है इसे इस दुनिया में आने की। पर इस खयाल से ही जैसे मन सिहर जाता है। वह दोनों हाथों से अपना पेट थामकर उससे मुंह सटा कर कहती है-इतनी जल्दी भी मत करो बच्चे, कुछ दिन तो रह लो अपनी इस मां के पास। इतनी जल्दी क्या है मुझे छोड़कर जाने की...उसने फिर जैसे कोई हौल की है, हामी की या 'ना' की पता नहीं। वह जानती है रात की इस बेला में जब कि सारी दुनिया सुनसान और वीरान हो चलती है और वह और ज्यादा एकाकी, उसके भीतर की हलचल उसे ज्यादा महसूस होती है। या कि फिर यों कह लें वह उतावला हो उठता है अपनी अकेली बैठी मां से बतियाने की खातिर, उसे अपने होने का अहसास कराने की खातिर। उसका दुख-ताप मिटाने की खातिर।

सुबह उसकी आंखें बहुत देर से खुलती हैं। वह घड़ी देखती है, साढ़े दस। बार-बार की दस्तक के बावजूद दरवाजे तक उठकर जाने की हिम्मत नहीं। बहुत थकान है, बहुत ज्यादा। ऐसा तो गुड़िया के वक्त बिल्कुल नहीं होता था। शायद डॉक्टर ही आये हों चेकअप के लिये। वह समेटती है खुद को। बटोरकर खड़ा करती है किसी तरह।

नीमा को देखकर उसका मन हल्का होता है। वह कहती है उसके कानों में धीरे से, हमेशा के विपरीत मैं पेट से हूं, सचमुच। उसका मन खिला-खिला हो जाता है। वह रेशमा की तरह उसे भी डांटती है, तो फिर इस तरह उचक-उचक कर क्या कह रही है। आराम से रह अभी शुरुआती दिन हैं, कुछ ऐसा वैसा मत करना।

वह हंसती है खिल-खिल। उसकी हंसी में रेशमा की हंसी की सी झिलमिल है।

वह पूछती है, 'रेशमा को बता आई?

'नहीं अभी नहीं...जाती हूं अब।' वह गिलहरी वाली स्फूर्ति से उठ खड़ी होती है...

वह डांटती है उसे- 'ठहर, जरा धीरे-धीरे चल...चल, मैं भी साथ चलती हूं। 'वह सोई हुई गुड़िया को चादर ओढ़ाती है और अपनी तरफ के किनारे पर तकिया रख देती है...

रेशमा के कमरे के बाहर भीड़ है, शोर गुल भी...उसका कलेजा दहल उठता है। वह नीमा का हाथ कसकर पकड़ लेती है। वहीं भीड़ से कोई तंज में कहता है-'आ गई उनकी लाड़ली सहेलियां भी'

अरे तितलियों के तरह उड़ती फिरती थी। बंदरों के तरह छलांगें मारती थी तो अब भुगते...अब लौटेगी घर मुंह लटका कर।

कोई धीरे-धीरे फुसफुसाती है, तानों वाली आवाज में-'सुना था शौहर को बुलाया था कल रात। रंगरेलियां मनी होगी। अरे, दूसरों की खुशी का खयाल न करो अपनी देह का तो करो'

वह सोचती है, कल तक यही लोग रेशमा के सगे थे, इन्हीं के खुशी-दुख में चारों हाथ-पांव बांधे खड़ी रहती थी वह। उसके पांव थरथरा रहे हैं. वह बैठ जाती है, वहीं धसक कर।

क्या हुआ आपको? आप ठीक तो हैं न? नीमा झकझोर रही है उसे, पर वह है कि पाषाणी हुई जा रही है।

वह देख रही है रेशमा को स्ट्रेचर पर जाते हुये पर उस तक जाने के सारे रास्ते जैसे मिट गये हों एक बारगी। शरीर बिल्कुल शून्य हुआ जा रहा है।

मुल्ला जी चिल्ला-चिल्लाकर औरतों को रास्ता देने के लिये कह रहे हैं. सर जी का चेहरा बिलकुल जर्द है और डॉक्टर दी के चेहरे से हमेशा वाली वह मुस्कान नदारद। वह पूरी ताकत लगा देती है पर पत्थर के शरीर में कुछ भी नहीं हिलता

अरे कोई इसे भी तो देखो...इसे क्या हुआ जा रहा है

चार दिन से है वह हॉस्पिटल में, दवा के नशे में सोती रहती है कभी जो क्षण को होश आता है तो पूछती है तो गुड़िया या फिर रेशमा के बाबत...। डॉक्टर दी ने बताया है गुड़िया नीमा के पास है और रेशमा भी ठीक है पहले से...

लौटने पर सबकुछ पूर्ववत दिखता तो जरूर है पर पूर्ववत है नहीं बिलकुल भी। रेशमा की हंसी की खनखनाहट गायब हो चुकी है सिरे से...बल्कि आवाज तक नहीं सुनाई पड़ती कहीं से...नीमा बेड रेस्ट में है और बाकी होने न होने के उन्हीं अहसासों के बीच...

उसका मन होता है जल्दी से निबटे सबकुछ और वह लौट सके अपने घर...पर घर कहाँ है उसका? बीच अधर नें लटकी हुई है वह और सुदीप...

रेशमा भी लौट जाना चाहती है अब घर... उसके थके-हारे चेहरे पर घर किसी बिजली के कौंध सा चमकता है कभी-कभी अब वह कभी भूले से भी अपने आगामी योजनाओं की बातें नहीं करती बस जोड़ घटाव लगाकर कहती है पहले स्वस्थ होने में लगनेवाले दो-तीन महीने फिर दूसरा आई.वी.एफ. और उसका परिणाम...सबकुछ ठीक...ठाक रहा तो उससे आगे के 9 महीने । सब मिलकर और साल-डेढ़ साल...

उसकी आँखों में आँसू हैं-''मैं बिलकुल रुकना नहीं चाहती, लौटना चाहती हूँ अपने बच्चों के पास, अपने घर...पर यहाँ रुकना अब मजबूरी है मेरी...'' सुलभा कहती है, ''लौट जा फिर''

उदास स्वरों में कहती है, 'संभव नहीं है यह। सर जी कहते है की मुल्ला चाहते हैं की बच्चा उसी से हो, और यह दुर्घटना तो कभी भी और किसी के साथ भी हो सकती थी...

वह चाहती है की रेशमा में पहले वाली रेशमा लौट आए पर यह नामुमकिन हुआ जाता है। सुलभा कहती है तो' न खुशी से, बस हमारे लिए। फिर न जाने हम सब कहाँ होंगी, कब मिलेंगी...पर वह मुस्कुराती तक नहीं। कोशिशें सिरे से बेकार...वे और नीमा चाहें लाख कोशिश करे उसकी वह चुलबुली हंसी, उसके आंखो की शोखी और सपने न जाने कहाँ गुम हो गये हैं...

'विचित्र, किन्तु सत्य' जैसा घाटा है कुछ घटा है 'मातृत्व-सदन' की दीवारों के बीच भी रेशमा लौट चुकी है अपने घर गुलाब और बच्चों के साथ यह सब संभव हुआ तो बस अनिंदिता के हुए, अनिंदिता के कारण सब कुछ बदला जा रहा है मातृत्व-सदन में...जगजीत सर और नैना माईं घर और क्लीनिक से ज्यादा अब वहाँ दीखते हैं, क्योंकि अनिंदिता है उन चहारदीवारियों के बीच उन्हीं कमरों में से किसी एक कमरे में उन्हीं में से एक बनकर उसने रेशमा को आजादी दी थी और खुद आ बैठी थी उसकी जगह यह कहते हुए कि उसने कोई अहसान नहीं किया वह जीना चाहती थी उनकी जिंदगी, रहना चाहती थी उन जैसी बनकर ताकि एक आऊटसाइडर की तरह नहीं उनकी तरह ही देख-रच सके उनका जीवन-सत्य उनके सुख-दुख, उनकी मुश्किलें। अहसान रेशमा पे नहीं किया उसने रेशमा ने किया है उस पर...

मुल्ला जी भी अब कहते तो क्या कहते...हाँ विश्वास जरूर खुश हुए थे अपनी बेटी के इस निर्णय पर...

जगजीत और नैना बिलकुल सफेद पद गए थे उसके इस फैसले से पर एकदम फक्क...उन औरतों को अपने घर की औरत समझना और अपने ही घर की एक लड़की का उन जैसी बन जाना, बहुत फर्क होता है इन दोनों बातों के बीच...और यह अंतर उन्हें अभी-अभी समझ में आया था पर हार झखकर चुप हो गए थे वे दोनों...एक अपनी बच्ची की जिद के खातिर दूसरा उसमें बसी 'दिल' के खातिर...

और ऐसे में ही आती है एक दिन, उसके नाम की बहुप्रतीक्षित चिट्ठी...लिफाफे को लेने और लिखावट को सहलाने के क्रम में...उसके हाथों की थरथराहट बढ़ जाती है बेइन्तहां इंतजार की घड़िया चाहे जितनी लंबी हो कट जाती हैं, काट भी ली जाती हैं...पर परिणाम का समय...धुकधुकी और बेचैनी का समय...क्या होगा इस लिफाफे के भीतर...आखिर उसकी किस्मत किस ठौर ले जाएगी उसे?

खोलने के पहले वह उस खत को सीने से लगा लेती है। फिर काँपते हाथों से लिफाफा खोलती है...बिस्तर पर बैठे बैठे।

सुभा, तुम्हारे जाने से जिंदगी सचमुच बेमानी सी हो गई है। तुम्हारे और गुड़िया के बगैर जीना कितना मुश्किल होगा इसकी कल्पना भी नहीं कर सकती हो तुम...पर जी तो रहा ही हूँ...इस बीच तुम्हारी किसी सहेली ने फोन किया था। उन्हीं ने कहा कि तुम भी मुझे बहुत याद करती हो, तभी जाकर यकीन हो पाया कि मुझे भूली नहीं हो तुम. ..

तुम्हारी उन्हीं सहेली...क्या तो नाम बताई थी...हाँ नीमा जी ने कहा कि अब बस चंद दिनों कि बात है...और मैं आऊँ और तुम्हें ले जाऊं..

सच तो यह है कि मैं भी बस उसी घड़ी की प्रतीक्षा में हूँ वह घड़ी कब आए कितनी जल्दी आए कि मुक्त हो सके मेरी परी इस अनचाहे कैद से जानता हूं की यह सब तुमने मेरे और गुड़िया के लिए ही किया है... हम सबके सुखमय भविष्य कि खातिर फिर भी सच यह है कि सुलभा, मैं तुम्हें इस रूप में देख पाने की हिम्मत नहीं जुटा पाता देख तो क्या सोच पाने तक कि हिम्मत नहीं तुम खुद गई थी सुलभा और आना भी तुम्हें खुद ही होगा, जैसी गई थी वैसी ही लौट आना। मैं यही सोचूंगा कि ये दिन हमारी जिंदगी में आए ही नहीं थे ,तुम गई ही नहीं थी मुझे कहीं छोड़कर...

हाँ मैं तुम्हें लेने नहीं आऊँगा...पर तुम्हारा इंतजार करूंगा। मैंने आस-पड़ोस में भी यही कह रखा है कि गुड़िया अपनी मम्मी के साथ अपने नानाजी के घर गई हुई है

तुम्हारे ही इंतजार में, तुम्हारा

वह उस चिट्ठी को एक बार नहीं कई-कई बार पढ़ती है, न जाने किस तलाश में, न जाने किस आस में, क्या ढूंढ रही है वह...चिट्ठी तो

(शेष पृष्ठ 159 पर)

वक़्त वक़्त की बात

n डॉ. दया दीक्षित

काम-धाम निपटा कर दुर्गी ने घड़ी देखी! नौ बज रहे थे सुबह के। लो आज तो जल्दी हो गया सब काम! घड़ी देखते देखते पाँव में हवाई चप्पलें पहन आँगन पार गैलरी के किवाड़े खोल, बगिया में निकल आई दुर्गी। पाँच कमरे, आंगन, बरामदा, रसोई, छत, छत पर का बड़ा सा हॉल...। इतने बड़े घर में दुर्गी को सबसे अच्छी यही बगिया लगती है। जब ब्याह कर आई थी, तब उजाड़ सी थी ये बगिया। झाड़ झंखाड़ में बीच बीच में आम, जामुन, नीम, आँवला, अमलतास और नीबू के बड़े बड़े सघन पेड़ खड़े थे। इन्हें देखकर आसानी से समझा जा सकता है कि ये बहुत पुराने पेड़ हैं। दुर्गी मेहनती थी, सो धीरे धीरे उसने झाड़ झंखाड़ खोद-खोद कर फेंक दिये। उनकी जगह छोटी छोटी क्यारियाँ बना लीं, इन क्यारियों में धनियां, मिर्चा, प्याज, लहसुन, बैगन, टमाटर, मेथी.....जाने क्या क्या उगाती रहती है। हमेशा हरी भरी रहती हैं क्यारियाँ, इनके किनारे-किनारे जासमीन, गेंदा, कनैर, गुलाब लगे थे जिनमें बारहमास बड़े बड़े फूलों के गुच्छे चाहे जब देख लो। तुलसियों की एक अलग क्यारी है, सो रामा/श्यामा लहलहाती रहती हैं। इनकी मंजरियों की सुगंध, फूलों से मिल एक विलक्षण सुगंध संसार रचती है। पेड़ों, क्यारियों और घास के हरेपन की कच्ची गंध किसी को भी चारों खाने चित्त कर दे। घर की फालतू पुरानी टूटी खटिया और निवाड़ का पलंग, एक पुरानी लोहे की बेंच इस बगिया में पड़ी रहती है। इन्हीं के बीच एक खटिया पर लेटी दुर्गी वृक्षों पर बैठे तोता, चिरैया, कोयल, कौआ देखने में मगन थी। ये पाखी-पखेरु चेंचे, मैं मैं करते पता नहीं तकरार में लगे थे या नेह-मेह बरसा रहे थे...। ये तो वे ही जान सकते थे।

-''दुर्गी...ओ दुर्गी...''आवाज दुर्गी के पास आती जा रही थी। आवाज से जान गई दुर्गी कि ये धमनावाली पड़ोसन जिज्जी हैं। उनकी पुकार सुनती रही चुपचाप, बोली कुछ नहीं...।

-''ओ देवी दुर्गा जू, पूरे घर भर में ढूढ़ा तुमको, और तुम यहाँ छिपी थीं। कह नहीं पाईं कि तुम यहाँ लेटी हो। क्या बात है? जी अच्छा नहीं है क्या?'' धमना वाली ने पूछा।

दुर्गी-''जी, तो अच्छा भला है, हमें क्या होना है? मठा बिचारे क्या बिगड़ें जब बिगड़ें जब बिगड़े...दूध। बुखार तक नहीं आता कभी!''

-''हमारे पास से जाता ही जाता है जिज्जी, ऐसी तकदीर कहाँ कि कुछ आए भी?''

दुर्गी की आवाज में दुख की नमी थी। इससे बेखबर धमना वाली ने जवाब दिया- ''क्यों हम नहीं आए, तुम्हारे पास?''

दुर्गी-''तुम्हारी बात अलग है जिज्जी'' स्वर अभी भी मंद और भारी था दुर्गी का। खटिया पर लेटे-लेटे कहा था दुर्गी ने।

धमना वाली थोड़ी देर चुप खड़ी उसे देखती रही फिर बोली-'क्यों दुर्गी, इतनी बेला हो आई, अभी तक तुम्हारा काम ही नहीं हो पाया? ऐसा कौन सा बड़ा काम उठा रहीं थीं, वही रोटी पानी और कपड़ा लत्ता धोने का काम था, जो रोज बेला से निपटा लेतीं थीं तुम, तुमारी सास बाई कह रही थीं- ''दीदा नहीं नबता काम काज में, जब देखो, जब, दौड़ी छूटी घोड़ी की नाईं बगिया तरफ दै भगतीं दुर्गी। इन्हीं गुनों से भतार के जी से उतर गईं। बहू, बिटिया की तरह रहते नहीं बनता कल की आई इस छुकड़िया से।''

दुर्गी को इन बातों का कुछ जवाब न सूझ पड़ा। उसका कुम्हलाया सा मुख, और, और कुम्हला गया। चुपचाप खटिया से उतरकर धमनावाली के पास खड़ी हो गई। उमर में धमनावाली, दुर्गी से ज्यादा बड़ी नहीं थी। फिर भी धमनावाली को तरस सा आया दुर्गी पर। उसके सिर और माथे पर कोमलता से हाथ फेर के कहने लगी- ''दिल छोटा न करो दुर्गी, तुम्हारी सास का स्वभाव क्या हम जानते नहीं? बिना बात का बतकाव करा लो उनसे। उनकी बातों को संजीदगी से न लिया करो, कच्ची लोई से ज्यादा उनकी बकत नहीं है। ऐसा ही मानो उन्हें तुम। तभी रह पाओगी।''

धमनावाली के हिया हिलोर और ममतालू परस से सिहाकर जवाब दिया दुर्गी ने-''जिज्जी, काम काज तो हमने सब कर लिया, लेकिन डुकरो, बांदी गुलाम की तरह चौबीस घंटे की हाजिरी चाहती हैं अपने ढिंग...अब तुम्हीं बताओ, ऐसी पल छिन गुलामी किसके बस की है? फिर, हम तो इन के ढिंगा बने ही रहते हैं, इस पर भी जैसे ही पल भर के लिये इनकी आँखों से ओझल हुए नहीं कि सब किए धरे पर पानी सा फेर देती हैं। जिज्जी, ये तो रोज के राज-काज हैं...!''

दुर्गी की बातों के बीच बोल पड़ी धमनावाली- ''छोड़ो इन बातों को, ये बताओ, ऐसा क्या सोच रही थीं तुम खटिया पर लेटीं, कि हमारी आवाज, टेर न सुनाई पड़ी तुम्हें? सच्ची सच्ची बताना। तीन बार पूछ चुके हैं, नहीं बताओगी, तो, लो, चले हम अपने घर।'' कह कर धमनावाली सचमुच वहाँ से जाने लगीं...।

दुर्गी ने हाथ पकड़ के धमनावाली को रोका। खटिया पर बिठाया। खुद भी बैठती बोली- ''क्या बताएँ जिज्जी, तुमसे क्या परदा? तुम्हें तो एक एक बात मालूम है इस घर की। मैं तो यही सोच रही थी कि हे राम, कैसे निभाव होगा हमारा इस जगह! कल रात उनने फिर से वैसा किया, जैसे ब्याह की पहली रात को...। जब इतनी गसी-फसी थी उससे, तो हमें क्यों लाए ब्याह कर। उसी विष की कुरी के संग क्यों नहीं रह गए! जिज्जी, तुम्हें तो पता ही है कि उन्हीं दो-तीन दिनों में हमारे पास रहते सोते हैं वे, जब वो सौत कपड़ा लत्ता से हो अपने पास से भगा देती हैं इन्हें...। जिज्जी, ब्लाउज उतार के किनारे धर दिया इन्होंने, बनियान पर हाथ फेर फेर के पूछने लगे, ये बनियान आशा लाई थीं?, हमने कहा आशा चाची और धमनावाली जिज्जी दोनों जनी गईं थीं बाजार! सो कहने लगे आशा इसी तरह की पहनती हैं, उन्हीं ने बताया था कि दुर्गी के लिये भी यही लाए हैं। भौत बढ़िया है। एकदम पक्की और मजबूत...तुम हमारे सामने यही पहना करो। जिज्जी अंतरंग पल छिनों में थे तो हमारे संगी, पर बातें करते रहे उसी चाची की फिर एकदम से पता नहीं क्या सूझा कि मुँह मोड़ कर करवट बदल दी...। हमारी तरफ उनकी पीठ फिर भी हमने उनके हाथ अपने आंग पर रखने चाहे उन्होंने झटक दिया बोले- ''सो जाव...। हमारे आँसू निकल पड़े जिज्जी...'' कहते-कहते रो पड़ी दुर्गी। सिसकती आवाज निकली- ''.. .पूरी रात इसी तरह रोते रोते आँखों में कट गई हमारी।''

धमनावाली-''अँसुआ न ढारो बेटा। इन कसाइयों में नहीं है थोड़ी भी दया माया! सासबई भी कम नहीं तुम्हारी। कह रही थी कि होते भोरईं भोर लड़ भिड़ के भगा दिया भूपत को इस महामाई ने।''

दुर्गी-''अरे जिज्जी, हमने काए को भगा दिया! हमें तो बिना किसी बात के, वैसे ही खाने को दौड़ता है परमेसुर। सुबह सबेरे चाय बना के लाए हम, बैठका में दद्दा-बाई थे उन्हें दी। फिर छोटी पौर में गए, ये आशा चाची और नरेन्द्र के संग दरबार लगाए बैठे थे। हम चाय देकर जाने लगे, सो हमसे बोले- 'बैठो यहीं'! इनका इशारा समझ, नरेन्द्र रसोईघर से हमारी चाय यहीं उठा लाए। ये बोले चाची से-''आसू, तुम्हारे लिये क्या लाएं इन्दौर से। आशा चाची बड़ी ठनक ठनक कर बोलीं-''बता दूँ क्या लाना? गाती रहीं फिर बोलीं दो तोला की चार पतरी पतरी चूड़ियाँ...। अपनी इनके लिये भी तो लाओ कुछ वहाँ से। हमारी तरफ देखतीं बोली, ''बता क्यों नहीं देतीं कि क्या चाहिये तुम्हें।''

''जिज्जी जब तक हम कुछ बोलते, ये कहने लगे इन्हें चाहिये खसम के गोड़े, लातें, घूँसा...। सब जने हँसने लगे, हमें रुलाई उठ पड़ी। हमारे देखते-देखते इन्होंने चाय का कप वहीं सरका दिया, उठे, आशा चाची के गले में बाहें डाल उन्हीं के संग चले गए।''

अभी दुर्गी बात पूरी नहीं कर पाई थी कि इतने में ही आंधी तूफान की तरह क्रोध से दनदनाते भूपत को बगिया में आते देख दोनों स्त्रियाँ भौंचक रह गईं। बगिया सहम कर दनक सी गई। भूपत ने आसमान सिर पर उठा लिया-''साली, रंडी, गमट्टी, कपड़े ऐसे धोए जाते हैं देख! देख साली ऐसे धुलते हैं ये, क्यों? हाथ टूट गए थे क्या? ...अब क्या ले जाएं इंदौर, बोल!'' कपड़े जमीन पर फेंक बगिया में पड़ी पानी की रबड़ ली हाथ में, सड़ाक् सटाक्- सटाक्! रबड़ की मार से जी नहीं भरा, लातों घूँसों से जानवर की तरह पीट-पीट कर दुर्गत बना दी भूपत ने। धमनावाली बीच बचौआ न करा देतीं, तो भूपत तो गला दाबे दे रहे थे दुर्गी का।

रोती सिसकती दुर्गी ने कपड़े उठाए जमीन से। धमनावाली से चिपट के रो पड़ी। ''जिज्जी मैं कल से कह रही थी साबुन पाउडर लाने के लिये मैंने बता दिया था कि जरा सा पाउडर है, इतने में कपड़े नहीं धुल पायेंगे। तब तो सुनी अनसुनी कर दी। न पाउडर आया न साबुन। जितना था, उसी में धो दिये थे, हमारी क्या गलती है? यही कि हमने धो डाले कपड़े।''

रोती दुर्गी को किसी तरह चुप कराके धमनावाली फिर आने की कहकर अपने घर चली गई। बगिया में अब अकेली थी दुर्गी। अथाह पीड़ा से शरीर का नग नग दुख रहा था। जी उमथाने लगा, उल्टी हो गई। अपने पुरुष की एक-एक बात की सुरत हो आई...। आशा चाची पर न्योछावर होने वाले भूपत ने कभी प्रेम के दो बोल नहीं बोले दुर्गी से, कभी हिया हिलोर से गले नहीं लगाया। हमेशा झटकारते, दुत्कारते, दुरदुराते रहे और आज क्या कहती होंगी धमनावाली जिज्जी, कि जिस आदमी की पक्षदारी करती रही दुर्गी वही आदमी दुर्गी को ठेंगे पर रखता है। पिया न पूछै बात, मोरो नाम सुहागिन रात। कैसे कटेगी जिंदगानी! क्या होगा हमारा।

''ये क्या लाये हो नरेन्द्र?''

बड़े बड़े पैकटों से भरे झोलों को हाथों में उठाए, अपने घर के भीतर प्रविष्ट होते नरेन्द्र को देख धमनावाली किरन ने पूछा!

-''गनेस मास्साब ने ये झोले देकर हमसे कहा था कि इन्हें घर पर दे आना। सो, ये वही झोले हैं भाभी। हमें पता नहीं है कि क्या है इनमें।'' टेबिल पर झोलों को रखते कह रहे थे नरेन्द्र। जाने के लिये मुड़े, मगर किरन ने रोक लिया उन्हें।

चित्रकार : भूपेन्द्र कुमार अस्थाना

-''देवर जी, चाय पी कर चले जाना। ऐसे तो कभी आते नहीं हमारे यहाँ। अब आये हो तो पल भर बैठ भी लो! ऐसी क्या जल्दी है तुम्हें! बैठो यहाँ'' कुर्सी डाल दी किरन ने रसोईघर के सामने। नरेन्द्र बिना कुछ बोले बैठ गए।

-''और सुनाओ नरेन्द्र, मौसी मौसिया क्या कर रहे हैं, तुम्हारे? अरे मैं भी कैसी सिर्रिन हूँ, तुम तो खुद ही बाहर से चले आ रहे हो, तुम्हें क्या पता कि घर में कौन क्या कर रहा है। कुछ मालूम है तुम्हें सबेरे की, आज तो तुम्हारे मौसेरे भाई भूपत ने वो कसाईपना किया कि मैं तो थर्रा गई देख के। दुर्गी बिचारी को रूई की तरह धुनक दिया आज तो। बहुत सहन करती है दुर्गी, कोई और होती तो कब की मर जाती या भाग जाती इन कसाइयों के घर से। चाय का पानी गैस पर चढ़ाती हुई किरन ने कहा नरेन्द्र से।

नरेन्द्र-''भाभी, हम क्या कहें? इस घर की लीला देखी नहीं जाती। हमारी बहिन तो खुद फंसी है इस जंजाल में, भले मुँहबोली है, मगर सगी से बढ़कर है। अम्मा की सहेली की बिटिया आशा हमारी बहन ही तो कहलायेगी। हमने तो कहा था आशा से, ये तुम्हारा जिठौत भूपत ऐसे ही तुम्हें हाथों नहीं लिये है, कुछ पता है तुम्हें कि चार आदमियों में बैठ तुम्हारे बारे में कैसी अनर्गल बातें करता रहता है। आशा तुम अगर आज अपने हिस्सा की दुकान का किराया और फसलों की बेंच इसे न देकर खुद...धरो उठाओ, तो देख लेना कि क्या गत बनाते हैं तुम्हारी ये नीच लालची, कभी सोचा है कि क्यों तुम्हें अलग बखरी में नहीं रहने देते?'' तो जानती हो भाभी क्या जवाब दिया हमारी आशा जीजी ने?

-''कहने लगी, भैया हम इतने भोले नहीं, जितनी तुम समझते हो। हमें भी इन बातों का इल्म है। पर करें क्या? आस औलाद कोई है नहीं। मायके के नाम पर तुम और ससुराल के नाम पर यही परिवार है हमारा। नरेन्द्र गहरी बात है, समझ लेओ इशारों में, हमें यहां हर तरह से चैन और तसल्ली है। अलग रहते, तो तन मन धन तीनों की चिंता में घुलते रहते, पैसा ही तो लेते हैं, सो लेते रहें, दो दो घंटे चांपते हैं भूपत हमारे चरन, और फिर चरनों के नीचेई सो जाते हैं, ऐसा चौबीस घंटे का नौकर कहाँ धरा, और इतना ईमानदार? पहले के समय में जमींदार, सेवादारनी और रखैलें पालते थे, हमाई जान में हमने तो पाल लिया गद्दर सुआटा!'' इतनी कह के नरेन्द्र बोले-''...ये हैं हमारी बिन्नू बाई आशा के लच्छन।''

''ऐं ऽ ऽ ऽ '' किरन बोली

''हाँ-हाँ?'' नरेन्द ने हामी भरी किरन के अचंभे पर।

चाय खतम कर टेबिल पर थैलों के बगल में गिलास धर के बोले नरेन्द्र ''हमें क्या बतलाओगी भाभी, हम तो नितरोज यही तमाशा देखते हैं। न यहाँ पोस्टिंग होती, न यह अन्याय देखना पड़ता। हमारी समझ में ये बात कभी नहीं आई कि जब भूपत को कुछ मानना, सुनना ही नहीं, तो क्यों वे दुर्गी भाभी से कोंच कोंच के पूछते हैं, और फिर क्यों उन्हें बुरी तरह से बेइज्जत करते हैं! हमारे सामने की बात है ये, दुर्गी से कहने लगे भूपत- ''बताओ कमरों में परदे लग जाय तो कैसा रहे!'' दुर्गी ने कहा- जैसा तुम्हें ठीक लगे, वैसा कर लो! इस पर भूपत बोले- ''नहीं, तुम बताओ, जैसा तुम कहोगी, वैसा होगा, बताओ लगना है कि नहीं लगना है।'' दुर्गी भाभी बोली- लगवा लो, अच्छे लगेंगे, आड़ भी जायेगी। छूटते ही भूपत गरियाने लगे- देखो तो नखरे, परदे लगवायेंगी! रंडो मायके में देखें, कि यहीं पसड़ फैला रईं। गमट्टू कहीं की। परदा लग जायेंगे, तो अंधेरा नहीं हो जायेगा कमरों में?

इस पर दुर्गी बोली धीरे से- ''तो न लगवाओ फिर...।''

हाँ-हाँ, तुम तो चाहती ही यही हो, अरे परदे लगने से तो शोभा बढ़ जायेगी कमरों की। मगर तुम्हें घर से घर की शोभा से क्या मतलब? भूपत ने पतियाया। आँखों में आँसू भरे दुर्गी बड़ी दीनता से हाथ जोड़कर बोली- ''तुम ही बता दो, हमें क्या कहना चाहिये।'' भाभी तुम्हारी कसम मेरा खून खौल गया यह देखकर कि इस ना कुछ सी बात की आड़ लेकर भूपत ने ढोर-डंगर की तरह से उस गरीब की नस-नस फोड़ दी। मारता जाये, और कहता जाए- हरामजादी, बड़ी भोली है, क्यों? बड़ी भोली है क्यों ऽ ऽ? बोलना नहीं जानती, हमसे पूछ रही है साली।'' इतनी बताते बताते गला भर आया नरेन्द्र का, किरन भी अपनी गीली आँखें पोंछने लगी आँचल से।

''दुर्गी...ओ...दुर्गी बेटा ये थाली-आली लय जाओ यहाँ से। हम लोगों ने खा ली रोटी।''

पुकार सुन कर दुर्गी सास ससुर के कमरे में आई और दद्दा बाई के आगे धरी जूठी थालियाँ उठाने लगी। सास बाई बोलीं- अँधियारा हो रहा है, तनिक बत्ती तो मिल्का दे बेटा।'' दुर्गी ने चुपचाप स्विच दबा दिया, पल भर में उजियारा फैल गया कमरे में।

-''बेटा, रीनी, रीनी सी अनमनी सी क्यों हो! सबके मर्द मानस बाहर जाते हैं कमाने के लिये। एक तुम्हारा अकेला नहीं गया है, धमनावाली का गनेस भी तो गया है। रोजगार जम जायेगा, तो दिन तो तुम्हारे ही फिरने-बहुरने हैं। हंसी-खुशी से रहा करो पहन-ओढ़ कर, जैसी बहुएँ बिटियाँ रहती हैं।'' दुर्गी, सास की बातें सुनती रहीं, बोली कुछ नहीं। संझा बेला होने में अभी थोड़ी देर है। बूढ़े सास-ससुर शाम से कुछ पहले ब्यारी (रात्रिभोजन) कर लेते हैं।

जूठे बर्तन आँगन की मोरी पर धर, दुर्गी अपने सुख दुख की संगी बगिया तरफ चली गई। जाते साथ ही शीतल वायु के झोंके से जी जुड़ा गया, मन कुछ शांत हुआ। इस समय पुरवइया चल रही थी, दिन डूब रहा था, उजाला अभी शेष था। आम, जामुन के पेड़ चिड़ा-चिड़ियों, पखेरुओं से भरते जा रहे थे। कौआ, कोयल, गौरैया, पिड़कुलियाँ सब के सब अपने बसेरों में पैर जमाए चकर-मकर कर रहे थे। कुछ पाखी पखेरुआ चोंच से चोंच भिड़ाए जाने बातें कर रहे थे, कि प्रीत लगा रहे थे, कि ताकत की अजमाइश कर रहे थे, ये कौन जान सकता था? आम के पेड़ पर फैली लतिका गिरने को थी, दुर्गी ने फिर से उसे डाल से लपेट दिया। एकटक साफ नीले आसमान को देखती जाने क्या क्या सोच रही थी दुर्गी-बाई ने भली कही कि आदमी बाहर गया है। सो 'जैसे कंता घर रहें, वैसेई रहें विदेश' क्या फरक पड़ता है। कैसे कहे सासबाई से कि उस औरत पर क्या बीतती होगी जिसका आदमी आँखों के ऐन सामने दूसरी औरत की टाँग में टाँग डाले पड़ा रहता है! घर, बाहर जहाँ जाता है, उन्हीं ठरगा जू को ले जाता है।

कैसे कहे दुर्गी कि अंधे ससुर की खटुलिया के पास ही अपनी टिकटी डाले बैठी रहती हैं सासबाई। हंस-कबूतरों जैसा जोड़ा मुलर-मुलर

आकाश पाताल की बातें करते नहीं अघाता। हंसी दिल्लगी, रार तकरार ऐसी कि जवानों को मात कर दे। एक दिन तो गजब हो गया! नींद नहीं आ रही थी, गला सूख रहा था, सो उस अंधेरी रात में बिना बत्ती जलाए, रसोई में पानी पीने, के लिये आंगन पार कर रही थी दुर्गी। पानी पीकर कमरे में जा रही थी दुर्गी कि ऐसा लगा जैसे कोई आम या नींबू चूस चंचोड़ रहा हो...सुनकर सन्न रह गई, इतनी रात में दद्दा बाई क्या खा रहे होंगे...उनकी ओर जा ही रही थी कि सास की फुसफुसाहट सुनाई पड़ी, ''...इतने कर्रे से नहीं...''

सुनते ही दुर्गी जहाँ की तहाँ खड़ी रह गई। याद करके करेजा आज भी वैसे ही धड़क रहा है, जैसे उस समय कांप रहा था। सोचते सोचते अंधेरा हो गया। शुक्ल पक्ष की द्वितीया की उजली जुन्हाई आसमान में उदित हो चुकी थी। दुर्गी ने लंबी उसांस ली। भीतर जाने के लिये उठी, बगिया के किवाड़े लगा दिये। नरेन्द्र आ गए थे। हाथ मुँह धोकर कपड़े बदल रहे थे।

-''चाय पियोगे, या खाना लगा दें, क्यों लला?'' दुर्गी ने पूछा नरेन्द्र से।

हाथों में थैलिया लिये रसोई तरफ जा रहे नरेन्द्र ने बजाय उत्तर देने के दुर्गी से प्रश्न किया-''पहले ये बताओ, हम क्या लाए हैं थैले में।''

-''हमें क्या पता, तुम क्या लाए हो लला?'' थैले की ओर देखती दुर्गी ने प्रश्नात्मक लहजे में कहा।

-''अच्छा, आलू टमाटर बनाए हैं तुमने रात के खाने में, डोंगे का ढक्कन खोलते रसीली सब्जी देख नरेन्द्र ने पूछा!

- हाँ, रसीली सब्जी में दद्दा-बाई मींड़ कर भरपेट रोटी खा लेते हैं।

- ''अच्छा-अच्छा ठीक है, लेकिन हम लाए हैं भिंडी। भरवां की बनाओ भाभी, अच्छा हम ही बना लेंगे, आज तो हम भिंडी खाकर ही रहेंगे।''

नन्हीं सी मुस्कान खेल गई दुर्गी के ओठों पर। सोचने लगी, भिंडी तो लला को बिल्कुल अच्छी नहीं लगती। फिर? क्यों लाए? सो क्या तुम जानती नहीं कि भिंडी तुम्हें कितनी अच्छी लगती हैं। मन ने कहा और सुन के हंस पड़ी दुर्गी।

मन की हुलास मुँह पर उतर आई। नरेन्द्र क्षण भर देखते ही रह गए, दुर्गी का चंद्रमा जैसा खिला मुख। मन ही मन बोले-''चलो कुछ तो भला हुआ दुर्गी का। इतने में मोबाइल बजने लगा। आवाज तेज करते नरेन्द्र बोले- ''हलो''

-''हलो साब, माफी दै दो, आगे से ऐसी गल्ती नहीं होगी साब?''

-''तेरी हिम्मत कैसे हुई बात करने की बद्तमीज।''

-''साब, घरवाली ने भी क्षिमा दै दी, साब तुम्हारे पाँव पड़ूँ साब''

-''शटअप! सस्पेंड कर दूँगा...ईडियट...'' स्विच ऑफ कर दिया नरेन्द्र ने।

नरेन्द्र का यह रूप देख हैरान हो गई दुर्गी। शहद सी मीठी, फूलों सी मुलामियत वाली आवाज कैसी कड़क रही थी! नरेन्द्र की मुट्ठियाँ अभी तक कसी थीं। आँखें गुस्से से लालोलाल पड़ गईं। गालों की गुलाबी रंगत लालभभूका सी हो आई।

दुर्गी-''क्या बात है लला, हमें नहीं बताओगे?''

नरेन्द्र-''ओ ऽ ऽ भाभी, तुम्हें क्यों नहीं बताऊँगा! अच्छा सुनो-''इसकी बीबी रोती रोती आई थी ऑफिस में। उसने रो रोकर बताया था कि किस तरह यह उसके साथ मारपीट करता है, आज इतना मारा कि उस बेचारी का हाथ नहीं उठ पा रहा था, वह भी चपरासिन है दफ्तर में। हाथ में मोच आ गई थी, छुट्टी की बात करने आई थी, पूछने पर उसने अपना पूरा हाल सुना दिया...भाभी, उसकी पीठ, गर्दन, हाथ पर वैसे ही नीले निशान थे जैसे उस दिन तुम्हारे...मेरे तनबदन में आग लग गई। लगा, जैसे तुम सामने खड़ी रो रही हो। भाभी मैंने आव देखा न ताव फौरन इस दुष्ट का ट्रान्सफर हैड ऑफिस उरई कर दिया। उसकी बीबी तो कब से यही चाहती थी। अभी वह दुष्ट ट्रांसफर रुकवाने के लिये ही मुझे फोन कर रहा था।''

पूरी घटना सुन रीझती सी दुर्गी ने फ्रिज से पानी निकाल गिलास में डाला, और नरेन्द्र के आगे बढ़ा दिया। पानी पीकर जैसे होश सा आ गया नरेन्द्र को।' थैले की भिंडी थाली में निकाल नल के पानी से धोने के लिये रसोई की ओर बढ़े नरेन्द्र। दुर्गी ने बहुत कहा कि तुम रहने दो, हम धो देते हैं, मगर जिद करके नरेन्द्र ने भिंडी ही नहीं धोई, कमरे से स्टूल उठा लाए। जबरन दुर्गी को बिठा दिया। दुर्गी देखती रही। रुच कर नरेन्द्र ने मिक्सी से प्याज का मसाला पीसा, सूखे मसाले भूंजे-पीसे। भिंडी भर के गैस जलाई। एक चूल्हे पर भिंडी दूसरे पर चाय चढ़ा दी। चाय बनाते जायें और बीच बीच में भिंडी को कड़छुल से चलाते जायें। उनकी ऐसी अपूर्व छवि से नैन नहीं हट पा रहे थे दुर्गी के।

-''लीजिये भाभी साहिबा, चाय का कप बढ़ाया नरेन्द्र ने। हाथ से हाथ छू गए। बिजली सी कौंध गई अंगों में, दुर्गी चुपचाप चाय पीने लगी। नरेन्द्र एकटक देख रहे थे दुर्गी को। इतने में आवाज आई सासबाई की-''ओ ऽ ऽ ऽ दुर्गी ई ई...कहाँ है ऽ ऽ...देख तो, मोबाइल टेर रहा है...दुर्गी ई ई ई...।'' दुर्गी सासबाई के पास गई। मोबाइल उठा कर बात करने लगी। उधर से आशा चाची कह रही थीं- ''रोजगार ध ीमे धीमे जम रहा है। हमारी तबियत भी सुधर रही है पर अभी तो हम लोग आ नहीं पायेंगे''। मोबाइल सुन कर जब दुर्गी भीतर आई, तब तक तो नरेन्द्र ने दो थालियों में भोजन परोस लिया था। खा-पी कर दुर्गी बर्तन भांडे धो समेट, अपने कमरे में चली गई। नरेन्द्र मौसी-मौसिया के पास बैठ टी.वी. देखने लगे।

कड़ाके की ठंड पड़ रही है इस साल! सूर्यनारायण एक तो निकलते नहीं हैं, और निकलते भी हैं, सो ऐसे, जैसे शरद पूर्णिमा के चंद्रमा हों! बिल्कुल सीरे-जूड़े। बसंत डोल रहे थे। हवा ऐसी ठंडी कि हड्डियाँ कँप जाँय! आज छः सात दिन बाद घाम ने अच्छी तेजी पकड़ी थी सुबह से ही। सासबाई ने घाम की तेजी देखकर दुर्गी को आदेश दिया था कि आधेक सेर मूँग की मुगौड़ी लगा दे। सो तुरंत दुर्गी ने सुबह ही मूँग की दाल भिगोने रख दी थी। जब तक रोटी पानी का काम किया, तब तक दाल फूल गई थी। उसे धोकर झट्ट से मिक्सी में पीस लिया दुर्गी ने। धमनावाली जिज्जी भी आ गई थीं। दोनों जनीं, ऊपर छत पर चली गईं मुंगौड़ियाँ लगाने। नरेन्द्र का कमरा ऊपर ही था। ड्यूटी जाने

के लिये तैयार हो रहे थे वे। उन्होंने खटियाँ बाहर निकाल दी थीं कमरे से। इन्हीं खटियों पर धोती डाल उस पर मुंगौड़ियाँ बनाने लगीं दुर्गी और किरन। इतने में नरेन्द्र आ गए मोबाइल लेकर, दुर्गी को देते बोले-''लो बात कर लो, भूपत हैं। स्पीकर ऑन कर दिया था नरेन्द्र ने। सब जने सुन रहे थे बतकाव-

दुर्गी- ''हलो''

भूपत- ''हाँ, हिल गए। आशा को चूड़ियाँ खरीदवा दीं, तुम्हारे भतीजे की शादी कब है?''

दुर्गी- ''वैशाख में। अक्षय तीज के आसपास।''

भूपत-''ब्याह में जाने के लिये क्या लेना है तुम्हें?''

दुर्गी- ''कुछ नहीं।''

भूपत- ''कोई और खसम कर लिया क्या? सो हमारी जरूरत नहीं रही, क्यों?''

दुर्गी-''हमें कुछ नहीं चाहिये। जो तुम्हें लाना हो ले आना।''

भूपत-''सोच रहा हूँ, हार ले लूँ, यहाँ के सुनार टोला की दुकानों में छोटे से छोटे उम्दा हार हैं।''

दुर्गी- ''हाँ, ठीक है।''

भूपत- ''नहीं, हार नहीं। हार पहन कर हार होती है। कर्णफूल ठीक रहेंगे। बोलो?''

दुर्गी- ''हाँ, वे ही ले लेना।''

भूपत-''अरे नहीं, कर्णफूल नहीं, कानों के छेद बड़े हो जायेंगे, लटके से कनफूलों से शोभा नहीं बनेगी। अंगूठी ठीक है। अंगूठी ले आऊँगा।''

दुर्गी-''हाँ, ठीक रहेगी अंगूठी भी।''

भूपत-''अंगूठी तो कतई नहीं, आटा-माड़ते सानते वक्त उतार कर रक्खोगी, खो गई तो? सोना खोना अपशगुन होता है।''

दुर्गी-''एक ठो बिजली का प्रैस ले आना। पुराने लोहे वाले प्रैस से कभी कभी कोयले की कालिख लग जाती है तुम्हारे कपड़ों में।''

भूपत-''हाँ, ये ठीक है।''

दुर्गी-''वैसे तो एक गोदरेज की अलमारी की भी जरूरत है। तुम्हारे प्रैस किये कपड़े संदूक में रखती हूँ तो उनकी क्रीज बिगड़ जाती है। अलमारी में हैंगर में टँगे रहेंगे तो मुड़ेंगे-तुड़ेंगे नहीं। अलमारी ले आना।''

भूपत-''ठीक है, तुम्हारी दोनों फरमाइशें पूरी कर दूँगा, तुम भी क्या याद करोगी कि किस रईस से पाला पड़ा। चलो, अब बंद करो मोबाइल। मोबाइल का स्पीकर ऑन होने के कारण नरेन्द्र और किरन ने पूरी बातें सुन ली थीं। कोई कुछ न बोला। नरेन्द्र थोड़ी देर बाद ऑफिस चले गए।''

ये दोनों जनीं मुगौड़ियां देने लगीं। घाम की तेजी से पसीना निकलने लगा था। मुगौड़ियां दे के नीचे उतरीं, नीचे अभी भी बर्फीली ठंडक थी। कुछ देर पहले की गर्मी न जाने कहाँ बिला गई, ठंडे शरीर को गरम करने के लिए दोनों ने फिर से स्वेटर पहन लिये, जो वे नीचे उतार कर धर गईं थीं। जानती थीं कि छत पर इनकी जरूरत नहीं पड़ेगी। दुर्गी ने अदरक डाल के चाय बनाई। इत्मीनान से चाय पीने लगीं किरन और दुर्गी।

घड़ी की टन्न-मन्न से आँखें खुल गईं एकदम! दुर्गी ने घड़ी देखी। तुरंत उठ बैठी। कभी नहीं सोती दिन दुपहरिया में, पर नींद ही तो ठहरी, लगी सो लगी! चार बज रहे थे। दद्दा बाई को भूख लग आई होगी। रसोई में गई, पालक की भाजी और दाल रक्खी थी सुबह की। झट से आलू उबाल कर मठीले आलू बनाए, और लो दद्दाबाई को गरम गरम रोटियाँ सेंक कर जिमा दिया। हवा की अधिकता के कारण गैस बुझ-बुझ जा रही थी, पर चलो बना खिला दिया किसी तरह। धीरे-धीरे हवा ने इतना जोर पकड़ा कि आँधी सी उठ पड़ी। खिड़कियों के पल्ला और किवाड़े भट्-भट् करने लगे। धूल भरी आँधी के साथ ही पानी की बूँदें आने लगीं...और लो पानी बरसने लगा। बादल ऐसे काले, जैसे निपट करिया अजगर हों।

''ओ मताई...ऊपर मंगौड़ी और अचार की बरनी हैं'' दौड़ के सीढ़ियाँ चढ़ गई दुर्गी। जल्दी जल्दी मंगौड़ी वाली धोती उठाई, खटुलियां भींग न जाँयें, सो नरेन्द्र के कमरे में रख दी। मुगौड़ी वाली धोती अपनी गोद में सम्हाले समेटे अचार की बरनी उठाने वाली ही थी कि उधर से नरेन्द्र आ झुक पड़े, बरनी उठाने के लिये। और लो अच्छे खासे टकरा गए दोनों। सिर से सिर ऐसे भिड़ा, जैसे कैथे में ईंट मार दी हो किसी ने।

''ओ ऽ ऽ ऽ राम ऽ ऽ!'' दुर्गी के मुँह से पीड़ा की गुहार निकली। आँखों के आगे अंधेरा सा घिर आया चक्कर सा आ गया उसे, पके आम सी भुंई पे गिरती, के नरेन्द्र ने अपनी मजबूत बाँहों में कस ली दुर्गी।

''भाभी...सॉरी...हम तो बरनी उठाने के लिये ये सोच के झुक पड़े कि अकेली तुम एक संग क्या क्या उठा पाओगी...इसी से नहीं देख पाए कि तुम भी झुक रही थीं...सॉरी भाभी...कहाँ लगी है? ऐसी पीर से बोले नरेन्द्र जैसे खुद घायल हो गए हों।

''भाभी...'' रुआंसे से हो गए नरेन्द्र।

''ऐ भाभी...'' अनहोनी की आशंका से हाथों के तोते उड़ पड़े नरेन्द्र के। बेआवाज दुर्गी का मुँह लटक गया था उनके हाथों पर।

अब नीम बेहोशी की हालत में काँख रही है दुर्गी...अपनी शक्ति खोकर झूली सी रह गई...आँखें बंद...धीमी सांस...हाथ-पांव झूठे से ढीले पड़ गए। अखेल बछड़े सा नया जवान नरेन्द्र जनी की यह दशा देख, बौरा सा गया। किसके कारण हुई ये दशा। हमारे सिर की टक्कर से! आँखों की पुतली सी यह वही दुर्गी है, जिसके संग ब्याह की बात चली थी। भैया ने मना कर दिया था कि पहले नरेन्द्र पढ़ाई पूरी करें, कुछ कमाने धमाने लगें, ब्याह वाले तो फिर पचासों पीछे फिरेंगे। भूपत जैसे कसाई संग दुर्गी के हाथ पीले होते देख, नरेन्द्र ने भैया को मन ही मन खूब गालियाँ दी थीं। पुरा पड़ोस के जनी मान्स कैसी बोली मार रहे थे, हंसकर-''चिरैंयां खेत चुन गईं, अब बैठे रहो बेटा।'' बाँहों में फैली बंधी दुर्गी की आवाज ऐसे निकली जैसे प्राण निकल पड़े हों। नरेन्द्र को कुछ न सूझ पड़ा कि ज्यादा कहाँ लगी, सिर में, माथे में, या नाक पर, या गले में...दुर्गी की नाक से झलझल खून निकलता देख, नरेन्द्र का दम सा निकलने को हुआ...नाक का रक्त पोंछ, जहाँ तहाँ हाथ फिरने लगे...कहाँ लग गई भाभी।

''ऊँ ह आ ऽ ऽ ऽ ह ऊँ ह...'' दुर्गी की कराह सुन विकल नरेन्द्र ने अपना मुख सटा दिया ।

''भाभी...ओ दुर्गी...आँखें खोलो...बताओ तो''

बेतरह कराहती बेहोशी में जकड़ती जा रही दुर्गी को हल्के से झिंझोड़ने लगे नरेन्द्र ''आँखें खोलो भाभी...रो क्यों रही हो, अकबकाहट में दुर्गी से लिपट भरभरा कर रो पड़े खुद भी। दुर्गी गैरहोश सी जैसे सपना सा देखने लगी...भूपत आ गये...जा क्यों रहे हो...नरेन्द्र रोक लो. ..भूपत बिल्कुल सामने खड़े हैं...दुर्गी ने हरी लतिका की भाँति अपने मुलायम हाथों से...मजबूत पुरुष हाथ खींच लिये...अपने अंग-अंग पर रखने लगी है...यहाँ नहीं...यहाँ...यहाँ...सन्निपात से बाबरी दुर्गी बर्रा रही है...क्यों तरसाते हो हमें...अब जाने नहीं देंगे...देखो तुम्हारा रास्ता ताक रहे थे...ये...ये बटन खुल गए...उर का ऐसा ओज देख नरेन्द्र की आँखें चौंधिया गईं। होश खोकर गुथ पड़े नरेन्द्र। कंटीले मूंछोदार ओंठ रसकलशों से उलझ पड़े प्यासी धरती की दरारें पानी से लबालब हो गईं। बसंत की गीली इस सांझ में ईसुरी की फागों के रंग धुल रहे थे। खुल रहे थे। खिल रहे थे।

समयरथी अचंभे में ठिठक कर खड़ा रह गया।

उस दिन ने, उस सांझ ने नरेन्द्र के मुख पर सुबरन खजाना मिलने की खुशी ऐसी लिख दी कि मिटाए न मिटी। कोरी तरुनाई की रोबीली रेखें, भरे पूरे मरद की कड़कदार मूँछें हो गईं।

आँखें दुर्गी को 'अपनी जनी' की नाईं चीन्हने लगीं। कोई और जान पाया या नहीं जान पाया, मगर दुर्गी नरेन्द्र की आँखों की इस चिन्हार को अच्छी तरियां जान गई। आकाश के चन्द्रमा की तरह दुर्गी का रूप नित-नित खिल खुल रहा था। अंग-अंग में ऐसी हुलास जैसे भरी पूरी सचल फुलवारी हो। घर जगमगा गया। नए से नए सिंगारों में रूप और और झलकै।

आज धमनावाली जिज्जी के संग बाजार कर रई है दुर्गी। दद्दा के लिये नई हवाई चप्पलें लीं। बाई के लिये महानारायणी तेल और आमवात की गोलियों की शीशी ली। सुहाग भरे माथे पर उनको लगाने के लिये बैलवेट की रंगबिरंगी बिंदियों का पत्ता। पहनने के लिये नई बिछियाँ।

धमनावाली-''अपने लिये कुछ तो ले लो बिन्ना, तुम तो अपने सास ससुर के लिये कर रही हो पूरा बाजार!''

-''अपने लिये क्या लेना है, सब कुछ तो ला देते हैं नरेन्द्र!'' दुर्गी ने सब्जियों से भरा झोला हाथों में लेते कहा।

-''कह तो साँची रही हो दुर्गी, हमाए नरेन्द्र को कितना ख्याल रहता है तुम्हारा'' धमनावाली ने हँस कर कहा।

नरेन्द्र का नाम सुनते ही लजीली चमक सी आई दुर्गी के मुख पर। धमनावाली ने ताड़ लिया। मंद मंद मुस्कान उभरी ओठों पर।

बाजार करके थकी हारी दोनों जनी घर आ गईं। दुर्गी ने धमनावाली जिज्जी को चाय पिलाने की कहकर अपने घर की तरफ मोड़ लिया था। घर में घुसते ही दुर्गी की ऊपर की सांस ऊपर और नीचे की नीचे ही रह गई। सामने कुर्सी पर यमराज सा भूपत बैठा था।

ओ ऽ ऽ ऽ माई, ये कब आ गए! न खबर अतर न फोन मोबाइल! जरूर कुछ बात है, सोचती सी दुर्गी भीतर जाने लगी, संग में धमनावाली थी।

''लाला, कैसे भूल पड़े एकाएक।'' धमनावाली ने भूपत से पूछा पर रुक न सकी, बाहर से कोई चिल्ला कर कह रहा था-''धमनावाली, तुम्हारे घर के द्वारे पर कोरियर वाला खड़ा है लिफाफा लिये।'' सुनते ही धमनावाली अपने घर चली गई।

दुर्गी झटपट चाय बनाकर दे गई बैठक में। अपनी चाय रसोई में जाकर ली, वहाँ से निकल ही रही थी कि भूपत ने रास्ता रोक लिया। दुर्गी को कँपकँपी सी छूट गई। जाने क्या होने वाला है अब।

एकदम से भूपत ने हाथ मरोड़ दिया दुर्गी का,-''कहाँ कहाँ जाती रहती है खसमों के पास ऐं...काए?'' दुर्गी को चुप देख भूपत ने दुबारा पूरी ताकत से ऐसी कलाई मरोड़ी कि दुर्गी से रहा नहीं गया एकदम से फड़फड़ाती हाथ छुड़ाने लगी, बजाय हाथ छोड़ने के भूपत ने झटका देकर पक्के फर्श पर पटक दिया। फिर तो लात, घूँसों की बौछारों में दुर्गी की गगनभेदी चीखें दीवार फोड़ के बाहर तक गूँजने लगीं। भूपत पर तो जैसे खून सवार, लाल आँखों से चिंगारियाँ फूट रही थीं, ओंठ फड़क रहे थे, मुँह से झाग निकल ओंठों के किनारों पर आ रहा था मार-मार के चटनी बना डाली दुर्गी की...साली...हरामजादी...बोल....साली किसका है...जिंदा नहीं छोडूँगा, न तुझे न तेरे उस खसम को...बोल किसके संग फंसी...पेट किसका है...पेट पर ऐसी लात मारी की मछरिया की नाईं तलफ उठी दुर्गी। शरीर के नग-नग चुटिया गए, ओंठ फट गया था माथे पर गूमड़ दिखने लगा, और गाल तो ऐसे गए, ज्यों गुब्बारा हों।

''जा साली...उसी यार के पास...अब इस घर से निकल... निकल...। अधमरी दुर्गी निचुड़ी सी पड़ी थी। वैसी ही पड़ी रही। फूटी चूड़ियाँ, कान के बाला, पायल, सब इधर उधर छिड़के से पड़े थे आँसू, लार और नाक के पानी पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। भूपत ने एक ठोकर लगाई, फुटबाल की नाईं लुढ़क कर दुर्गी बैठक के किवाड़ों से जा लगी। भूपन ने धोती, ब्लाउज और पेटीकोट इस तरह से उतारे कि कपड़ों की भयंकर रगड़ से चिन्ह पड़ गए दुर्गी के शरीर में जमकर एक ठोकर मारी...दुर्गी पूर्णतः निवर्सना...बीच गली में चित्त...। गली में भीड़ लग गई। भीड़ के बीचों बीच पड़ी दुर्गी तमाशा बन गई, सबके लिये। भूपत बाहर निकल के गर्जने लगा...देखता हूँ कौन मा...आता है इसके पास...जिसमें दम होय आ के पच्छदारी करे इस छिनरिया की...असल का हूँगा तो यहीं पर लाशें बिछा दूँगा। भैन...की...बुला साली रंडी...बुला अब अपने भड़ुओं को...''। भीड़ तितर-बितर होने लगी। पति-पत्नी के टंटे में कौन पड़े। सबको अपनी जान और इज्जत प्यारी है। ऐसे चले गए, जैसे कुछ हुआ ही न हो। भूपत ने एक बार फिर अचेत-सी दुर्गी को ठोकर मारी, पानमसाले की पीक उस पर थूकी अनाप-शनाप गालियाँ बकता घर में घुसा और भड़ाक से द्वार बंद कर कुंडी लगा ली।

धमनावाली किरन जल्दी जल्दी चली आ रही थी अपने घर की ओर। रात आधी से ज्यादा हो गई थी। गली में ज्यादा उजाला नहीं था। कुत्ते भौंक रहे थे। हट्ट हट्ट करती किरन का पैर टकरा गया। एकदम से गिर पड़ी...दुर्गी के ऊपर। गठरिया-सी बनी दुर्गी का पूरा शरीर अकड़ कर कड़ा पड़ गया था। ''दुर्गी...ओ ऽ ऽ राम, बीच गैल में कैसी...किसने ये दशा की...। बदहवास-सी...धमनावाली किसी तरह से दुर्गी को खींच-खाँच कर उसके द्वारे तक ले आईं, बड़ी देर तक कुंडी खड़खड़ाई, घंटी पर घंटी बजाई, भूपत का नाम ले ले कर बुलाया...मगर न कोई

आया न कुंडी खोली...। हार के दुर्गी ने गुप्ता जी की द्वारे के सांकल बजाई।

'को आय'? कहते गुप्ता जी किवाड़े खोल बाहर निकले। धमनावाली को एक-एक बात बताई उनने। अपनी दुकान में बैठे-बैठे उन्होंने भी उस अनहोनी को होते देखा था। उन्हीं की मदद लेकर दुर्गी को अस्पताल में भर्ती किया। ग्लूकोज चढ़ने लगा तुरंत। डॉक्टर तो नहीं थे, पर बूढ़ी नर्स होशियार थी। उसने दवाई-दारू की हाथ में जहाँ चोट ज्यादा थी, पट्टी बाँधी और तीमारदारों को तसल्ली दे, स्टाफ रूम में चली गई। इतना होते करते सुबह के चार बज चुके थे। गुप्ता जी बोले, ''धमनावाली, हम जा रए हैं। भूपत उइसई बहुतै सक्की आदमी है, ओहिका पता चलिगा तो हमरा तौ कुछौ नाहीं, पै इस गरीबनी का बहुत कुछ बिगड़ि जइहै।''

धमनावाली-''भूपत शेर नहीं है, कि देखते ही तुमको खा जायेगा। हम औरत हो के नहीं डर रए, और आदमी का इत्ता बड़ा चोला लय के तुम्हरे पनपना कँप रए हैं, पुरा पड़ोस में रह के अइसा करोगे? घर जाना है तो जाओ, पर घंटाक में आ जाना और सिठानी से जरा हल्दी डलवा कर गर्म दूध लेते आना। चुटहिल दुर्गी को राहत मिलेगी हल्दी डले दूध से।'' धमनावाली की बातों से जैसे झपकी सी खुली गुप्ता जी की, और पड़ोसी धर्म का निर्वाह करने चल दिये, यह कहते-जल्दी से जल्दी लौटूँगा।

दुर्गी को होश आ रहा था, मंद स्वरों में पानी पानी गुहरा रही थी। किरन ने बोतल से दो घूंट पानी पिलाया। दुर्गी बोलने को हुई, वैसे ही किरन ने अपना हाथ उसके मुँह पर धर दिया। कुछ समय तक दोनों चुप रहीं। किरन ने सहारे से उठाया और दूध का गिलास पकड़ा दिया दुर्गी को। इशारा दिया कि पी जाव। अभी बोलो नहीं। हमें सब पता चल गया है। क्षण भर की चुप्पी के बाद बोली- 'दुर्गी तुम्हारे यहाँ थी, कि कोरियर की सुनते ही मैं बाहर आ गई थी। चिट्ठी मेरे भाई की थी, उसमें जिस तारीख को मित्र को बीस हजार रुपये देने की बात थी, वह यही तारीख थी। और जिस ट्रेन से उनका दोस्त यहाँ से गुजरने वाला था, उसके समय में मात्र एक घंटा बचा था। मैंने ताला खोला, पैसे लिए और तुरंत रेलवे स्टेशन पहुँच गई। चाय, खाना, पानी कुछ भी नहीं और आधा-आधा घंटा करते करते पूरे बारह बजे रात को ट्रेन आई। मैंने भैया के दोस्त को पैसे दिए और चली आई। घर के पास तुमसे टकरा के गिर पड़ी...तभी गुप्ता जी, वही दुकानदार शिवकिशोर, उनने बताई पूरी बातें, उनही के संग लिवा के तुम्हें यहाँ भरती कराया! भूपत ने क्यों किया ऐसा? किसने कान भरे होंगे उसके दुर्गी?''

दुर्गी, उठकर किरन की गोद में मुँह छुपा के सिसकने लगी। रोते रोते हिचकियाँ आने लगीं? रोते ही रोते एक एक बात बता दी कि कैसे लाज लिहाज ताक पर धर के आशा चाची और भूपत...सास-ससुर के रावला (नाटक) और उस दिन की शाम हुई सिर से सिर की टक्कर...। जिज्जी हम तो गैरहोश से हो गए थे...और नरेन्द्र का बिल्कुल दोष नहीं...हमीं ने ले लिया उनका संयम। जिज्जी...क्या बताएँ तुम क्या जानती नहीं हो कि लाखों में एक हीरा हैं नरेन्द्र।''

-''जिस दिन से इस घर की देहरी पर पाँव रखा, उसी दिन से सुख साके हिरा गए हमारे। हम तो ब्याहे बरे होकर भी कुँवारे के कुँवारे रहे...मुश्किल से तुम्हारे भूपत लाला हमारे ढिंग आते थे उन्हीं दो-तीन दिनों सो ऐसी बुरी दशा कर दें कि दिसा मैदान को तरस जायें हम...न बैठते बने...न पखाना करते...खून ऐसे निकलने लगता था जैसे बबासीर हो गई हो।''

-''जिज्जी नरेन्द्र का संयम न छूटता तो हम तो जान ही न पाते कि आदमी और जनी का मिलना कैसा होता है।''

-''रामदई जिज्जी, मैंने पहली बार जाना कि जब दो रस एक हो पड़ते हैं तो सातों सुक्ख और सरग किवड़ियों के वैभव भी कमतर होते हैं, उस आनंद के सामने...।''

-''और लो, तब से 'उन्ना-कपड़ा' से नहीं हुई मैं। न खाने को जी, न पीने को। खाली पेट और इस पर भी उल्टी-पल्टी...मुझे लगता है सासबाई ने एक में चार मिला कर 'इनसे' कही होगी यही सब बातें।''

-''हमारे नाना करम होते रहे, दद्दाबाई ने चूँ तक नहीं की, ऊपर से ये और कहा कि यह बदनामी चाहे अपने संग लिवा जाओ, चाहे मारो चाहे छोड़ो...यहाँ से करिया मुँह करो इसका...।''

-''जिज्जी हम कहाँ जाँय अब, क्या करें...नरेन्द्र कम से कम दो महीना बाद आयेंगे, वे होते तो बात ही दूसरी होती।''

धमनावाली-''कहाँ गए, अभी मंगल को तो यहीं देखा था हमने उन्हें, क्यों दुर्गी?''

दुर्गी-''मंगल की शाम को ही गए है मलेशिया। जिज्जी किसी से कलम ले के नंबर लिख लो, और नहीं तो अगर मोबाइल हो तुम्हारे पास, तो हम बोल रहे हैं, तुम मिला लो।''

धमनावाली ने मोबाइल निकाला ब्लाउज में से। दुर्गी ने नंबर बोल दिया। मगर नंबर मिल ही नहीं रहा था। कुछ सोचकर किरन अस्पलात के सामने वाले पी.सी.ओ.में गई। वहाँ मुश्किल से मलेशिया का कोड नंबर मिल पाया...बहरहाल बात हो गई नरेन्द्र से। सारी परिस्थिति जान कर नरेन्द्र ने कहा था कि तुम अभी सम्हाल लो भाभी। फिर तो हम हैं ही। दुर्गी को रात से ही फोन मिला रहे थे, अब समझ में आई कि बात क्यों नहीं हो पा रही थी। भाभी अभी दुर्गी से मेरी बात करा दो।''

किरन ने पी.सी.ओ. से निकलकर, अस्पताल का रुख किया। दुर्गी को नरेन्द्र से हुई बातें बतलाकर, अपना मोबाइल वहीं छोड़ा और घर के लिये निकल गई। दुर्गी को अभी बुखार था, अभी एक दो दिन तो अस्पताल से छुट्टी होते नहीं दिखती।

दुर्गी ने देखा कि रिक्शा थाने पर आकर रुक गया। किरन बोली, देखती क्या हो, उतरो!

-''क्यों, यहाँ थाने में?'' भारी अचरज हुआ दुर्गी को।

-''हाँ, थाने में, दुर्गी तुम्हें हम पर विश्वास है कि नहीं। अगर है, तो बस चुपचाप हमारी कही करती जाओ, रानी बिटिया बन कें। किरन ने कहा। दुर्गी कुछ न बोली, रिक्शे से उतर गई।

थाने में दीवान साहब ने पहले तो बहुत टालमटोल की, फिर तहरीर ले ली किरन के हाथ से। बोला, जाओ अब दोनों जनीं यहाँ से। किरन खड़ी रही।

-''जाती क्यों नहीं तुम लोग?''

-''जाँयें कैसे, मुहर लगा के इसकी कॉपी देओ पहले।''

-''ऐं ऽ ऽ मुहर लगा कें?' दीवान को अचंभा हुआ। दिखने में साधारण सी इन जनियों को भी सब कायदे कानून पता हैं?''

-''सीधी तरह से कापी दे रहे हो, कि हम थानेदार साब के पास जाँये...'' किरन कह ही रही थी, इतने में थानेदार बाहर निकल कर दीवान की क्लास लेने लगे, शायद उन्होंने कक्ष के भीतर से ही दीवान की हीलहवाली देख ली थी। सिटपिटाए दीवान ने मुहर लगा, तहरीर की कॉपी दे दी। थानेदार बोले-''आप लोग निश्चिन्त होकर घर जाइये, मैं भी आपके पीछे पहुँच रहा हूँ मौका मुआमला की तहकीकात करने।''

रास्तेभर धमनावाली किरन समझाती रही दुर्गी को-''सज्जनता यह नहीं कहती कि अपना बचाव मत करो! अब डरने से काम नहीं चलेगा। दबंगियत से जाओ घर। तुम्हारा भी उस घर पर उतना ही हक है जितना भूपत का है। ऐसे कैसे तुम्हें कोई निकाल सकता है वहाँ से? इस तहरीर की फोटोकॉपी फेंकना उनके मुँह पर।''

-''कहना कि एन.सी.आर.लिखा के आ रहे हैं थाने से।''

-'कि अब हमें कुछ हो जायेगा तो बेटा बँधे-बँधे फिरोगे तीनों जने। हम लिख के दे आए थाने में कि हमारी जान और माल के नुकसान के जिम्मेदार हमाई सास ससुर और पति समझे जाये। इनसे हमें जानमाल का खतरा है।

सच ही, जब दुर्गी ने तहरीर की फोटोकॉपी पकड़ाई भूपत को, तब तो मुँह देखने लायक था उसका। सारे गर्राट उतर गये। दद्दा बाई ने जानी, सो ऐसें चिमा गए, जैसे सांप सूंघ गया हो। रही-सही कसर थानेदार ने आकर पूरी कर दी। ऐसा हड़काया कि कंपकंपाहट छूटने लगी भूपत और बुड्ढा-बुढ़िया की।

थानेदार ने चलने से पहले दुर्गी से कहा-''दुर्गावती, मेरा मोबाइल नम्बर ये है, कहकर अपना कार्ड दिया। कहा-अगर ये लोग तुम्हें परेशान करें तो तुरंत मोबाइल करना। थानेदार को देखते ही दुर्गी भीतर चली गई थी, जब तक थानेदार ने भूपत की खबर ली, तब तक दुर्गी ने चाय बना ली थी। चाय की ट्रे धर कर उसने कार्ड लिया, फिर विनती की कि साब चाय पी कर जाओ, हम तो आपकी मोंड़ी लेखें हैं थानेदार जी। थानेदार ने चाय का कप ले लिया दुर्गी के हाथ से। दुर्गी ने ट्रे रख दी। भूपत ने दद्दा बाई को कप दिये, फिर अपना कप लेकर चाय पीने लगा। चाय पीकर थानेदार ने दुर्गी के सिर पर स्नेह से हाथ रक्खा, दिलासा दी। फिर मोटर साइकिल स्टार्ट करके चला गया। दुर्गी की आँखों में आँसू भर आए जूठे कप बटोर भीतर चली गई।

दूसरे दिन भूपत वापस चला गया। दोपहर में धमनावाली किरन आई। थैला लाई थी, उसमें ताजे अमरूदों के साथ एक डिब्बे में नया नया आँवले का अचार था। एक छोटे से टिफिन में दही बड़ा थे। थैला उसने दुर्गी को दे दिया, फिर बोली-''कल तो हमने अच्छी सुनाईं भूपत ललाजू को। आज उन्हें जाना था, सो मास्साब की किताबें लेने के लिये आये थे, हमारे यहाँ। जैसे ही उनने तुम्हें गरियाना शुरू किया, वैसे ही मैंने आड़े हाथों लिया ललाजू को। जितनी कही सो हक्क की बात कही। मगर कर्रेपन के संग।''

-''यही कि तुम, बिन मुँह की लुगाई पा गए, सो गर्रा रहे हो, हमारे जैसी मिलती तो चोला झक्क कर देती ललाजू।''

-'हमने सब सुनी थी कि क्या क्या कह रहे थे उस दिन तुम मोबाइल पर? कि हार पहन के हार होती है। क्यों? सो, दो-दो हार अपनी छोटी बहिन को क्यों दिये थे तुमने उसके ब्याह में।' सो दुर्गी, इतनी सुनकर बोले कि 'तुम्हारे भतार -कि बहिन तो हमारी जिम्मेदारी थी।' सो मैंने तुरंत कहा- 'दुर्गी किसकी जिम्मेदारी थी, तुम्हारी कि पुरा पड़ोसियों की' बहिन के लिये ला सकते हो, उसके लिये हार-जीत नहीं है, न पइसा कौड़ी की कमी। लुगाई के लिये ही फूँका पड़ा है, वो तो बस सेवा खुशामद करने के लिये है सबकी। सेवा तुम कराओ, तुम्हारे माँ-बाप कराएँ, और पहराएँ उढ़ाएँ पुरा-पड़ोसी? क्या कह रहे थे अँगूठी के लिये कि कहीं खो जायेगी? तब तो फिर किसी जनी, लुगाई को न अंगूठी पहननी चाहिये और न सुनारों को बनाना चाहिये!'' दुर्गी सीधे नहीं हैं भूपत, बोले- 'भाभी तुम बेकार में खरी खोटी सुना रहीं हो, पूछ लेना, मैंने उनकी दोनों फरमाइशों पर हामी भरी थी। प्रैस और अल्मारी की।'' मैंने कहा-''किसी और को पढ़ाना लला, हम दुर्गी नहीं हैं कि जैसी तुमने कही हमने मान ली...।''

-''हमें न बनाओ, प्रैस और अल्मारी तो तुम अपने ही लिये लाए थे। कि तुम्हारे उन्ना कपड़ा झकाझक प्रैस करे हैंगर में टँगे रहें अल्मारी में। दुर्गी का तो काम ही बढ़ाया तुमने। ऊपर से एहसान यह, कि फरमाइशें पूरी कर रहे हो उसकी...।''

-''मैंने तो खूब कहा जनी, लुगाई अपनी शौक-मौज, सिंगार-पटार की चीजें आदमी से न माँगे तो किससे कहे, किससे माँगे? फिर, तुम्हारे पास कमी तो नहीं, सोना बरस रहा है रोजगार में, पर तुमने कभी एक पैसा तक खर्च नहीं किया दुर्गी के लिये, तुम्हें उसकी चिंता फिकर, हिया-हिलोर नहीं है। बस नौकरानी की दर रक्खी है तुमने उसकी। दो रोटी खाए, पड़ी रहे।''

- सुनते ही उचक पड़े, बोले-''हमने कदर करी न करी, नरेन्द्र तो झुला रहे हैं पलना, भाभी, जिंदा नहीं छोड़ूँगा न दुर्गी को, न उस नरेन्द्र को, दुर्गी को इतनी ही जवानी चढ़ी थी, तो चली आती हमारे ढिंगा, हम मर गए थे क्या? नरेन्द्र में ऐसे क्या लाल लगे थे, जो धर ली उसकी पेशाब कूँख में...।'' मैंने मौका नहीं चूका दुर्गी, कह ही तो दिया कि ''तुम तो ऐन थे, मगर होते हुए भी, उसके हुए क्या? उसको तो अपने पास तक फटकने नहीं दिया कभी, तरसा-तरसा कर कलपाते रहे उसकी जवानी। और नरेन्द्र की बात कह रहे हो? कुछ, पता है? कि ऐसे ही। जो हुआ सो बिल्कुल अचानक हो पड़ा, क्यों भूपत, दुर्गी तो गैरहोशी में एक ही बार एकमएक भई नरेन्द्र से, और तुम तो वर्षों से एन डंके की चोट पर आशा चाची के संग रह रहे हो, सो कुछ नहीं? काए से कि तुम मरद, आदमी हो, जो चाहे कर सकते हो। उमर और जवानी तो बस तुम्हीं को चढ़ी। दुर्गी के कौन जी जान है। न उसे काया के धरम रखने की जरूरत है। नासपरे जू, ऐन बुढ़ापे में बाप मताई टाँग में टाँग डारें सो रहे हैं, और भर जवानी में बहू दूसरे कमरा में अंगारों पे लोट रही है, तुम्हारी और चाची की रंगरेलियाँ देख रही है। धन्य है दुर्गी, कोई और होती, तो कब की भाग जाती कहीं।'' हाँफ गई किरन, फिर बोली-''दुर्गी, फिर कुछ जवाब नहीं सूझ पड़ा उन्हें। ऐसे भागे हमारे घर से, कि भगत गैल न मिली उन्हें। दुर्गी ने आँखें फाड़ी पूछा- 'काए जिज्जी, सच में तुमने ये सब कहा?'''

किरन-''हाँ, खूब कहा। उनके डर थोड़े ही पड़े हमें।''

दिन पूरे हो गए थे। दुर्गी ने स्वस्थ, सुंदर हीरा सा लाल जाया। घर के लोगों की पंचायत बैठी। दद्दा, बाई, नरेन्द्र, आशा चाची, और गोदी में नन्हा बालक लिये दुर्गी।

दुर्गी कुछ बोलती, इससे पहले नरेन्द्र ने कहा-''भूपत, अगर तुम आशा को छोड़कर दुर्गी को उसका दर्जा दे सकते हो, तो मैं इसी बखत यहाँ से चला जाऊँगा। भूपत बेसरमी से हंसा। उसके मुँह से निकला-''न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी।'' बाप की तरफ देख के बोला-''तुम क्या कहते हो दद्दा?'' पहली बार घर का मुखिया बोला-''हम क्या कहें? अब यही देख लो, तुम जिठौत हो आशा के, वह तुम्हारी चाची है, जब तुम उसे राखे हो, तो नरेन्द्र भी तुम्हारा मौसेरा भाई है, तुम्हारी माँ का दूध पीकर बड़ा हुआ है। दुर्गी भाभी है उसकी। अब अगर वे दोनों राजी हैं, तो हम क्या बोलें? देवर क्या रखते नहीं हैं भाभी को? दद्दा की बातें सुनकर बाई ने बस इतना कहा- ''बुढ़ापे में खोपड़ी उलट गई बुढ़ऊ की, सो अनहोनी बातें कह रहे हैं...।'' इस पर दद्दा गुस्सा हो पड़े-''लड़का करे, सो होनी, और बहन का लड़का करे सो अनहोनी?'' दुर्गी ने साफ-साफ कह दिया कि अब इस जनम में तो चाहे जो कुछ हो जाए, हम नरेन्द्र को नहीं छोड़ सकते, भले हमें तलाक लेना पड़े, सो ले लेंगे।'' पर तलाक की नौबत नहीं आई। समझौता हो गया।

आज इन बातों को हुए दस साल हो गए। दुर्गी को दो बच्चे और हो गए। एक बिटिया और दो लड़के थे अब उसके। तीनों का लालन-पालन नरेन्द्र कर रहे हैं। इन बच्चों को कानूनन नरेन्द्र ने गोदी लिया है। अब नरेन्द्र बड़े एहलकार हो गए है। दुर्गी ने तो बहुत कहा उनसे कि वे ब्याह कर लें। पर नरेन्द्र ने कहा कि- तुम्हें ब्याह करके क्या मिला? और हम तो वैसे भी तुम्हारे अलावा किसी के साथ न्याय नहीं कर पायेंगे। किसी की जिंदगी बर्बाद करने के लिये ब्याह क्यों करें? तुम हो, बच्चे हैं, और हमें क्या चाहिये अब? दद्दा बाई कभी कभी भूपत के यहाँ चले जाते हैं रहने के लिये, और कभी भूपत आशा चाची के संग यहाँ हफ्तों रह जाते हैं। भीतर की तो यही कहानी है। पर बाहर सब यही समझते जानते हैं कि भूपत रोजगार के फंदे में फँसे परदेश में हैं, उनको रोटी पानी का सहारा देने के लिये आशा चाची उनके संग में हैं। दुर्गी छोटे-छोटे बच्चों को पाल पोस रही है, लिखा-पढ़ा रही है और बूढ़े सास-ससुर की सेवा के कारण यहाँ से जा नहीं सकती। नरेन्द्र बिना माँ-बाप के, मौसी के पाले। सो अब मौसी मौसिया के बुढ़ापे की लाठी बन गए हैं।

एक बार दुर्गी ने किरन से पूछा था-'काए जिज्जी, अगर कभी हम औरों की असलियत पता चल गई किसी को, तो क्या होगा?

किरन बेहद गंभीरता से बोली थी-''दुर्गी जब तुम्हीं लोग बताओगे, तभी तो मालूम हो पायेगा किसी को! ऐसे तो कोई किसी के पेट में नहीं बैठा। और फिर घर-घर मिट्टी के चूल्हे है। जिसकी पता चल गई, सो सबने जान ली और नहीं पता चली सो किसी ने न जानी। फिर समाज के पास एक ही बात नहीं है, और भी कई काम हैं, बाते हैं। जमाना देख रही हो नित रोज की नई नई बातों में, ये तुम्हारी पुरानी बातों को पूछने की किसको पड़ी है...?''

पता : 128/387 वाई-वन ब्लॉक किदवई नगर, कानपुर
मो. : 09415537644

(पृष्ठ 150 का शेष)

उसकी अपेक्षा के विपरीत...बिलकुल...वैसी है जैसा कि उसका मन चाहता था, पर खुशी है कि फिर भी नहीं हो रही...लौटने का वह चाव जैसे बिलकुल खत्म हो गया है। जिस चिट्ठी का इंतजार उसे हमेशा से था, वह आई है, फिर भी यह उदासी...

सोचती है वह लौटने के सिवा चारा ही क्या है? क्या करेगी वह अकेली आखिर? पैसे तो इतने हो ही जाएंगे कि गुड़िया के लिए पर डर भी लगता है उसे...सुदीप ने उसी अफलातूनी अंदाज से खर्च किए तो कितने दिन तक टिकेंगे ये पैसे...और फिर वही...

वह रेशमा की तरह सोचती है इस क्षण 'काश उसकी गर्भ में एक की बजाय दो या तीन बच्चे होते, काश बदल सकती वह अपने भीतर का सच पर सच तो सच था, कि चाहने भर से कब बदलना था उसे?

गुड़िया की चमकती आँखें पूछती हैं 'पापा की चिट्ठी, हम कब चलेंगे पापा के पास'', वह झकझोरती है उसे ''बोलो न माँ'' उसके भीतर वाली रेशमा पूछती है उससे, ''उस आदमी के पास जाने को परेशान हो, जिसने एक बार भी नहीं पूछा कि कैसी हो, जो एक बार भी तुमसे मिलने नहीं आया अभी भीं यही जिद-कि तुम गई हो तो तुम हीं आओ खुद'' वह झल्लाकर चीखती है मन-ही-मन 'तो क्या करूँ बोल?'

मन में बसी हुई पहले वाली रेशमा कहती है-करना क्या है, एक बार फिर चांस ले सकती हो और एक क्या अभी तो दो मौके है, तुम्हारे पास...। और फिर गुड़िया कि पढ़ाई- लिखाई, उसका स्कूल? तू कहे तो एक दो और साल बिठाये रखूँ इसे अपने पास वह अपने भीतर आ घुसी उस पुरानी रेशमा को बरजती है...। कुढ़ती है उसकी इस बात पर उसे तब तक आसपास के किसी साधारण से स्कूल में डाल दो। फिर जब निजात पा लो इस सबसे न जाने कैसे उसके भीतर बसी नीमा भी उसके इस राय से सहमत हो ली है -हाँ पैसे इकट्ठे हो जाये कुछ तो इक नई जिंदगी की शुरुआत...

गुड़िया जब स्कूल जाने लगे तो कोई छोटा-मोटा, सिलाई बुनाई कढ़ाई का काम भी वह खुद भी सोचती है। इस तरह एक नई और निर्द्वंद्व जिंदगी की शुरुआत कर सकेंगी वे दोनों...। पर सुदीप से क्या कहेगी वह? कहना क्या है चुप रह लेना है जैसे चुप था वह इतने दिनों तक और चुप ही रहता अगर नीमा ने उसे फोन नहीं किया होता तो चुनना तो आखिर उसे ही है और वह वही चुनेगी जो गुड़िया के लिए सबसे बेहतर होगा।

वह फिर आज चुनाव के उसी दोराहे पर खड़ी है, जिंदगी जहां से हर दफा एक नई राह लेती रही है। ▫

पता : एन एच 3/सी 76, एन.टी.पी.सी., विंध्यनगर
सिंगरौली-486885
मो. : 07509977020

माल-ए-मुफ़्त

n इंदिरा दांगी

सौ प्रतिशत सच्चा होना ईश्वर होने जितना कठिन है!

नर्म पड़ती दोपहर की घड़ियाँ दिन के चार बजा रही हैं। बंगलों से लौटीं महरियाँ अब अपने घरों के कपड़े-बर्तन कर रही हैं। इक्के-दुक्के निठल्ले मर्द अपनी झोपड़ियों के चबूतरों पर बैठे बीड़ियों के सुट्टे मार रहे हैं। काले-मैले बच्चे यहाँ-वहाँ खेलने-झगड़ने-गाली बकने में मग्न हैं। झुग्गी बस्ती के रोज़मर्रापन को ठेलेवाले की ऊँची आवाज़ तोड़ती है,

''चूड़ी-बिन्दी-बर्तन-खिलौने!

ले लो, चूड़ी-बिन्दी-बर्तन-खिलौने!''

औरतों-बच्चों में चहल-पहल मच गई। इधर-उधर नंग-धड़ंग फिरते गंदे चूहों जैसे बच्चों से लेकर उनकी मेहनतकश माँओं तक के चेहरों पर एक जबर्दस्त दिलचस्पी नज़र आने लगी है। ठेला सँवरी दुल्हन की तरह हर एक का ध्यान खींचता है। कितनी सुंदर चमक-चमक क्लिपें -दस की जोड़ी, हीरे जैसे नगों वाली बिंदियाँ-पाँच का पत्ता, प्लास्टिक की गुड़िया -दस रुपये में एक, सोने का धोख़ा देती लर-मात्र बीस रुपये, चाय छन्नी-पाँच रुपये, पॉलिसदार कुंदन झुमके-पच्चीस से कम नहीं, स्टील की कटोरियाँ, ज़िन्दा-से तोते, लिपिस्टक, नेल पॉलिश, लट्टू, पेंडल, इत्र-फुलेल. .. क्या तो बढ़िया सामान है और कितना वाज़िब दाम!! जिनके घर में कभी-कभी आटा तक नहीं होता, वे बाईयाँ पचास-पचास रुपये का सामान ख़रीद रही हैं।

कांति का बड़ा लड़का राहुल बेन-टेन कार्टून वाली खिलौना घड़ी के लिए ठुनकने लगा।

''पच्चीस रुपये।' -ग्राहकी में अतिव्यस्त ठेलेवाले ने दाम बताये।

''पच्चीस रुपये!! पन्द्रह की लगा दो भईया।''

''नहीं हो पायेगा बहनजी। एक-दो रुपया ही मिलता है एक आइटम पर, वो भी न कमायें तो कैसे चले?''

कांति ने बेटे को खिलौना घड़ी नहीं दिलवाई। पुटियाती-खींचती झोपड़ी की ओर ले चली,

''महीने के जब पैसे मिलेंगे सब बंगलों से, तब तेरे लिए असली घड़ी लायेंगे न्यू मार्केट की दुकान से। ये तो नकली थी-सस्ता प्लास्टिक!'' कांति बुरा-बिगड़ा मुँह बनाती कुल इस कोशिश में है कि बेटे का ध्यान उसके दिलपसंद खिलौने से हटा दे। झोपड़ी में पाँच साला अदिति किताब खोले पाठ याद कर रही है। माँ का दिल खुश हो गया; एक जोत-सी जगमगा उठी जैसे उसके भीतर। सामने उसका मनोकामना-भविष्य है 'होनहार विरवान के होत चीकने पात!'

बेटे को ज़िद्दाता-ज़मीन पर लोटता छोड़ वो बर्तन माँजने बैठ गई। झोपड़ी के एक कोने पर बनी पाट-नाली पर सब बर्तन धोकर एक ओर टिका दिये। अब प्लास्टिक की पन्द्रह-पन्द्रह लीटरी कट्टियाँ उठाकर हैंडपंप से पानी भरने चली।

झोपड़ी से निकली ही, क़दम ही रखा धूल-रास्ते पर कि ठिठक गई। एक लम्बा पत्ता पड़ा है सामने -बीस जोड़ी तितली क्लिपें!! एक जोड़ी की क़ीमत दस रुपये बता रहा था ठेलेवाला। चवन्नी कम नहीं की थी किसी के लिए! यों पूरे दो सौ रुपये की क्लिपें हैं-इतने रुपये जितने उसे बंगलों पर एक काम के मिलते हैं-बर्तन माँजने का रेट दो सौ रुपये, झाड़ू-पोंछा दो सौ रुपये, डस्टिंग-फटका दो सौ रुपये महीना भर जूठे बर्तनों के साथ हाथ घिसने से जितने रुपये कमाती है -उतने सामने पड़े हैं, तितली क्लिपों की शक्ल में! सुनहले मैटल पर महीन रंगीन मोतियों, हीरा-नगों और गिल्टिर्स चमक रंगों से सृजित क्लिपें! कांति ने झट से उठा लिया सब प्रसाधित सौन्दर्य। अब उसे परम आश्चर्य है, ठेलेवाले को यहाँ से गये दसेक मिनिट तो हो गये होंगे और अब तक किसी की नज़र नहीं पड़ी थी सड़क पर पड़ी इतनी क़ीमती चीज़ पर ?? गोबर, पत्थर, मिट्टी, झाड़ झकूरा लकड़ी : मानवी जीवन में किसी भी तरह की सुविधा सिद्ध हो सकने वाली हर वस्तु जिस बस्ती में लड़ाई का कारण बन जाया करती है, वहाँ इतनी मूल्यवान चीज़ पूरे दस मिनिटों तक अनदेखी कैसे रह गई?? जीवन यहाँ पशुत्व वाले संघर्षों से भरा है!

नेमत-सी क्लिपों के इस्तेमाल का कोई फैसला करने से पहले कुछ पलों को पहेली-मन रह गई कांति। चारों ओर एक नज़र डालती है। दिन भर की थकी बाईयाँ घरेलू कामों में खपी हैं। कोई अपनी बित्ते भर की देहरी लीपकर गेरू मिट्टी से ढिक देकर सजाती है कोई धुले कपड़ों को जैसे मरोड़-मरोड़, फटकार-फटकार ही सुखा डालेगी टीन छप्पर पर फैलाने से पहले तो कोई अपने श्याम शिशु को घिसना-पत्थर टुकड़े से घिस-घिसकर नहला रही है। वही हमेशा का, पशुत्व वाले संघर्षों से भरा जीवन और अपनी सतह से ऊपर उठने वाले को इंसान कहते हैं!

सबसे पहले अपनी बेटी का ख़्याल आता है; पर कांति के लिए वो संतान भर नहीं, बहुत ऊँचा सपना है। स्टेट बैंक चौराहे पर जो बहुत ऊँची मूर्ति लगी है इंदिरा गाँधी की-उत्ता ऊँचा सपना अदिति! वो अपने मन की बात किसी से नहीं बाँटती-सब अनपढ़, गँवार कहीं के; क्या जानें उसकी कोहिनूर-बच्ची की क़ीमत! अशिक्षिता अपने दिल में फिर फिर सोचती है, लगभग हरेक दिन जब वो उस अपार्टमेंट के फ़्लैट में काम करती है जहाँ से वो मूर्ति दिखाई पड़ती है। कुछ-कुछ उसे पता है; बहुत नाम किया देश-दुनिया में इन्होंने अपने पापा का!

अदिति नामी अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ती है। पिछले बरस सरकारी नियम-लॉटरी से उसकी बेटी को मुफ़्त में दाखिला मिल गया, जहाँ के बारे में बंगले वाली मेमसाहब कहती हैं, इतनी लंबी कतार लगती है उस स्कूल का दाख़िला-फ़ार्म लेने को कि दिन बीत जाता है नम्बर आते-आते! भोपाल के उस सबसे नामी स्कूल की फ़ीस-वैन किराया तो सरकारी फ़ार्म भरने से मिल जाता है लेकिन वहाँ का स्तर, आर्ट एण्ड क्राफ़्ट वाली क्लासों और स्वीमिंग पूल वाली कक्षाओं में बेटी को बराबर बनाये रखने के लिए कांति ने दो बंगलों का झाड़ू-पोंछा-बर्तनवाला काम और जुटा लिया है। उत्ता ऊँचा सपना अदिति!! और अपने जीवन के मामूलीपन को कभी नहीं साझा करना चाहती वो इस सपने के साथ; न अपने अभावों को, न अपनी नेमतों को!

कांति अपनी झोपड़ी से हैंडपम्प की ओर चलने से पहले एक नज़र भीतर को डालती है। अदिति अब भी अपना पाठ याद कर रही है जबकि राहुल सितोलिया-खेल के लिए पत्थर और गेंद समेटकर बाहर भाग रहा है। उनके काम उनके आने वाले कल की बेआवाज़ मुनादियाँ हैं जैसे -बाअदब, बामुलाहिज़ा, होशियारऽऽ

कांति अपनी ख़ाली कट्टियों के साथ आगे बढ़ी। बगल की झोपड़ी में नन्ही रिद्धि अब तक ठुनक रही है -उसकी माँ उसे स्कूली ड्रेस के रंग वाले फीते नहीं दिला सकी ठेले से।

''ऐ रिद्दू, इधर आ!'' कांति ने स्नेह से पुकारा। दुबली नन्ही लड़की आँसू पोंछती चली आई।

''ले। इसी रंग के फीते चाहिये थे ना तुझे!''

एक जोड़ी क्लिपें पाकर रिद्धि का चेहरा चमेली के छोटे-पतले फूल की तरह खिल उठा और ख़ुशबू उसकी झोपड़ी के भीतर तक गई शायद। रिद्धि की माँ कपड़े धोने के बीच से उठकर चली आई है। उसके तर हाथों से सस्ते डिटर्जेंट और सच्ची मेहनत की गंध आ रही है। मुस्कुराकर कहती है,

''आओ ना जीजी, चाय पीकर जाना।''

कांति जानती है, उसके घर चाय बनाने को न दूध होगा न चीनी। नन्ही रिद्धि हर सुबह गुड़-पत्ती की काली चाय कटोरी में भरे, बाहर बैठी पिया करती है।

''न रे! आज बड़ा काम है। चाय उधार कर लो।''

दोनों स्त्रियाँ सहजता से हँस दीं एक ग़रीब की ढँपी इज़्ज़त दूसरी ग़रीब ने उघड़ने नहीं दी।

''रद्दी! ओ रद्दी! बाहर किससे गप्पें लड़ा रही है तेरी अम्मा?''

एक धुत्त आवाज़ सुनाई पड़ती है। खाट पर ऊँघते-बड़बड़ाते नशेड़ी पति की आवाज़ के और ऊँचा होने से पहले ही रिद्धि की माँ झोपड़ी के अंदर हो ली; कांति अपनी राह। नन्ही रिद्धि माहौल की सूक्ष्म बदलाहट से अनजान नई क्लिपों को देख-देख ख़ुश हो रही है। आगे बढ़ती कांति ने एक नज़र पीछे पलटकर उसका दिलखु श चेहरा देखा। इस बस्ती में जीवन कितनी कठिन परीक्षा है जो पार जा सके, वे -रिद्धि! जो रह गये, वे -रद्दी!

दो-चार झोपड़ियों आगे ये घर प्रेमा बाई का है; जिसके जीवन में प्रेम जैसा कुछ सिर्फ़ नाम में बचा है। अभी दो महीने गये, किसी दूर-दराज गाँव से आया है ये परिवार -अफ़ीमची पति, जिन्न-सी मेहनती पत्नी, लद्दद-पद्दद उमर की पाँच नन्ही बेटियाँ और सबसे छोटा एक बेटा सूखा-काला-रिरियाता, अपनी इस-उस बहन की कमर पर लदा-लटका हर वक़्त। जब ये परिवार यहाँ आया, इतना ज़्यादा ग़रीब था कि उनके कपड़े तार-तार होकर गिर जाने के लगभग थे और सब बच्चे भयंकर भूखे थे। इन छहों बच्चों की आँखों में हर वक़्त भूख़ नाचती है-ऐसी हिंसक भूख जो दया के पार पहुँचकर डरा देती है गोया भूख के कारण वे मर भी सकते हैं और -मार भी सकते हैं! कांति ने उन पाँचों बच्चियों में से हरेक को दो-दो जोड़ी क्लिपें दीं। वे पाँचों चेहरे आभार-प्रदर्शन नहीं जानते। प्रसन्नता की मासूम मुस्कुराहट यहाँ किसी फूल की तरह नहीं खिल सकी है। वे सब अब एक-दूसरे की क्लिपों को झपट-झपटकर देख रही हैं-कहीं किसी दूसरे को कुछ ज़्यादा तो नहीं मिल गया! देहरी पर बैठी एक चिथड़ा-कपड़ा सिलती प्रेमा बाई सब देख रही है और कह रही है,

''बहनजी, बड़ी क्लिपें बाँट रही हो; कौन मुराद पूरी कर दी भगवान ने? चलो, इन सबै का क्लिपें मिल गयीं तो अब जे कछू देर तो प्राण न खायेंगे। आज तो माथा बड़ा दुख रओ है बहनजी।''

''इत्ता काम क्यों करती हो? शरीर की भी सीमा रहती है!''

''बात काम करने की नहीं है बहनजी, नहीं करने की है। आज हमारो एक काम फिर छूट गओ!''

''कैसे?''

''घरवाली अपने यार के संग भाग गई साहब की। अब कहन लगे, हम अकेले को काम की ज़रूरत नहीं। मैंने कही, हिसाब कर दो। बोले, कल आना। अब चार-छह चक्कर लगाने पड़ेंगे -साहब दफ़्तर से लौटते भी शाम को हैं तिस पे सूना फ़्लैट। इनसे कहूँ हूँ, संग चलो। ये सुने नहीं!'' प्रेमा बाई अपने सिर पर एक कपड़ा कसे है-दर्द का इलाज कितना दर्द भरा! कांति अपनी राह हो ली। सोचती गई, उसने प्रेमा के पहले प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं दिया? उसे क्या हक़ है किसी दूसरे के माल को बाँटने का? और अगर बाँट भी रही है तो सच के साथ क्यों नहीं?? ये उसकी दानशीलता है या झूठा बड़प्पन पाने का लोभ? अंदर की आवाज़ के आख़िरी सवाल के जवाब में कांति का

चित्रकार : भूपेन्द्र कुमार अस्थाना

(शेष पृष्ठ 188 पर)

द लास्ट फ्लाइट

n भूमिका द्विवेदी अश्क

ऐली बड़ी तन्मयता से अपने सिंगारदान के सामने खड़ी होकर अपने बाल बना रही थी। बड़े कायदे से उसने साड़ी बांधी। पूरा खूबसूरत मेकअप किया। क्या काजल, क्या आई-लाईनर, क्या लिपस्टिक, क्या लिप-लाईनर, क्या फेस फाउन्डेशन, क्या हल्की मैचिंग जूलरी, एक एक चीज पर पूरा वक्त ख़र्च कर रही थी। खुद को बड़ी करीने से सजाती हुई, वो बड़ी बन ठन के तैयार हो रही थी।

ऐली का पिता जौन फ्रेडरिक एमैनुयेल बड़ा बेचैन होकर इधर-उधर वहीं उसके ही कमरे के बाहर चहल-कदमी मचाये हुये था।

ऐली को अपने सिंगारदान के बड़े से आईने में बार-बार आते-जाते, बेचैनी से भरे हुये उसके तेज कदम दिखाई दे रहे थे। ऐली को उनकी अकुलाहट की पर्याप्त जानकारी भी थी। बहोत देर तक दोनों एक जैसे ही गतिशील रहे। आखिरकार ऐली ने ही जोर से कहा,

''डैडी आप कब तक टहलते रहेंगे...अन्दर आ जाईये, यहाँ बैठ जाइये...प्लीज फौर गौडसेक''

जौन अपनी बेटी के कमरे में दाखिल तो हो गया, वहाँ रखी क्रोशिये से बनी सफेद चादर वाली पलंग पर बैठ भी गया, लेकिन उसकी बेचैनी जरा भी कम नहीं हुई। बल्कि अपनी बेटी को इस तरह पूरा सजा-संवरा और तैयार देखकर और ज्यादा ही बढ़ गई।

जौन भुनभुनाने लगा,

''पता नहीं ये मेरी अपनी औलाद मेरी ही बात क्यूँ नहीं मानती...मैं कैसे समझाऊँ इस सिली लड़की को''

ऐली अपनी सजावट और आईने को छोड़कर अपने पिता के पास चली आई। वो जौन से मुखातिब होकर कहने लगी,

''डैडी, माय स्वीट डैडी, लुक ऐट मी...डोन्ट यू फील, हाओ हैप्पी आय'म टुडे...मेरी ममा नहीं है...डैडी तुम ही मेरी ममा हो, मेरे डैडी हो, मेरे बेस्ट-फ्रेंड हो...अलाओ मी, विद चीयरिंग फेस डैडी...प्लीज''

''ऐली माय लिटिल चाइल्ड, अब मैं तुमको कैसे समझाऊँ...तुमको पूरी दुनिया में यही एक जॉब मिला था...बाय गॉड, मेरा दिल बैठा जा रहा है...तुम जानती हो, तुम्हारे फादर ने भी कभी हवाई-जहाज के अंदर पैर नहीं रखा...अब तुम सात समुन्दर पार जा रही हो''

ऐली ने अपने पिता के कन्धे पर सिर रखा और बड़े मधुर लहजे और मीठी जबान में कहने लगी,

''डैडी, क्या मैं तुम्हारी बेस्ट-फ्रेन्ड नहीं हूँ ममा के जाने का दुःख तुम मुझे देखकर ही भुलाते हो ना...मेरी बर्थ के टाइम ही ममा हम लोगों को छोड़कर गॉड के पास चली गयी थी ना...लेकिन तुम ही कहते हो ना डैडी कि मैं तुम्हें ममा से भी ज्यादा प्यारी हूँ..बताओ क्या ये सच नहीं है डैडी''

''माय लव, माय स्वीट बेबी, माय डार्लिंग ये सच है...एकदम सच है...तभी तो मैं तुम्हें खुद से दूर नहीं करना चाहता...नॉट फॉर ए सिंगल मिनट माय चाइल्ड'' कहते-कहते जौन ने ऐली को गले से लगा लिया।

ऐली ने जौन को फिर समझाया,

''फिर क्यों अपसेट हो रहे हो डैडी...क्यों मुझे डिसकरेज कर रहे हो...आज पहली बार मुझे मौका मिला है इंटरनेशनल फ्लाइट में जाने का...आज औस्ट्रेलिया जा रही हूँ, कल यू.एस., यूके, कैनेडा ना जाने कहाँ-कहाँ जाऊँगी डैडी...क्या हर बार तुम ऐसे ही उदास रहोगे...ओ डैडी आय कान्ट टेल यू, हाओ मच हैप्पी आए'म...हाओ लकी आए'म डैड...वैसे भी ये डोमेस्टिक-उड़ानें मुझे कभी नहीं चाहिए थी। बाहर तो पहली बार जा रही हूँ...आए'म सो एक्साइटेड डैडी...डैडी देखो, फिर ये कोई मेरी लास्ट फ्लाइट तो न''

ऐली का आखिरी वाक्य पूरा होने से पहले ही जौन ने उसके मुँह पर अपना हाथ रख दिया, और तड़प कर बोला,

''नो नो नो...ऐसा नहीं कहते बेटा...ऐसा कभी नहीं कहते गॉड कैन नेवेर बी सो क्रुएल विद अस नाओ...यू नो, यू आर द ओनली होप औफ माय लाइफ...जाओ तुम खुशी-खुशी जाओ...देखना आस्ट्रेलिया में तुम हंसते-हंसते कदम रखोगी...गॉड ब्लेस यू माय चाइल्ड...गो...गो विद योर स्माइल...आय'ल वेट फौर यू...आय'ल प्रे फॉर यू''

इस बातचीत के दौरान, ऐली की एयर-वैन दरवाजे पर आ चुकी थी। उसने मुस्कुराते हुए अपने पिता से विदा ली। इंटर्नशिप खत्म होने के बाद एक एयरहोस्टेज के तौर पर ये उसकी पहली विदेश जाने वाली उड़ान थी।

ऐली ने अपने सहकर्मियों के साथ चहकते हुये हवाई जहाज के भीतर कदम रखा। वो अपने परिचारिका वाले सभी कर्तव्यों को पूरी निष्ठा से खुशी-खुशी निभाते हुये सफर तय कर रही थी। हवाई जहाज में कई देशों से आये लोग सवार थे। सभी के अपने-अपने काम-धन्धे और अपनी-अपनी निराली दुनिया थी। सभी अपने अपने लक्ष्य को पूरा करने के लिये, एक ही नियत समय पर इस जहाज पर एक साथ आकर बैठे थे और जाहिर तौर पर सभी एक-दूसरे के सहयात्री भी थे। जहाज के मुसाफिरों में नया जन्मा एक बच्चा भी था जो अपनी माँ की गोद में खूब

'ऊं ऊं' करके अंगड़ाईयाँ ले रहा था, और पूरे सफर भर हाथ-पैर मारता रहा। खुशमिजाज ऐली उसे देखकर मुस्कुरा उठती थी, और वो बच्चा भी ऐली को देखकर और भी सक्रिय हो जाता था। ऐली और वो नवजात दोनों ही पहली बार एक विदेशी ट्रिप का हिस्सा बने हुये थे। वो आज बहोत आनंदित थी। ऐली की जिन्दगी का यही एक सपना था, जो आज हकीकत बन रहा था।

लेकिन होनी को कुछ और ही मंजूर था। और 'होनी होकर होय' ये बात भी सोलह आना सच थी। आस्ट्रेलिया की सीमा तक तो हवाई जहाज सकुशल पहुँच गया। ऐली अपनी सहकर्मी लड़कियों के साथ हंसती-खेलती पहुँच गयी थी। लेकिन आस्ट्रेलिया के हवाई अड्डे पर लैण्ड करने से ठीक आठ मिनट पहले कोई ऐसी बड़ी तकनीकी खराबी हवाईजहाज में देखने में आयी, जिसे प्लेन को उतारने से पहले ठीक करना बेहद जरूरी था। वरना प्लेन के साथ पूरे एयरपोर्ट को ध्वस्त होने में ज्यादा वक्त नहीं लगता। लेकिन प्लेन में आई इस खराबी को उड़ते हुये ही ठीक करना भी मुमकिन नहीं हो रहा था। इसी कश्मकश में उलझा हुआ पायलट और उसका पूरा स्टाफ ना प्ले उतार पा रहा था, ना ज्यादा देर आसमान में ही रखने की स्थिति में था। पूरे परिचारिका स्टाफ में खलबली मच गयी थी। हर कोई अपने-अपने अराध्य को बेचैन होकर याद करने लगा था। बचने के लिये कोई सूरत नहीं निकल रही थी।

इस नाजुक वक्त पर घबड़ाई हुई ऐली को अपने पिता की बहोत याद आने लगी। मारे बेचैनी के उसके हाथ-पाँव फूल रहे थे। उसे अब लगने लगा था कि उसे जान की बात मान लेनी चाहिये थी और उसे इस उड़ान में शामिल नहीं होना चाहिये था। पायलेट-स्टाफ के साथ-साथ पोर्ट में बैठे सभी कर्मचारी भी बुरी तरह से परेशान थे। अंततः कोई रास्ता नहीं निकला, और बदनसीब इन आखिरी आठ मिनटों की जद्दोजहद के दौरान जब प्लेन में मौजूद एक-एक सदस्य बदहवासी की चरम पराकाष्ठा से गुजर रहा था, उसी वक्त किसी एक बेहद मनहूस पल में बड़ा सा धमाका हो गया। देखते ही देखते अच्छे-भले उड़ रहे पूरे के पूरे प्लेन के परखच्चे उड़ गये। एयरपोर्ट की लैण्डिंग से तक़रीबन एक मील दूर, एक खुले मैदान में ये हंसता-खेलता भरा-पूरा, हवाईजहाज, कचरे के ढेर की शक्ल में जा गिरा। हर तरफ गुबार-धुआं-राख का ढेर था, और आसमान तक उड़ते हुए गहरे काले-काले बादल दूर तक दिखाई दे रहे थे। एयरपोर्ट तक इसके गिरने की भीषण आवाजों और एक आध टूटे-फूटे पुर्जे के दूर छिटक के आ गिरने के सिवा कोई नुक़सान नहीं हुआ था।

इस भयंकर विस्फोट ने पूरी दुनिया में तहलका मचा दिया था। दूरदराज के रहनेवाले कई मुल्कों के बाशिंदे इस जहाज पर सवार थे। हर खास-ओ-आम को इस दर्दनाक हादसे ने हिलाकर रख दिया था। दुर्घटनास्थल पर कुछेक घण्टों में ही मददगार वाहनों, राहत सामग्री पंहुचाने वाली गाड़ियों, प्रेस-टीवी पत्रकारों के रेले, एम्बुलेन्सों और प्लेन में मरे हुओं के नातेदारों की भीड़ आ जुटी थी। तमाम सारे अधिकारी और मन्त्रीगण का भी हुजूम देखते ही देखते इकट्ठा हो गया था। हर कोई बदहवास, हताश, परेशान हुआ बुरी यंत्रणाओं से गुजर रहा था।

मलबे में से लाशें निकालकर परिजनों को सौंपने का काम बेहद तीव्र गति से किया जाने लगा था। ऐसा साफ दिख रहा था कि एक भी शख्स उस त्रासदी में जीवित ना बचा होगा।

कई सारे शवों के बीच ऐली की लाश भी पड़ी थी। राहतकर्मियों ने जैसे ही पेट के बल पड़ी हुयी ऐली की लाश को हटाया, वे हैरत में पड़ गये। उन्होंने वहाँ ऐली के शव के नीचे एक महीने भर के नन्हें बच्चे को जिन्दा पाया। तुरन्त बच्चे को अस्पताल पहुँचाया गया और मालूम हुआ कि नन्हीं जान एकदम सुरक्षित है। ऐसा माना जा रहा था कि प्लेन-क्रैश होते वक्त ऐली ने अपनी गोद में उस मासूम को छुपा लिया होगा और प्लेनक्रैश की सारी तबाही ऐली ने खुद पर झेली होगी। ऐली के शव को बड़े सम्मान से हिन्दुस्तान में उसके पिता जौन फ्रेडरिक के घर के लिये रवाना कर दिया गया।

प्लेनक्रैश की खबरें सुनकर और टी.वी. पर उसके खौफनाक मंजर को देखकर जॉन की रूह पहले ही कांप उठी थी। देहरी पर ऐली के शव को रखा देखकर वो मारे दुःख के पागल ही हो गया। उसके रिश्तेदारों, पड़ोसियों और दोस्तों ने मिलकर ऐली का अंतिम-संस्कार किया। ताबूत में रखे ऐली के शव को जौन यूँ देख रहा था जैसे अभी वो उठ खड़ी होगी, और फिर उसके कन्धे पर सिर रखकर मीठी-मीठी बातें करेगी। जॉन को ऐली की माँ भी इस वक्त टूटकर याद आ रही थी। ऐली की कब्र पर मिट्टी डालते वक्त, जॉन को ऐसा लग रहा था, जैसे उसकी जिन्दगी में सबकुछ खत्म हो चुका है, क्योंकि उसकी इकलौती औलाद भी आज उससे हमेशा के लिये जुदा हो गयी थी।

जॉन की दुनिया लुट चुकी थी। वो अब अपने घर से पूरी तरह बेजार हो गया था। शराब की बोतल संभाले चर्च के पीछे वाले कब्रगाह को ही लोगबाग उसका अड्डा मानने लगे थे। उसके हमदर्द दोस्त उसे वहीं खाना खिलाने जाते और उसकी दुखती जान का हाल लेते थे।

जॉन तो बस एक यही जिद पकड़े बैठा था कि ऐली को वो एक बार, बस एक बार जिन्दा-चलता-फिरता देख ले, और अपनी बेटी की प्यारी आवाज सुन ले। हालांकि ये बातें अब असम्भव थीं, लेकिन जॉन को कौन समझाये! उसके अभिन्न मित्र उसकी हालत देख देखकर रो पड़ते थे। उसके रिश्तेदारों ने उसके सामने जाना ही बन्द कर दिया था, क्योंकि वे लोग खुद को जॉन की इस दयनीय स्थिति में बर्दाश्त करने में असमर्थ पा रहे थे। उनका सारा समझाना-बुझाना निष्फल जा चुका था।

जॉन खुद से बेगाना हुआ दिन-रात शराब पीता हुआ, कब्रगाह के इर्द-गिर्द मंडराता रहता था। एक रात वो ऐली की कब्र पर रोते हुये

चित्रकार : भूपेन्द्र कुमार अस्थाना

काटता, तो दूसरी रात उसकी माँ के कब्र के सिरहाने वेडिंग-गीत गाते गुजारता। उसके दुःख का कोई पारावार नहीं था। उसके बाप-दादा की ठीकठाक सम्पत्ति के चलते उसे रुपये-पैसों का कोई मलाल नहीं था। लेकिन जमा-जमाया पुश्तैनी धन्धा भी एक सुयोग्य और काबिल वारिस के अभाव में नष्ट होने लगता है, इसलिये उसके शुभेच्छु उसे हर मर्तबा मिलने पर भली नसीहतें देते रहते थे।

इसी दर्द से डूबे उसके कठिन दौर में एक रात जौन का एक दोस्त विल्सन चर्च की पिछली दीवार से टिका उसके साथ शराब पी रहा था। विल्सन भी जॉन को उसके दुःख से उबारने में अब तक सफल ना हो सका था। फिर भी वो जॉन को अपने तई समझाये जा रहा था।

''कितने दिन बीत गये जॉन, तुमने अपने घर की सूरत भी नहीं देखी...तुम्हें जाना चाहिये...अपना घरबार देखना चाहिये...बल्कि जॉन, माय ऑनेस्ट फ्रेन्ड, तुम्हें ये कब्रिस्तान छोड़के अब वहीं रहना चाहिये. ..कब तक सोग मनाओगे ब्रदर...वो घर तुम्हारी वाइफ, तुम्हारी क्यूट डॉटर का बसाया हुया घर है...वहीं तुमको आराम मिलेगा...फिर तुम्हें अपने अच्छे-भले बिजनेस का भी तो सोचना चाहिये...तुम्हारे इस रवैये से तो सब बर्बाद हो जायेगा जौन...समझा करो मेरे दोस्त ये कॉम्पटीशन का दौर है, कोई भी तुम्हारे हालात देखकर तुम्हें तबाह कर डालेगा...फिर सड़क पर आने में ज्यादा वक्त नहीं लगेगा...तुम हेल्पलेस रह जाओगे जॉन...समझो अपने जमाने की इस नजाकत को समझो जरा''

कितनी बार तुमसे बोला है विली...ये सब मुझे मत समझाया करो...तबाह और बर्बाद तो मैं पहले ही हूँ, अब क्या कोई सड़क पर लायेगा मुझे...मेरी दुनिया पहले ही लुट चुकी है विली...मुझे वहाँ, उस घर, उस दफ्तर नहीं जाने का...वो घर मुझे काटने को दौड़ता है...वहाँ मेरी ऐलिया, मेरी ऐली मेरे साथ कितनी खुश-खुश रहती थी। हम सबने वहाँ कितने अच्छे-अच्छे दिन बिताए हैं। कितने क्रिसमस साथ मनाये हैं। अब अकेले वहाँ मुझे डर लगता है मैं यहीं ठीक हूँ ''कहते-कहते जॉन फिर फूट फूट के रोने लगा, उसने रोते हुये आगे कहा, ''आय'म ओके हियर विली...डोन्ट डिस्टर्ब मी, आय'म रियली ओके हियर। इट्स अ पीसफुल जोन...लेट मी लिव माय लाइफ विद माय फैमिली विली. मेरा पूरा फैमिली यहीं आ गया है...सो आय'म फाइन हियर''

विल्सन ने उसके कन्धे पर हाथ रखा और उसे ढांढस बंधाते हुये बोला, ''जॉन मेरे दोस्त...काम डाउन...इट्स ओके...चुप हो जाओ शांत हो जाओ जॉन...मैं तो बस यही कह रहा था कि कब तक यहाँ मुर्दों के बीच पड़े रहोगे...कब तक जौन''

''जब तक मैं मेरी स्वीट ऐली को देख नहीं लेता...तब तक यहीं पड़ा रहूँगा...मुझे उससे मिला दो विली, फिर मैं तुम्हारी सारी बात मान जाऊंगा...अपना बिजनेस भी देखने लग जाऊंगा...घर जाकर रहने भी लगूंगा...आय प्रौमिस''

विल्सन चुप हो गया। वो जॉन की ना पूरी होने वाली फरमाइश का भला क्या जवाब देता। उसने अपने गिलास में थोड़ी विस्की और डाली और खामोशी से सिर झुकाये, पीने लगा।

अचानक उसने देखा चर्च के पादरी के लिबास में एक आदमी चर्च के उसी कब्रिस्तान में क़ब्र दर क़ब्र कुछ खोजता फिर रहा है। जॉन ने भी उसे देखा, उसने समझा चर्च का पादरी फादर डेविड यूं ही नींद ना आने की वजह से घूम रहा है। उसने कुछ संभलकर, विल्सन से कहा,

''विल्सन, तुम मुझे यहाँ रहने से रोकते हो ना...देखो फादर डेविड को भी ये जगह कितनी पसंद है...इतनी रात गये वो भी इसी पीसफुल जगह में अकेले टहल रहे हैं...उन्हें भी यहां आकर सुकून मिलता है...अपने घर के लोगों से वो भी यहीं आकर मिल पाते हैं'' इस पर विल्सन ने आपत्ति जताई, और उसे नई जानकारी भी दी,

''नहीं जौन, ये अपने फादर नहीं हैं, ये तो कोई और ही है, हाँ याद आया ये फादर डेविड के कोई रिलेटिव हैं...कुछ दिन पहले गोवा से यहाँ आये हैं...इनका नाम...शायद ऐंजिल डिकोस्टा है...जॉन, लोग कहते हैं इन्हें कई तरह का मैजिक आता है...बहोत जादू-टोना सीखा हुआ है इन्होंने आत्मा-भूत-प्रेत सब जानते हैं ये...आज भी शायद कोई एक्स्पेरीमेण्ट कर रहे हैं यहाँ मजारों पर''

जॉन, ऐंजिल डिकोस्टा के बारे में सुनकर ना जाने क्यों उत्साहित हो गया था और उसने हल्की-सी राहत भी पायी थी। जॉन काफी देर तक ऐंजिल डिकोस्टा, उसकी हरकतों और उसकी खोज को बहोत गौर से, बड़ी बारीकी से देखता रहा। ऐंजिल हरेक क़ब्र के नजदीक जाता था। बहोत ही धीमे स्वर में कुछ बोलता था और कब्र की थोड़ी सी मिट्टी उठाकर अपने साथ लाये एक थैले में डालता जाता। ऐंजिल डिकोस्टा ने वही प्रक्रिया कई बार दोहराई और वो धीरे-धीरे जॉन और विल्सन की आंखों से ओझल हो गया।

अगली सुबह चर्च के भीतर, तड़पता-कलपता हुआ जॉन, ऐंजिल डिकोस्टा के ठीक सामने बैठा रो रहा था। जॉन ने एक एककर ऐंजिल को अपनी सारी आपबीती सुना दी थी। उसने ऐंजिल डिकोस्टा से बड़ी ही विनम्र इल्तिजा की, कि वो अपने जादू से ऐली को फिर से जिन्दा कर दे। नादान जॉन बार-बार यही दोहराता रहा कि,

फादर, मेरी लाइफ तुम्हारे अहसानों से दबी रहेगी...पूरा लाइफ मैं इसी चर्च के दरवाजे झाड़ू मारूंगा, बस एक बार, एक बार तुम मेरी ऐली को जिला दो...फादर मैं तुम्हारा स्लेव बनके पूरी लाइफ गुजारूंगा, बस एक बार मेरी स्वीट ऐली को मेरे सामने लाकर खड़ा कर दो फादर. ..मुझे मालूम है तुम मैजिक जानते हो...तुमने आत्मा-प्रेत सब सीख रखा है...मुझे मालूम है, तुम जरूर मेरी ऐली को मुझसे मिला दोगे...वो आध ी-अधूरी बात छोड़के हंसती-मुस्कुराती कहीं दूर चली गयी, मुझे तड़पता हुआ छोड़ गयी...अपने अभागे बाप को अकेला छोड़ गयी फादर...इसी चर्च के पीछे उसे मेरे सामने मिट्टी में दबा दिया गया...वो मुझे अकेला छोड़के कैसे जा सकती है फादर शी वॉज माय बेस्ट-फ्रेन्ड उसने मुझसे कहा था फादर, वो मुझे कभी अकेला नहीं छोड़ेगी...उसने कहा था, वो कभी अपनी ममा जैसा नहीं करेगी...फादर एक बार मेरी इनोसेन्ट ऐली से मिला दो...जाने वो कहाँ छुप गयी है...तुम्हें जीसस का वास्ता, तुम्हें तुम्हारे मैजिक का, तुम्हारी आर्ट का वास्ता एक बार मेरी ऐली को मुझसे मिला दो, बस एक बार फादर...सिर्फ एक बार ''कहते-कहते जौन ऐजिंल के पैरों से लिपट गया, और बिलख-बिलख के रोता रहा।

ऐंजिल डिकोस्टा उसकी पूरी बात बड़े धीरज के साथ सुनता रहा। ऐंजिल ने उसे अपने पैरों से उठाकर कुर्सी पर बैठाया. उसके कन्धे पर हाथ रखकर उसने ढांढस बंधाया। उसने बड़े सधे हुये लहजे में जॉन से कहा,

मैन, संभालो अपने आपको...रोना बन्द करो...हिम्मत रखो... मरना जीना सब गॉड के हाथ में है...जो चला जाता है, उसे हम कभी वापस जिन्दा नहीं कर सकते...गॉड के विल के आगे हममें से किसी की नहीं चलती...हम सारे उसके आगे हमेशा हेल्पलेस हैं...लेकिन फिर भी फिर भी मैं तुम्हारी मदद करूंगा मैन...क्योंकि तुम जेन्युन हो...आय'ल हेल्प यू''

जॉन अपने आप खामोश हो गया। उसके आंसू एक तत्काल पनपी हुई आशा से खुद-ब-खुद थम गये। जौन ऐंजिल को साक्षात भगवान की तरह देखने लगा। जॉन की इस उम्मीद से चमकती आंखों को देखकर, ऐंजिल डिकोस्टा ने आगे कहा,

मैन, मैं किसी भी डेड को वापस अलाइव नहीं कर सकता ये इम्पॉसिबल है...गॉड की बनायी इस पूरी दुनिया में, उसकी विल के बगैर, कोई भी मरा हुआ फिर से जिन्दा नहीं हो सकता...ऐसा सिर्फ गॉड खुद कर सकता है...लेकिन फिर भी मैं तुम्हारी मरी हुयी ऐली से सिर्फ एक बार तुम्हारी बात जरूर करा दूंगा...लेकिन तुम इस बात का जिक्र टाउन में किसी से मत करना...गॉड के किसी भी फैसले के बीच मैं कभी कोई हर्डल नहीं बन सकता...मैं सिर्फ तुम्हारी मदद करूंगा...मैन कल सुबह ठीक चार बजे तुम नहा धोकर, अपनी बेटी की एक तस्वीर लेकर यहीं आ जाना...डेविड से भी तुम कुछ ना कहना...उसे मेरा तुम्हारी हेल्प करना बुरा लग सकता है...ये उसकी अथॉरिटी का चर्च है, यहां मुझे सर्विस देना, हमारे चर्च के रूल्स के खिलाफ है...मैं सिर्फ तुम्हारी तकलीफ देखकर तुम्हारी हेल्प कर रहा हूँ...अब तुम जाओ...मुझे शाम की प्रेयर के लिये तैयारी करनी है...और सुनो, सवेरे टाइम पर आ जाना. ...गॉड ब्लेस यू''

इतना कहकर ऐंजिल डिकोस्टा चर्च के सार्वजनिक प्रेयर-रूम से उठकर जीजस की प्रतिमा के पीछे, चर्च के भीतर कहीं विलीन हो गया।

जॉन को इस वक्त काटो तो खून नहीं। उसे यकीन नहीं हो रहा था फादर ऐंजिल ने जो कहा है, वो सब सच है। उसे ऐंजिल और अपनी खुद के बीच हुई बातों पर रत्ती भर विश्वास नहीं हो रहा था। उसे ऐंजिल डिकोस्टा एक ख्वाब-सरीखा कोई सचमुच का देवदूत लग रहा था। उसे ये यकीन ही नहीं हो पा रहा था, कि ऐली फिर उसे मिलेगी। उससे बातें करेगी। उसे सुनेगी। उससे सवाल-जवाब करेगी।

उसकी वो रात पहाड़ जैसी गुजरी। वो रात बिना पल भर भी सोये लेकिन सिर्फ ख़्वाब देखते हुये बीत गयी. जॉन बेकल, बेचैन, बेबस, बेकरार रात भर अपनी बीवी और बेटी की धूल-धूसरित तस्वीरों के सामने बैठा रहा। उसने रात के दो बजे घुप्प अंधेरे में खूब नहाया। तीन बजने से पहले चर्च के तिकोने ऊंचे दरवाजों के किनारे लम्बे-लम्बे खम्भों की ओट में आकर बैठ गया और ऐंजिल डिकोस्टा के फिर से प्रकट होने का इन्तजार करने लगा।

जब भोर के चार बजने में दस मिनट बाकी था, फादर ऐंजिल ने चर्च का एक दरवाजा खोल दिया। बहोत देर से दरवाजे पर टकटकी लगाये जॉन को ऐंजिल ने अपने साथ लिया। वो उसके पीछे-पीछे ऐली की कब्र तक गया। ऐंजिल डिकोस्टा एक सूती मटमैला सा झोला भी अपने कन्धे पर टांगे हुये था। कब्र पर पहुँचकर उसने कुछ अजीब सी जबान में दो-एक मन्त्र बुदबुदाये। ऐली की क़ब्र से तीन मुट्ठी मिट्टी उठाकर एक लाल थैले में रख लिया। और उस लाल थैले को कसकर बांधा, उसे भी उसने अपने झोले में रख लिया। ऐंजिल डिकोस्टा जॉन को लेकर चर्च के सबसे ऊपरी हिस्से तक चला आया। जॉन यन्त्रवत डिकोस्टा का अनुसरण कर रहा था। ऐंजिल ने चर्च के सिरे तक जाकर एक छोटा कमरा खोला जहां खूब सारी रौशनी से पूरा कमरा जगमगा रहा था। बाहर भोर का समय था, और धुंधलका छाया था लेकिन इस कमरे में दोपहर जैसे चमकते दिन का अहसास होने लगा था. इस कमरे के बीचोंबीच एक छोटी मेज और तीन कुर्सियां करीने से रखी हुयीं थीं। ऐंजिल डिकोस्टा ने उन कुर्सियों में से एक पर जॉन को बैठा दिया। उसने जॉन पर कुछ 'पवित्र जल' की बूंदें छिड़कीं और जॉन को एक बड़ा-सा काला शनील का पैरहन पहना दिया। अब वो खुद जॉन के ठीक सामने वाली कुर्सी पर बैठ गया।

जॉन अन्दर से इस सन्नाटे और ऐंजिल डिकोस्टा की गतिविधियों से घबड़ाया हुआ था। लेकिन अपनी लाडली ऐली की बस एक झलक देखने-सुनने की हसरत अपने मन में लिये, ऐंजिल डिकोस्टा के आगे चूं भी नहीं कर रहा था।

डिकोस्टा ने अपने झोले में से कुछ चीजें निकालकर मेज पर फैला दीं, मसलन पुराने जमाने के भिन्न-भिन्न आकृति वाले कुछ सिक्के, कुछ नये-पुराने ताश के पत्ते, एक पीतल की कंघी, एक चांदी का प्याला, कुछ चमकीले कपड़े, ढेर सारी रंगबिरंगी मोमबत्तियाँ, एक दियासलाई वगैरह वगैरह। उसने लाल थैले से मिट्टी निकालकर मेज के बीच में रखी। अब इन सभी चीजों पर ऐंजिल डिकोस्टा ने पानी की कुछ बूंदें छिड़क दीं। फिर मोमबत्तियों को करीने से एक कतार में रखकर उसने उन्हें जला दिया। ऐली का चित्र भी ऐंजिल डिकोस्टा ने कब्र से लायी हुयी मिट्टी के बीच खड़ी करके टिका दी। वो बड़ी तेजी से न जाने कौन-कौन और किस दुनिया के मन्त्र पढ़े जा रहा था। कुछ देर में जॉन ने देखा उस कमरे में एकदम अंधेरा छा गया। अब केवल मोमबत्तियों की रौशनी में ही जौन को ऐंजिल डिकोस्टा का पसीने से भरा चेहरा दिख रहा था। ऐंजिल डिकोस्टा अभी भी आंखें बन्द किये मन्त्र पढ़ने में मशगूल था।

थोड़ी देर बाद जौन ने देखा एक पतली सुनहरी सी रौशनी की किरण, जो उस कमरे के एक बहोत ऊंचे रौशनदान से सीधा उसकी बेटी की तस्वीर पर आ गिरी है। कमरे के सभी परदे अचानक फड़फड़ाने लगे। जॉन बड़ा परेशान होकर इधर-उधर देखने लगा, ना जाने कहां से एकाएक हवा के तेज झोंके उन दोनों को झकझोरने लगे। ऐंजिल डिकोस्टा निश्चल बैठा मन्त्र पढ़ता रहा। ना हवा ने, ना अंधेरे ने, ना ही जोर जोर से हिलते हुये कमरे के दरवाजे-खिड़कियों ने और ना ही उन पर पड़े बेचैन परदों ने उसे डिगाया, ना रंचमात्र भी ऐंजिल डिकोस्टा विचलित ही हुआ। वो तो बस मन्त्र पर मन्त्र पढ़े जा रहा था। उसने कुछ लम्हे बाद, मन्त्र पढ़ने के दौरान ही जॉन की हथेली को थामा और उसकी दसों उंगलियों को अपने बिछाये अजीबोगरीब सिक्कों पर एकएक कर रख दी।

जॉन ने कुछ ही लम्हों में बगल में पड़ी तीसरी कुर्सी पर एक हलचल-सी देखी, ठीक इसी लम्हे में उसने अपने दिमाग में कहीं एक धीमी आवाज भी सुनी, ''डैडी''

'ये तो ऐली की आवाज थी' जॉन बुरी तरह से व्याकुल हो गया। उसने ऐंजिल डिकोस्टा से अपने हाथ छुड़ाकर इधर-उधर मारना शुरू कर दिया, और बावरा होकर चीखने लगा,

''ऐली, माय डौटर कहां हो तुम...मैं यहां हूं बेटा, तुम्हारा डैडी मैं...मैं यहां हूं...आओ मेरे सामने आओ...ऐली...ऐली''

जॉन के चीखना-चिल्लाना शुरू करते ही उसके सामने रखी सारी मोमबत्तियाँ एक साथ बुझ गयीं। कमरे में सब तरफ उजाला हो गया। हवायें खुद-ब-खुद ठहर गयीं।

उतावला होकर जॉन, ऐंजिल डिकोस्टा से बड़े ही बेकल स्वरों में पूछने लगा,

''फादर मेरी बेटी आयी थी...मेरी बेटी ऐली आयी थी उसने मुझे पुकारा था...कहां गयी...बताओ ना फादर, वो कहां गयी...कहां चली गयी...फादर बोलो ना...बोलो ना फादर''

ऐंजिल डिकोस्टा उसे क्रोध से भरी लाल आंखों से घूरने लगा. उसने जौन से कुछ नहीं कहा और अपना सारा सामान एक एक कर मेज से समेटने लगा। उसने अपने झोले में सारी चीजें रखनी प्रारम्भ कर दीं, सामान रखकर डिकोस्टा उठने को हुआ ही था कि बौराया हुआ जौन अपनी कुर्सी से उठकर डिकोस्टा के पास आ पंहुचा. जौन फिर से व्यथित होकर उसके पैरों के पास बैठ गया और सिर झुकाकर रोने लगा. डिकोस्टा ने उसके कन्धे पर हाथ रखा और धीरे से बोला,

''जॉन मुझे जाने दो, मैं तुम्हारी कोई मदद नहीं कर सकूंगा जॉन प्लीज लेट मी गो''

जॉन जमीन पर लम्बवत लेट गया और ऐंजिल डिकोस्टा के पंजों को पकड़े रहा। उसने रोते-रोते ऐंजिल से कहा,

''फादर मेरी बेटी को मरे पूरे तीन महीने गुजर गये हैं मैं कब से यहीं इसी चर्च के पीछे कब्रिस्तान में रोता-गाता अपनी ऐली की मजार के चक्कर लगाता रहा हूं मेरे सारे दोस्त, मेरे रिश्तेदार, मेरे कजिन, मेरे सब रेलेटिव के आगे मैं इतने दिनों से रोता रहा कि ''एक बार, बस एक बार मुझे मेरी ऐली से मिला दो लेकिन किसी ने मेरी नहीं सुनी शायद वो सब इस लायक ही नहीं थे फादर कि मुझे हेल्प कर भी पाते तुम रियल ऐंजिल की तरह मिले हो मुझे...बस एक तुम हो इस पूरे अर्थ पर, जिसने मेरी प्यारी गुड़िया की आवाज सुना दी मुझे मुझे तुम ही मिला सकोगे उससे प्लीज फादर तुम इस तरह मुझसे मुंह मत फेरो...फादर मुझे ऐसे छोड़के मत जाओ...मैं मर जाऊंगा फादर...गॉड तुम्हें हमेशा खुश रखेगा फादर...मेरी मदद करो...मुझे सिर्फ तुम्हारा भरोसा है...फादर मुझे ऐसे छोड़के मत जाओ...फादर रहम करो मुझ पर फादर प्लीज''

ऐंजिल डिकोस्टा का दिल जॉन की इन सब बातों को सुनकर और उसकी हालत देखकर, एक बार फिर पसीज गया। उसने फिर से उसे सहारा देकर उठाया। उसने जौन से दृढ़ होकर कहा,

''रो मत जौन...हैव फेथ इन गौड मैन...गौड विल हेल्प यू... अगर तुम मुझको-आपरेट नहीं करोगे तो तुम्हारी मदद मैं कभी नहीं कर सकूंगा...जाओ, तुम अब शांत होकर अपने घर जाओ...हम कल फिर एक बार कोशिश करेंगे...कल भी इसी वक्त नहाकर आ जाना''

ऐंजिल डिकोस्टा ने उसे एक संकरे दरवाजे से बाहर भेज दिया. ये दरवाजा सीधा चर्च के साइड वाले गलियारे में खुलता था। जॉन ने दूर तक गई करीब तीस-पैंतीस सीढ़ियां उतरीं और लम्बे-लम्बे दो गलियारों को पारकर वो बाहर गली में आ गया। इस गली से निकलकर वो कस्बे की मुख्य सड़क पर आ पहुंचा था।

अब तक दिन निकल आया था, और अच्छा-भला उजियारा चारों तरफ दिखाई दे रहा था। अब जौन ने अपने घर का रुख किया और सच्चे मन से अपने आराध्य को याद किया। रोजमर्रा के कामकाजी लोग जैसे सब्जीवाले, दूधवाले, न्यूजपेपर हौकर, परचून की दुकान वाले, सभी अपने-अपने काम-धन्धों पर निकल रहे थे।

जॉन आज पहले की अपेक्षा बहोत संभला हुआ था। आज उसे अपनी जान से प्यारी बेटी ऐली के लिये उसका कल्पना, उसका दिन-रात का बिसूरना, हर वक्त शराब पिये चर्च के इर्द-गिर्द फिरना, ना जाने क्यों उचित नहीं लग रहा था। 'खुदा की मर्जी थी ऐली उसे मिली, फिर खुदा की ही मर्जी से ऐली हमेशा के लिये उससे दूर चली गयी'। इस तरह के दार्शनिक-ख्याल उसके दिल-दिमाग से आते-जाते रहे। वो खुद को कुछ बदला हुआ महसूस कर रहा था।

उसके अपने एक-मंजिल वाले, लेकिन बहोत सुन्दर-से मकान में ही उसका अपना एक बहोत करीने से सजा हुआ दफ्तर था। उसका अपना कई सारी दुकानों वाला, भरा-पूरा मार्केट भी था। ऐली की माँ ऐलीजा उसके दफ्तर को संभाला करती थी। ऐलीजा की मौत के बाद, ऐली को लिखाई-पढ़ाई में लगाकर, जॉन यहीं घर में बना दफ्तर और अपना फैला-पसरा कारोबार चलाता रहा। ऐली के मरने के बाद जॉन का जी ना तो दफ्तर में लगा, ना घरबार में और ना ही कारोबार में। वो खुदा से रूठा हुआ, अपनी किस्मत को कोसता ऐली के कब्र पर धरना दिये, वहीं आवारों की तरह रहने लगा था। रात-बेरात अगर उसका उसके मकान में आना होता भी था, तो उसके पांव उस देहरी के भीतर ज्यादा देर टिकते नहीं थे। मुंह-अंधेरे वो वापस अपनी दुलारी बेटी के कब्र के पास धमक जाता था। जौन वहीं बैठा-बैठा घण्टों, कल्पना-जगत में विचरता हुआ अपनी बेटी और बीवी से बतियाता रहता था।

लेकिन आज कई महीनों बाद जॉन महसूस हो रहा था, कि उसको ऐंजिल डिकोस्टा के वात्सल्य भरे स्पर्श ने और 'पवित्र जल' की राहत देने वाली कुछ बूंदों ने थोड़ा सा ही सही लेकिन संभाल दिया था। जॉन को ये बारीक अहसास हो चला था कि उसकी अकुलाहट, उसकी बेसब्री और उसके व्याकुल जी के चलते ही आज वो ऐली से दो-बात करते-करते रह गया था। उसने घर पंहुचकर पूरे अपने मकान, अपनी बेटी की सजाई बगिया और अपनी बीवी के बनाये हुये दफ्तर की खूब सफाई की, धुलाई की और सबकुछ अपने हाथों से चमका डाला।

जॉन ने ऐली और ऐलीजा की तस्वीरों पर जमी धूल की परतें भी साफ कीं, उनके सामने अगरबत्ती जलाई और ताजे फूलों से उन तस्वीरों को यूं सजाया जैसे कोई बड़ी तल्लीनता से दुल्हन सजाता हो। वो उन तस्वीरों को खुद ही तस्वीर बना प्रेम से निहारता रहा। दिन भर के कई सारे काम-काज निपटाता रहा।

यही सब करते-कराते रात हो आयी। उसकी बगिया में ऐली की लगाई रातरानी महकने लगी और जहां-तहां जुगनू टिमटिमाने लगे। जौन थककर अपने घर की खिड़की पर आकर बैठ गया और अपने छोटे-से बगीचे को देखने लगा। उसको फिर ऐली की याद आ गयी, वो ये सब याद करके तड़प उठा कि वो जब बच्ची थी, तो कैसे इन जुगनुओं के पीछे-पीछे भागती-फिरती थी।

जॉन को अपने बागीचे में ऐलीजा की मुस्कुराती हुयी छाया भी रह रहकर दिखती रही, जब वो पहली बार उसके घर में, उसकी जिन्दगी में दुल्हन बनकर दाखिल हुयी थी. जॉन को गुनगुनाती हुई ऐलीजा का क्रिसमस का रंगीन पेड़ सजाना भी याद आता रहा, जब ऐली अपनी मां को तंग करते हुये कभी केक का टुकड़ा तो कभी सजाने वाले खिलौने या फल उठाकर भाग जाया करती थी। जॉन ख्यालों में ही ऐली को दौड़ते-भागते और ऐलीजा को उसका पीछा करते सोचकर हंस पड़ा। उसके आंसुओं की अविरल धारा उसके गुजरे हुये सुनहरे दिनों को सामने घूमता हुआ देखकर बहती रही बहती रही।

उसने उसी खिड़की पर बैठे-बैठे पूरी रात गुजार दी।

कभी अतीत की झिलमिल यादों में जीकर मुस्कुराते हुये, तो कभी कचोटती हुयी यादों की तड़प से रोते हुये, कभी ऐलीजा का गाये हुये गीत गुनगुनाते, तो कभी लगातार बहते हुये आंसुओं को बार-बार पोछते हुये।

अगली भोर, ऐंजिल डिकोस्टा फिर उसी मुद्रा में, उसी जगह, जौन को सामने बिठाये अपने झोले के सामानों को मेज पर सजा रहा था. उसने पिछली रात वाली सारी प्रक्रियाएँ, बिल्कुल उसी क्रम में दोहराईं थीं। लेकिन इस बार उसने मन्त्र पढ़ने के लिये आंखें बन्द करने से पहले, जॉन के हाथ थामकर, उसको बड़े आराम से समझाया,

''देखो मैन, अब मैं तुम्हारी बेटी को पुकारूंगा...गॉड ने परमिशन दी तो वो आयेगी भी...लेकिन तुम्हें पूरा कोआपरेट करना ही होगा...तुम इन सिक्कों पर ठीक उसी तरह उंगली रखे रहना एकदम जैसे मैंने रखी हुयी हैं...ये लिंक अगर टूटेगा तो फिर तुम अपनी पूरी लाइफ में कभी अपनी बेटी से कॉन्टैक्ट नहीं कर सकोगे...माय सन, पिछली बार टूटा हुआ कम्यूनिकेशन मैं फिर से बनाने की कोशिश करूंगा...गॉड विल हेल्प यू...डोन्ट फॉरगेट, यू हैव टू कोआपरेट विद अस...ओके''

जॉन बड़ी संजीदगी से ऐंजिल डिकोस्टा को मन्त्र पढ़ते हुये देखने लगा। मन्त्र-उच्चारण के वेग के साथ, फिर अंधेरा हुआ, दरवाजे-खिड़की-परदे तेज हवाओं के साथ थरथराये। वही एक पतली सुनहरी सी रौशनी की किरण उसकी बेटी की तस्वीर पर फिर से आ गिरी। जॉन के बगल वाली खाली पड़ी तीसरी कुर्सी पर जॉन ने आज फिर आहट महसूस की।

उसे फिर लगा, एक आवाज उसके दिमाग को छूकर गुजरी।

''डैडी...क्यों जगाया मुझे''

जॉन ने अपने आप को कठोरता से थामे रखा। इस नाजुक घड़ी में वो खुद पर बड़ी मुश्किल से काबू रख सका और इस बार अपनी उंगलियों में कोई हरकत नहीं होने दी। लेकिन उसकी आंखें उसका पूरा कहा नहीं मान रही थीं। ऐली की मीठी आवाज सुनकर वो झरझर-झरझर बहने लगीं थीं।

उसने भारी हुई आवाज और रुधें हुये गले से सिर्फ एक वाक्य कहा, ''ऐली, बेटा तुम कहां हो''

उसने कट कट कर फिर कुछ शब्द सुने, ''मालूम नहीं डैडी'' मालूम नहीं...लेकिन...ये बहोत अच्छी जगह है...मुझे यहां अच्छा लगता है''

जॉन ऐली की बात सुनकर और जोर से रो पड़ा। फादर डिकोस्टा ने उसे हाथ सहलाकर हौसला दिया खुद को सख़्त बनाकर, उसने ऐली से फिर पूछा, ''तुम्हें मेरी याद नहीं आती ऐली? अपने डैडी की याद नहीं आती?''

''उस बच्चे की याद आती है... वो मेरे सामने अनाथ हो गया था...उसके ममा-डैड मेरे सामने मर चुके थे...उसे ले आओ डैडी...वो अनाथ हो गया है''

जॉन सोच में पड़ गया। उसके लगातार बहते आंसू पल भर को थम गये। उसने आगे कहा,

''कौन सा बच्चा ऐली...तुम कहां हो, किसकी बात कर रही हो''

जॉन ने एक बार फिर अटक अटक कर आती मधुर आवाजें सुनी, यहां बहोत सुकून है डैडी...मुझे मत जगाना...मुझे नहीं पता ये स्वर्ग है कि नर्क है, लेकिन मुझे यहां बहोत अच्छा लगता है...डैडी मुझे डिस्टर्ब ना करो...मुझे हमेशा यहीं रहना है मैं जा रही हूं...डैडी...मुझे मत बुलाना''

अबकी बार इन आवाजों का स्वर क्रमशः धीमा होने लगा और एक सीमा तक जाकर समाप्त हो गया।

ऐली...ऐली...सुनो तो...बेटा...ऐली...कहां जा रही हो...ऐली... ऐली...'' जॉन पुकारता रह गया।

ऐंजिल डिकोस्टा ने आंखें खोलकर जौन को देखा। कमरे में प्रकाश फिर से लौट आया था। मोमबत्तियों की लौ फिर से मद्धिम पड़ गयीं। परदे शान्त हो गये थे। दरवाजे फिर से चुपचाप खड़े हो गये थे। खिड़कियां शांति से पहले की तरह रहस्य से मुस्कुरा रही थीं। पूरा कमरा फिर से मौन हो गया था।

ऐंजिल डिकोस्टा ने भी अपने सारे अहम सामानों को फिर से सहेजा। जॉन गंभीर मुद्रा में जड़वत बैठा था। फादर डिकोस्टा ने जॉन की ओर सादगी से देखा और छोटा लाल थैला उसे थमाते हुये कहा,

''ये लो...ये तुम्हारी बेटी की कब्र की मिट्टी है...इसे वापस वहीं डाल दो...उससे अब तुम्हारी बात हो गयी है...मुझे यकीन है, कि वो हेवेन में है...उसे राहत है वहां...वो खुश भी है...जॉन अब वो एक स्पिरिट है. .तुम उसे तंग करोगे तो उसकी रूह को दुःख पंहुचेगा...अगर उसने तुम्हें कोई मैसेज दिया है, तो उसे फौलो करो...गॉड ब्लेस यू माय सन''

इतना कहकर, फादर डिकोस्टा अपने झोले सहित उठे, कमरे से बाहर आये और धीरे-धीरे सीढ़ियों से उतरकर चर्च के भीतर कहीं विलुप्त हो गये। जॉन भी जैसे गहरी नींद से जागा। उसने सीढ़ी से उतरकर गलियारा पार किया, और चर्च के पीछे कब्रगाह पहुंचा। उसने ऐली की कब्र में उसके हाथ में रखी सारी मिट्टी डाल दी। जॉन उसकी कब्र पर खड़े होकर खुद से ही कहता गया,

''ऐली...माय स्वीट ऐली...मैंने तुम्हारा मैसेज सुन लिया है..मैंने तय कर लिया ऐली...अब मैं उस अनाथ बच्चे का पता लगाकर ही चैन पाऊंगा...उसको उसी तरह प्यार से पालूंगा, उसी तरह दुलार से बड़ा करूंगा। जैसे मैंने तुम्हें किया था...ऐली, मेरा बेटा, ये बात तुम समझ लो, वो बच्चा अब अनाथ नहीं है...यही अब मेरी लाइफ का ऐम है ऐली. ..अब मैं तुम्हें भी कभी तंग नहीं करूंगा...बाय गॉड अब वो बच्चा, तुम्हारा डैडी खोज के लायेगा...चाहे इसके लिये मुझे जो भी करना पड़ जाये...तुम्हारा डैडी अब उसे ऐडॉप्ट करके ही दम लेगा...कोई बात नहीं कि वो बच्चा मेरी ऐलीजा के पेट से नहीं जन्मा, कोई बात नहीं कि वो कहीं दूर देश से आया होगा...लेकिन मैं उसे बहोत अरमानों से, मोहब्बत से यहां लेकर आऊंगा...अब तो केवल वो बच्चा, तुम्हारा और तुम्हारी मां का सजाया हुआ मेरा घर...बस यही अब यही मेरी लाइफ है ऐली. ..आय प्रॉमिस यू, तुम हेवेन से देखना तुम्हारा डैडी कितना अच्छा बन के दिखायेगा तुम्हें...तुम दोनों मुझे इस दुनिया में अकेले छोड़के चले गये तो क्या हुआ...ये जॉन, उस बच्चे का भी अच्छा डैडी बनके दिखायेगा तुम्हें...तुम देख लेना ऐली...तुम देख लेना ऐलीजा''

ऐली की मजार पर हवा के नाजुक झोंके से उठते-गिरते फूल-पत्तियां उड़ उड़ कर, जैसे जॉन को उसके फैसले के लिये और एक नई जिन्दगी के लिये बधाई दे रहे थे।

जॉन अपनी आंखों में छलकते हुये खुशी के आंसुओं को लिये, मजबूत इरादों के साथ अपने घर की ओर चल पड़ा। ▫

पता : बी 1/29 डीएलएफ कॉलोनी
अंकुर विहार, लोनी गाजियाबाद-201102
मो. : 09999740265

लखन कहाँ का रहने वाला है

n सीमा आजाद

जैसा कि आप जानते हैं मेरा नाम लखन है, मैं दिल्ली में रहता हूं और सब्जी का ठेला लगाता हूं। मैं अपने बारे में सब कुछ बता सकता हूं सिवाय इसके कि मैं कहां का रहने वाला हूं क्योंकि वो जगह, जहां का मैं रहने वाला हूं, इस धरती से गायब हो चुकी है, उसका नामो-निशान मिट चुका है। यह जगह जब धरती पर थी, तो इसके एक-एक कोने को मैं वैसे ही जानता था, जैसे मांए अपने बच्चे की एक-एक धमनी को पहचानती हैं। मैं ही क्या हम सारे दोस्त बचपन से ही इसके चप्पे-चप्पे से वाकिफ थे। आम की बगिया में खड़े पेड़ों में बने मिट्ठुओं के कोटर, खेत में बने तीतर-बटेरों के ठिकाने, धान के खेतों में जमा रह गया पानी और उसमें पल रही किसिम-किसिम की मछलियां, और बांस के झुरमुट में सांपों के अड्डे भी। हम यानि-मैं, बलिराम, मोहन, सलीम, सन्तोष, दिलीप, जुम्मन, सरला, अंजुम, वाहिद और उसकी बहन नाहिद। हम ग्यारह जने जिधर निकल जाते क्या मजाल की उधर का कोई भी रहस्य हमसे बचा रहता। जैसे हम जैसे ही कोई बिल देखते उपलब्ध ातानुसार उसमें तब तक पानी या लकड़ी डालते रहते, जब तक कि उसमें रहने वाला जीव, जो कभी-कभी सांप भी हो सकता था, बाहर न आ जाता। पेड़ की किस डाल पर किस चिड़िया ने घोसला बनाया है, अण्डा दिया है, बच्चे बाहर आ गये हैं और उड़ना सीख रहे हैं, किस कोटर में तोते रहते है किसमें कठफोड़वा, सब की जानकारी हमें रहती थी। अलग-अलग तरह के काम में अलग-अलग लोगों की विशेषज्ञता थी, जैसे सांप का बिल खोजने में बलिरमवा माहिर था, मछलियों के बारे में सरला और अंजुमवा सबसे ज्यादा जानती थीं और चिड़ियों के घोंसलों पर नजर मेरी और वाहिद की होती थी। वाहिद की बहन होने के नाते नाहिद भी हमारे साथ होती थी और पेड़ के नीचे खड़ी होकर आने वाले हर तरह के खतरों के लिए हमें आगाह करती थी जिसके कारण हम हमेशा घर वालों की मार से बच जाया करते थे। नाहिद को याद करता हूं तो आज भी उस पर प्यार आने लगता है। छोटी सी दुबली-पतली, गेहुंआ रंग और गोल-गोल आंखे। दुपट्टे से घिरा होने के नाते उसका चेहरा ज्यादा ही गोल लगता। हर समय कोई न कोई दूध का दांत टूटा ही रहता था। हंसती तो उसकी गोल आंखे सिकुड़कर छोटी सी हो जाती और टूटे हुऐ दांत वाला मंसूड़ा दिखने लगता। वाहिद का जिगरी दोस्त होने के नाते वो मुझे भी भाईजान ही कहती थी बाकी सबको उसके नाम से ही बुलाती, सबसे छोटी होने के बावजूद। हम सबमें सबसे बड़ा बलिरमवा था, इस कारण वो हमेशा हम सब से आगे-आगे ही बड़ा होता रहा और बड़ों के सारे रहस्य भी जानता गया। उसी ने एक बार नाहिद से यह कह दिया-

''तू सबका तो नाम लेती है पर लखनवा को भाईजान काहे बुलाती है उसे तू भाईजान नहीं, सिर्फ 'जान' बुलाया कर।''सुनकर सब हंस-हंस कर दोहरे हो गये, नाहिद खुद भी, और उसने हंसते-हंसते ही ये बात अपनी अम्मी से बता दी। बस उसी दिन से उसका हम सब के साथ घूमना बन्द हो गया। अब मैं उसे सिर्फ तभी देख पाता जब वाहिद को लेने उसके घर जाता। कुछ समय बाद तो वो भी बन्द हो गया, क्योंकि उसने सामने आना बन्द कर दिया, हमेशा के लिए कुट्टी हो गयी हो जैसे। हमारे साथ रहने के समय, एक बार जब वो पेड़ के नीचे खड़ी निगरानी कर रही थी, मैं और वाहिद पेड़ पर चढ़े चिड़िये के घोसले में बच्चे देख रहे थे, मैंने उसके ऊपर वहीं से सांप का केंचुल फेंक दिया था। वह बुरी तरह डर गयी और रोने लगी, पर हम हंसे जा रहे थे। इस पर वो और रोई, फिर मुझसे कुट्टी हो गयी। जब दो दिन तक वह मुझसे नहीं बोली, तो मैंने उसके सर से दुपट्टा खींच लिया। मैं यह कहता हुआ दुपट्टा लेकर भागता रहा कि जब तक वो मुझसे मिल्ली नहीं कर लेती मैं दुपट्टा नहीं दूंगा। वो मेरे पीछे-पीछे दुपट्टे के लिए भागती रही, कान के पीछे बंधी दो कसी-कसी चोटियां उसके कंधे पर उठती गिरती रहीं, आखिरकार जब वो बुरी तरह थक गयी और हांफने लगी तब वह मुझसे मिल्ली करने के लिए तैयार हुई। नाहिद के हमारे साथ घूमने पर पाबंदी लगने के बाद धीरे-धीरे अंजुम और सरला ने भी हमारे साथ आना बन्द कर दिया उनके घर से भी मनाही हो गयी। अब हमारे मित्र समूह में सिर्फ लड़के ही लड़के रह गये। कुछ दिन तो इन लड़कियों की कमी हमें खली क्योंकि अब मछली खोजने में हमें परेशानी होने लगी, पर बाद में हम उन्हें भूल गये और लड़कों वाले अपने नये-नये खेलों में व्यस्त हो गये जैसे अब हम कभी-कभी घर वालों से छिपा कर गांव के किनारे पर बहती नदी में जाकर दिन भर तैरते और मछली पकड़ते।

हमारे गांव में हर जाति और धर्म के टोले अलग-अलग थे। गांव के एक कोने पर मियां टोला था, इसके एक ओर था अहिरान और दूसरी ओर कोइरान था। वाहिद, जुम्मन सलीम अंजुम मिया टोले में रहते थे, मैं और सन्तोष कोइरान टोले में और बलिराम, मोहन और दिलीप अहिरान टोले में रहते थे। और टोले भी थे पर वे थोड़ा दूर थे और वहां के लड़कों से हमारी दोस्ती नहीं थी। हम सारे साथी मिलकर मियां टोला अहिरान और कोइरान एक किये रहते थे। हम लोगों की दोस्ती से हमारे घर वालों को भी बड़ा आराम रहता था, जैसे जब हमारे घर सब्जी लादने

के लिए ठेलिया या टेम्पो आती तो हम सब मिलकर फटाफट सब्जी लादा करते। हमारे लिए कम जगह में ज्यादा गोभी या बैंगन लदाना भी एक खेल होता था। वाहिद के अब्बू की खेती तो थी, साथ में बाजार में टेलरिंग की एक दुकान भी थी। कई बार वे अपने ऐसे ग्राहकों के कपड़े जिनके घर शादी या काज-परोज पड़ा रहता, सिलकर हमसे ही भिजवा दिया करते थे। जिसके घर हम कपड़े पहुंचाने जाते वहां हमें कुछ न कुछ खिलाया जरूर जाता और हमारे लिए यह अच्छा खेल होता, कि हम इसका अनुमान लगाते हुए जाते कि फलां के घर खाने को क्या मिलेगा। बलिराम और जुम्मन के घर जब धान कटने लगता, तो बोझा ढोने के काम में हम सब लग जाते। किसने कितने गट्ठर ढोये इसका हिसाब कर हम अपनी बहादुरी पर घण्टों झगड़ते।

हमारी यह यारी दोस्ती तब तक ऐसे ही चलती रही, जब हमारी मूंछे आने लगी। उस समय तो हम बदलते हुए समय को नही पहचान सके पर अब दूर से देखने पर बहुत सारी बातें साफ-साफ समझ में आ रही हैं कि कैसे हमारा गांव बदल रहा था और साथ में हम सब भी।

हम सब की पढ़ाई एक-एक कर छूटती जा रही थी और किसी को भी इसका अफसोस भी नहीं था हम सब अपने पुश्तैनी कामों में ज्यादा से ज्यादा लगते जा रहे थे। उस वक्त, जब हम अपनी निकलती मूंछों को लेकर तरह-तरह के हंसी मजाक किया करते थे बलिराम पूरी तरह दाढ़ी मूछों वाला हो चुका था और उसकी दोस्ती कुछ ऐसे लड़कों से हो गयी थी जिन्हें हम नहीं जानते थे, इनमें से कुछ तो हमारे गांव के ही बभनान और ठकुरान के थे और बहुत से गांव के बाहर के भी थे। बलिराम इन्हें शाखा के दोस्त कहता था। अब वो हमारे बीच कम ही रहता था और उन्हीं लोगों के साथ ज्यादा व्यस्त रहता। लेकिन इस व्यस्तता के बारे में वह कुछ भी नहीं बताता। बल्कि हम सब को साथ में देख कन्नी काट कर निकल जाता, ऐसा लगता जैसे उसे हमसे मिलने से किसी ने मना किया हो। जैसे नाहिद की अम्मी ने जब उसे हमारे साथ घूमने से मना कर दिया तो वो हमें देख कर ऐसे ही किनारे से निकल जाती थी। एक दिन बलिराम ने मुझे अकेले पाकर मुझसे कहा-

''तू मेरी व्यस्तता के बारे में पूछ रहा था न, कल सुबह शाखा में आ जाना, पर वाहिद को न लाना।''

मैंने उससे पूछा ''क्यों?'' तो उसने कहा-

''यह हिन्दुओं का संगठन है, मुसलमान इसमें नहीं आ सकते।''

''काहे, हम एक ही गांव के तो हैं?'' मैंने पूछा।

''पर हैं तो वो मुसलमान और उनका देश तो पाकिस्तान है हम केवल भारत के लोगों को बुलाते हैं।'' बलिराम ने बताया।

''पर वाहिद ने तो मुझे कभी नहीं बताया कि उसका देश पाकिस्तान है ''मैंने आश्चर्य से कहा तो उसने कहा-

''तो आज ही जाकर उससे पूछ ले न कि वो हमारे देश में क्यों रहते हैं।''

उसने झुंझलाकर कहा और पलट कर चल दिया। मुझे याद आया कि इस बीच बलिरामवा वाहिद, जुम्मन और सलीम से ज्यादा ही कटने लगा था और इनके रहने पर हमसे भी मिलने से बचने लगा था। इस बार तो वह ईद में भी हमारे साथ नहीं था, जबकि वाहिद और सलीम के अब्बू उसे पूछ भी रहे थे। हमने सोचा कहीं व्यस्त होगा। पर लग रहा है कि मामला कुछ और है। यही सब सोचते हुए मैं सलीम के घर की ओर बढ़ रहा था कि रास्ते में मोहन मिल गया। उसने मिलते ही लगभग फुसफुसा कर मुझसे पूछा-

''कल सुबह शाखा में आएगा?''

''क्या तुझे भी बलिराम ने बुलाया है?'' मैंने सवाल के जवाब में सवाल किया।

''हां चलेगा तू''

''वाहिद जुम्मन और सलीम को लाने को मना भी किया है?'' मैने फिर जवाब में सवाल ही किया।

''हां वो मुसलमान हैं न'' मोहन ने अफसोस जताने वाले अन्दाज में जवाब दिया, तो मैंने कहा

''तो क्या हुआ हम सब दोस्त तो हैं''

''दोस्त हैं तो क्या, हम हिन्दू हैं और वो मुसलमान, वो वहां क्यों आयेंगे।'' मोहन ने तो न आने का जिम्मा उन्हीं पर डालते हुए जवाब दिया।

''तू जायेगा क्या'' मैंने थोड़ी देर सोच कर पूछा।

''हां मै तो हिन्दू हूं काहे ना जाऊंगा'' मोहन ने गर्व से कहा।

मैं सलीम के घर के ओर बढ़ गया वाहिद भी वहीं था, दोनों कैरम खेल रहे थे, मुझे देखते ही खुश हो गये। मैंने बैठते ही पूछा-

''बलिराम मिला था तुम लोगों को?''

''नहीं, वो तो अब हम लोगों से बात नहीं करता, क्या हुआ?'' वाहिद ने जवाब दिया और पूछा।

''कुछ नहीं ऐसे ही बहुत दिन हुआ न।''

मैं थोड़ी देर चुप रहा और वो दोनों कैरम की गोटी पर ध्यान लगाये निशाना साधते रहे। वाहिद हार रहा था। उसने कहा-

''अरे लखनवा जरा एकाध गोटी पिला दे''

सलीम चिल्लाने लगा ''नहीं-नहीं अपने से पिला''

और थोड़ी ही देर में वाहिद हार गया, खेल खत्म हो गया। हम तीनों उठकर आम के बाग की ओर चल पड़े, अचानक मैंने पूछ लिया-

''क्या तुम लोगों का देश पाकिस्तान है, तुम्हारा कोई रहता है वहां?''

चित्रकार : शिखा ओझा

सलीम और वाहिद दोनों इस सवाल को सुनकर चौंक गये, सलीम मेरे आगे आकर खड़ा हो गया-

''बात बता, बात क्या है, बलिरमवा तुझे मिला था न, उसने ही तुझसे ये बात कही है न?''

मैंने ''हां'' कहा तो सलीम गुस्से में आ गया और बताने लगा रात में उसके घर पर टोले के कई बुजुर्ग लोग इकट्ठा हुए थे और वो बता रहे थे कि शाखा वाले हमारे गांव का माहौल खराब कर रहे हैं, वे घूम-घूमकर सबसे कह रहे हैं कि हमारा देश पाकिस्तान है और हमें वहीं भगा देना चाहिए। सलीम थोड़ी देर रूक कर फिर बोला-

''चच्चा बता रहे थे कि हमारे गांव के बहुत सारे लड़के शाखा वालों के साथ हैं जिसमें बलिरमवा भी है। उनकी बात सुन कर मैंने पहले ही सोचा था कि मैं बलिरमवा से पूछूंगा, उसके रंग-ढंग मुझे भी ठीक नहीं लग रहे हैं, मैं टाल रहा था पर अब बर्दाश्त के बाहर हो गया है। और क्या कह रहा था?''

सलीम ने गुस्से से पूछा।

''कुछ नहीं मुझे शाखा में बुलाया है।'' मैंने कहा तो सलीम और भी भड़क गया-

''हां जा-जा तू भी उसके साथ हाफपैण्टिया हो जा'' कह कर सलीम तेजी से आगे बढ़ने लगा।

''अरे मैं कौन सा जा ही रहा हूं, वैसे भी कल तो मुझे बाबू के साथ सब्जी लेकर शहर जाना है, तुम लोग चलोगे क्या?''

इसका जवाब देने की बजाय वाहिद ने कहा

''कल मैंने मोहन को भी शाखा में जाते देखा था।''

मैं चुप रहा, उस वक्त तो मैं समझ नहीं पाया, पर अब समझ में आता है कि यही वह वक्त था, जब हम सारे दोस्त हिन्दू और मुसलमान दोस्त में बंटने लगे थे, पक्के दोस्त के रूप में पहचाने जाने वाले मैं और वाहिद भी। हालांकि वाहिद से मेरी दोस्ती बनी रही, पर हम सबके अन्दर हिन्दू और मुसलमान होने की भावना बढ़ती गयी, हमारे बीच होने वाली बातों में फर्क आ गया, जब हम केवल हिन्दू दोस्त साथ रहते तो मुसलमान दोस्तों के बारे में बहुत सी ऐसी बातें करते जिनसे यह साबित होता कि उनका पूरा रहन-सहन ही हमसे अलग और संदिग्ध है। मैं अपनी ओर से कहता तो कुछ नहीं था पर उन बातों को भी चुपचाप सुनता था, जिनके पीछे की बात मुझे अच्छे से पता रहती। जैसे मोहन एक दिन बता रहा था-

''सलीम का वतन तो पक्का पाकिस्तान ही है। एक दिन उसके अब्बू ने पीसीओ से पाकिस्तान फोन लगाया था, मैंने खुद नम्बर मिलाया था। मैं तो इस बात को भूल भी गया था, जब बलिराम ने इन लोगों के पाकिस्तानी होने की बात बताई तो मुझे ये बात याद आ गयी।''

मुझे याद आया सलीम के एक नजदीकी रिश्तेदार, बंटवारे के समय पाकिस्तान चले गये थे। उनके घर के किसी लड़के से सलीम की दीदी की शादी की बात चल रही थी, पर बहुत सोच-विचार के बाद उसके अब्बू ने यह कहकर मना कर दिया कि वे उतनी दूर अपनी लड़की की शादी नहीं करेंगे। उसी दौरान उसके अब्बू ने कई बार पाकिस्तान फोन किया था। सलीम ने यह बात हम सबको वाह-वाही में बताई भी थी कि 'उसके अब्बू ने फोन से पाकिस्तान बात की।' मुझे यह बात पता थी और मैं इसे बताना भी चाहता था, पर चुप इसलिए रहा कि मुझे डर था कि अगर मैं बोलूंगा तो सब मेरा मजाक बनायेंगे कि 'बड़ा आया मुसलमानों की तरफदारी करने वाला।' मुझे भी गोल से अलग कर दिया जायेगा। मोहन इस चुप्पी का भरपूर फायदा उठाता।

एक दिन जब मोहन हम सब के बीच आकर बैठा तो उसने कहा, ''हमारे घरों की रसोइयों में तो छोटा चाकू होता है पर मियवन की रसोइयों में बड़ा चाकू होता है, जरूरत के समय ये उनका हथियार बन जाता है।''

मैं जानता था ये चाकू वो लोग मांस काटने के लिए रखते हैं, पर मैं चुप रहा, मैं फिर डर गया क्योंकि एक दिन ऐसी ही किसी बातचीत में सन्तोष ने मुसलमानों की ओर से कुछ बोल दिया तो मोहन ने उसके कोइरी होने का मजाक उड़ाते हुए कहा जा-जा बस सब्जी बेचने पर अपना ध्यान लगा बुद्धि की बातें न कर।'' सुनकर सब हंस दिये, यहां तक कि मैं भी।

ऐसे ही एक दिन जब मोहन ने कहा कि मांस ज्यादा खाने के कारण इन सबका दिमाग हिंसक हो जाता है, रामाधार उसे डांटते हुए कहा-

''फालतू की बकवास न कर पहले तो मांस खाने के लिए मियां टोले में ही मंडराता रहता था, अब चला है पण्डिताई दिखाने, मिल जाये तो अब भी टूट ही पड़ेगा।''

मोहनवा एकदम तमतमा गया, आंख तरेर कर बोला-

''साले मोटी भैंस का दूध पी-पीकर तेरी बुद्धि भी मोटी हो गयी है क्या, भैंस के अलावा कुछ जानता भी है? वे ज्यादा अच्छे लगते हैं तो जाकर मियां टोले में ही बस जा न साले।''

रामाधार को भी गुस्सा आ गया और लोगों ने बीच-बचाव न किया होता तो दोनों में मार-पीट हो ही गयी होती। मुझे लगता है मेरे अलावा कुछ और लोग भी इसी कारण चुप रहते थे, हम सब अपना मान बचाये रखना चाहते थे और सबके सामने अपमानित होने से डरते थे। हमारे पास मोहन और बलिराम जितना हौसला भी नहीं था कि अपनी बात को हम उनकी तरह ही कह सकें। जो थोड़ा बहुत था भी वो रामाधार और सन्तोष जैसे लोगों का हाल देख दुबकता जा रहा था। उल्टे हम मोहन और बलिराम की उल्टी बातों को सीधा करने वालों का अपमान होते देख खुद भी खींसे निपोरते थे, ताकि हम अपमानित व्यक्ति के नहीं बल्कि अपमान करने वाले श्रेष्ठ लोगों के साथ दिख सकें। इन्हीं कारणों से उनकी बे-सिर पैर की बातें फैलती जा रहीं थीं और समझदार और सच्ची बातें डर का ओढ़ना ओढ़कर बैठ गयी थीं।

अब ऐसा कम ही होता कि हम बचपन के सारे हिन्दू मुसलमान दोस्त साथ बैठते। जब कभी इत्तेफाकन ऐसा हो जाता तो सब एक-एक कर खिसकने लगते। मैं खुद वाहिद से मिलता तो था, पर उन बातों का जिक्र उससे कतई न करता जो मैं अपने हिन्दू दोस्तों के साथ किया करता था। बल्कि मैं उससे यह जानने में लगा रहता कि वे सलीम और जुम्मन इकट्ठा होते हैं तो हमारे बारे में क्या बात करते हैं, क्योंकि मैंने सुना था कि अकेले में वे हमें 'काफिर' कह कर गाली देते हैं। लेकिन वाहिद भी मुझे मेरी तरह ही कुछ भी नहीं बताता था। धीरे-धीरे हमारे बीच का अबोला बढ़ता गया। वैसे भी अब वह अपने अब्बू के साथ टेलरिंग की दुकान और जुम्मन अपनी शामियाना की दुकान पर बैठने लगा था। उनके पास दोस्ती निभाने का समय भी नहीं था पर यह हमारे बीच की दोस्ती खतम होने का आधार नही था। अहिरान और कोइरान से मियां टोले के बीच की दूरी जो हमारे लिए कभी थी ही नही, अब

काफी बढ़ गयी थी। बलिराम अब हम सबके बीच का छोटा-मोटा नेता हो गया था। हालांकि वह गांव में कम दिखता था, पर जब कभी भी वह हमारे बीच आता, हमेशा यही बताता कि मियां टोले के कारण हम सबका विकास नहीं हो पा रहा है क्योंकि वे लोग आबादी बढ़ा रहे हैं। एक दिन पता नहीं किस धुन में बलिराम की ऐसी ही बात के बीच मैंने अचानक पूछ लिया-

''अच्छा बलिराम भाई, तुम लोग सात भाई-बहिनी हो कि आठ?''

बलिराम मेरे सवाल पर झल्ला गया और बीच में टोक देने के लिए मुझे डांट दिया। ऐसी ही बैठक में एक दिन उसने सबको फुसफुसा कर बताया कि 'उनकी' आबादी इतना बढ़ गयी है, कि अब वे रहने के लिए गांव सभा की जमीन की ओर खिसकते जा रहे हैं और उस पर कब्जा करने वाले हैं वहां उनका मदरसा बनेगा।

यह एक ऐसी बात थी और इस तरह से बताई गयी थी कि पूरे गांव में कानाफूसी शुरू हो गयी और यह बात तेजी से फैल गयी कि 'गांव समाज की जमीन पर कब्जा होने वाला है।' इस चर्चा में कई और बातें तेजी से फैलती चली गयी। जैसे यह कि 'हिन्दू टोले' (यह नाम गांव में पहली बार सुनाई दे रहा था, इसके पहले तो यह 'हिन्दू टोला' अहिरान, कोइरान, बभनान, ठकुरान या कयथान नाम से ही जाना जाता था पहली बार इन सारे टोलों को एक करके बात हो रही थी), पर हमले के लिए मियां टोले के लोग बाहरी लोगों को बुला रहे हैं। इस बीच मोहन की सक्रियता और ज्यादा बढ़ गयी थी और बलिराम का गांव शहर का चक्कर भी।

कुछ ही दिनों में बात चर्चा से भी आगे बढ़ गयी। मोहन और बलिराम हमले से बचने के लिए घर-घर में तलवार, त्रिशूल, बर्छी और देशी कट्टा भी बांटने लगे। मेरे हाथ में भी मोहन ने एक देशी कट्टा पकड़ा दिया। जब मैं घर में इसे छिपा रहा था तो बाबू जी ने देख लिया था, पर आश्चर्य तो तब हुआ जब इसे देखने के बाद भी उन्होंने कुछ भी नही कहा, बल्कि चिन्तातुर होकर बोले 'ठीक किया हमला होने वाला है।'

और एक दिन रात में जब हम सब खा-पी कर अपनी-अपनी खाट पकड़ने जा रहे थे, हल्ला हुआ कि ग्राम समाज की जमीन पर कब्जा शुरू हो गया है मियां टोले के लोग छुरा लेकर वहां पहुंच गये हैं। घर के सारे पुरुष अपनी-अपनी खाट से उठ कर लाठी-डण्डा, लुकारा तलवार बर्छी त्रिशूल कट्टा, जिसके पास जो भी हथियार था लेकर दौड़ पड़ा। मैं भी अपना कट्टा लेकर सबके पीछे भागा। मुझे आश्चर्य हुआ कि लोग भागते-भागते ग्राम समाज की जमीन से आगे निकलकर मियां टोले में घुस गये। किसी ने सबसे आगे के चार घरों में आग लगा दी थी और बाकी घरों में घुसे हुए थे। घर धूं-धूं कर जल रहे थे। मैं घबरा गया मुझे वाहिद, सलीम, और जुम्मन के साथ-साथ अंजुम, सलमा, और नाहिद भी याद आ गयीं। मुझे पसीना छूटने लगा आगे बढ़ने की बजाय मैं वहीं खड़ा रहा और हमलावर भीड़ की हुंकार और हमला झेलते लोगों की चीत्कार सुनता रहा। थोड़ी देर बाद मियां टोले से एक रेला निकलता हुआ उसी तरह बाहर की ओर भागने लगा, जैसे चींटे के बिल में पानी डालने पर चींटे बिलबिलाकर भागते हैं। घरों में इस वक्त जो जैसी स्थिति में था, पूरे या आधे कपड़े में, वैसे ही वह भागा जा रहा था। इसी में मैंने शायद नाहिद को भी देखा था जो सिर पर बिना दुपट्टे के बदहवाश भागी जा रही थी। मैंने चाहा कि आगे बढ़कर उसे बचा लूं पर न जाने कौन सी बेहया-बेरहम ताकत थी जिसने मुझे ऐसा करने से रोक रखा था। यह रेला खेत की ओर भागा जा रहा था और इनके पीछे तलवार बर्छी लिए लोगों का हुजूम था। मैंने इसमें मोहन को भी देखा, उसकी तलवार खून से सनी हुई थी। खेत में रोज हुआं-हुआं कर आतंक मचाने वाले सियार न जाने कहां छिप गये थे, उसकी जगह खेत औरतों और बच्चियों की चीत्कार से भर गया था। मैंने अपने घर के लोगों और कई परिचित लोगों को मियां टोले की औरतों पर लोटते देखा था। खून-मांस आग के साथ यह दृश्य देख कर मुझे घिन आने लगी, मुझे उल्टी का मन होने लगा और मैं जहां था वहीं बैठ गया। यह सब रात भर चलता रहा और सुबह होने पर सब अपने-अपने घर आ गये, सिवाय मुस्लिम टोले के लोगों के। उनके घर जलाये जा चुके थे बहुत से मारे जा चुके थे और औरतों की इज्जत खराब हो चुकी थी। इसे खराब करने वाले लोग घरों में आकर अपने घर की औरतों से रात भर की कहानी सुना रहे थे और अपनी बहादुरी बता रहे थे कि कैसे उन्होंने मुल्लाओं के जमीन कब्जे के मंसूबों को ही नहीं, बल्कि पूरी बस्ती को ही साफ डाला है। घर की औरतें डरी हुई सी अपने घर के पुरुषों से ये बातें चुपचाप सुनती, पर आपस में बस्ती की औरतों पर होने वाली जोर जबरदस्ती की बातें फुसफुसाकर करती। अपने घर के मर्दो का यह नया रूप उनके सामने पहली बार खुला था। लेकिन हर रूप की तरह उन्होंने मर्दों के इस रूप को भी स्वीकार कर लिया, क्योंकि यह मर्दों की औरतों पर जोर-जबरदस्ती से ज्यादा हिन्दू-मुसलमान का मामला था। इस मामले में मैं गांव की दूसरी औरतों का तो क्या, खुद अपनी अम्मा का मन भी नहीं समझ सका कि अपने पति की करतूत सुनकर वे खुश हैं या दुखी। हां, मुझे दो तीन दिन तक एकदम चुप देख कर उन्होंने धीरे से ये जरूर पूछा था -

''वाहिद का कुछ पता चला''

''मुझे क्या लेना-देना उससे, कहीं मर-मुरा गया होगा वो भी'' कहकर मैं उठकर बाहर निकल गया। मुझे तो अपने ऊपर भी आश्चर्य होता था, मैं मन से तो उनके प्रति सहानुभूति रखता था, पर पहले की चुप्पी अब खतम हो गयी अब मैं उनके खिलाफ बात व्यवहार भी करता था और जब मियां टोले के प्रति मेरी उग्र बातों से लोग खुश होते तो मेरा सहानुभूति वाला कोना सिकुड़कर और छोटा होता जाता। जब तक मेरे अन्दर से यह कोना पूरी तरह समाप्त नहीं हो गया तब तक लोगों के बीच रहने पर मुझे लगता कि लोग मेरे इस कोने को ही तलाश रहे हैं और इसे छिपाने के लिए मैं वाहिद सलीम और जुम्मन के खिलाफ बढ़-चढ़कर बोलता फिर अपनी कही हुई बात को सही मानने लगता। इस तरह मेरे अन्दर उनके लिए बचा सहानुभूति का कोना अपने आप ही समाप्त हो गया।

हमारा गांव पूरे एक हफ्ते तक जलता रहा और वे मुसलमान जो मारे नहीं गये थे, गांव छोड़कर भाग गये। महीनों तक अखबार वाले फोटू खींचने, नेता लोग आंसू बहाने और संगठन वाले सर्वे करने हमारे गांव आते रहे। गांव के सभी हिन्दू जाति के टोलों में इस वक्त इतनी एकजुटता हो गयी थी कि किसी ने भी इनके सामने मुंह नहीं खोला, बल्कि एक सुर में कहा-''यह बाहर वालों का काम है।''

इसमें थोड़ी सच्चाई भी थी क्योंकि बलिरमवा के दोस्त जिन्होंने इसकी शुरुआत की, वे बाहर वाले ही थे और इन बाहरी लोगों का पता देना असंभव था।

लगभग छः सात महीनों तक चली चर्चा के बाद इस घटना की उड़ती धूल पर पानी का छिड़काव करके जमीन में दबा दिया गया और अब एक नया खेल गांव में शुरू हुआ- गांव छोड़कर भागे हुए मुसलमानों की जमीन पर कब्जे और खरीद बिक्री का। मियां टोले के ज्यादातर लोग तो अपना जला हुआ घर देखने भी वापस नहीं आये बेंचने की बात तो बहुत दूर की है। कुछ लोग जिन्होंने थोड़ी हिम्मत दिखाई वे किसी और के माध्यम से महीनों बाद गांव आये और औने-पौने दाम में अपना खेत-बाग-घर बेंच कर चले गये। हिन्दू टोले में तो जैसे लूट मच गयी। वाहिद के अब्बू की टेलरिंग की दुकान बाबू जी ने बेहद कम रूपयों में खरीद ली और उसमें अपनी सब्जी का स्टोर और दुकान बना लिया। ज्यादा जमीन बलिराम ने लूटी। जिसे भी मियां टोले की जमीन कम रेट या किसी काम के बदले में लेनी होती, वो बलिराम के पास जाता। एक समय में बलिराम को हर समय कोसने वाले उसके बाबू जी अब उसे लायक बेटा बताते नहीं थकते-

''भगवान बेटवा दे तो बलिरमवा जैसा, घर का भी कितना ध्यान रखता है और गांव का भी।'' गांव भर के हर टोले में बलिराम की धाक जम गयी। जबकि 25-26 साल के लड़के को गांव के बुजुर्ग भाव नहीं देते हैं। जब वो शहर नहीं गया होता तो उसके घर पर लोगों का मजमा लगा रहता, जिसमें बलिराम अब सबको समझाता-

''देश का विकास मियां लोगों ने रोक रखा है, देखो हमारे गांव से उनके जाते ही यहां का कैसा विकास हो गया, सबके पास जमीन घर-दुआर सब कुछ हो गया, इ ससुरे इतने पिछड़े हैं कि पूरी दुनिया में इनके कारण हमारी नाक भी कट रही है। इतने दिन तक भारत में राज करके इन्होंने देस को बर्बाद कर दिया।''

''हां भइया सही कहौ, अंग्रेजन तो हमका कमै लूटे होइहें इन लोगन ने हमें ज्यादा लूट लिया।''

कुबेर चाचा के मन में दरअसल ये सवाल आ गया कि 'अंग्रेजों ने हमें ज्यादा लूटा या मुसलमानों ने?' लेकिन उन्होंने बलिराम के डर से अपनी बात को दूसरे तरीके से कही। बलिराम इसे भांप गया। उसने इस तुलना को दूसरों के दिमाग में जाने से रोकने के लिए जोर से कहा-

''हां और क्या, अच्छा बताओ इस दफा परधान किसे बना रहे हो?''

''तुम्हारे अलावा और कौन हो सकता है, तुम तो मानो अबही से परधान हो, इसमें चुनने की कौन सी बात है।'' सन्तोष के बाबू जी ने कहा तो सबने उनकी हां में हां मिलाई।

बलिराम धूमधाम से ग्राम प्रधान बन गया फिर पंचायत अध्यक्ष और फिर विधायक भी। एक-एक कर उसके घर पर दो-दो चार पहिया गाड़ियां आ गयी। अब वो गांव में कम शहर में ज्यादा रहा करता था। उसका परिवार भी बच्चों की पढ़ाई के लिए शहर में जाकर बस गया। उसके छः भाई और दो बहनोई को कमाई वाली नौकरी मिल गयी। कुछ समय बाद बलिराम ने पास वाला शहर भी छोड़ दिया और विधायक बनकर राजधानी में रहने लगा। उसके बाद मोहन गांव का प्रधान बन गया और उसने भी अपना एक घर शहर में बनवा लिया और उसके बच्चे भी वहीं पढ़ने लगे। अपने बाद मोहन ने अपने भाई को प्रधान बना कर इस पद पर अपना कब्जा बरकरार रखा। शहर जाने वाले लोग बताते कि मोहन को बलिराम की पार्टी ने आगे का टिकट नहीं दिया, इसलिए दोनों में अब उतनी नहीं पटती। बाद में मोहन दूसरी पार्टी में शामिल हो गया। उसके बड़े भाई इस समय गांव के प्रधान थे और यहां उसकी बड़ी खेती भी थी, इस कारण उसका गांव आना-जाना लगा रहता था।

दूसरी ओर मैं अपने बाबू जी की तरह ही सब्जी उगाने और बेंचने वाला बना रहा। इस बीच मेरे सब दोस्तों की और मेरी भी शादी हो गयी और बच्चे भी। हमारे बच्चे वैसे ही गांव मे पढ़ते रहे जैसे हम पढ़ा करते थे। अपने बच्चों का बचपना देखकर मुझे अपने बचपन की याद आती और फिर वाहिद और नाहिद भी याद आते। पर उन्हें याद कर मेरा दिल दुखता हो, ऐसा नहीं था। पूरा गांव ही उस घटना को भूल चुका था। सभी लोग मियां टोले की हड़पी हुई जमीन और सम्पत्ति का खुशी-खुशी उपभोग कर रहे थे और इस तरह गांव के लगभग 20 साल बीत गये। इस दौरान मेरे बाबू के अलावा कइयों के मां-बाबू गुजर गये।

एक दिन जब मैं सुबह के समय सब्जियां टाली पर लादे शहर जा रहा था, उसी समय मोहन अपनी चारपहिया गाड़ी से गांव की ओर जाता दिखा। मैं दस बजे तक जब गांव पहुंचा तो पूरे गांव में यह चर्चा तैर रही थी कि शाम को मोहन बाबू के घर बैठक है सबको आना है बलिराम बाबू भी आने वाले हैं। वे गांव के लोगों से कुछ बातचीत करेंगे। घर पहुंचने से पहले ही मोहन का खास आदमी दिलीप मिल गया, मैंने उससे इस बैठक के बारे में पूछा तो उसने कहा-

''जानते नहीं सरकार प्रदेश का विकास करना चाहती है, उसी सम्बन्ध में कुछ बात होगी और का।''

''बलिराम बाबू आ रहे हैं तो जरूरै कुछ बात होगी'' कह कर मैंने और टोह ली तो वह थोड़ा और खुला-

''हां सुन तो हम भी रहे हैं गांव में कोई फैक्ट्री लगेगी, चलो शाम को सुनते हैं कि का बात है'' कहते हुए वह चलता बना।

''ठीक है मिलेंगे''

घर पहुंचा तो पत्नी ने भी खबर सुनाई-

''सुना कुछ, गांव में फैक्ट्री लगने जा रही है, बलिराम बाबू तो आपके साथ खेले हैं, उनसे अपनी बात पहले ही कर लीजियेगा।''

''मैं फैक्ट्री -वैक्ट्री में काम नहीं करूंगा, खेती कौन देखेगा, बच्चे भी तो नहीं हुए खेती देखने लायक'' मैंने चिढ़कर जवाब दिया।

''अरे तो कौन सा अभी लग रही है फैक्ट्री, चार पांच साल तो लगेंगे ही, तब तक तो संजय भी तैयार हो जायेगा, चाहे तो उसी को रखने की बात कान में डाल दीजियेगा।''

यह बात मुझे जंच गयी। रात को जब मैं मोहन के दलान की ओर बढ़ रहा था तो देखा खेत में चारों ओर कई टार्च की रोशनी भी उसी दिशा में खिसकती दिख रही थीं। मोहन के दलान में जब मैं पहुंचा तो लगभग 70-80 लोग इकट्ठा थे और आते ही जा रहे थे। लाल सफेद प्लास्टिक की कुर्सिया सबके लिए लगाई गयी थी जिस पर आगे की कतारों में बभनान, ठकुरान कयथान और अहिरान के लोग थे फिर कोइरान के लोग इनके पीछे अन्य लोग। इन सबके एक ओर किनारे दरी बिछाई गयी थी जिस पर पसियान और दुसाध टोले के लोग थे बच्चे भी इस पर लोट रहे थे। 8-10 पेट्रोमेक्स जलाये जा रहे थे, जिसमें

लोगों के उत्सुक चेहरों को साफ-साफ देखा जा सकता था। दलान के बाहर की ओर सात गाड़ियां खड़ी थीं और कई पुलिसिया वर्दी वाले लोग टहल रहे थे। इससे इस बात का संकेत मिल गया कि बलिराम बाबू पधार चुके हैं। बच्चों का हुजूम इन गाड़ियों के आसपास मंडरा रहा था, पर पुलिस वालों के डर से पास नहीं जा रहे थे। कुछ बच्चे इनकी नजर बचा कर गाड़ी के अन्दर का नजारा लेने के लिए अपने चेहरे गाड़ी के शीशों पर अपनी नाक चपटी होने की हद तक जोड़ देते। जरा सी आहट होते ही वे भागने लगते। मैं बैठक में आये लोगों से दुआ सलाम करता हुआ माहौल को समझने का प्रयास कर ही रहा था कि मोहन के बैठके से एक थुलथुल आदमी निकलता हुआ दिखा, उसके पीछे मोहन था। थुलथुल आदमी का चेहरा एकदम चिकना चमकदार और बहुत पहचाना हुआ था। मैं सोच ही रहा था कि उसने अपने दोनों हाथ सर के ऊपर करके कहा-

''राम-राम भाइयों'' आवाज से मैंने पहचाना कि ये तो बलिरमवा है, एकदम चिकनाय गया है। संभवतः ऐसी ही प्रतिक्रिया सबकी ओर से हुई इसलिए उसके आने पर बैठक में जो खामोशी छायी थी, वो खुसुर-फुसुर में बदल गयी। इस बीच बलिराम सामने लगी चौकी पर, जिस पर गद्दा और सफेद चादर बिछी थी, आकर बैठ गया, दो कमाण्डो दौड़कर उसके पीछे आकर खड़े हो गये, मोहन बलिराम के बगल में रखी कुर्सी पर आकर बैठ गया। बलिराम के बगल में बैठने का गर्व उसके चेहरे पर साफ-साफ दिख रहा था। इसके अलावा चार-पांच सफेद कुर्ता पजामा वाले अन्य लोग थे जिन्हें हम नहीं जानते थे।

दुआ बन्दगी के बाद मोहन ने पहले बात शुरू की- ''तो भइया चाचा लोग, ये सभा इसलिए बुलाई गयी है कि हमारे अपने बलिराम भाई जो सत्ता में पहुंच कर हमारे गांव का नाम रोशन कर रहे हैं, हमारे बीच खुद चलकर आये हैं। मैं आज भले ही दूसरी पार्टी में हूं पर एक ही गांव और एक जैसी सामाजिक सोच के कारण हमारे बीच पुरानी दोस्ती कायम है। वे हमारे क्षेत्र के विकास के लिए लगातार चिन्तित रहते हैं और उनकी चिन्ता को देखते हुए ही मुख्यमंत्री जी ने एक योजना इस क्षेत्र के लिए भी तैयार की है। इसके बारे में ही वे आपसे बात करने के लिए यहां पधारे हैं। मैं बलिराम जी और आप लोगों के बीच ज्यादा बाधा न बनते हुए उन्हें आमन्त्रित कर रहा हूं कि वे आयें और आपके बीच अपनी बात रखें।''

मोहन की बात सुन कर लोगों ने जोरदार तालियां बजायीं। मुझे पत्नी की बात याद आयी 'उसे पक्की खबर थी कि गांव में फैक्ट्री लगने वाली है, भाषण खत्म होते ही मैं बलिराम जी से मिल लूंगा। पता नहीं मुझे पहचानेंगे भी या नहीं' मैं सोच ही रहा था कि बलिराम चौकी से उतर कर खड़ा हो गया। हाथ पीछे बांधा और गला साफ कर बोलना शुरू किया-

''मेरे गांव के सभी चाचा, ताऊ, बाबा लोगों को मेरा प्रणाम। आप लोगों को याद होगा कि जब मैं आप लोगों के बीच था तभी से इस क्षेत्र के विकास की बात मेरे दिमाग में थी। इस गांव को मैं कैसे भूल सकता हूं जहां से सीढ़ियां चढ़ता हुआ आज मैं विधान सभा में पहुंचा हूं आप सबका आशीर्वाद रहा तो आगे भी जाऊंगा। माननीय मुख्यमंत्री जी से मैं अपने क्षेत्र के विकास की हमेशा चर्चा करता हूं। इसी का नतीजा है कि उन्होंने इस क्षेत्र में, बल्कि इस गांव में फैक्ट्री लगाने की योजना बनाई। इस फैक्ट्री से देश का विकास तो होगा ही साथ ही गांव के लोगों को रोजगार भी मिलेगा। मैं जानता हूं कि अब खेती से घर चलाना मुश्किल होता जा रहा है, इसलिए अब आप नौकरी करके अपना जीवन अच्छा बना सकते हैं। फैक्ट्री लगने की यह योजना एक साल के अन्दर शुरू हो जायेगी। यानी अब खुशहाली आने में ज्यादा दिन नहीं बचे हैं। मैं मुख्यमंत्री जी को आश्वासन देकर आया हूं कि हमारे गांव की जनता से आपको हर तरह का सहयोग मिलेगा।''

यह कह कर बलिराम ने अपनी मोटी गर्दन हिलाकर पूछा-

''बताइये मैंने सही कहा न?''

''हां-हां सहयोग रहेगा'' भीड़ ने हाथ उठा कर जवाब दिया। साथ ही किसी ने यह भी पूछा कि फैक्ट्री में क्या बनेगा।

''इसकी जानकारी आपको महीने भर के भीतर मिल जायेगी, अभी इसलिए नहीं कि हमें प्रदेश भर में कुल छः फैक्ट्रियां लगानी हैं, कौन सी कहां लगेगी यह तय करना अभी बाकी है'' यह कहकर बलिराम बाबू चौकी पर बैठ गये। मोहन ने बलिराम के जयकारे लगवाये और गांव में मीठा बंटवाया। मीठा बंटने के बीच ही बलिराम बाबू गाड़ी में सवार होकर बाहर निकल गये। मेरे साथ बहुतों की उनसे कुछ कहने की साध मन में ही रह गयी, लेकिन चूंकि हम सबका बलिराम से पहले का कुछ न कुछ रिश्ता रहा ही है, इसलिए सब ये मान बैठे कि उसकी बात तो बलिराम सुनेगा ही।

अगले दिन से ही गांव में, गांव के बाजार में जगह-जगह लगी चौपालों में यही चर्चा होने लगी कि फैक्ट्री किस चीज की लगेगी और साथ ही यह भी कि यह कहां लगेगी। दूसरा सवाल पहले किसी के मन में नहीं आया था पर अब पहली चर्चा से थकने के बाद लोगों के दिमाग में यह बात भी आने लगी। एक दिन की चौपाल में दिलीप ने हिसाब लगाया कि ग्रामसमाज की जमीन के साथ हरिराम, दुलारे और लखन की जमीन जायेगी। सुनते ही मैं बमक गया-

''मेरी जमीन काहे जाएगी इतनी हरी-भरी जमीन फैक्ट्री बनाने के लिए है, मैं सब्जी कहां उगाऊंगा?''

दुलारे तो इस चोपाल में नहीं था, हरिराम भी बोल पड़ा-

''हां और क्या, हम अपनी जमीन थोड़े ही देंगे, फैक्ट्री जहां लगनी हो लगे।''

''तो फैक्ट्री का तुम्हारे छत पर लगेगी, उसके लिए जमीन तो चाहिए ना, किसी ना किसी को तो देनी ही होगी''

दिलीप ने यह बात हाथ नचाकर कही तो हरिराम और भी उखड़ गये- ''तो तुम अपनी जमीन दे देना, लगवा लेना अपनी जमीन और छत पर फैक्ट्री, हम तो ना देंगे अपनी जमीन।''

दिलीप भी थोड़ा उखड़कर बोला- ''हां हम दे देंगे, वैसे भी खेती में अब क्या रखा है जमीन देकर मुआवजा तो मिलेगा ही उससे अपना कुछ काम शुरू कर देंगे, फैक्ट्री में नौकरी भी मिल ही जाऐगी फिर ठाठ से रहेंगे।'' कह कर दिलीप ने अपनी मूंछों पर हाथ फेरा और मुस्कुराया तो बाकी सब भी हंसने लगे।

लगभग इसी तरह की चर्चा पूरे गांव में हो रही थी, फैक्ट्री की उम्मीद, रोजगार की आशा, जमीन जाने का डर और मुआवजे की दर यह सब हर दिन की चर्चा का हिस्सा हो गये थे। मोहन के दलान में इन चर्चाओं में नयी बातें जुड़ती जाती थीं। मोहन या कोई पंचायत सदस्य इस दलान में रहे या न रहे, चर्चा लगभग हर रोज होती थी।

जब मोहन इसमें शामिल होता तो चर्चा में जान आ जाती। वह ज्यादातर मुआवजे की चर्चा करता कि 'इसकी दर क्या होनी चाहिए।' 20 साल पहले मियां टोले वाली घटना में बलिराम की तरह उसने भी काफी जमीन झटकी थी, जिस पर खेती कराना अब उसके लिए मुश्किल होता जा रहा था क्योंकि वह ज्यादातर तो शहर में ही रहता, जहां यह चिन्ता उसे खाये जाती कि बंटाईदार उसकी फसल झटक न दे। इसलिए अब उसे इस जमीन से पैसा कमाने का मौका मिल गया था। बलिराम वाली बैठक के करीब डेढ़ महीने बाद अखबार से सबको यह जानकारी मिली-

'बिजली की समस्या हल करने के लिए जिले के रतनपुर गांव यानि हमारे गांव में एक थर्मल पावर प्लांट लगाया जायेगा, जिसके लिए पूरे गांव का अधिग्रहण कर उसे खाली कराया जायेगा। किसानों और गांववासियों को उनका उचित मुआवजा दिया जायेगा और उनका पुनर्वास भी किया जायेगा।'

यह खबर पढ़ते ही गांव वालों के होश उड़ गये। पहले सबने सोचा था कि मुश्किल से 10-15 लोगों की जमीन पर फैक्ट्री लग जाएगी और ये 10-15 लोग हम नहीं बल्कि दूसरा कोई ही होगा। पर यहां तो पूरा गांव ही खाली करने की बात है और नौकरी चाकरी के बारे में तो अखबार में कुछ लिखा ही नही है। दिन भर अखबार लेकर पढ़ने पढ़वाने और इधर उधर की चर्चा के बाद शाम को गांव के लोग पंचायत के कई लोगों के साथ मोहन के घर पर अपने आप ही इकट्ठा हो गये। मोहन भी घर पर ही था । उसके बाहर आते ही लोगों ने पूछा-

''अखबार पढ़े मोहन भइया''

''हां पढ़े''

''तो इ सब का है? बलिराम भइया तो कहे रहे कि फैक्ट्री हमारे विकास के लिए लग रही, जब पूरा गांवै उजड़ जायेगा तो कैसा विकास फिर हम रोजगार लेकर भी क्या करेंगे?''

''अरे तो सबको दूसरी जगह बसाने के लिए भी तो कहे हैं'' मोहन ने इस चिन्ता का महत्व कम करने के लिए कहा।

''हमें नहीं बसना है दूसरी जगह, हम अपना गांव नहीं छोड़ेंगे, पूरा बसा हुआ गांव उजाड़कर फैक्ट्री लगाना ये कैसा विकास है।''

दुलारे ने जोर से कहा तो मैंने भी पीछे से हुंकारी भरी- ''हां अपने पुरनियों की जमीन हम नहीं छोड़ेंगे हमें फैक्ट्री नहीं चाहिए, बलिराम से कह दो कहीं और जाकर ऐसा विकास करें।''

बाकी लोगों ने भी हां-हां कर समर्थन जताया। पर बातचीत किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंची। बस सबने मोहन को अपना फैसला सुना दिया कि वे अपना गांव नहीं छोड़ेंगे और कह दिया कि सबका फैसला वे बलिराम तक पहुंचा दें। मोहन ने भी सबका मिजाज भांपकर आज चुप रहना ही बेहतर समझा।

इसके बाद का चार महीना इसी डर और चर्चा में बीता कि सरकार ने यहां बिजली घर लगाने का फैसला टाला या नहीं। आस-पास के गांव के लोग भी इस बिजली घर के खिलाफ हो गये, क्योंकि बिजलीघर की राख से उनकी फसलों को भी नुकसान पहुंचना था। यह खबर बार-बार आ-आ कर लोगों को डराती रही कि पावर प्लांट वाले लोग गांव का गुपचुप मुआयना करके चले गये। चार महीने बाद मुआवजा लेकर गांव खाली करने का फरमान भी आ गया। हमें बसाने के लिए कहा गया कि 'जो जमीन का मुआवजा लेगा उसे बसने के लिए जमीन नहीं दी जायेगी और जो मुआवजा नहीं लेगा उसे उसी कीमत की जमीन बसने के लिए उपलब्ध कराई जाऐगी।' नौकरी के बारे में कहा गया कि 'योग्यतानुसार काम दिया जायेगा।' यानि हर हाल में हमें गांव छोड़ना ही था। हम सब का गुस्सा बढ़ रहा था। हमने मोहन से कहा कि वो अपनी पार्टी से इस प्लांट का निर्माण रुकवाने के लिए कहे लेकिन मोहन ने कहा कि इस प्लांट का लगना हम लोगों के लिए नुकसानदेह हो सकता है पर 'देश के विकास के लिए जरूरी है' इसलिए उसकी पार्टी भी इसके बनने के पक्ष में है। थक-हार कर दुलारे ने और लोगों के साथ मिलकर घूम-घूमकर गांव के लोगों और आस-पास के गांवों से भी सम्पर्क किया, बातचीत की और आन्दोलन का ऐलान किया। अपनी ताकत दिखाने के लिए हम सबने एक सभा की। यह सभा इतनी बड़ी थी कि अखबार और टीवी वाले हमारे गांव का चक्कर काटने लगे। दुलारे हम सब का नेता बनकर उभरा। अखबार टीवी वाले जब भी आते तो बात करने के लिए हम दुलारे को ही आगे कर देते। वह सबका जवाब बहुत ही अच्छे से देता। पर एक दिन एक टीवी वाले ने उससे ऐसा सवाल पूछ दिया कि वो बंगले झांकने लगा। इस पत्रकार ने हमारे गांव के एक पुराने भूत को हमारे सामने खड़ा कर दिया-

''20 साल पहले आपके गांव के हिन्दुओं ने मुसलमानों के घर जलाकर उनकी हत्या कर उनकी औरतों से बलात्कार कर उन्हें गांव छोड़ने पर मजबूर कर दिया, अब जब सरकार आपको यह गांव छोड़ने के लिए मजबूर कर रही है तो क्या आपको उनकी याद आ रही है।''

दुलारे जिसकी उम्र उस वक्त 25-26 साल रही होगी, यह कह कर इधर उधर देखने लगा ''हमें याद नहीं हमारे गांव में हमारी जानकारी में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ था।''

''तो आप यह कह रहे हैं कि 20 साल पहले आपके गांव में मियां टोला था ही नहीं, उसकी बहुत सी जमीन तो आपके पास भी होगी'' पत्रकार ने अपना माइक लगभग दुलारे के मुंह में घुसाते हुए पूछा।

''मुझे इस बारे में कुछ याद नहीं है'' यह कहकर दुलारे तेजी से आगे निकल गया, पर उसके चेहरे पर उड़ती हवाइयों को कैमरे ने साफ-साफ रिकार्ड कर लिया। यह सवाल-जवाब टीवी चैनल पर प्रसारित किया गया साथ ही बीस बरस पहले घटी इस घटना को कहानी की तरह लोगों को दिखाया और बताया गया। पर इस कहानी में आगजनी लूटपाट और पूरी घटना को उकसाने वाले बलिराम, मोहन और उसके संदिग्ध दोस्तों का नाम एक बार भी नहीं लिया गया, जिसके कारण दुलारे सहित बहुत से लोगों ने यह अनुमान लगा लिया कि इस खबर के प्रसारण के पीछे बलिराम का ही हाथ है, ताकि गांव की जमीन आसानी से छीनी जा सके। इस पर चर्चा होने लगी। लेकिन इससे 20 साल पहले जिस धूल को पानी का छींटा मार कर दबा दिया गया था वह फिर से ऊपर उठने लगी। पूरे गांव में फुसफुसाहटों में इस पर चर्चा होने लगी कि किसने किसको मारा था, किसका घर जलाया था, किसने कितने बलात्कार किये थे और किसके पास किसकी कितनी जमीन है, किसने किसकी जमीन दुकान और मकान हड़पा। इसके साथ ही बलिराम और उसके दोस्तों के उकसावों की भी चर्चा शुरू हो गयी। यह इसलिए भी कि इसके माध्यम से हर कोई अपने को निर्दोष साबित कर सकता था। हरिराम और दुलारे भी एक दिन गांव के चार पांच बुजुर्गों के साथ उस दिन को याद कर रहे थे-

''बलिरमवा ने हमारी आंख पर पट्टी बांध दी थी। जब उसने ग्राम समाज की जमीन पर कब्जे की बात फैलाई तो त्रिशूल लेकर सबसे आगे दौड़ने वालों में मैं ही था, जब मैं वहां पहुंचा तो देखा कि छः-सात मियां लोग वहां बैठे ताश खेल रहे थे कब्जा जैसी कोई बात नहीं थी पर तभी बलिराम के दोस्तों ने मुझे लुहकारा और मेरे दिमाग पर भूत सवार हो गया। मैंने आव देखा न ताव...''

यह कह कर हरिराम चुप हो गया। हिम्मत जुटाकर दुलारें ने भी अपनी गलती बयान की- ''मैं भी लुकारा लेकर तुम्हारे पीछे ही था और बलिराम के ललकारने पर आगे बढ़कर मैंने ही सबसे पहले मियां टोले में आग लगायी थी। उस वक्त उस घर में सब लोग सो रहे थे मैने ऐसा कैसे किया समझ में नहीं आता।''

''मैं तो सो गया था मोहन ने मुझे जगा कर कहा कि मिया टोले के लोग हिन्दू टोले में घुस गये हैं और उन्हें मार रहे हैं, मैं इतना बदहवाश हो गया कि बिना सच जाने मोहन के पीछे दौड़ पड़ा, ये भी नहीं सोचा कि जब वो लोग हिन्दू टोले में घुसे हैं तो हम मियां टोले की ओर क्यों जा रहे हैं। मेरा हाथ वही कर रहा था जो मोहन और उसके दोस्त कह रहे थे।'' दिनेश ने भी अपना अनुभव याद किया तो मैंने भी अपनी गलती मानते हुए कहा-

''यहां से उजड़कर वे कहां गये और कैसी हालत में रहे हमने तो ये भी जानने की कोशिश नहीं की, नहीं तो बाद में हमीं उन्हें गांव में वापस ला सकते थे।''

राम खेलावन काका को इतने साल बाद ये समझ में आया- ''उन्हीं का सराप हमें लगा है जो आज भगवान हमें उजाड़ रहा है।''

वास्तव में कोई खुलकर कहे या ना कहे पर रतनपुरा के ज्यादातर लोग 20 साल बाद अपने को अपराधी महसूस कर रहे थे। मैं खुद उस दिन की चर्चा के बाद दो-तीन दिन तक सो नहीं पाया। सोते वक्त मुझे उस रात की घटना याद आ जाती। भागती हुई नाहिद का चेहरा याद आ जाता जिसकी गोल आंखों में उस दिन इतनी दहशत थी, कि याद कर आज भी रोंवा खड़ा हो जाता है। उस दिन न जाने मुझे क्या हो गया था कि मैं उसे भागते और यह सब होते चुपचाप देखता रहा। रामखेलावन ठीक कहता है हमारा गांव से उजाड़ा जाना उनके ही सराप का नतीजा है। बल्कि सच ये है कि यह सब बलिरमवा और मोहन जैसे लोगों की बात आंख मूंदकर सुनने का नतीजा है। उनकी बात मान कर हमने अपने ही गांव के लोगों को मारा और लूटा फिर उनके कहने पर ही वोट देकर उन्हें सरकार बना दिया, अब उसी का फल हमें मिल रहा है। मोहनवा खुद तो दूसरी पार्टी में चला गया फिर भी गांव हड़पने में बलिरमवा का साथ दे रहा है, सब एकै जैसे हैं।

टीवी पर प्रसारित खबर ने और उसके बाद शुरू हुई चर्चाओं ने हमारी गांव न छोड़ने की बात को मंद कर दिया। दो-तीन बड़ी-बड़ी सभाओं के बाद आन्दोलन में जो जान आयी थी उसकी हवा निकल चुकी थी। अब यह चर्चा भी जोर पकड़ने लगी कि सरकार जांच के लिए आ रही है कि किसकी जमीन अपनी और वाजिब है और किसकी मियां टोले वाली घटना के बाद कब्जाई हुई। इस आदेश के पीछे बलिराम का हाथ था। लोग ठगा सा और बेहद असुरक्षित महसूस कर रहे थे क्योंकि बलिराम तो सबका कच्चा-चिट्ठा जानता था, इसकी खरीद बिक्री के फर्जी कागज तो उसी ने बनवाये थे। आन्दोलन की आवाज कमजोर पड़ने लगी। गांव वाले इस पर चर्चा कर ही रहे थे कि खबर आयी, कि मोहन ने अपनी वैध-अवैध कुल जमीन का मुआवजा ले लिया है और जल्द ही वो पूरी तरह शहर में बसने वाला है। लोगों की आंखे फैल गयी और इस खबर के बाद यह सोच कर लोगों में मुआवजा लेने की हड़बड़ी मच गयी कि पहले ले लेंगे तो कुल जमीन का मुआवजा मिल जाएगा, बाद में जांच बैठ गयी जो शायद जायज पुश्तैनी जमीन का भी मुआवजा न मिले। फटाफट लोगों ने कचहरी जाकर मुआवजे का आवेदन दे दिया। परन्तु बलिराम हमसे ज्यादा शातिर था, आवेदन देने और मुआवजे की रकम मिलने के बीच ही जांच बैठ गयी। जाने किस लिखा-पढ़ी से लोगों की ज्यादातर जमीनें अवैध पायी गयीं। सबकी वैध और पुश्तैनी जमीन कम दिखा कर सबको मुआवजा पकड़ाकर गांव खाली करने का आदेश दे दिया गया। इस पर लोगों का गुस्सा अभी बढ़ ही रहा था कि एक दिन अखबार में आया '20 साल पहले मियां टोले की घटना की जांच होगी और दोषियों के खिलाफ कार्यवाही भी की जायेगी'।

सबके गुस्से पर पानी पड़ गया। हम ऐसे बेबस कभी भी नहीं हुए थे। बहुत से लोगों ने आन्दोलन की जगह वैध जमीन के मुआवजे के लिए कोर्ट का रास्ता भी पकड़ा, किन्तु इसमें उनके मुआवजे के रूपयों का ही नुकसान होने लगा। फिर एक दिन गांव में कई ट्रक पीएसी के जवान उतरे और उन्होंने 15 दिन के अन्दर गांव खाली करा लिया। हमारे गांव के लोग वैसे ही अलग-अलग बिखर गये, जैसे 20 साल पहले मियां टोले के लोग बिखरे होंगे।

उनका दर्द याद करते हुए मैं दो तीन अन्य परिवारों के साथ दिल्ली आ गया। जो थोड़े से पैसे मिले थे उसी से किसी तरह रहने का इन्तजाम किया और सब्जी का ठेला लगाने लगा। अकेले एक परिवार के लिए यह सब करना संभव नहीं था इसलिये तीन परिवारों ने मिलकर एक रहने की जगह बनाई। शुरू में यह जगह हमें बेहद तंग लगती। मेरे बच्चे तो बीमार जैसे हो गये। काफी समय के बाद वे इस नयी जिन्दगी के आदी हो पाये। हमारी गांव की आजाद जिन्दगी पूरी तरह खतम हो चुकी है। मैं जो गांव का खाता पीता किसान था दिल्ली में विस्थापित सब्जी वाला बन गया हूं जिन सब्जियों को अपने खेत में हम खुद उगा कर थोक बाजार में बेचा करते थे, अब यहां की सड़ी मुरझायी सब्जियां खरीद कर बेंचना पड़ रहा है। दिल्ली में रहते मुझे 10 साल हो गये हैं। अब बेटों को भी सब्जी के धन्धे में लगा लिया है, उनकी शादी के बाद हमारे रहने-सोने की समस्या और बढ़ती जा रही है। मैं ज्यादातर घर के बाहर अपने ठेले पर ही सोता हूं। यह शहर भी हमें धीरे-धीरे धक्के मार रहा है।

बलिराम भी दिल्ली में ही रहता है वह अब दिल्ली सरकार का मंत्री हो गया है। टीवी और अखबारों में अक्सर हमें दिखता है। मोहन भी चुनाव जीत कर विधायक हो गया है। हमारा गांव जिसका नामोनिशान मिट चुका हैं, आज वहां एक बिजली घर बन गया है जिससे शहरों में रोशनी की जा रही है पर हमारा जीवन अंधियारा बन गया है। इस शहर में मेरी बोली भाषा सुन कर कभी कोई पूछ लेता है कि 'लखन तुम कहां के रहने वाले हो तो कलेजे में एक टीस उठती है। न जाने क्यों इस सवाल पर हमेशा वाहिद, सलीम, जुम्मन, अंजुम, सलमा और नाहिद याद आ जाते हैं। ▫

पता : एम.आई.जी. 25, अपट्रान फैक्ट्री के निकट, गोविन्दपुर कॉलोनी, इलाहाबाद-211004

मो. : 09506207222

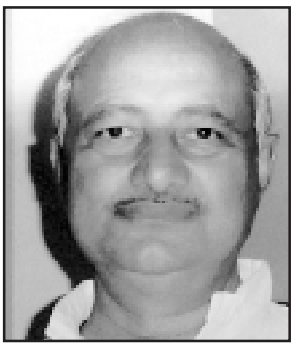

ममता कालिया की कहानी 'ठसक' पर

आलोचना

गंभीर प्रश्नों से टकराती कहानी

n सूरज पालीवाल

ममता कालिया लंबे समय से कहानियां लिख रही हैं। नमिता सिंह, चित्रा मुद्गल, राजी सेठ, मृदुला गर्ग के साथ ममता काालिया ने भी सातवें दशक से कहानियां लिखनी आरंभ की थीं। यह वह पीढ़ी है जो काशीनाथ सिंह, दूधनाथ सिंह, ज्ञानरंजन तथा रवींद्र कालिया के साथ कहानियां लिख रही थी। लेकिन स्त्री और पुरुष लेखन को लेकर कोई बहस या भेदभाव इस पीढ़ी में नहीं था। दोनों अपनी-अपनी तरह से और अपने निजी अनुभवों के आधाार पर कहानियां लिख रहे थे। जिस प्रकार 'नयी कहानी' आंदोलन के दौर में कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा तथा चंद्रकिरण सोनरिक्सा अपने अलग लेकिन सघन अनुभव संसार के आधार पर राजेंद्र यादव, कमलेश्वर तथा मोहन राकेश के साथ कहानियां लिख रही थीं। स्त्री और पुरुष लेखन को उस समय तक अलग करके नहीं देखा जाता था। कभी-कभार यह मुद्दा जरूर उठाया जाता था कि स्त्री लेखन का संसार सीमित है, लेकिन इस आधार पर उनके मूल्यांकन के लिये कोई नयी कसौटी तैयार नहीं की गई थी। यही कारण है कि उषा प्रियंवदा की 'वापसी' को नामवर सिंह ने श्रेष्ठ कहानी साबित किया था। इस मूल्यांकन के पीछे स्त्री लेखन और पुरुष लेखन वाली दृष्टि तो कदापि नहीं थी। स्त्री और पुरुष लेखन का अलगाव नब्बे के दशक से आरंभ हुआ जब एक ओर भूमंडलीकरण का जाल फैलाया गया तो दूसरी ओर विमर्शों के नाम पर स्त्री और दलित लेखन को महत्ता प्रदान की गई। एतराज महत्ता से नहीं है और इस बात से भी नहीं है कि स्त्री और दलित लेखन पर बात ही न हो, बात हो लेकिन समग्रता में हो। स्त्री लेखन की ताकत प्रतिरोध की क्षमता और साहस पर निर्भर है, उसी प्रकार दलित लेखन की ताकत परंपरागत सामाजिक-धार्मिक मान्यताओं के नकार में निहित है। ऐसा होना चाहिये था यह शुभेच्छा है, ऐसा नहीं हुआ यह दुखद है। स्त्री लेखन को देह की स्वतंत्रता तक सीमित कर दिया गया तो दलित लेखन को आत्मकथाओं के अतिरेकी वर्णनों तक। सामाजिक जीवन के दैनंदिन अत्याचार तथा परंपरा के नाम पर पाली गई रूढ़ियों के प्रति घृणा कहीं नहीं थी। इस स्थिति ने दोनों विमर्शों को बहुत सतही कर दिया है।

ममता कालिया की कहानी 'ठसक' कई मुद्दों के साथ स्त्री विमर्श पर भी विचार करती है और उसके भटकावों के साथ स्त्री और पुरुष लेखन के बीच खिंची सीमारेखा को भी रेखांकित करती है। 'युवा लेखन आजकल अजब खींचातानी का शिकार था। एक ओर दिल्ली के व्यावसायिक संपादक थे जो स्त्री विमर्श के नाम पर सनसनी बेच रहे थे, दूसरी ओर शेष भारत का साहित्य जगत था जो गंभीर और सामान्य विषय और जनजीवन को स्पर्श करती रचनाशीलता की कद्र करता था। युवा लेखक की समस्या यह थी कि वह विभिन्न दबावों को महसूस कर रहा था। समय के विवर्त में कोई बड़ा स्वप्न उसके सामने नहीं था। छोटे सरोकारों से घिरे कालचक्र में लिखना-पढ़ना चुनौतीपरक अध्यवसाय था।' यह सही है कि स्त्री विमर्श के नाम पर सनसनी से अधिक देह मुक्ति के चटखारे 'हंस' संपादक राजेंद्र यादव ने लिये, उन्हें इस बात का श्रेय दिया जाता है कि स्त्री विमर्श और दलित विमर्श को वे साहित्य के केंद्र में लाये। पर यह भी सच है कि उन्होंने ही स्त्री विमर्श की प्रतिरोधी क्षमता की हवा निकाली थी। स्त्री लेखन की सीमाएं भी उन्होंने ही तय की थीं। यही कारण है कि 'हंस' में जिन लेखिकाओं की कहानियां छपती थीं, वे जानबूझकर ऐसे प्रसंगों का चटखारेदार वर्णन करती थीं, जो स्त्री की देह के नंगे विवरणों तक सिमटे होते थे। स्त्री लेखन में यह होड़-सी मच गई थी कि कौन किससे अधिक नंगेपन का वर्णन कर सकती है। मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक' उपन्यास को लोग अभी भूले भी नहीं थे कि लवलीन, गीताश्री और जयश्री राय ने स्त्री अंगों के जिस रस-रूप का वर्णन किया है वह रीतिकाल के कवि भी नहीं कर सके थे। यह सनसनी नहीं थी, बल्कि षड्यंत्र था। जिस प्रकार राजनीति में हमारे समाजवादी मित्र स्त्री आरक्षण को परकटी महिलाओं के वर्चस्व का आंदोलन मानकर उसका विरोध कर रहे थे उसी प्रकार साहित्य में भी खाती-पीती लेखिकाओं के शगल के रूप में स्त्री विमर्श को केंद्रित कर दिया गया था। चर्चा उन्हीं लेखिकाओं की होती थी जिन्होंने बढ़-चढ़कर इस प्रकार के चित्र उकेरे थे। और जो पीछे रहकर स्त्री जीवन के दारुण कष्टों का चित्र बना रही थीं उन्हें राजेंद्र यादव 'सावित्री व्रत की कथा' या 'करवाचौथ का व्रत' की कथा कहती स्त्रियों की कहानियां कहकर नजरअंदाज करते थे। 1990 के बाद के 'हंस' की पाठकीय प्रतिक्रियाओं को एक बार फिर से पढ़ा जाये तो अधिकांश पाठकों के पत्र इस स्त्री विमर्श के विरोध में छपे थे। लेकिन राजेंद्र यादव थे कि वे अपना अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा तेजी से दौड़ा रहे थे। यह बुढ़ापे की हताश कुंठा थी, जिसे छपास के चक्कर में छुपाया जा रहा था। यही नहीं कुछ रजस्वलामुक्त लेखिकाओं ने अपने युवावस्था के मुक्त चित्र आत्मकथाओं में बनाने शुरू किये, जो काफी चर्चित हुये। चर्चा के केंद्र में स्त्री जीवन नहीं था बल्कि वे अफलातून स्वच्छंदता थी, जिसे पढ़कर बूढ़े पाठक-आलोचक का मन भी युवा होने को कर रहा था। कहानी के अंत में ममता कालिया की एक पात्र विशाखा कहती है कि 'यह भी तय करने का दिन आ गया है कि स्त्री विमर्श के नाम पर सनसनी फैलाना बंद हो। इससे महिलाओं का कोई भला नहीं होता।' यह सही है कि इससे महिलाओं का कोई भला होने वाला नहीं है लेकिन कुछ ऐसी लेखिकाओं का भला जरूर हो गया जिनमें कोई रचनात्मकता नहीं थी वे रातोंरात चर्चा के केंद्र में आ गईं। यह चर्चा 'बदनाम भी होंगे तो नाम तो होगा' वाली चर्चा थी, जो बहुत

लंबे समय तक चल नहीं सकती। जब भी स्त्री लेखन का ईमानदार मूल्यांकन होगा तब वे ही रचनाएं केंद्र में रह जायेंगी, जिनमें स्त्री का संघर्ष और प्रतिरोध की क्षमता निहित है।

ममता जी ने एक और महत्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि 'युवा लेखक की समस्या यह थी कि वह विभिन्न दबावों को महसूस कर रहा था। समय के विवर्त में कोई बडा स्वप्न उसके सामने नहीं था। छोटे सरोकारों से घिरे कालचक्र में लिखना-पढ़ना चुनौतीपरक अध्यवसाय था।' यह चिंता युवा लेखन को लेकर है, जिसके पास अपने समय की बेचैनी है और उसे व्यक्त करने वाली टटकी भाषा भी है पर कोई राजनीतिक दृष्टि नहीं है। अपने समय और समाज को देखने के लिये जिस राजनीतिक दृष्टि की जरूरत है, उसके बिना युवा लेखन बहुत मामूली से जीवन अनुभवों को लेकर कहानियां लिख रहा है। आवारा पूंजी के इस घटाटोप में जब छोटे किसान, छोटे व्यापारी और छोटी नौकरियां समाप्त हो रही हैं तब समाज का परंपरागत ढांचा हिल रहा है, इस हिलने को तभी पहचाना जा सकता है जब इन स्थितियों को परखने और विश्लेषण करने की दृष्टि रचनाकार के पास हो। युवा लेखन पर जब इस प्रकार की बात होती है तो रचनाकार यह कहकर छुट्टी पा लेते हैं कि हम जो देख और अनुभव कर रहे हैं उसे रच रहे हैं हम किसी प्रकार की विचारधारा में बंधना नहीं चाहते। लेकिन उन्हें यह समझाना कठिन है कि विचारधारा का विरोध भी तो एक प्रकार की विचारधारा ही है। एक में आप समाज को देखने की दृष्टि पाते हैं तो दूसरी में आप अपने अनुभवों तक केंद्रित होने की छूट पाते हैं। ममता जी ने जिन्हें छोटे सरोकार कहा है, वह छोटे सरोकार सीमित अनुभव हैं, जिनसे बड़ी रचना नहीं बन सकती। सरोकार तो छोटे होते ही नहीं हैं। हमारे युवा रचनाकार बड़ा सपना नहीं देख रहे हैं, वे अपने छोटे से आंगन के आकाश को ही देखने के आदी होते जा रहे हैं इसलिये उनकी रचनाएं भी सीमित होती जा रही हैं। इस कहानी के माध्यम से यह प्रश्न अनायास नहीं उठता कि युवा रचनाकारों के पास बडे स्वप्न क्यों नहीं हैं? मुझे लगता है कि बड़े सपने बड़ी चिंताओं और सरोकारों से उपजते हैं, छोटी-छोटी चिंताएं बड़े सपनों को जन्म नहीं दे सकतीं। युवा रचनाकारों की मजबूरी यह है कि एक ओर वे अपने बड़े रचनाकारों का अतिक्रमण करना चाहते हैं तो दूसरी ओर उन जैसे संघर्षों से मुंह भी मोड़े हुये हैं। 'गोदान' या 'मैला आंचल' या 'तमस' जैसी कृतियों के पीछे लेखक के अनुभवों के वृहत् संसार तथा जीवन संघर्षों की लंबी यात्रा को भी देखना चाहिये।

कहानी में एक और महत्वपूर्ण बहस को उठाया गया है और वह है सच्ची घटना और यथार्थवाद की। अक्सर नये कहानीकार यह कहते हुये मिलते हैं कि यह कहानी मैंने अपनी आंखों से देखी घटना के आधार पर लिखी है। सवाल यह है कि किसी की देखी हुई घटना को दूसरा आदमी क्यों सुनना या पढ़ना चाहेगा जब-तक कि उसमें ऐसे अनुभवों का समावेश नहीं किया गया हो जो दूसरों के अपने जैसे जान पड़ते हों। एक रचनाकार यही करता है और यही उसे करना भी चाहिये। अच्छी कहानी के लिये जरूरी नहीं कि अपनी देखी हुई घटना ही हो या आसपास घटित ही हो, उसके लिये यह जरूरी है कि आप अपने पाठकों को यह विश्वास दिला सकें कि यह घटना सच है। प्रेमचंद की चर्चित कहानी 'कफन' के लिये कहा जाता है कि यह सच्ची घटना पर आधारित नहीं है, ऐसा हो नहीं सकता लेकिन अभाव, भूख और उपेक्षा में ऐसा ही होता है यह प्रेमचंद बताने में सफल रहे हैं। जब पूरे गांव में मेहनतकशों का पेट नहीं भरता तो घीसू माधव काम क्यों करें, और रहा सवाल परंपरा का तो गांव के मुखिया जमींदार उसे निभाने के लिये तैयार बैठे हैं। इसलिये कहानी में सच्ची घटना के होने या न होने से कोई फर्क नहीं पड़ता, फर्क पड़ता है कहानी के विश्वसनीय होने से। ममता जी ने इस कहानी में जिस कुशाग्र की कहानी का जिक्र किया है, वह कहानी 16 दिसम्बर की घटना पर आधारित है। घटना सोलह आना सच है, सबने टीवी चैनल्स पर रात दिन उसे देखा है और मन घृणा से भर-भर उठा है पर क्या कहानी लिखने के लिये ऐसी घटना का होना ही पर्याप्त है। यहां यह सवाल उठाया गया है कि 'कहानी के नाम पर उस दिन के अखबारों की कतरनें परोस दी हैं। हर खबर कहानी नहीं होती।' तथा 'सभी जानना चाहते थे कि सच्ची खबर कहानी क्यों नहीं बन सकती जब लेखक जीवन-भर यथार्थवाद का ढोल पीटता है।' एक तो इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिये कि लेखक यथार्थ का ढोल पीटता है यथार्थवाद का नहीं। यथार्थवाद का ढोल नहीं पीटा जाता, वह कहानी में प्रातिनिधिक रूप में आता है-प्रतिनिधि पात्रों और प्रतिनिधि घटनाओं के रूप में। यथार्थ देखी सुनी घटना पर आधारित होता है लेकिन यथार्थवाद उस घटना को अपने विचार के साथ प्रस्तुत करने की शैली का नाम है। लेखक कहानी में सब कुछ बता देना नहीं चाहता, यदि उसे जीवन-जगत का सघन अनुभव है तो वह जिस बात को बताना चाहता है उसे बहुत संजीदगी के साथ रेखांकित करता है। घटना के बारे में ही बताना है तो फोटोग्राफी के माध्यम से अच्छी तरह से बताया जा सकता है लेकिन यदि उसे कहानी के रूप में ढालना है तो कहानीकार से उम्मीद की जाती है कि वह उसे किसी बड़ी समस्या के रूप में चित्रित करे। इसलिये कहानी के लिये कहा जाता है कि उसमें कुछ न तो अनायास होता है और न अनायास आई चीजों का वर्णन ही उसमें अभीष्ट है। कहना न होगा कि अखबार की कतरनें कहानी नहीं हो सकतीं और न अखबार की कतरनों की प्रामाणिकता से कोई कहानी प्रामाणिक ही बनती है। अखबार सच्ची घटना को लिखते हैं लेकिन दूसरे दिन वे उठाकर रख दिये जाते हैं पर कहानी तो बार-बार पढ़ी जाती है, उसे पढ़ने का कोई काल नहीं है इसलिये वह हमेशा प्रासंगिक बनी रहती है। जितनी बार उसे पढ़ा जाता है उतनी ही बार वह अपना नया अर्थ खोलती है। यह विशेषता कहानी में इसलिये आती है कि वह मनुष्य जीवन या मानव चरित्र का उद्घाटन करती है न कि किसी एक घटना का वर्णन करती है। जो लोग यथार्थ और यथार्थवाद के अंतर को नहीं समझते वे इस प्रकार की नादानियां किया करते हैं।

कई बार लोग कहानीकार से समस्या का निदान भी चाहते हैं पर यह गलत है। कहानीकार हकीम नहीं है जो बीमारी भी बताये और उसका उपचार भी करे। कहानीकार समस्या पर उंगली रखता है, ऐसा ही उसे करना चाहिये। यदि वह समाधान बताने लगे तो फिर और लोग क्या करेंगे? प्रेमचंद ने जब-जब समाधान बताये तबकी रचनाओं को पढ़िये और जहां समाधान नहीं है उन रचनाओं को पढ़िये अंतर एकदम साफ नजर आयेगा। रेणु भी 'मैला आंचल' में समस्याओं को जिस रूप में उठाते हैं, उससे उपन्यास बड़ा बनता है लेकिन अंत में जिस लोक संस्कृति में उन समस्याओं का समाधान खोजने लगते हैं वहां उपन्यास कमजोर पड़ गया है। इसलिये किसी भी कहानीकार से यह उम्मीद नहीं की जानी चाहिये कि वह समस्या का समाधान भी सुझायेगा। दुनियाभर की तमाम महान कहानियों में समाधान नहीं है पर उनकी महानता इसमें निहित है कि वे अपने युग की समस्याओं का ईमानदारी से चित्रण कर

सकी हैं। कहानी अपनी गंभीरता से चिंतित करती है, सुलाती नहीं है। किसी भी समस्या को लेखक किस रूप में चित्रित करना चाहता है, यह उसके अपने वैचारिक आग्रह और राजनीतिक-सामाजिक समझ पर आधारित है।

कहानी के आरंभ में ममता जी ने साहित्यिक जगत की प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या और झूठ को बताया है, जो हर रचनाकार आरंभ में करता है। ऐसा करने से एक ओर उसे मानसिक शांति मिलती है तो दूसरी ओर अपने आसपास के लेखकों पर वह अपना रोब जमाता है। ऐसा इसलिये भी है कि साहित्य में कोई रातोंरात महान नहीं बन जाता या ऐसा कुछ घटित नहीं हो जाता जिसको ढोल बजाकर बताने की आवश्यकता अनुभव हो। साहित्य बहुत धीरे और ाांत चलने का काम है, क्योंकि यह रचनात्मक काम है इसलिये बहुत धैर्य की मांग करता है। यह धैर्य धीरे-धीरे आता है। कुछ अपने पूर्वज रचनाकारों को पढ़कर और कुछ आसपास को देखकर पर शुरू-शुरू में लगता है कि कोई एक रचना ऐसी बन पड़े जिससे हंगामा हो जाये और वह रातोंरात सितारा बन जाये। साहित्य में सितारे जैसी कोई अवधारणा नहीं होती पर सितारा बनने और अपना वैशिष्टय सिध्द करने की तिकड़में साहित्यकार करते रहते हैं। ममताजी लिखती हैं 'एक अजीब बात यह थी कि अक्सर जो लोग कम लिख रहे थे, ज्यादा लिखनेवालों को हिकारत की नजर से देखते और जो ज्यादा लिख रहे थे, कम लिखनेवालों को। कुछ ऐसे लेखक थे जो जितना कुल लिखते सबका सब छपवा लेते। वे अन्य साथियों को गैर कामयाब समझते। हम लोग उन्हें लिक्खाड़ व्यावसायिक और दुनियादार कहकर उन अखबारों की खिल्ली उड़ाते जिनमें वे छपते। वे अपने मानदेय और रॉयल्टी की रकम बढ़ा-चढ़ाकर बताते और हम मन ही मन कुढ़ते हुये अपनी बस की टिकट और काफी का वजन उन पर डाल देते। बस्ती में कोई प्रकाशक या संपादक आता तो इन लोगों की चुस्ती देखने काबिल होती।' असल में, साहित्य में यह बहस लंबे समय से चल रही है कि कम लिखा जाये या ज्यादा। कम लिखना अच्छा होता है या ज्यादा लिखना। इसके कोई निश्चित मानदंड नहीं है। जो लोग कम लिखते हैं वे गुलेरी जी की कहानी 'उसने कहा था' का उदाहरण दिया करते हैं और जो लोग अधिक लिखते हैं वे अश्क जी का उदाहरण दिया करते हैं। लेकिन यह अपनी क्षमता पर निर्भर करता है कि आप कितना, कब और क्या लिख रहे हैं? रेणु का पहला उपन्यास 'मैला आंचल' ही मील का पत्थर साबित हुआ और प्रेमचंद 'सेवा सदन' से अपनी यात्रा आरंभ कर 'गोदान' तक पहुंचे। हमारे कितने ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने अपनी पहली ही रचना से लोगों का चमत्कृत कर दिया और कितने ऐसे हैं जो सारी जिंदगी लिखते रहे पर किसी ने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। कहते हैं कि हेमिंग्वे ने इसलिये आत्महत्या कर ली कि वे 'बूढ़ा आदमी और समुद्र' जैसा दूसरा उपन्यास नहीं लिख पाये। कहा जाता है कि इस उपन्यास को उन्होंने सौ बार लिखा। सौ बार लिखा या नहीं पर यह तो तय है कि वह बहुत मंझा हुआ और महान उपन्यास है। रचना अपनी महानता लिखते समय किसी मोढ़ पर अचानक तय कर लेती है और रचनाकार को मालूम नहीं होता कि वह ऐसी महान कृति लिख रहा है। इसलिये कई बार ऐसा होता है कि रचनाकार जिस कृति को बड़ी मानकर लिख रहा है, उसका बड़प्पन कहीं बीच में ही छूट जाता है और जिस कृति को अपने सघन जीवनानुभवों के आधार पर धैर्य के साथ लिख रहा है, वह कृति साहित्य जगत में मानक बन जाती है। रांगेय राघव हमारे सामने हैं, कितना लिखा लेकिन जब भी उनकी बात होती है तो उनकी महत्वपूर्ण कहानी 'गदल' पर ही होती है। उनके वृहत् उपन्यास 'मुर्दो का टीला' और 'कब तक पुकारूं' तक 'गदल' की ओट में कहीं छिप जाते हैं। जबकि अधिक श्रम उन्होंने इन वृहत उपन्यासों को लिखते समय किया होगा। इसलिये यह कहना मुश्किल है कि कम या ज्यादा लिखने से कोई बड़ा और लिक्खाड़ बन जाता है। बड़े लेखक को तो उसकी रचना ही बड़ा बनाती है। यह जरूर होता है कि किसी पत्रिका के कृपा पात्र बनकर आप हर अंक में छपते रहते हैं और बाद में जब उनका मूल्यांकन होता है तो आपके पास ऐसा कुछ नहीं होता जिसे पढ़कर आप स्वयं गौरवान्वित हों। कमलेश्वर के संपादन में निकलने वाली 'सारिका' में जो लोग हर तीसरे अंक में छपते थे, वे आज कहां हैं? 'हंस' में नियमित छपने वाले कितने कहानीकार ऐसे हैं, जिनके पास दो-तीन अच्छी कहानियां होंगी? 'वागर्थ' या 'नया ज्ञानोदय' में जो लोग संपादक की कृपा से लिख और छप रहे थे आज वे संपादक के हटने मात्र से विलुप्त क्यों हो गये? 'कामरेड के कोट' के सृंजय, कहानी के नामवरसिंह माने जाने वाले कृष्ण मोहन या रेणु की परंपरा को आगे ले जाने वाले कथाकार शिवमूर्ति आज कहां हैं? उनमें यदि ऊर्जा थी तो उसकी ताप आज भी अनुभव की जानी चाहिये पर ऐसा नहीं है। सब संपादक की कृपा पर निर्भर था, संपादक गये तो उनकी आग भी बुझ गई। हमारे शहरों या कस्बों में जिन कहानियों को प्रेमचंद की परंपरा की कहानी मानकर चर्चा होती है, उनमें कितनी कहानियां हैं जो साहित्य जगत में चर्चा के केंद्र में आती हैं? अधिकांश कहानियां तो अच्छी पत्रिकाओं का मुंह भी नहीं देख पाती, वे किसी स्थानीय या सतही-सी पत्रिका में छपकर प्राणांत कर देती हैं। पर कहानीकार को यह भ्रम रहता है कि कभी कोई साहित्यिक समझ वाला निष्पक्ष आलोचक पैदा होगा और उसकी कहानी का मूल्यांकन करेगा। यह भ्रम ही हमें साहित्य में जीवित रखने का हौंसला दिये रहता है, वरना स्थिति तो ठीक इसके विपरीत है। गालिब के शब्दों में 'हमको मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन' यह लेकिन ही है जो अधिकांश लेखकों को साहित्य जगत से जोड़े रखता है, हकीकत तो सबको मालूम है कि साहित्य की प्रसिद्धि की गंगा दिल्ली की बड़ी पत्रिकाओं और बड़े संपादकों-आलोचकों के नीचे से निकलती है, जिसमें आचमन करने की छूट हरेक को नहीं होती। जो लोग अपने बुध्दिबल या अन्य बलों से उन्हें साध लेते हैं, वे रातोंरात उनके नवरत्न हो जाते हैं और जो एकांत में बैठकर रचना को ही अपनी ताकत मानने की जिद ठान लेते हैं वे अंधेरे में गुम हो जाते हैं या कर दिये जाते हैं ।

ममता कालिया की 'ठसक' कहानी पर इसलिये विचार किया जाना चाहिये कि वह उन जीवंत और ज्वलंत प्रश्नों को उठाती है, जो हमेशा से साहित्य के केंद्र में रहे हैं। पुरानी पीढ़ी और नयी पीढ़ी का द्वंद्व, स्त्री विमर्श और स्त्री लेखन, ज्यादा लिखना या कम लिखना, अखबार में छपी सच्ची खबर और कहानी यथार्थ, यथार्थ और यथार्थवाद का अंतर, बाजारवाद तथा अच्छी रचना होने के मानक इत्यादि प्रश्नों पर यह कहानी बेबाकी के साथ विचार करती है। ममता जी चालीस वर्षों से लगातार लिख रही हैं, इसलिये वे इन प्रश्नों पर बहुत ईमानदारी के साथ लिख पाईं। किसी अच्छी कहानी में इस प्रकार के प्रश्नों को उठाना चाहिये या नहीं, यह प्रश्न यहां मौजूं नहीं है इस कहानी की बुनावट ही ऐसी है कि उस ओर ध्यान ही नहीं जाता। मूल बात है कहानी ने जो मुद्दे उठाये हैं, वे बहुत गहरी अनुभूति और संवेदनशीलता के साथ उठाये हैं। यह कहानी इसके लिये ही याद की जायेगी। ▫

पता : साहित्य विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442005
मो. : 09421101128

सुधा अरोड़ा की कहानी 'बुत जब बोलते हैं' पर

आलोचना

बहुआयामी और सघन अनुभूति की कहानी

n अरुण होता

सुधा अरोड़ा हमारे समय की प्रतिनिधि एवं चर्चित्र कहानी लेखिका हैं। इस कथाकार ने अपने लेखन कर्म से समकालीन कथा-संसार में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है। कहानी, उपन्यास, आलोचना आदि साहित्य की विभिन्न विधाओं पर सृजनरत सुधा जी ने कहानी लेखन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण सफलता हासिल की है। 'बगैर तराशे हुए', 'युद्ध विराम', 'महानगर की मैथिली', 'काला शुक्रवार', 'कांसे का गिलास', 'रहोगी तुम वही', 'तीन बटा चार' आदि कहानी-संग्रहों के माध्यम से कहानीकार की विशिष्टता स्वयं सिद्ध हो जाती है। सुधा जी के कथा-लेखन की सबसे बड़ी खूबी यह है कि सामाजिक संबद्धता से उनके लेखन को खाद-पानी मिलता रहा है। कथा-लेखन का बीज भी सामाजिक हलचलों तथा आंदोलन से प्राप्त करती हैं। इस कहानीकार की कहानियाँ अपने समय और अपनी भूमि से जुड़ी हुई होती हैं। कभी इस महिला रचनाकार ने अपने किसी इंटरव्यू में कहा भी था-''कहानीकार होने की पहली शर्त उसका संवेदनशील होना है। आदमी को असंवेदनशील बनाने, बनाते चले जाने के तमाम दबाव गाहे-बगाहे उसके अवचेतन पर पड़ते हैं, पर एक रचनाकार तमाम अमानवीय, हिंसक और क्रूर स्थितियों के बीच से अपना रास्ता ढूंढ़ लेता है।'' बहरहाल, सुधा जी की ताजा कहानी 'बुत जब बोलते हैं...' के आधार पर कुछ जरूरी मुद्दों पर विचार करना आवश्यक लगता है।

बुत नहीं बोलते हैं। बुत चुप रहते हैं, बिल्कुल खामोश। कहानी में बुत कोई मूर्ति या प्रतिमा नहीं बल्कि 'माँ' है, नारी है। पुरुषवादी वर्चस्व उसे बुत बनाए रखता है ताकि उसकी सत्ता बरकरार रहे। सत्ता को विरोध पसंद नहीं है। वह चापलूसों और पिछलग्गुओं का दल खड़ा करती है। सत्ता चाहती है कि सिर्फ वह बोले अन्य सभी सुनें। उससे कोई सवाल न करे। जुबान न खोले। आज से ठीक पचास वर्ष पूर्व मुक्तिबोध ने समाज में व्याप्त भयानक चुप्पी के बारे में लिखा था-

'सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्/ चिंतक, शिल्पकार, नर्तक, चुप हैं/उनके ख्याल से यह सब गप है/ मात्र किवदंती/ रक्तपायी वर्ग से नाभिनाल-बद्ध ये सब लोग/ नपुंसक भोग-शिरा-जालों में उलझे/ प्रश्न की उथली सी पहचान/ राह से अनजान/ वाक् रुदंती।'' ('अंधेरे में' कविता का आठवाँ भाग)

'वाक् रुदंती' की यह स्थिति सदियों से बनी हुई है। निर्यातन, शोषण तथा अत्याचार के सहारे उस चुप्पी को बनाए रखने का पुरजोर प्रयास बना रहता है। लेकिन, एक दिन ऐसा आता है जब बुत बनाए गए लोगों की ज्वालामुखी फूट पड़ती है। इस ज्वालामुखी के फटते ही वर्चस्व की सत्ता और उसकी क्रूरताएं तबाह हो जाती हैं। इस स्थिति को सामने रखकर कहानी ने शीर्षक रखा है 'बुत जब बोलते हैं'। बुतों के बोलने में विरोध है, प्रतिरोध भी। प्रचलित व्यवस्था के विरूद्ध आवाज़ बुलंद हुई है तो संवेदना की परतों को उघाड़ने की ईमानदार कोशिश भी। व्यापक परिप्रेक्ष्य की ओर यह शीर्षक संकेत करता है। अतः कहानीकार शीर्षक अत्यंत व्यजंनाधर्मी, प्रतीकात्मक तथा युगीन संदर्भों से युक्त है।

प्रस्तुत कहानी में बुत सिर्फ माँ नहीं है। नीलकंठ महादेव या भोले भंडारी एयर इंडिया के महाराज, बौने बनाए गए दो इंसान आदि कई बुत हैं। ध्यान देने की बात है कि माँ प्रतिष्ठित डॉक्टर रह चुकी हैं। पिता भी बड़े डॉक्टर हैं। दोनों उच्च वर्ग से संबंधित हैं। अन्य लोग जो बुत बने हुए हैं या बनाये गये हैं निम्न वर्ग से हैं। सूटधारी सुपरवाइजर जो विवाह महोत्सव की देख-रेख करता है, मध्यवर्ग से संबंधित है। देसाई परिवार उच्च वर्ग या अभिजात्य परिवार का है। कहा जा सकता है कि यह कहानी बड़े वितान की रचना करती है। कहानी में वर्ग-चेतना और स्त्री चेतना का कलात्मक समन्वय साधित हुआ है। यह कहानी को विशिष्ट बनाता है। आजकल स्त्री चेतना के नाम पर कुछ खास संपादक जो लिखवा रहे हैं, स्त्री विमर्श या बोल्डनेस के नाम पर कहानी में जो कुछ परोसा जा रहा है, उससे सुधा अरोड़ा की कहानी की तुलना नहीं की जा सकती है। इनकी स्त्री-चेतना और 'बोल्डनेस' का स्वरूप बिल्कुल भिन्न है। इस बोल्डनेस में 'देह विमर्श' नहीं है। दृढ़ संकल्प तथा मजबूत व्यक्तित्व का सुंदर समन्वय है। स्त्री-अस्मिता की जबर्दस्त मुठभेड़ है जो मर्दवादी व्यवस्था के लिए चुनौती है। लेकिन, यह भी सच है कि यह स्त्री कहीं से भी संवेदनहीन नहीं है। मातृत्व की स्नेहधारा प्रवाहित करती है। बिना लाउडनेस दिखाए कभी शान्त रहकर तो कभी नपे-तुले शब्दों में कुछ जवाब देकर वह अपने निर्णय से अडिग रहना भी जानती है। अतः इस कहानी की 'माँ' के माध्यम से कहानी लेखिका ने यह स्पष्ट किया है कि स्त्री विमर्श, स्त्री चेतना का एक भारतीय आधार है। भारतीय पाठ है। देशी संस्करण है जो किसी भी अर्थ में पाश्चात्य चिंतन से कमतर नहीं है। इसकी जो भारतीय जमीन है वह ठोस है और उसे और अधिक पुख्ता बनाया जा सकता है। असली बात चेतना की है जो सुधा अरोड़ा की कहानी से

बार-बार सामने उभरती है। इस संदर्भ में कहानीकार की 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' शीर्षक कहानी का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें स्त्री अस्मिता का यथार्थ रूप अंकित किया गया है।

किसी भी कहानी में वर्णित कथा या घटना महज़ एक माध्यम बनकर आती है। मूल बात है कथा या घटना के बहाने रचनाकार अपने सरोकार और 'कन्सर्न' को सामने लाने का प्रयास करता है। उसकी कथा-दृष्टि से जीवन दृष्टि का परिचय मिलता है। उसकी संबद्धता और प्रतिबद्धता के संकेत सूत्र भी कथा के बहाने उद्घाटित होते हैं। 'बुत जब बोलते हैं' में सुधा अरोड़ा ने कई संदर्भों, आयामों एवं परिप्रेक्ष्यों को बड़ी शिद्दत के साथ चित्रित किया है। बदलते समय में स्त्री संघर्षों को व्यापक फलक पर अंकित किया है। इस कहानी में कथा नहीं के बराबर है। चिकित्सक दंपति के जीवन में सबकुछ ठीक-ठाक चल रहा था। रुपए पैसे की कमी न थी। डॉक्टर अपने बड़े बेटे को डॉक्टर बनाना चाहते थे। बेटे को यह मंजूर न था। उसने आत्महत्या की। उसके सहपाठी विवाहोत्सव में बुत बने शिव के प्रति माँ की अपार संवेदना, ममता और मानवीयता फूट पड़ती है तो माँ को बुत बने रहने के लिए विवश करने वाले पिता के प्रति तीव्र आक्रोश और प्रतिरोध का स्वर सुनाई पड़ता है।

कहानी का प्रारम्भ वातावरण के चित्रण के साथ होता है। लेकिन वातावरण का विवरणात्मक और ऊबाऊ वर्णन नहीं हुआ है। बड़ा सांकेतिक है यह वर्णन, घर का वातावरण बोझिल है। खीझ, बौखलाहट आदि के साथ पापा के माध्यम से कहानीकार ने पारिवारिक जीवन की अशांति तथा त्रासद स्थितियों की ओर भी इशारा किया है। कहानी का पहला वाक्य-''इस घर में चूहे ही चूहे है।'' पाठकों के मन में उत्सुकता जगाता है। किस घर में? 'चूहे ही चूहे' क्यों हैं? चूहे बाहर से घर में आते हैं। सामान नष्ट करते हैं। गंदगी फैलाते है। 'इस घर' में चूहे कैसे आ गये? आदि सवालों के साथ जैसे ही पाठक आगे बढ़ता है तो उसे दूसरा वाक्य मिलता है 'इंसान यहाँ रहे कैसे अर्थात मनुष्य के रहने लायक नहीं रहा यह घर। दरअसल, 'पापा' के इस कथन से परिवार में व्याप्त तनाव तो जाहिर होता ही है, इसके साथ दाँत भींचकर कहने के पीछे 'माँ' के प्रति उनकी नाराजगी का पता भी चलता है। माँ को केवल अपने बड़े बेटे की तस्वीर की साफ सफाई का ध्यान है। उसकी स्मृति में सदा डूबी रहने वाली माँ को घर की साफ-सफाई में कोई दिलचस्पी नहीं है। सुधा अरोड़ा कहानी के शुरु के दो छोटे-छोटे अनुच्छेदों में संवेदना को सूक्ष्मता के साथ बड़े आत्मीय ढंग से अभिव्यक्त करती हैं कि पाठक अनायास ही कहानी से जुड़ता चला जाता है। यूँ कह सकते हैं कि पाठक स्वयं कहानी का अंग बन जाता है। यह कहानीकार की बड़ी सामर्थ्य है। यह सामर्थ्य यूँ ही नहीं हासिल हो जाती है। गहरे जुड़ाव और अनोखी प्रतिभा के माध्यम से ऐसी सामर्थ्य प्राप्त होती है।

उल्लेख किया जा चुका है कि 'बुत जब बोलते हैं' एक बहुआयामी कहानी है। इसमें जितनी चिंता व्यक्ति की है उतनी ही समाज की भी। परिवार की चिंता है तो देश की भी। मातृत्व और संवेदना के व्यापक धरातल का चित्रण है तो पूँजीवादी बाजारवादी कुचक्रों से पीड़ित मानव जाति के हाहाकार का भी। अतीत और वर्तमान तो है ही।

पापा यानी डॉक्टर बाबू अपने बेटे अभिजीत को नोटों का जत्था थमाते हुए रुपए गिनकर अल्मारी के ड्रॉअर में डाल देने की हिदायत देते हैं। पहले यह काम माँ के जिम्मे था। 'माँ का गणित कमजोर है।' कहानी के केन्द्र में नोटों का जत्था ही है। भूमंडलीकरण के दौर में पूँजी का वर्चस्व बढ़ता जा रहा है। पूँजी ने मनुष्य को व्यक्ति में तब्दील कर दिया है। उसने तमाम नाते रिश्तों को प्रॉडक्ट बना कर रख दिया है। बाज़ारवादी अर्थव्यवस्था में सब कुछ बिकाऊ साबित हो रहा है। जो बिकता है वह टिकता है। पूँजी और बाज़ार ने संवेदना, आत्मीयता, मानवता के तमाम गुणों को फालतू सामान की सूची में डाल दिया है। संवेदना छीज रही है। मानवता कराह रही है। लेकिन पूँजी सर्वशक्तिसंपन्न हो रही है। पापा का बड़े बेटे को डॉक्टर बनाने की जिद के मूल में जनसेवा की भावना नहीं है बल्कि अधिक से अधिक मात्रा में रुपए की कमाई है। इस ज़िद के चलते उन्हें बड़े बेटे को खोना पड़ा। माँ बुत बन गई। लेकिन, पूँजी की कठोर मुट्ठी में आ चुके पापा को कोई पछतावा नहीं होता है। पूरी कहानी में एक भी शब्द नहीं मिलता जिससे यह कहा जा सके कि बेटे की आत्महत्या से पिता दुःखी है। यह है पूँजी का पराक्रम। उसके सामने तमाम इंसानी रिश्ते बौने और ठिगने प्रतीत होते हैं। व्यक्ति बस रह जाता है तो रुपए कमाने वाली एक मशीन। हमारे समय और समाज की इस विसंगति और विडंबना को कहानीकार ने अत्यंत निपुणता के साथ बिंबित किया है। इसलिए, अभिजीत डॉक्टर बनने की इच्छा माँ के सामने जाहिर करता है तो माँ उससे कहती है-''पापा को बताना खुश होंगे।'' पाँच शब्दों के इन छोटे-छोटे दो वाक्यों में पापा का संपूर्ण व्यक्तित्व उभरकर प्रकट हो जाता है। पापा का ही क्यों पूँजी की जकड़ में आ चुके तमाम लोगों की अर्थ लोलुपता साकार होती दिखाई देती है। पूँजी मानवता को पूरी तरह से लील जाना चाहती है। ऐसे में समृद्धि और विकास का भला क्या काम है? बेहद खुशी की बात है कि कहानी की माँ पूँजी के आगे घुटने नहीं टेक देती। उसने एक ही झटके में पूँजी के माया-जाल को छिन्न-भिन्न कर दिया है। स्मृति, मातृत्व और संवेदना के समक्ष रुपए, धन-वैभव आदि को 'मूरी के पातन' सिद्ध कर दिया। माँ ने अपनी प्रैक्टिस छोड़ दी। घर में सिर्फ गरीबों का मुफ्त में इलाज किया। दवाई अपनी ओर से देती रही। पूँजी की शक्ति को पराजित करने का ऐसा नायाब तरीका बहुत कम कहानियों में मिलेगा। इस कहानी की माँ एक बड़ी उपलब्धि है। ममता और संवेदनशीलता की प्रतिमूर्ति है। लगभग बुत बन चुकी माँ ने अपने मृत पुत्र सिद्धार्थ के मित्र के विवाहोत्सव में शिव की प्रतिमा बने बालक पर दयार्द्र होकर पाँच हजार रुपए दे दिये। पापा के पूछने पर कि लिफाफा कहाँ है, माँ ने स्पष्ट कहा-मैंने कहीं दे दिया। जवाब एकदम नपे-तुले शब्दों में। सुधा की नारी की बोल्डनेस देखते ही बनती है। आगे चलकर ज्वालामुखी बनती है। ''वो मेरे पैसे थे। 'माय मनी' सुनकर माँ का दृढ़ व्यक्तित्व जाग्रत होता है। उसका जवाब पुरुष वर्चस्व को है तो पूँजीवादी व्यवस्था के लिए भी है-''हाँ पैसे! तुम्हारे पैसे! शर्म आती है कहते हुए? यही पैसे थे न तुम्हारे, जब नोटों के बंडल पे बंडल भर कर ले गये थे सिद्धू को

मेडिकल में एडमिशन दिलाने। तुम्हारे इन नोटों ने मेरे बेटे की जान ले ली। बाप नहीं, हत्यारे हो तुम!'' कहानी के अंत में भी पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध है-''घर पहुँचकर मैंने नोट नहीं गिने।'' ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ 'मैं' नई पीढ़ी का है। सोलह साल का अभिजीत। अपनी माँ के अनुभव को अपने जीवन में उतारने वाला साहसी नवयुवक। सच है कि आज की उपभोक्तावादी सभ्यता पूरी दुनिया को अपने चपेट में लेने के लिए उतावली हो रही है। लेकिन, माँ अथवा अभिजीत जैसे कुछ पात्र आज भी देश में हैं जो भारतीय जीवन मूल्यों की सख्त जमीन पर खड़े हैं और मानव विरोधी शक्तियों को मुँहतोड़ जवाब दे रहे हैं। इस कहानी का सौंदर्य इसकी अंतिम पंक्तियों में उद्घाटित होता है जहाँ मानव मूल्य के चिरंतन तत्वों की विजय दिखाई पड़ती है-

मैं माँ के पास बैठा रहा।
माँ ने मुंदी हुई आँखें खोलीं।
मेरे कंधे पर उन्होंने हाथ रखा।
वह स्पर्श आज मैं महसूस कर पा रहा था।
मैंने उनकी हथेली को अपनी हथेली से ढंक दिया।''

आयातित अनुपयोगी विचारों को सिरे से अग्राह्य करते हुए अपने देश की माटी से उपजे मानव मूल्यों के प्रति एक अगाध लगाव, सम्मान एवं समझ का पूरा परिचय मिल जाता है। एक बात यह भी है कि ममत्व के समक्ष सब कुछ फीका पड़ जाता है। मानव जाति को बचाए रखने के लिए संवेदनशीलता को भी जिन्दा रखना जरूरी है। संवेदना बची रहेगी तो मानवता बची रहेगी। इसी तरह साहित्य भी बचा रहेगा। अतः आज के परिप्रेक्ष्य में इस कहानी की अर्थवत्ता असंदिग्ध है।

पूँजीपति वर्ग शादी-ब्याह के मौके पर करोड़ों रुपए पानी की तरह बहा देते हैं। इस प्रतियोगिता में संपन्न राजनेता भी शामिल हैं। धन का प्रदर्शन करना मुख्य लक्ष्य होता है। कुछ 'खास' दिखाने की स्पर्धा में रहते हैं। 'एलीटनेस' का ध्येय रखकर दबदबा कायम करना चाहते हैं। साजसज्जा, खान-पान, स्वागत-सत्कार आदि में भी अपनी विशिष्टता की छाप दिखाने के लिए करोड़ों रुपए फूँक डालते हैं। परंतु दूसरी ओर नीलकंठ या भोले भंडारी जैसे बुत बनने वाले को सिर्फ पाँच सौ रुपए। भयानक ठंड में नीली मिट्टी से सनी शिव जी का बुत बना करतब दिखाने वाले गरीब बच्चे का चित्रण करते हुए कहानीकार ने वर्ग चेतना को उभारा है। प्रसंगतया, बताया जा सकता है कि इस बच्चे की माँ बीमार है। यहाँ से मिलने वाले रुपए से वह बीमार माँ का इलाज करवाना चाहता है। कहानी की 'माँ' की सदाशयता थी- 'क्या खाओगे?' बच्चे ने दक्षिण से लेकर गुजरात-राजस्थान और चीनी-इतालवी-थाई, कान्टीनेन्टल भोजन में से किसी को चुने बिना जवाब दिया-'पूरी भाजी! गरीब के लिए पूरी और भाजी छप्पन भोग से कम नहीं होती। उस लड़के ने माँ से धीमे स्वर में पूछा था ''मेरा पइसा नई कटेगा न? माई की दवा के लिए चाहिए।'' सचमुच, कहानी का यह अत्यंत मार्मिक अंश है जिसे रचनाकार ने अत्यंत संवेदनशीलता और आत्मीयता के साथ चित्रित किया है।

राजसी ठाट-बाट में मनाये जा रहे विवाहोत्सव के बारे में कहानीकार की टिप्पणी है-''शादी है या नौटंकी! हर कोई अपनी अदाकारी के पैसे वसूल रहा है। एअर इंडिया के महाराज से लेकर सुंदरी बालाओं तक।'' इस मौके पर बने बुतों को देखकर हमारे समाजार्थिक परिदृश्य (socio-economic scenario) तथा राजनीतिक परिदृश्य भी उजागर हो जाते हैं। देसाई परिवार में खड़े बुत सांकेतिक हैं। राजनीति के क्षेत्र में बुतों को ही स्थापित करके मनमाने ढंग से राज किया जा रहा है। सामाजिक स्तर पर बुत खड़े कर सारा विरोध समाप्त किया जा रहा है। पूँजी को अथवा सत्ता को विरोध बिल्कुल पसंद नहीं है। स्वार्थपरता की पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है। 'मेरा क्या?' की भावना समाज से उदासीन बनाती जा रही है। पूंजी हो या सत्ता, उसके द्वारा खड़ी की जा रही बुत-व्यवस्था पूरी मानव जाति के सामने बहुत बड़ा प्रश्नचिन्ह खड़ा करती है। उत्तर आधुनिक समय में यह एक बड़ी चुनौती भी है। सुधा अरोड़ा ने लगातार व्यंग्यवाणों से बिंधे जाने वाली 'माँ' की ज्वालामुखी के विस्फोट से दमन तथा उत्पीड़न करने वाली सत्ता को प्रतिहत किया है। अतः कहानीकार ने आज की व्यवस्था की कमेंटरी प्रस्तुत की है।

'बुत जब बोलते हैं' इनह्यूमेनिटी (अमानवीयता) के विरूद्ध खड़ी होने वाली कहानी हैं। माँ के माध्यम से उस क्रूर अमानवीयता के रेशे रेशे को उघाड़कर मानवता का विजयगान किया गया है।

बाज़ारवादी अर्थव्यवस्था ने अपसंस्कृति को फलने-फूलने का पूरा अवसर मुहैया कराया है। अपसंस्कृति के बढ़ते प्रभाव से कहानीकार चिंतित नज़र आती है। रॉक, म्यूजिक के नाम पर कानफोड़ू संगीत का वर्णन हो अथवा माँ पर पापा का अत्याचार, कहानीकार ने पाश्चात्य सभ्यता का खंडन किया है। ''मुझे ममी मत बोला कर तू। माँ मम्मी से ज्यादा अच्छी लगती है।'' आदि वाक्यों के माध्यम से उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। कहानीकार का भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम का भी पता चलता है।

इस कहानी का एक और भी संदर्भ है जो कम महत्वपूर्ण नहीं है। पिता और माता के बीच आई दरार और दूरी के मूल में अर्थ यानी रुपया है। इस दरार से बेटे पर क्या गुजरता है? उसकी मानसिक स्थितियाँ कैसी होती हैं? उन स्थितियों का मनौवैज्ञानिक चित्रण कहानीकार ने किया है। निम्नलिखित वाक्य पर ध्यान दें-''उफ, ऐसी अनोखी प्रजाति के माँ-बाप को हर वक्त झेलना बच्चों को कैसा लगता है यह कोई मुझसे पूछे। साथ-साथ चले नहीं कि लगता है, एक पतली सी डोरी पर चल रहे हैं। संतुलन नहीं साधा तो डोरी अब टूटी तब टूटी। और यह डोरी ये बड़े नहीं साधते, हम बच्चों को ही साधनी पड़ती है।'' तरुण बेटे माँ-पापा के साथ राजा बेटे बनकर चलना नहीं चाहते। क्योंकि-''जोर से हंसने पर या झूम-झूम कर टेढ़ा चलने पर भी जहाँ पाबंदी हो। हर बड़े-बुजुर्ग को झुककर प्रणाम करने की जगह अगर गलती से ''हाय या हलो अंकल' बोल दिया तो अपनी खैर नहीं' पापा के साथ चलते हुए मुझे हमेशा 'अटेन्शन' की मुद्रा में रहना पड़ता है।'' कहना न होगा कि सुधा जी ने तरुण या युवा मन की गहराई में उतर कर उसे बड़ी विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत किया है। एक और उदाहरण दिया जा सकता है जब पापा माँ को लगभग खींचते हुए गाड़ी में बिठाकर दरवाजा ध

ांय से बंध कर देते हैं तब बेटा का ''मन हुआ कि माँ के कंधे पर हाथ रखूं पर पापा का तेवर देखते हुए मेरे हाथ जहाँ के तहाँ रुक गए।''

रोलाबार्थ ने लिखा है-''लेखक की मृत्यु पर ही पाठक का जन्म संभव है।'' अर्थात् लेखक के 'स्व', अहम' या 'मैं' की मृत्यु हुए बिना अपनी उद्दाम और विस्फोटक प्रतिभा का विकास नहीं कर पाता है। इस कहानी को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि कथाकार ने लंबी जद्दोजहद करने के बाद यह कहानी लिखी है। अपने 'स्व' को तिरोहित करने के लिए लंबा संघर्ष किया है। बड़ी आसानी से 'बुत जब बोलते हैं...' कहानी नहीं लिखी जा सकती है। एक और बिंदु पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि कथा वाचक बेटा अभिजीत है जबकि मूल कथा माँ-पापा के माध्यम से प्रकट होती है। ऐसी पद्धति से तटस्थता बनी रहती है। विश्वसनीयता कायम रहती है।

कहानी की गहन अनुभूति और संवेदना की प्रस्तुति के लिए भाषिक संरचना का महत्व होता है। कहानी की अंतर्वस्तु और समाज का पूरा ध्यान रखते हुए भाषा की बुनावट हुई है। भाषिक संरचना में परिवेश का ध्यान रखा गया है। सहजता इस कहानी की बड़ी खूबी है। सीधी और सहज भाषा, छोटे-छोटे वाक्यों की रचना से कहानी अधिक प्राणवंत हुई है। भाषिक स्तर पर विविधताएँ दिखाई पड़ती है। सामाजिक स्तर, मनोदशा आदि के अनुसार भाषा निर्मित हुई है। ऐसा लगता है कि अनुभूति के लंबे संघर्ष के बाद कहानीकार ने अभिव्यक्ति की सहजता हासिल की है।

कहना न होगा कि 'बुत जब बोलते हैं...शीर्षक कहानी में जीवन-जगत, मनुष्य और समाज, विसंगतियों और अंतविरोधों के विविध परिदृश्य बड़ी शिद्दत के साथ अंकित हुए हैं। बहुआयामी और सघन अनुभूति की कहानी है 'बुत जब बोलते हैं'। इसमें पारिवारिक जीवन की विसंगतियों के साथ-साथ युग स्पंदन के चित्र हैं। नारी-चेतना और वर्ग चेतना का सुंदर समन्वय है। भूमण्डलीकरण के दौर की अमानवीय स्थितियों की सहज अभिव्यक्ति भी है। अतः यह सुधा अरोड़ा की ही नहीं हिन्दी की एक महत्वपूर्ण कहानी है।

'बुत जब बोलते हैं' कहानी की भाषा-शैली एवं संवाद योजना पात्र तथा परिवेश को ध्यान में रखकर प्रस्तुत हुई है। शिव जी का बुत बना बालक नीलकंठ की भाषा उसकी वर्गीय चेतना का वाहक है तो देसाई परिवार, डॉक्टर दंपति अथवा सुपरवाइजर की भाषा के प्रयोग में उनकी वर्गीय स्थिति को नज़रअंदाज नहीं किया गया है। कहानी की भाषिक संरचना को बड़ी स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। उच्चवर्गीय जीवन की असंगतियों और संवेदनात्मक तीव्रता के अंकन के लिए उपयुक्त भाषा-प्रयोग प्रस्तुत कहानी में हुआ है। यहाँ कहानी ने समुचित स्थलों पर अंग्रेजी शब्दों और वाक्यों का खुलकर इस्तेमाल किया इसके पीछे कथाकार का अंग्रेजी ज्ञान प्रदर्शन नहीं है। उसे समाज के 'एलीट वर्ग की मानसिकता प्रदर्शित करना है। अपनी विशिष्टता बनाये रखने के लिए यह तबका वेश भूषा तथा बोली बानी पर महत्व देता है। एक आरोपित जीवन शैली अपनाकर औरों से खास बनने का दावा करता है। कहानीकार ने अभिजात व इस वर्ग के खोखलेपन को भी भाषाई बुनावट में दिखाने का प्रयास किया है।

कहानीकार ने विवरणात्मक वर्णन के प्रति कोई आग्रह नहीं दिखाया है। संवादों के माध्यम से कहानी आगे बढ़ती है। संवाद भी लंबे-लंबे नहीं। छोटे-छोटे वाक्यों में प्रस्तुत हुए हैं। अक्सर संकेतों से यह संवाद पूरा हो जाता है। शब्दों की जरूरत नहीं पड़ती। कहना न होगा कि भाषिक वैविध्य इस कहानी की बड़ी खूबी है।

कहानी में भाषा की प्रवाहधर्मिता बनी हुई है। संवाद योजना से भाव का प्रवाह अधिक जीवंत हुआ है। पापा यानी डॉक्टर साहब माँ पर जो अमानवीय बरताव करते हैं, उस स्थिति तक चित्रण करते हुये कहानीकार ने भाषिक स्तर पर जो काम किया है उसका ग्राफ बनाया जाए तो बड़ा रोचक होगा। नव विवाहित को लिफाफा न देकर सारे रुपए 'नीलकंठ' को देने के बाद माँ खाली लिफाफा पिता को दिखा देती है। 'प्रोवोकेशन' चरम पर पहुँच जाता है। पिता आग बबूला हो उठते हैं। उनकी 'एलिटनेस' को धक्का लगता है। कहानीकार ने उस स्थिति का हृदयस्पर्शी चित्रण किया है।

कहानी का बेटा 'अभिजीत' यानी 'मैं' सूत्रधार की भूमिका में है। वह कथा वाचक है। पिता-माता के बीच अनबन का वह भोक्ता है। वह न केवल तटस्थ से कथा सुनाता है बल्कि जब कभी पिता-माता आपा खो बैठते हैं वह अपनी ओर से परिस्थिति को संभाल लेने का पूरा प्रयास करता है। अभिजीत के माध्यम से कहानीकार की बड़ी चिंता भी सामने आती है कि पूँजीवादी व्यवस्था नई पीढ़ी को कहाँ ले पटकेगी। समाज का भविष्य क्या होगा? खुशी की बात है कि अभिजीत परिस्थिति को अपने ढंग से 'डील' कर लेता है। वह अपनी उम्र के हिसाब से अधिक 'मैच्यूर्ड' है। माँ से वह कहता है-''रिलैक्स माँ! अपना बी.पी. मत बढ़ाओ।'' जिंदा लोगों को पुतला बनाकर खड़े करने के प्रसंग को टालने के लिए वह माँ के पूछने पर कहता है-''पता नहीं माँ! आयम नाट श्योर।'' उसके बाद कहानीकार की टिप्पणी है-''जब सामने वाला अधीरता की सीमा पार करते दिखे तो हमारे धीरज का ग्राफ अपने आप ऊपर उठने लगता है।''

इस कहानी के पाठक ध्यान देंगे के भोले भंडारी को 'नीलकंठ' भी बताया गया है। तमाम तरह की सामाजिक दुर्दशा तथा निर्यातन एवं उत्पीड़न सहन करते हुए वह नीलकंठ बना हुआ है ताकि वह अपनी माँ को जीवित रख सके। उसकी जिजीविषा और संघर्ष चेतना का संकेत भी कहानी में उपलब्ध है।

एक बात और भी है, इस कहानी को नारी-विमर्श की कहानी तक सीमित न किया जाए। ऐसा करने से कहानी के साथ अन्याय होगा। यह कहानी पुरुष विरोधी कहानी भी नहीं है। स्त्री के बहाने भारतीय समाज के कई संदर्भों, यथार्थ और परिप्रेक्ष्यों की तस्वीर उतारने का प्रयास हुआ है। जीवन की तमाम विसंगतियों, विडंबनाओं और अंतर्विरोधों के मूल में बाजारवादी अर्थव्यवस्था के षडयंत्रों को उघाड़ने का भी प्रयास हुआ है। जैसा कि इसका उल्लेख किया जा चुका है। इस कहानी की उपलब्धि मानवता विरोधी शक्तियों के सामने पराजय स्वीकार करने की नहीं है बल्कि उनका डटकर सामना करते हुए उन्हें पराजित करने में है। ▫

पता : 2 एफ, धर्मतल्ला रोड, कस्बा कोलकाता-700042
मो. : 09434884339

मधु कांकरिया की कहानी 'निर्वासिता' पर

आलोचना

यथार्थ मानवीय संवेदनाओं का ढहते जाना

n धनंजय कुमार चौबे

भूमंडलीकरण और बाजारवाद के दौर में मनुष्य के भौतिक जगत का विस्तार भले ही हुआ हो लेकिन उसका आंतरिक जगत सिमटता और संकुचित होता जा रहा है। मधु कांकरिया की कहानी 'निर्वासिता' अपने कलेवर में ऐसी ही कई घटनाओं के महीन तंतुओं को पिरोती चलती है जिससे मानव समाज के अनेक अनछुए क्षितिज खुलते चले जाते हैं। यह कहानी निर्वासन के कई पहलुओं को उजागर करती है। मसलन पुत्र के साथ रहते हुए भी माँ का अपने को निर्वासिता महसूस करना, आदिवासी जीवन के संकट, पूँजीवाद और औद्योगीकरण की अंधी दौड़ और इस अति महत्वाकांक्षी दौड़ में जर्जर होते जा रहे मानवीय संबंध और मानवीय संवेदनाओं के ढहते चले जाने के कई यथार्थ चित्र कहानी में मौजूद हैं।

वस्तुतः यह कहानी है दो पीढ़ियों की। उन पीढ़ियों के अंतराल और अनुभवों की। एक पीढ़ी की प्रतिनिधि है माँ जो मानवीय संवेदना के तंतुओं को कहीं न कहीं बचा रखने में सफल रही है और दूसरी पीढ़ी बेटे की है। इस दूसरी पीढ़ी पर आज के पूँजीकेंद्रित उपभोक्तावादी युग की आंतरिक, तंगदिल परतें पूरी तरह चढ़ चुकी हैं। जिसके साथ अपने संबंधों को माँ साल और महीने की तहों से पाई-पाई जोड़ती है,क्योंकि यही वह कड़ी है जो उसे अपने बेटे से जोड़ पाती है। माँ के मुताबिक "पाँच साल छह, महीने और सत्रह दिन बाद तुम भारत लौटे थे और लौटते ही तुम्हारा तबादला मुंबई हो गया था, देखते-देखते तुम कामयाबी की बौछारों में भींगते चले गये और मैं आवाजों से दूर अपने ही रचे सन्नाटों में सूखती चली गयी। "छीजते, क्षीण पड़ते मानवीय संबंधों के ये पक्ष केवल घटना भर नहीं हैं बल्कि पूरे जीवन वृत्त पर दुःख, अवसाद और निराशा की गहरी अमिट रेखाएं भी खींचने में सफल हो रही हैं। लेखिका ने इस प्रसंग को पूरी वास्तविकता के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

औद्योगीकरण के बढ़ते विस्तार के फलस्वरूप भारत में जिस तेजी से जंगलों का विनाश हुआ है उसके दुष्परिणाम केवल प्राकृतिक नहीं हैं अपितु सीधे मानवीय संबंधों पर देखे जा सकते हैं। हालाँकि जंगलों को समाप्त कर उन स्थानों पर बड़ी-बड़ी कंपनियाँ स्थापित की जा रही हैं, बहुमंजिला इमारतें बनाई जा रही हैं, और पूँजी अर्जन करता हुआ भारत विकासशील से विकसित देश बनने की दिशा में तेजी से अग्रसर हो रहा है। लेकिन ध्यान देने की बात है कि इस विकास की नींव उस आदिवासी समाज के अस्तित्व पर रखी गयी है जिनका जीवन इस जंगलों में बसता है। एक तरफ तो इन आदिवासियों को उनकी जमीन से बेदखल कर दिया गया है, दूसरी तरफ पढ़े-लिखे और देश के विकास के प्रति उत्तरदायी लोग उनके प्रति मानवीय संवेदना तक नहीं रखना चाहते। मुंबई के समीप 'वर्ली जाति' के आदिवासियों की पीड़ा अति सघन है। माँ कहती है "मैंने देखा कि दुल्हन के हार की तरह जगमगाती इसी मुंबई से बस 50 किलोमीटर की दूरी पर ही एक ऐसी अँधेरी, अभावों से पटी, सूखे जिस्मों, भूखे-नंगे और मैले कुचले लोगों से भरी मुंबई थी जहाँ हर पाँव में छाला और हर हथेली में गट्टा बने हुए थे। जहाँ हर रात एक उचटी हुई नींद थी, जहाँ महीने भर पहले ही एक परिवार के दो सदस्यों की मौत आधे घंटे के भीतर ही सिर्फ इस कारण से हो गयी थी कि उनके घर में रोशनी का एक कतरा भी नहीं था। "रोशनी न होने के कारण घर के मुखिया और उसकी बेटी को साँप ने काट लिया था। एक तरफ तमाम सुख-सुविधाओं से युक्त मेट्रोपोलिटन मुंबई है और दूसरी तरफ उसी के समीप रोशनी के कतरे के लिए मोहताज 'पाताचापानी गाँव'। इस घटना के बाद माँ ने घर की अनावश्यक सारी बत्तियों को बंद कर दिया। उसे लगता था की क्या जरुरत है इन तेज रोशनियों के इंद्रजाल की। रोशनियों के इंद्रजाल की जरुरत 'पाताचापानी' जैसे गाँवों को है, जहाँ के लोग इन सुख-सुविधाओं से वंचित हैं। मंगल और चन्द्रमा तक अपनी पहुँच बनाने में सफल होने वाले भारत की इससे अधिक विडम्बनापूर्ण और विरोधाभासी स्थिति और क्या हो सकती है।

एक अन्य घटना तेंदुए द्वारा बच्ची को उठा ले जाने की है ''माँ रोटी बना रही थी और बच्ची सामने ही आंगन में खेल रही थी, पीछे झाड़ियों से आया तेंदुआ और हलके अँधेरे का फायदा उठा खींच ले गया उसे। गांववाले जब तक पीछा किए, आधे से ज्यादा हिस्सा खा चुका था वह बच्ची का। यहाँ के आदिवासियों का कहना है कि जो तेंदुआ उनकी लड़की को उठा ले गया था वह बाजार से लाया तेंदुआ था जिसे वन विभाग टूरिज्म बढ़ाने के लिए लाता रहता है।'' आदिवासियों को पूरा विश्वास है कि जंगल में रहने वाले जानवर उन्हें पहचानते हैं और वह उन्हें किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचा सकते हैं।

उपरोक्त दोनों घटनाओं के मूल में जो मुख्य बात ध्यान देने की है वह है एक तो पूँजी के दौर में मनुष्य की अति महत्वाकांक्षी बड़ी-बड़ी प्रोद्योगिक और पूँजीकेंद्रित योजनाओं के चलते जंगलों और पर्यावरण का नाश। दूसरी तरफ इस नाश का परिणाम भुगतने वाले आदिवासियों के

प्रति इन महत्वाकांक्षी योजनाओं के पढ़े-लिखे सभ्य समझे जाने वाले ठेकेदारों की मानवीय संवेदना का काल-कवलित हो जाना। जैसा कि माँ द्वारा इन घटनाओं पर जताई गई चिंता के संदर्भ में पुत्र की प्रतिक्रिया को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। माँ के शब्दों में 'बात मैं कायदे से पूरी भी नहीं कर पाई थी कि तुम्हारे चेहरे का रंग बदला, आँखों में लपट सी कुछ उठी, पुतलियों के रंग बदल गये। अपने सूखे होठों पर जीभ फेरते हुए कुछ तल्ख कुछ डूबतेस्वर में तुम फनफनाए, 'ऊफ ममा, रिलेक्स! सुबह ही सुबह इतनी डिप्रेसिंग बातें क्यों करती हो। खुश रहा करो ना! चिल करो।' जीवन में सफलता का स्वाद चख चुके और अभावों से मुक्त आनंदमय जीवन जीने वाले उत्तर आधुनिक समाज के एक बड़े युवा वर्ग के लिए भले ही 'चिल करो' जैसे शब्दों का कोई गहरा मोल होता हो लेकिन शरीर पर उग आए काँटों और आँखों के सामने सूखे पड़ते स्वप्नों के स्रोत ही जिन आदिवासियों का जीवन बन रहा हो उनके लिए इस प्रकार के भावरहित ये शब्द केवल अपमान, अवमानना और अमानवीय गूंज से भरी कटु उक्तियाँ नहीं तो और क्या हैं?

खुदगर्ज और व्यक्ति केंद्रित जीवन के कई चित्र कहानी में देखे जा सकते हैं। चाहे वह माँ द्वारा मलेशिया के 'सिनोई कबीले' के नियम का जिक्र हो जहाँ 'इस कबीले के लोगों के बीच एक विचित्र नियम है कि सुबह उठते ही परिवार के सभी सदस्य एक साथ बैठते हैं और पिछली रात देखे गये अपने स्वप्नों को सबके सामने कहते हैं। फिर वे इन स्वप्नों की व्याख्या करते हैं। वे मानते हैं कि ये स्वप्न उन्हें पूर्वजों से जोड़ते हैं और पूर्वज इन स्वप्नों के माध्यम से उन्हें उनके जीवन के निष्कर्ष और आने वाले दुःख का निदान सुझाते हैं। या फिर बेटे के सामने उसके दोस्त की माँ के निधन पर नेत्रदान के लिए की गई फरियाद का प्रसंग। दोनों प्रसंगों में माँ मानवीय संवेदना की गुहार लगाती नजर आती है लेकिन हर बार माँ को बेटे की कठोर और संवेदनहीन प्रतिक्रिया ही सुनाई पड़ती है। आधुनिक युवा पीढ़ी के प्रतीक बेटे का न तो पारंपरिक सिद्धांतों और पूर्वजों से कोई संबंध है और न ही किसी नेत्रहीन के जीवन में रोशनी की अहमियत में कोई दिलचस्पी।

वास्तव में कहानी भविष्य के प्रति उस चिंता को बखूबी व्यक्त करती है कि कहीं अपनी राह को सुलभ बनाने के लिए मनुष्य द्वारा आविष्कृत मशीनों की जगह मनुष्य स्वयं मशीन न बन बैठे। क्योंकि तेजी से सफल होने और मंजिल तक पहुँचने के लिए आज के युवा वर्ग द्वारा पकड़ी हुई तेज रफ्तार की राह में न तो रिश्ते हैं, न ही संवेदनाएं और न ही इनके लिए समय। इसीलिए माँ कहती है ''मैं कहना बहुत कुछ चाहती थी, पर कहती किससे? इन सब बातों के लिए ठहर कर बैठना जरूरी था, पर तुम बैठना भूल चुके थे, तुम्हें दौड़ने की खुजली थी। बोलने को बेताब मेरी आत्मा फड़फड़ाई। काश मिल जाता कोई बिल्ली का बच्चा तो बतिया लेती उसी से !'' 'बिल्ली का बच्चा' यानी कि मनुष्य के अहसासों और अनुभवों के हिस्सेदारों की कल्पना जहाँ जानवरों से होने लगे वाकई वहाँ गंभीर चिंता का पनपना जायज है। माँ आगे प्रश्न करती है कि ''इतनी ऊँची शिक्षा, इतनी प्रतिभा और सिर्फ पेट के दायरे में सिमटा जीवन? तुम रोशनी के फरिश्ते बन सकते थे पर क्या बन गये? किसने बदल दिया तुम्हें इतना?'' आज के समाज के सन्दर्भ में माँ की चिंता बेहद महत्वपूर्ण जान पड़ती है। आज 21वीं सदी में तेजी से बढ़ रहे 'आत्मकेंद्रित' जीवन के इससे भयावह और दुखद परिणाम और क्या हो सकते हैं। माँ उस आत्मकेंद्रित जीवन रूपी खाईं से बाहर निकलना चाहती है। वह स्वयं कहती है की ''मुझे वहाँ जाना है जहाँ चहक सकूँ, बाँट सकूं खुद को रेशा-रेशा।''

यह कहानी महज मानवीय संवेदनाओं के निर्वासित होने भर की नहीं है, जहाँ माँ अपने बेटे के साथ रहकर भी स्वयं को 'निर्वासिता' महसूस करती है। इसके साथ ही भूमंडलीकरण और तेजी से पूँजी अर्जित करने की दौड़ में अपनी प्राकृतिक विरासत से अलगाव और अपनी आदिम जनजातियों की स्थिति के प्रति उदासीनता की बेहद दुखद स्थिति को भी बयां करती है। यह अलगाव आधुनिक से उत्तर आधुनिक और राष्ट्रीय से अंतर्राष्ट्रीय बनने की होड़ का परिणाम है। मनुष्य का अपने आत्मीय संबंधों से कटकर 'आत्मकेंद्रित' होते चले जाने के प्रति लेखिका की चिंता आद्यांत कहानी में देखी जा सकती है। इसमें संदेह नहीं कि कहानी तथाकथित उत्तर आधुनिक जीवन शैली के विभिन्न पहलुओं से रूबरू कराने में सफल रही है।

पता-204, MH&E (NRS), हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद-500046 (तेलंगाना)
मो. : 09440111864
ईमेल. : dchaubey85@gmail-com

चित्रकार : भूपेन्द्र कुमार अस्थाना

आशा प्रभात की कहानी 'भय' पर

आलोचना

पितृसत्ता के दर फूलते भय

n डॉ. उषा राय

आशा प्रभात की कहानी 'भय' संशय के अनगिनत फड़फड़ाते पंखों की कहानी है। जो बेचैनी पैदा करते हैं। ये भय एक तरफ तो पारिवारिक जीवन प्रवाह में बाधा डालते हैं तो दूसरी तरफ बदलते समाज की नब्ज भी पकड़ते हैं। यह कहानी न सिर्फ संशयों के पार ले जाती है बल्कि इतिहास तक जाकर इनका निराकरण भी करती है। लेकिन इस कहानी का कथ्य तथाकथित वह भय नहीं है और न ही स्त्रियों के खिलाफ अपनाये जाने वाले दुहरे मानदंड से उत्पन्न भय है। इस कहानी की मूल संवेदना स्त्रियों के बढ़ते दायित्वबोध, नैतिकता, प्रतिबद्धता एवं बौद्धिक विकास से जुड़ी है। यह कहानी तमाम विषमताओं के बावजूद स्त्रियों के महत्व को स्थापित करती है। इस बारे में अनामिका ने बहुत सही कहा है कि-''हमारे समय की सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि स्त्रियां तो ध्रुव स्वामिनी की कद काठी पा गयीं किन्तु पुरुष अभी रामगुप्त की मनोदशा में ही है, चन्द्रगुप्त नहीं हुए।'' कहने का मतलब यह है कि पितृसत्ता के खोखले अहं को अभी भी नहीं पहचान पाने वाले युवा दिग्भ्रमित हैं। इसमें दोष युवाओं का नहीं सीधे सीधे पितृसत्तात्मक व्यवस्था का है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक लगातार एक ही पाठ पढ़ाती है कि स्त्रियां उनसे हीनतर हैं, सौंदर्य की गुड़िया अथवा भोग विलास का साधन मात्र।

कहानी कहने वाली स्त्री सुजाता हैं जो एक विद्यालय में अध्यापिका हैं। हर्ष उनका इकलौता बेटा है। माँ बेटे की छोटी सी गृहस्थी में तब भूचाल आ जाता है जब हर्ष गुमसुम रहने लगता है। नौकरी शुरू करने के ढाई साल बाद भी वह शादी के लिए राजी नहीं होता। सुजाता के साथ के लोग व्यंग्य बोलते हैं कि शायद उचित दहेज नहीं मिलने के कारण ही माँ अपने बेटे की शादी को टाल रही हैं। सुजाता को खुद समझ में नहीं आ रहा है कि आखिर हर्ष शादी से नाम से भाग क्यों रहा है। अब यहां से शुरू होता है सुजाता के मन का भय। उनके दिमाग पर जो भय का पहला हथौड़ा पड़ता है वह है समलैंगिकता का। यह ख्याल आते ही सुजाता को झुरझुरी हो जाती है। वे इसे असहज और अप्राकृतिक मानती हैं। समलैंगिकता की तरफ बढ़ती हुई इस पीढ़ी से उन्हें शिकायत है। आरती का बेटा गे है, वह अपना आधा अधूरा जीवन जी रहा है। आरती सवाल करती है कि -''क्या संतान से तनिक सुख की अपेक्षा करना अपराध है।'' सुजाता को लगता है कि यह महज ज्वार है जो थोड़े समय के बाद उतर जायेगा। लेकिन मर्यादा का क्या होगा, सबसे बड़ी बात सृष्टि के उस नियम का क्या होगा जो एक पीढ़ी दूसरे पीढ़ी को सौंपती है। यदि हर्ष समलैंगिक है तो वंश तो डूबा ही समझो। हालांकि लेखिका कोर्ट के फैसले के खिलाफ परम्परावादी विचार रखती हैं। लेकिन एक धोखा खायी इकलौते बेटे की माँ तो दिन रात बेटा बहू और पोते के ही सपने देखती है, लिहाजा वे डरती रहती हैं।

दूसरे भय का हथौड़ा है लिव इन रिलेशनशिप। सुजाता को यह भी सोचकर डर लगता है कि कहीं हर्ष लिव इन रिलेशनशिप में तो नहीं है जिसके कारण वह शादी से बच रहा हो। अंग्रेजी के शब्द लिव इन या सरोगेट मदर इन सबसे परिवार व्यवस्था का नुकसान ही होगा, सुजाता को ये शब्द ही अच्छे नहीं लगते। सुजाता इन सबके बारे में बात करना चाहती हैं लेकिन नई पीढ़ी के विचार सुनकर दंग रह जाती है। उनके लिए सब बातें कॉमन हैं। उनकी नजर में पुरानी पीढ़ी एक ठहरा हुआ तालाब है जिसके पास समय ही समय था देखने जानने और भोगने को। कितनी उथली सोच रखते हैं ये पुरानी पीढ़ी के बारे में। वह खिन्न हो जाती है और रिजर्व रहने लगती है। लेकिन यह कोई समस्या का हल तो है नहीं, इससे हर्ष और दूर हो जाता है, बात का हर सिरा टूट जाता है और बातचीत बंद हो जाती है। सुजाता को लगता है कि बड़े होते बच्चों के साथ तालमेल बिठा पाना माता पिता के लिए कितना कठिन हो जाता है। हर्ष के गुमसुम रहने के कारण उसकी दिनचर्या बदल गयी है उसका किसी काम में मन नहीं लगता।

सुजाता को अपना दुःख याद आता है कि उसके पिता कितने अहंकारी थे। उन्हें अपनी बेटी की भावनाओं की जरा भी परवाह नहीं थी। वे उस पर हाथ उठाते हैं, थप्पड़ जड़ देते हैं। सवाल यह उठता है जिस परिवार के लिए स्त्री अपने को खपा देती है, जब उसे जरूरत पड़ती है तब मिलता है थप्पड़ और निष्कासन। पिता का विरोध करने के लिए सुजाता ने जिद में आकर ज्ञान से शादी कर ली। सुजाता अपने फैसले पर खुश थी, अपनी गृहस्थी से खुश थी। एक नन्हें बच्चे ने जन्म लेकर उसके घर को खुशियों से भर दिया। लेकिन ये खुशियां टिकी नहीं। एक मनहूस दोपहरी में खबर आई कि ज्ञान के माता पिता उसकी शादी करने जा रहे हैं। पिता के अहंकार और तिरस्कार से उबरी ही थी कि प्रेमी के धोखे ने उसे तोड़ दिया। जिस ज्ञान को लेकर उसने अपना जीवन दांव पर लगा दिया था उसी ने उसे भंवर में डुबो दिया। सुजाता को असमय विधवा का बाना पहनना पड़ा। पर वह अच्छी तरह समझ गयीं कि इस दुनिया में दूसरों पर यकीन करने से अच्छा है अपने पर यकीन करना।

और यह बात गांठ बांध ली कि पुरुष में कोई न कोई अवगुण तो रहता ही है, इसलिए बार बार फिसलने से कोई फायदा नहीं। जीने का सहारा एक बेटा है यही बहुत है। लेकिन वह गुमसुम है। यह बात उसे खाए जा रही है, सुजाता बेहद परेशान है कि कैसे वह अपने बेटे के मन की बात जाने। हर्ष का दोस्त नवेन्दु भी उसके शादी न करने के कारण पर सवाल करता है। हर्ष जवाब देता है जिसके बोल सुजाता के कानों में भी पड़ते हैं।

''जो एटीट्यूड देख रहा हूँ आजकल लड़कियों का ऐसे में हमारी शादी सफल होगी, सोच कर आक्रांत हो जाता हूँ। बाद में उपहास का पात्र बनने से अच्छा है शादी ही न करूँ।''

तो ये बात है। सुनकर मुस्करा देती है सुजाता। वह समझ जाती है कि समस्या कहाँ पर है। आखिर इसी समस्या ने तो उनकी जिंदगी को अकेलेपन के मोड़ पर ला खड़ा कर दिया है। स्त्रियों के प्रति उपेक्षा का भाव और दोयम दर्जे का व्यवहार आखिर कब तक चलेगा। उन्हें अशिक्षित रखना, एकतरफा अनुशासन में रखना, उनकी भावनाओं की परवाह न करना आखिर कब तक चलेगा। उसे बड़ी तसल्ली होती थी जब हर्ष बी.ए. की क्लास के बाद खुशी-खुशी घर आता था और कहता था-''पता है मॉम, मेरे इंस्टीट्यूट में फिफ्टी परसेंट लड़कियां तो होंगी, कितनी बेबाक और बोल्ड हैं सभी। नाम मात्र को भी झिझक नहीं है उनके अंदर।''

सुजाता को खुशी होती थी कि आजकल लड़कियों के मन में पढ़ाई के प्रति लगन और मेहनत की भावना है। यही कारण है कि उनका साक्षरता प्रतिशत बढ़ा है। उनके स्वभाव में जो खुलापन और बिंदासपन की भावना है वह स्वाभाविक है। क्योंकि कि अब वे कठपुतली बनने को तैयार नहीं हैं। अब वे अपमान उपेक्षा और तिरस्कार को सहने वाली नहीं हैं। अब वे अपने जीवन की रूपरेखा खुद तैयार करना चाहती है। इस खुशी के पीछे सुजाता के मन में यह भावना काम कर रही है कि यदि लड़कियां बाहर आएँगी तो परिवार नामक संस्था पर असर पड़ेगा। इस संस्था की सच्चाई अब सामने आ चुकी है वह ये कि इस का ढांचा ही स्त्री के खिलाफ है। स्त्री विरोधी है। यह संस्था पितृसत्तात्मक मूल्यों के द्वारा अनुकूलित और अधिगृहीत की जा चुकी है। अर्थात आज स्त्री जिन समस्याओं से जूझ रही है ये महीन ताने बानें उस व्यवस्था के हैं जिनमें पुरुष सुरक्षित है लेकिन स्त्री सुरक्षित नहीं है। इस व्यवस्था में कहीं भी हो स्त्री एक उत्पाद है जिसके आगे पीछे मूल्यों और बंधनों का मकड़जाल है। इसके इतने महीन सूत्र हैं कि स्त्री अपने स्वरूप की पहचान नहीं कर पाती है। सुजाता हर्ष और नवेन्दु से कहती है-

''अब वे अपने को व्यक्ति मान रही हैं। और अपने साथी से सहमति की अपेक्षा कर रही हैं। किन्तु इस मामले में पुरुष कहीं न कहीं ठिठके रह गए हैं।''

कथाकार यह मानती हैं कि लड़कों के भीतर पुरुष होने का अहंकार अपने आप आ जाता है। पिता को देख कर पुत्र भी वैसा ही आचरण करने लगता है। आखिर ज्ञान ने क्या किया। वह पढ़ाई की सर्वोच्च डिग्री लेकर भी अपने प्रेम और जिम्मेदारी भावना के साथ विश्वासघात करता है। यह इसी व्यवस्था की खूबी है जिसमें विवाह कर बच्चा पैदा करके स्त्री खत्म हो जाती है, और पुरुष नई शादी करके नया जीवन शुरू करता है। अपने माता पिता के सामने वह अपने को आसानी से परोस देता है। ज्ञान जैसे अनगिनत लड़के प्रेम का झांसा देकर विवाह करते हैं और एक दिन सब कुछ छोड़कर चल देते हैं क्योंकि पितृसत्ता और परिवार उन्हें यह सुविधा देती है। वे आसानी से विवाह और बच्चे की यादों को अपने जिस्म और जेहन से उतार फेंकते हैं। जबकि स्त्री के लिए यह फांसी के फंदे से कम नहीं है, क्योंकि उसके लौटने के सारे रास्ते बंद हो चुके होते हैं। क्योंकि परिवार और समाज उन्हें यह सुविधा नहीं देता। तभी सुजाता यह कहती है।

''घर से भागी हुई लड़की किनारे की टूटी हुई उस नौका की भांति होती है जिसे मांझी चाहे तो किनारे लगा दे चाहे तो भंवर में डुबो दे।''

पिछले तीन दशकों में स्त्रियों ने अपने आप को बहुत ज्यादा बदला है। लेकिन पुरुष बदलने को तैयार नहीं या फिर पेशोपेश में है। फिर भी उनका काम चल जाता है क्योंकि पूरी व्यवस्था पुरुष के नजरिये से गढ़ी गयी है। वे हजारों गलतियां करके भी पाक साफ बने रहते हैं। पाश्चात्य स्त्रीवादी चिंतक केट मिलेट ने अपने शोध ग्रन्थ की भूमिका में स्त्रीवादी आंदोलनों की तीन धाराओं का उल्लेख करते हुए कहा था कि-

''प्रमुख समस्या पितृसत्तात्मक समाज है, जिसमें सारी समाज व्यवस्था पुरुषों के वर्चस्व व शक्ति और स्त्रियों की आधीनता पर टिकी हुई है। पुरुष शासक है, पुरुषों की सेना है, उद्योग हैं राजनीति, धर्म आदि सभी व्यवस्थाएं पुरुषों की बनाई हुई हैं, और उनपर पुरुषों का ही प्रभुत्व है। यहां तक कि ट्रेड यूनियनें और वामपंथी आंदोलन भी पुरुषों द्वारा संचालित व केंद्रित हैं हर बार पुरुषों द्वारा पुरुषों के लिए पितृसत्ता को स्थापित किया गया है। परिवार की यह व्यवस्था पितृसत्तात्मक है।''

केट का यह कथन अक्षरशः सत्य है। पर ऐसा नहीं कि स्त्री चुनौती नहीं देती। लम्बे समय तक सहज रूप में जिन हथियारों से पुरुष स्त्री को काबू में रखता है यदि स्त्री उन हथियारों को उठा लेती है तो पुरुष से कहीं ज्यादा खूंखार हो जाती है। ये दोनों ही अति है। लेखिका मानती हैं कि जीवन अति से नहीं चलता है इसीलिए प्रतिक्रिया स्वरूप नये भय और नई समस्याएं जन्म लेती हैं। कथाकार यह कहना चाहती हैं किन पितृसत्ता ना ही मातृसत्ता। हमें चाहिए पारस्परिक समझदारी का जीवन, बराबरी का जीवन, आदर प्रेम विश्वास का जीवन। और अंत में कथाकर बहुत सी नागवार गुजरने वाली बातों का जिक्र न करके केवल सार्थक बात करती हैं। कलम की धनी आशा प्रभात ने बड़ी खूबसूरती से यह बात कह दी कि-भय के साथ जीवन का आनंद नहीं लिया जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भय रहित जीवन ही सुख का आधार है।

पता : 65 आवास विकास कॉलोनी, मॉल एवेन्यू
लखनऊ-226001
मो. : 09450246765

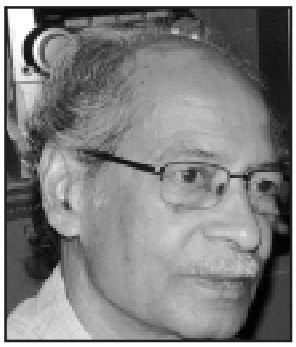

स्वाति तिवारी की कहानी 'एक और भीष्म प्रतिज्ञा' पर

आलोचना

एक और समानान्तर प्रतिज्ञा

n डॉ0 विजय बहादुर सिंह

कई-कई रूपों और शैलियों में लिखी जाती कहानियों के बीच एक ऐसी सीधी-सरल और बगैर किसी बंकिम गहरी मुद्रा के लिखी जाती कहानी भी है जो अब भी हमारे पारम्परिक आदर्श जीवन की भंगिमाओं में रमती और उन्हें रेखांकित कर निहाल होती चलती हैं। स्वाति तिवारी हमारे समय की एक ऐसी ही उदीयमान लेखिका हैं जो घर-परिवार और समाज की चाल-चलन और इनमें होती गतिविधि पर निगाह रखती हैं किन्तु इसके साथ-साथ वे पारम्परिक आदर्श स्त्री मन को हमारे अनुभवों में लाती हैं।

मैंने उनकी ज्यादा कहानियाँ तो पढ़ी नहीं हैं पर जो दो एक पढ़ और सुन पाया हूँ उस आधार पर यह उम्मीद बनती है कि वे एक संभावनाशील लेखिका हैं। यदि इसी तरह वे साधनारत रहती हैं तो धीरे-धीरे उस प्रौढ़ता का स्पर्श भी कर लेंगी जिसकी उम्मीद है।

कहानी-क्या है, उसकी कला क्या है, समाज से उसका रिश्ता क्या है, क्यों वह आदिम जमाने से मनुष्य के साथ लगी चली आ रही है तो मुझे ऐसा लगता है कि उसका मूल स्वभाव वह साझेदारी है जो अनुभवों का साझापन करने को बेचैन रहा करती है। अनुभवों का यह साझापन क्या कोई जरूरी माँग है और क्या यह माँग एकतरफा है, तो कहना पड़ेगा कि न तो एक तरफा है न अलग्यौझा। यह एक ऐसी कला है जिमसें श्रोता या पाठक की अहम भूमिका है। आप आकाश की ओर मुँह किए बोलते रहें और कोई सुनने वाला न हो तो बोलने का भी क्या मतलब रह जाता है। भाषा खुद एक साझा सामाजिक विरासत है जो कहने वाले को कहने को कहती है और सुननेवाला वही सुनता और समझता है। कला के संसार में यही तो सम-प्रेषण है। यानी कि सम्प्रेषण। यह अगर सम्भव नहीं होता तो भाषा कुछ कहेगी ही क्यों? भाषा सिर्फ ध्वनियों की ही नहीं अर्थों का भी समूह है। कहानी हो या कविता सब इन्हीं अर्थों को अपने पास पड़ोस तक पहुँचाने के लिए भाषा तक जाते हैं। लेकिन किस लिए? उत्तर होगा-अनुभवों को बाँटना भी एक सुख है। यह शेयरिंग हमें एक दूसरे के करीब लाती है और व्यापक सामाजिकता की रचना करती है। इसलिए कोई चाहे तो कह भी सकता है कि कहानी सबसे ज्यादा सामाजिक विद्या है। रामायण, महाभारत, रघुवंश और कुमार संभव या फिर रामचरित मानस, कामायनी सब काव्यग्रंथ होकर भी कोई ना कोई कहानी लिए हुए हैं। कहानी को शायद कभी कविता की जरूरत न पड़े पर कविता को लोकमन तक पहुँचने के लिए कहानी की मदद लेनी पड़ती है।

जैसा कि मैंने शुरू में ही कहा स्वाति तिवारी का मन एक आदर्शवादी, सीधा-सच्चा पारम्परिक मन है। बगैर किसी दाँव-पेंच और छद्म के। इसलिए उसमें सरलता और निश्छलता है। ऐसा भोलापन भी जो प्रायःबच्चों की अपनी पूँजी हुआ करता है। इसीलिए उनकी कहानियाँ भी इतनी ही निश्छल, सीधी और सरल है। कुछ लोग कहेंगे कि क्या हमारा समकालीन जीवन भी ऐसा ही सीधा, सच्चा और सरल है तो जबाव तो दिया ही जाना चाहिए कि नहीं , बिल्कुल नहीं। तब स्वाति तिवारी किस समय और समाज की लेखिका है? उत्तर होगा- समाज भी कहाँ एकरूपी और एक स्तरीय है। अनेक रूप और स्तर उसके भीतर हैं। स्वाति तिवारी अपने स्वभाव और अभिरुचि की पहुँच तक उसका वह रूप प्रस्तुत करती हैं जो आंशिक तौर पर मध्ययुगीन या कहें भावना-प्रधान है।

यों तो भावना के अभाव में साहित्य ही क्यों जीवन भी रेगिस्तान हो उठेगा किन्तु केवल भावना से तो जीवन चलता नहीं। व्यावहारिक निपुणता भी चाहिए ही। इसके वगैर तो सामाजिकता संभव ही नहीं होगी। अंततः समाज एक बौद्धिक संरचना है। इसके मूल में तर्क है। केवल भावना नहीं वैयक्तिक स्तर पर भावना की मिजाज पोशी चलाई जाय तो चल भी सकती है किन्तु सामाजिक स्तर पर तो लोकबुद्धि अनिवार्य होगी।

अपनी कहानी 'एक और भीष्म प्रतिज्ञा' में स्वाति ने इसी भावना-प्रबलता को रेखांकित किया है। कहानी का प्रमुख चरित्र 'आत्या' सिर से पाँव तक भावलिप्त है। वह उस पुराने रोज-रोज ढहते मकान को इसलिए नहीं तज रही है कि उसकी कुछ अमूल्य और गहरी यादें छूट जाएँगी। जबकि यादों का खेल कुछ और ही होता है। कवि रत्नाकर की मानें तो जो प्रिय चीजें हमसे जितनी दूर चली जाती हैं उनकी स्मृतियाँ उतनी ही गहराई से हमारे मन के तल में पैठती और जमती जाती हैं। आत्या की यादें उनके प्रेमी हेमंत से जुड़ी हुई हैं। जहाँ जिस घर की सीढ़ियों पर उन्होंने हेमंत को देखा था, धीरे-धीरे करीब आईं थीं, फिर प्रेम और मिलन घटित हुआ था, वह सब आत्या के लिए पुरानी फिल्म का जैसे कोई यादगार हिस्सा हो। वे शालू के यह पूछने पर कि वे इस रोज-रोज ढहते मकान में फिर भी क्यों रहना चाहती हैं, कहती हैं -''हम एक दूसरे पर एक दिन इसी ओसारे में समर्पित हो गए थे...प्यार का अथाह सागर था हेमन्त के पास। मैं आज भी ओसारे के खंभे के पास हेमंत के उस सामीप्य को याद करती हूँ। महसूस करती रही हूँ, बस वही एक पल मेरे जीवन का सुख था।''

तभी इस जर्जर मकान को न छोड़ने का तर्क देती हुई वह शालू से कहती है नहीं शालू मुझे जिन्दा रहने के लिए अब किसी नई रोशनी की जरूरत नहीं है। अतीत की परछाईयों के साथ मैं यहीं रहना चाहती हूँ। नेय घर में जाने पर मेरा अतीत यहीं छूट जाएगा। कहानी के इन संवादों को पढ़ते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कहना याद आता है कि अतीत तो इतिहास है। वह हमारे वर्तमान का पिछवाड़ा है। पर जीवन क्या 'बीती ताहि बिसारि दे आगे की सुधि लेइ'-वाला व्याकरण नहीं है? अगर नहीं तो फिर बच्चन क्यों लिखते है-'जो बीत गई सो बात गई।' या तो तारे आकाश से टूट गिरे, गिर गए। क्या आकाश उनके लिए शोकग्रस्त होता है कभी? जवाब 'उमराव जान अदा' फिल्म देती है कि हाँ! अतीत हमारी सच्चाई है। हमारी ताकत है। सिर्फ गड़े मुर्दे उखाड़ना नहीं। आत्या को अपने इसी अतीत से ताकत मिलती है।

पर कहानी का एक यथार्थवादी पक्ष भी है जहाँ जीवन की नंगी हकीकतें अपना रोल निभा रही हैं। आत्या इन हकीकतों की ही तो शिकार हो गई। शालू के यह पूछने पर कि आत्या तुमने शादी क्यों नहीं की, वे बताती है-''छोटी काकी जानती थी कि हम प्यार करते हैं। फिर भी उसने जब देखा हेमन्त विलायत से पढ़कर लौटने वाला है! उसने धोखे से हेमन्त को अपनी बेटी के लिए चुनकर उससे हाँ कहलवा लिया।'' यह एक पारिवारिक शतरंज की बाजी थी जिसमें आत्या बस एक पिटी हुई गोट साबित हुई।

इस स्तर पर कहानी मनुष्य में व्यापक स्वार्थ और कुटिलता को प्रत्यक्ष करती है और आत्या जैसे परियों के पक्ष में हमारी सहानुभूति को जगाती है। इसलिए सहानुभूति और क्षोभ या कहें अरूचि का भाव उन चरित्रें के प्रति जिन्होंने चालें चलीं और कुटिलता भी।

नि चय ही इस प्रकार की कहानियाँ हमें उन मूल्यों के करीब ले जाती है जो मानव-मात्र के बुनियादी मूल्य हैं। कबीर कहते हैं-'कबिरा आप उगाइये और न ठगिये कोय।'

कहानी के अंत में यों तो कुछेक दार्शनिक वाक्य भी हैं पर वे कोरे औपचारिक हो कर रह गए हैं। कहानी की संवेदना तो वह असफलता या छला जाना है जिसके कारण आत्या अभिशप्त अकेलेपन की शिकार होकर रह गई हैं। कहानी की यही संवेदना हमारे मनों में करूणा पैदा करती है और हम गहरी वेदना और सहानुभूति से बोझिल हो उठते हैं।▫

पता : 29, निराला नगर, दुष्यंत कुमार मार्ग
भोपाल-462003
मो. : 09425030392

(पृष्ठ 161 का शेष)

दिल आधे लम्हे को बेईमानी से कसमसाया सौ प्रतिशत सच्चा होना ईश्वर होने जितना कठिन है! पर ये दिन, ये समय, ये क्षण जैसे किसी मामूली सीपी को अपने में महसूस होता कोई अनंत प्रकाशित मोती! अपने अंदर के सब अंधेरे कितने परिचित, अपने अंदर का प्रकाश कितना अनचीन्हा-अनचीन्हा! कुल मिलाकर कांति ख़ुश है। राह में जो भी-जो भी नन्ही लड़की उसे दिखी, वो उसे मुस्कुराकर क्लिपें देती गई। और जिस-जिस ने वज़ह पूछी, उसने साफ़ कर दिया,

''बीस जोड़ी क्लिपों का पत्ता पड़ा मिला है।''

आख़िरी जोड़ा क्लिपों का, उसने हैंडपम्प पर पानी भरने आई एक सूखी-फटेहाल महरी की गोद की श्यामली गुड़िया को दिया। उसकी नन्ही हथेली की मटमैली लकीरों पर पहुँचते ही क्लिप-तितलियाँ सजीव हो उठीं जैसे। कांति को सुख मिला। कितना महीन सुख जैसे मधुमक्खी एक कण पराग को शहद में बदलकर इतरायी हो!

लौटती राह में उसे वे सब नन्ही लड़कियाँ दिखीं; इस-उस को इतराकर, अपने बालों में सजी तितलियाँ दिखाती हुईं। उसे लगा, वे इतनी प्रसन्न नन्ही लड़कियाँ छोटी-छोटी राजकुमारियाँ हैं -जिनके धूल भरे बालों में क्राउन की तरह जा सजी हैं उसकी उपहार-क्लिपें। कांति का मन कल्पना करता है, उसके बूते की बात होती तो पूरी बस्ती में उजाला होता। हर रसोई में वैसा खाना होता जैसा मंदिर में भोग लगता है। हर बदन पर वैसे कपड़े होते जो तन ही नहीं ढँकते, मन को भी सजा-सँवार देते हैं। हर बाई मुस्कुरा रही होती। हर आदमी अपने बीवी-बच्चों के साथ ख़ुशहाल होता। उसकी ये अपनी बस्ती, बड़ी प्यारी बस्ती, बड़ी मुश्किल बस्ती तब एक कॉलोनी की तरह हो जाती -सही मतलबों में इंसानी दुनिया!

कट्टियों का पानी-वज़न साधे कांति अपनी झोपड़ी के सामने आ रुकी है। कट्टियाँ देहरी पर रखकर उसने परिश्रम भरी साँसों की हाँफनी सम्हाली है। सामने बैठी अदिति पाठ याद कर चुकी है और अब अपने बस्ते में किताब-कॉपियाँ करीने से रख रही है। कांति ने सोचा, जब अदिति अपनी ज़िन्दगी में कुछ बन जायेगी, उस ऊँची मूर्ति जैसी कुछ तब वो अपनी बेटी को अपनी आज की कल्पना ज़रूर बतायेगी!

रात चूल्हे की अंगारा राख में रोटी करारी कर पति को परोसते उसने गर्व से पूरा वाक्या सुनाया।

दिन भर की मजूरी से थककर अधमरे-से हो गये पति ने अपनी ठठ-उँगलियों से कौर तोड़ते हुए सच्चे अफ़सोस से कहा,

''मौड़ी के लिए रख लेती। सालों काम आतीं।''

''न! अपनी अदिति के लिए मैं बाज़ार की दुकान से सिंगार ख़रीदूँगी -न्यू मार्केट से!''

बेटा मुस्कुराया। हर वो चीज़ जो माँ कभी नहीं दिलवायेगी, उसके बदले में यही सपना थमा देती है -न्यू मार्केट!

बर्तन माँजकर कांति कथरी पर आ लेटी।

''वो ठेलेवाला भी तो हमारे ही जैसा ग़रीब आदमी होगा। फिर मुफ़्त का माल घर में लाते तो वो चोरी हो जाती। और भला हमें चोरी करने की क्या ज़रूरत है? है ना राहुल के पापा?''

कांति ने उत्तर न पाकर देखा। पति करवट बदलकर कब का सो गया। उसकी तसल्ली भरी साँसें गहरी नींद का पता देती हैं।

कांति ने पुराने कपड़ों से बना तकिया सिरहाने लगाया और कथरी ओढ़ ली।

आज की नींद कैसी सम्पन्न है!! ▫

पता : खेड़ापति हनुमान मंदिर के पास
लाऊखेड़ी, एयरपोर्ट रोड, भोपाल-462030
मो. : 08109352499

मधु अरोड़ा की कहानी 'फिर वही शून्य' पर

आलोचना

नव औपनिवेशिक दासता और बाजारवाद

n रविकांत

मधु अरोड़ा की कहानी 'फिर वही शून्य' पीछे मुड़कर अपने समय को देखने और उसमें खुद का अक्स निहारने का अवसर प्रदान करती है। कहानी गुजरे समय की परतों की तरह खुलती जाती है। 'फिर वही शून्य' के शून्य पर जाकर दृष्टि अटक जाती है। फिर, धीरे-धीरे कहानी की शैली की तरह पूरे समय का कोलाज आँखों में तैरने लगता है। ये वही शून्य है, जहाँ से समाजवादी और कल्याणकारी लोकतांत्रिक गणराज्य के आदर्श ढीले पड़ने लगते हैं। इसके बाद एक ऐसी व्यवस्था का आगाज़ होता है जो शून्य की तरह गोल, घुमावदार, मूल्यहीन, सतही और बियावान अंधेरे में डुबाने वाली है। इक्कीसवीं सदी के इस दूसरे दशक के मध्यकाल तक आते-आते यह अंधकार आँखों को समूचा अंधा बनाने वाला साबित हो रहा है।

फ्लैशबैक शैली में लिखी गई यह कहानी मिस्टर राय की है। 'राय मध्यवर्गीय परिवार में पैदा हुए थे, जहाँ वे सपने तो देख सकते थे पर उन्हें पूरा करने के लिए बहुत मशक्कत करनी पड़ती थी।' यह मध्यवर्गीय सपनों की उड़ान की कहानी है। मिस्टर राय अपनी उम्र से ज्यादा लंबे ख्वाब देखते हैं। लेकिन ख्वाब तो ख्वाब हैं। ख्वाब कभी खत्म नहीं होते। समय के साथ और भी लंबे होते जाते हैं। अगरचे, ख्वाबों के ऐशगाह में जब सच नमूदार होता है तो निपट सूनापन और अकेलापन हाथ लगता है। मिस्टर राय के स्वप्न नव-उदारीकृत भूमण्डलीय व्यवस्था में उपजे थे। राय प्रतिनिधि हैं 90' के दशक में जवान होने वाली उस पीढ़ी के, जो पूँजीवादी-बाज़ारवादी चकाचौंध में खुद को धकेल देता है। नव-उदारीकृत व्यवस्था के खोखले स्वप्न उसे पूरा निचोड़ लेते हैं और वह जड़हीन ठूँठ की तरह खड़ा रह जाता है। बड़ी निर्ममता से यह व्यवस्था उसे ठगती है। इसके बाद, उसके पास रह जाता है बस्स एक पश्चाताप कि 'उन्होंने अपने पैर चादर के अंदर ही क्यों नहीं रखे।'

महज एक दशक में, राय के जीवन में उत्थान और पतन की दास्तान बड़ी दिलचस्प है। एक सामान्य मध्यवर्गीय परिवार में जन्मे राय के माता-पिता की सिर्फ़ इतनी ख्वाहिश थी कि वे अपने बच्चों को इतना पढ़ा-लिखा सकें कि 'बेटे अपना पेट भर सकें और बेटियाँ इतना पढ़-लिख लें कि चिट्ठी-पत्री लिखनी आ जाए। लड़की का घर के कामकाज में पक्का होना जरूरी है। इसमें गलत भी क्या था? बेटियों को पराए घर जाना है मायके की नाक न कट जाए।' वास्तव में, यह 90' के दशक के शुरूआती दिनों में पारंपरिक मूल्यों, आदर्शों और साधारण तौर-तरीकों पर गुजर-बसर करने वाला परिवार है। इस लिहाज से, यह परिवार उस समय के पूरे भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व करता है।

सन् 1991 में नई आर्थिक नीति लागू हुई। उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों ने भारतीय युवा वर्ग के समक्ष रोजगार के नए अवसर पैदा किए। उद्योग, निर्माण और सेवा क्षेत्र का तेजी से विकास हुआ। जैसे-जैसे नए क्षेत्रों और अवसरों का विकास हो रहा था, वैसे-वैसे जीवन मूल्य और तौर-तरीके बदलते जा रहे थे। नव्य पूंजीवादी, बाजारवादी व्यवस्था तेजी से पैर पसारती जा रही थी। संवेदनाओं, भावनाओं और मूल्यों के स्थान पर बाह्य प्रदर्शन और भौतिकता का मोल बढ़ता जा रहा था। नव-उदारवाद और निजीकरण का पहला प्रभाव, देश के महानगरों पर हुआ। बाज़ारवाद ने औपनिवेशिक नई दिल्ली, बंबई, मद्रास और कलकत्ता को 'न्यू डेल्ही', 'मुंबई', 'चेन्नई', और 'कोलकाता' में बदल दिया। नई आर्थिक नीतियों की बाज़ारवादी चकाचौंध और प्रचार के कारण इन महानगरों ने नव-औपनिवेशिक लिबास ओढ़ लिया था। नया नामकरण किसी उपराष्ट्रीय या क्षेत्रीय अस्मिता के कारण नहीं हुआ, जैसा कि समझा जाता है। इस प्रकार, ये महानगर बाजारवादी व्यवस्था के चार मठ साबित होते हैं।

कहानी का 'प्लॉट' मुंबई है। मुंबई, इसलिए नहीं कि लेखिका यहाँ रहती हैं बल्कि इसलिए कि मुंबई देश की आर्थिक राजधानी है। आर्थिक-सांस्कृतिक नवाचार का प्राथमिक केन्द्र है। राय ने पढ़ाई के दौरान 'मुंबई की लोकल गाड़ियाँ में चड्डियाँ, रूमाल और बालों में लगाने की क्लिप तक बेची थी। बारहवीं पास करने के बाद उनके भी मिजाज़ बदले। याने अब ट्रेन में सामान बेचने में शर्म आने लगी थी।' राय ने नौकरी के लिए विज्ञापन दे दिया। उडिपी होटल से हाउसकीपिंग की नौकरी के लिए बुलावा भी आ गया। 'होटल था या शीशमहल। टाइलें इतनी साफ कि बंदा अपना मुँह देख ले। इतनी साफ टाइल्स को देखकर राय को बहुत अच्छा लगा। उनके पैर टाइल्स पर फिसलने लगे और वे संभलकर चलने लगे कि कहीं गिर न जाएं।' यह होटल की नहीं, बल्कि नवउदारीकृत व्यवस्था में सेवा क्षेत्र की वह चमकीली और रपटीली दुनिया है, जहाँ कितना भी संभलकर चला जाए, उसमें खो जाना या गिर पड़ना अवश्यंभावी है।

राय साक्षात्कार देने आए लड़कों की पंक्ति में जाकर बैठ गए। बुलाने पर वे अंदर गए। 'राय के सामने तीन लोग बैठे थे जो उनका साक्षात्कार लेने वाले थे। राय खुद को संयत रखने की पूरी कोशिश कर रहे थे। कहीं माथे पर पसीना न आ जाए। ये तीनों देख भी ऐसे रहे थे मानो आँखों ही आँखों में खा जाएंगे'। हाउसकीपिंग के अनुभव के बारे में पूछे जाने पर राय का जवाब था कि 'काम मिल जाएगा तो अनुभव भी हो जाएगा।' गोया, क्रोनी कैपिटलिज्म (आवारा पूँजीवाद) से बेखबर और बेअसर देश इस व्यवस्था को अपनाने और सहलाने के लिए मजबूर था और बेकरार भी। कहानी जितना कहती है, उससे ज्यादा संकेत करती है। राय की नौकरी पाने की मजबूरी, 90' के दशक के बिगड़े हालातों में कमोबेश सभी बेरोजगार युवाओं की मजबूरी है। इन बेरोजगार युवाओं का सामना उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण (तीन साक्षात्कर्ता) की परिस्थितियों से होता है। निजी फर्मों में उनके देशी-विदेशी मालिकों की मर्जी पर नौकरी करना जैसे उन युवाओं की नियति बन गई थी।

राय का चयन हो गया और सात दिनों के अंदर उन्होंने नौकरी ज्वाइन कर ली। नौकरी मिलने की ख़बर पाकर राय के पिता और पूरा परिवार बहुत खुश था। यह दृश्य अमरकांत की प्रसिद्ध कहानी 'डिप्टी कलक्टरी' की याद दिलाता है। 'नई कहानी' के दौर में जब पूरा देश रोजगार और उन्नति का सपना देख रहा था, तब वह सपना कैसे चकनाचूर होता है, कहानी दिखाती है। सरकारी और सीमित नौकरियों की बहुत कठिन प्रतियोगिता में मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के लिए कोई जगह नहीं थी। लेकिन 90' के दशक में नौकरियों के बहुत अवसर बढ़ गए। ये अवसर निजी क्षेत्र में थे। निजी क्षेत्र में मालिकों की मर्जी और शर्तों पर काम करना होता है। सुविधा और सुरक्षा के नाम पर श्रमिक वर्ग के पास कोई गारंटी नहीं होती।

पाँच मंजिल के उस आलीशान होटल में दूसरा माला राय को मिला। राय का काम था 'दूसरे माले के कमरों के बिस्तर की चादरें और तकिए के कबर बदलना, टेबल पर सूखा कटका मारना।' राय को दो हल्के पीले रंग की वर्दियाँ मिल गईं। इंचार्ज ने उन्हें ताकीद कर दिया था- 'एक धोने का, एक पहनने का'। वर्दी इंसान का हुलिया ही नहीं बदलती उसका सोच और मानसिकता भी बदलती है। पूँजीवाद सबसे पहले मनुष्य के संवेदनतंत्र पर प्रहार करता है। राय एक दिन कमरा नम्बर 204 में नीली चादरों पर खून के धब्बे देखकर डर गए। उन्होंने इंचार्ज को फौरन इत्तला की। 'इंजार्ज ने चेतावनी भरे स्वर में कहा, इन बातों में इंटरेस्ट नईं लेने का।' राय अपना काम तो करते रहे लेकिन मन में ठान लिया कि 'दाग-दग़ीले चादर ज्यादा दिन नहीं हटाएंगे।' यहाँ पर रूककर दो बातें कहना चाहता हूँ। पहली, नई आर्थिक नीतियों के तहत नव्य पूँजीवाद का जो प्रसार हो रहा था, उसके लिए रेडकार्पेट बिछाने का काम मजबूरन या मसलेहतन मध्यवर्ग ही कर रहा था। दूसरी, ये दाग-धब्बे पूँजीवादी निरंकुशता और उससे उपजे अमीरों की अय्याशियों के चिह्न हैं। इन दागों को धोने के लिए भारत का मध्यवर्ग लाचार था।

नव्य पूँजीवादी व्यवस्था ने सिर्फ पूँजी का ही प्रसार नहीं किया बल्कि एक सोच और संस्कृति को भी पैदा किया। आवारा पूँजी के लिए जैसे ही भारतीय राजनीति ने दरवाजे खोले, भारतीय दृश्य पटल कर अनेक सुंदरियों का जन्म हो गया। फैशन जगत की तमाम नामी-गिरामी कंपनियाँ भारतीय लड़कियों में ऐश्वर्या बनने की चाहत पैदा करने के लिए 'विश्व सुंदरी' और 'ब्रह्मांड सुंदरी' जैसे ताज भारतीय सुंदरियों को प्रदान कर रही थीं। आख़िर, लाली-लिपिस्टिक और काज़ल-मसकारा जो बेचना था! खैर। उस दरम्यान देश में पश्चिमीकरण की हवा बहने लगी। अंग्रेजी भाषा और मूल्यों का वर्चस्व बढ़ने लगा। समय के साथ, भारतीय मध्यवर्ग इन आदतों का गुलाम होता जा रहा था। राय को चादरें बिछाते-हटाते तीन वर्ष बीत गए थे। वे अच्छी अंग्रेजी बोलने लगे थे। इससे दूसरी नौकरी के अवसर भी बढ़ गए। फास्ट-फूडी संस्कृति की तरह राय ने दूसरे प्राइवेट फर्म में सेक्रेटरी की नौकरी ज्वाइन कर ली। सात हज़ार रुपये मासिक की नौकरी पर उन्हें न सिर्फ़ बॉस के ऑफिसियल काम करने थे बल्कि घरेलू कामकाज भी देखने थे, मसलन पत्नी को शॉपिंग कराना, बैंक का काम, घर में बिजनेस पार्टी वगैरह। राय ने चुपचाप इसको भी स्वीकार कर लिया लेकिन फिर से मन में ठान लिया कि यह नौकरी भी ज्यादा दिन नहीं करेंगे।

राय की दूसरी नौकरी, दरअसल नवउदारवाद का दूसरा पड़ाव है। इस पड़ाव में बाज़ारवाद का तीव्र उभार दिखाई देता है। बाज़ारवाद आदमी की आवश्यकताओं को निर्मित करने वाली विचारधारा है। इस व्यवस्था में व्यक्ति आव यकतानुसार खरीदारी नहीं करता बल्कि शॉपिंग करने के बाद उसकी जरूरतें तलाशता है। रही-सही कसर सूचना क्रांति के साधन पूरी कर देते हैं। ये साधन उसे हर समय और स्थिति में उपभोग के भ्रामक जाल में फंसने के लिए मजबूर करते हैं। बाज़ारवाद के छद्म में हर वस्तु बिकाऊ हो जाती है और हर व्यक्ति खरीदार और जिसकी क्षमता खरीदार की नहीं है, वह स्वयं बिकाऊ हो जाता है।

थ्रीपीसधारी बॉस और पश्चिमी परिधानों में सजी-धजी उसकी पत्नी की चाकरी करते-करते राय बहुत कुछ समझने लगे थे। वे पास आती सांसें महसूस करने लगे थे और हर गोलाई को नापने की ख्वाहिश पालने लगे थे। यहाँ कहानी पुनः सांकेतिक रूप से नई आर्थिक-राजनीतिक स्थितियों से रूबरू कराती है। थ्रीपीस उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण की समूची व्यवस्था का प्रतीक है और मिस्टर राय जवानी की दहलीज पर खड़े भारतीय लोकतंत्र के प्रतीक हैं। कहानी संकेत करती है कि नई परिस्थितियों ने भारतीय लोकतंत्र को नैतिक रूप से छिन्न-भिन्न कर दिया। दलाली, घूसखोरी, कबूतरबाजी, पोर्नोग्राफी, माडलों-सुंदरियों के नाच-तमाशे, बाहुबल, धनबल भारतीय राजनीति की पहचान बनने लगे।

समय रहते, राय तीसरी नौकरी में पहुँच गए। अब वे एक कॉर्पोरेशन में मैनेजर थे। इस संस्थान में पहुँचते ही उनकी दमित वासनाएं कुलाचें भरने लगीं। अफसर होने के नाते उनके पास केबिन था। राय कम्प्यूटर की विभिन्न साइटों पर उपलब्ध पोर्न सामग्री का खूब आनंद लेने लगे। व्यवस्था में इसका रस लूटने के लिए उन्हें कुछ अधिकारियों की सोहबत भी मिल गई। मिस्टर राय बीयर बारों में जाकर खूब पार्टियाँ करते और रातभर के लिए लड़कियों को बुक भी कर लेते। अब राय मध्यवर्ग से निकलकर अमीरों की अय्याशियों का हिस्सा बनने लगे। घूसखोरी और सौदेबाजी खूब आने लगी थी, राय को। वे

(शेष पृष्ठ 209 पर)

सुधा ओम ढींगरा की कहानी 'काट दो' पर

आलोचना

नारे बदले हैं पर देखने का नज़रिया अभी भी सांमती है

n संजय कृष्ण

सुधा ओम ढींगरा की कहानी 'काट दो' पढ़ते-पढ़ते जब अंत तक पहुंचते हैं कि तब अनायास ही शिवमूर्ति की कहानी 'अकाल दंड' की याद ताजा हो जाती है। 'काट दो' में रेपिस्ट खुद अपने लिए सजा मुकर्रर करता है कि उसका अंग काट दिया जाए। वह इस समस्या के निदान का उपाय यह बताता है कि दुष्कर्म करने वालों के अंग को काट देना चाहिए, इससे इस पर अंकुश लगाया जा सकता है और दशक भर से पहले लिखी गई कहानी 'अकाल दंड' में यह अनायास ही घट जाता है। अकाल दंड कहानी की पात्र सूरजी सिक्रेटरी बाबू का हंसुए से देह का नाजुक हिस्सा अलग कर देती है। यह अलग कर देने की घटना, वह भी उस समाज की एक औरत द्वारा, जो सदियों से उत्पीड़ित होने के लिए अभिशप्त रही है और आज भी उत्तर प्रदेश, बिहार, हरियाणा, मध्यप्रदेश और राजस्थान से उसके अभिशप्त होने की खबरें आती रहती हैं, तब के लिए इसे एक क्रांतिकारी कदम ही कहा जा सकता है। 21 वीं सदी का समाज, और वह पुरातन, प्राचीन श्रेष्ठ संस्कृति, जिसकी दुहाई देने में हम तनिक नहीं थकते, जो ब्रह्मांड में है, वही पिंड में है का दर्शन जहां नारी की पूजा होती है, वहां देवता निवास करते हैं उसी समाज में जाति के विषैले विष ने दलितों के साथ अन्याय करने का जन्मजात हक हासिल कर लिया। एक ओर नारी के प्रति पूजा का भाव और उसी परंपरा में इंद्र जैसा कामुक देवता भी! तब के और अब के साहित्य में क्या अंतर है? राजेंद्र यादव घराने की लेखिकाओं ने तो खूब कलम तोड़ा और देह की मुक्ति में नारी की मुक्ति का घालमेल कर खूब पोर्नोग्राफी साहित्य रचा। तो स्त्री को देखने का नजरिया वही सामंती यहां भी बना रहा। अलबत्ता नारे बदल गए। बुद्धिजीवी और वामपंथी होने का तमगा अलग से। वैसे, अब तो ये दोनों पर्याय हो गए हैं।

हालांकि 'काट दो' कहानी न दलित-सवर्ण विमर्श को खड़ा करती है न इस तरह के नारे और खेमे में विश्वास करती है। इस नजरिए से यह लिखी भी नहीं गई है। कहानी के स्वाभाविक प्रवाह द्वारा यह सृजित है। इसका कोई राजनीतिक उद्देश्य भी नहीं। यहां एक अलग समाज जरूर हमारे सामने उपस्थित होता है लेकिन समाज का आदमी, उसका मन, मस्तिष्क और सोच की बनावट में कोई अंतर नजर नहीं आता। भले शिक्षा का स्तर वहां ज्यादा हो, आदमी ज्यादा प्रैक्टिकल हो, विकसित भी ज्यादा हो, पर देह के स्तर पर सोच वही पुरातन और पोंगापंथी। यहां हम उस समाज से बावस्ता होते हैं, जहां सात जन्मों वाली रुढ़िवादी सोच नहीं हैं। यहां तो बस आज है, आज। न भूत की चिंता न भविष्य की परवाह। अपने को आधुनिक कहने वाले समाज ने रिश्तों को बहुत दूर छोड़ दिया है। सभ्य-सुसंस्कृत जैसे शब्द यहां बेमानी हो गए हैं-यहां भी वहां भी। इसलिए, यूएसए हो या दिल्ली-मुंबई, अचानक बलात्कार की घटनाएं बढ़ गईं हैं। हम जैसे-जैसे शिक्षित होते जा रहे हैं, लगता है हमारा विवेक पीछे छूटता चला जा रहा है। शिक्षा हमें रोजगारी तो बना रही है, संस्कारी नहीं। हम सब जानते हैं कि गांव में बलात्कार की घटनाएं कई कारणों से समाज और गांव समाज की दहलीज लांघ नहीं पाती हैं। कहीं समाज का डर, कहीं पंचायत का। किसी ने कभी मुंह खोला या रिपोर्ट लिखाने का साहस किया तो उसे दुश्चरित्र और फिर नंगा घुमाने का फरमान। या फिर हम उस जिंदगी के ताप को महसूस नहीं कर पाते, जहां दलित स्त्रियों की इज्जत सरेराह उछाली जाती है। शहर का चरित्र दूसरा है। बलात्कार की घटनाओं में इजाफा हुआ है। 16 दिसंबर के बाद तो जैसे पूरा देश ही बलात्कार की घटनाओं से चीत्कार करने लगा है। गांव-शहर का भेद भी मिट गया है। यह अलग बात है कि हमारे समाजशास्त्रियों और चिंतकों ने इसका कोई अब तक समाजशास्त्रीय और मार्क्सवादी ढंग से अध्ययन नहीं किया है कि आखिर, बलात्कारियों का वर्ग चरित्र क्या है?

मृदुला गर्ग अपने एक लेख में कहती हैं कि 'बलात्कार, स्त्री के स्त्री होने की अस्मिता का ही हनन नहीं करता, समाज में उसके स्तर, हैसियत व छवि पर भी प्रश्नचिन्ह लगाता है। साथ ही उसके मन में अपने भावात्मक व मानवीय संबंधों के बारे में संशय पैदा करता है। उसे उन पर दुबारा सोच विचार करने को बाध्य करता है।' वह आगे कहती हैं, 'तमाम जागरूकता के बावजूद उन सामाजिक स्थितियों में बदलाव आता दिखाई नहीं देता जो स्त्री को बलात्कार का शिकार बनाती हैं। बल्कि त्रासद सच्चाई यह है कि उसकी घटनाएं बढ़ रही हैं।' आखिर, ऐसी घटनाएं अचानक क्यों बढ़ गईं?

'काट दो' ऐसी ही मानसिकता से उपजी कहानी है। एक त्रासद सच्चाई। ऊपर कहा गया है, यहां रेपिस्ट खुद अपनी सजा मुकर्रर कर रहा है कि उसके अंग को काट दिया जाए। आप सोच सकते हैं कि क्या वह पागल है, सिरफिरा है या उसे अपने किए की आत्मग्लानि हो गई है, जो इस तरह की सजा अपने लिए मांग रहा है! आखिर वह पूरे होशोहवास में क्यों कह रहा है कि इस समाधान से ही बलात्कार जैसी घटनाओं पर अंकुश लगाया जा सकता है। क्या यह उस पागल का बयान है? क्या ऐसा संभव है? इसी तरह की घटनाएं क्या प्रकाश में आईं हैं? हालांकि यह कहानी दिमाग की उपज भर नहीं है। इसका एक सूत्र है, जो यथार्थ की डोर से बंधा है। वहीं से यह कथा निकली है और आगे बढ़ती है। फिर थोड़ी कल्पना के साथ कहानी की शक्ल ग्रहण कर लेती है।

यूएसए में रहने वाली सुधा की इस कहानी में एक अलग आस्वाद मिलता है। पर एक बात पूरब-पश्चिम के बारे में समान बात कही जा सकती है कि मर्द का चरित्र एक होता है। इससे भी कोई फर्क नहीं पड़ता कि कोई देश कितना आधुनिक और विकास के तल पर कितना आगे बढ़ गया है। औरत के मामले में सारी आधुनिकता बहुत पीछे छूट जाती है और मानसिकता वहीं अटकी है, जहां हजारों साल से अटकी है, जब आदि ग्रंथ आकार ले रहे थे। इसलिए, मानसिकता वहां भी वही थी कि 'मुझे बस उसे नोचना होता है। उसके अस्तित्व पर चोट पहुंचानी होती है, जिसे वह अस्मिता कहती है, उसे लूटना होता है।' यह हर मर्द की मानसिकता होती है। 'पीली छतरी वाली लड़की' का नायक भी अपनी सवर्ण नायिका के साथ सहवास ही नहीं करता, हजारों साल के अपने पुरखों के साथ हुए अन्याय का बदला भी लेता है। उस क्षण उसकी अस्मिता वहां जाग जाती है। अस्मिता पद बड़ा लुभावना है। अभी हिंदी में भी खूब प्रचलित है। नारी अस्मिता, दलित अस्मिता, आदिवासी अस्मिता, पिछड़ी जाति की अस्मिता, अगड़ी जाति की अस्मिता आदि-आदि। अस्मिता को अभी यहीं स्थगित करते हैं। क्योंकि यह कहानी कोई अस्मितावादी ढांचे में ढली नहीं है।

कहानी के मूल पर आने से पहले यह जरूरी है कि हम कहानीकार के बारे में थोड़ा जान लें। इससे कहानी को समझने में आसानी होगी। सुधा एक साइकालॉजिस्ट हैं। फेमिली काउन्सलर हैं। रेप विक्टिम्ज के परिवारों की काउंसलिंग भी करती हैं। दरअसल इस कहानी के जन्म की भी एक कथा है। वह रेप विक्टिम्ज पर होने वाले एक कॉन्फ्रेंस में शामिल थीं कि एक रेपिस्ट ने यह सुझाया कि काट देने से रेप को काफी हद तक रोका जा सकता है।' उसके इस सुझाव को साहस कह सकते हैं। कहानी का सूत्र यही है। पंच लाइन यही है। आधार यही है। यहीं से यह कहानी जन्म लेती है। पर, कहानी में इतना भर नहीं है न कहानी इतनी सपाट है। कई दार्शनिक सी लगने वाली बातें हैं, 'मेरे अलावा मेरे बारे में कोई नहीं जानता। यह भी अच्छी बात है कि मैंने स्वयं को पहचान लिया अन्यथा लोग उम्र भर स्वयं को खोज नहीं पाते। मरणासन्न पड़े हैं और सोच रहे हैं कि मैं कौन हूं।' अक्सर हम दूसरों को जानने का दावा करते है हां, हां, हम तो उसे जानते हैं। पर क्या कभी खुद से पूछा है कि मैं कौन हूं? जैसे ही सवाल उठता है, हम इसे छोटे से सवाल का सामना नहीं कर पाते। आंखें नहीं मिला पाते खुद से। अरे, यह तो ऋषि-मुनियों का काम है। अथवा, कोई यह दावा कर भी दे कि खुद को जान गया हूं तो उसे पागल करार देने में हमें तनिक भी वक्त नहीं लगेगा।

इस महिला को होश क्यों नहीं आया? अब तक तो इसकी आंखें खुल जानी चाहिए थी। चिंता है कि इसे देखकर मुझे क्या हो रहा है। मेरी उत्तेजना मर क्यों गई। मेरा उत्साह खत्म क्यों हो गया। मेरी ऊर्जा कहां चली गई। ऐसा मेरे साथ पहले कभी नहीं हुआ। शायद यह गिड़गिड़ा नहीं रही। महिला को गिड़गिड़ाते देखकर मैं आक्रामक हो जाता हूं फिर चाहे वह बूढ़ी हो, जवान हो, अधेड़ हो या बच्ची, किसी की मां हो, बेटी हो या पत्नी। मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता।' पर यहां फर्क पड़ा। नायक स्त्रीजात से नफरत करता है। इसके पीछे एक वाजिब कारण भी है। कार्य-कारण। कई औरतों ने बचपन में जख्म दिए जो अब घाव बन गए थे। 'तब सत्ता उनके हाथ में थी। उन्होंने मेरा शोषण होने दिया। अब सत्ता मेरे हाथ में है। स्त्री वर्ग से नफरत है।' यह नफरत उसके अंदर इतना मजबूत हो जाता है कि उसके अंदर छुपे जानवर को और ताकतवर बना देता है। शिकार देखते ही झपट पड़ता है। पर आज जिस महिला को उठकार पार्क से ले आया, उसके साथ वह कुछ कर नहीं पा रहा? अचानक उसकी ताकत जैसे क्षीण हो गई हो? 'मेरे हाथ कांप रहे हैं? मैं इस नारी को निर्वस्त्र नहीं कर पा रहा। यह तो मेरा शिकार थी। जागिंग करते हुए इसकी पिंडलियां ही तो मुझे उत्तेजित कर गई थीं।'

वह स्त्री के दूसरे हिस्से को देख उत्तेजित नहीं होता है। वह पैर देखता है। पैर या पिंडलियां देखने का एक वाजिब कारण भी है, जो कहानी में आगे खुलती है। सुधा ने आखिर, उस अनजान स्त्री की पिंडलियां ही क्यों दिखाई? जबकि औरत के पास दिखाने को बहुत कुछ है। क्या कोई रासायनिक क्रिया हो सकती है? या फिर वह इस स्त्री के साथ ऐसा कुछ नहीं कर पा रहा, जो अक्सर स्त्रियों के साथ करता था? 'यह भी सोचने का समय नहीं मिला कि उसने मुझे 'हाय सन' कहा था। इसका मतलब है कि यह अधेड़ उम्र की महिला है, इसके बच्चे मेरी उम्र के या मुझे से छोटे-बड़े होंगे।' यह सब वह मन में बुदबुदाता है। अजीब रेपिस्ट है। शिकार सामने है पर, हाथ-पैर जैसे सुन्न हो गए हैं। 'सुना है, हर इंसान के पास विवेक होता है, अंतर्मन नाम की शै भी है, पर मेरे पास ऐसा कुछ नहीं। अंधेरे में गुम हुई मेरी सोच इन सबको निगल चुकी है।' पर यहां आकर उसकी सोच वापस जिंदा हो जाती है। पिंडलियां पर अटक जाना, हाय सन का दिमाग में घूमना बहुत अर्थपूर्ण है। अनायास नहीं। पर, कहानी में जिस तरह ये शब्द और संवाद आते हैं, वह बहुत ही स्वाभाविक ढंग से। इसलिए, पढ़ने वाले को कुछ पता नहीं चलता। वह कहानीकार के प्रवाह में बहता चला जाता है। प्रवाह, पाठक को सोचने के लिए समय नहीं देता।

आप सोच ही नहीं सकते कि इस रेपिस्ट को स्त्री जात से नफरत क्यों है? इसलिए रेपिस्ट खुद खुलासा करता है। एक स्त्री ने इसकी जिंदगी को नरक बना दिया था। वह स्त्री कोई और नहीं, उसकी सौतेली मां थी, जिसे उसके पिता ने इसके प्यार में अंधा होकर पहली पत्नी, यानी उसकी मां को छोड़ दिया था। हरजाना न देना पड़े, इसलिए वकील पिता ने ऐसी तरकीब निकाली कि वह अदालत में केस जीत गया। सौतेली मां ने प्रताड़ित करना शुरू किया तो 911 पर डायल कर दिया। घर से 'पोषक गृह' भेज दिया गया। अब बच्चे से भी छुटकारा मिल गया। 'मां की सहेली ने ही मुझे बताया कि सौतेली मां की वजह से ही मेरे मम्मी-डैडी का तलाक हुआ था और डैड ने मम्मी को बहुत तंग किया था। वकील थे और चालाकी से कोर्ट केस जीत गए थे। अब उसे भी पता नहीं मेरी मां कहां है? उसी ने मुझे बताया था कि मुझे छोड़ते समय मेरी मां बहुत रोई थी।' बच्चे का बचपन 18 साल की उम्र तक एक पोषक गृह में बीता। यहां भी उसे भयानक डरावने अनुभव हुए। पोषक गृह में जो हुआ, उसे पुलिस को बताया तो यहां से दूसरे पोषक गृह में भेज दिया गया। इस तरह 18 साल तक अलग-अलग पोषक गृहों में उसे रहना पड़ा। इसके बाद सेना में। एक दिन अपनी प्रेमिका के घर बिना फोन किए गया तो वह दूसरे की बाहों में थीं। एक युवक, जो लगातार यातना सह रहा था, उसे एक अदद प्रेम भी नसीब नहीं हुआ। न मां का न प्रेमिका का। अफगानिस्तान में तैनाती की यादें घाव में बदल गईं और घाव पागलपन की ओर ले गया। वहां की एक घटना ने भी उसे झिंझोड़कर रख दिया 'स्त्री गोश्त के भूखे भेड़िये उन पर झपट पड़े थे। उनकी चीख, पुकार चहुं दिशाओं में गूंज उठी थी पर सुनने वाला कोई नहीं था? आधी रात को अल्लाह, जीसस, ईश्वर सब सो रहे थे। किसी ने उनकी फरियाद नहीं सुनी और वे लुटती रहीं।'

अब इस शब्द पर ध्यान दीजिए, आधी रात को अल्लाह, जीसस, ईश्वर सब सो रहे थे। ये भगवान किसके लिए हैं? गरीबों के लिए, मजलूमों के लिए, बेसहारों के लिए या उन अमीरों के लिए, जो करोड़ों का चढ़ावा चढ़ाते हैं कि उनकी मनौती पूरी हुई, पर किसी गरीब की कोई मनौती पूरी होते देखा है? द्वापर में तो कृष्ण ने द्रोपदी की लाज बचा दी थी, लेकिन इस कलयुग में औरतों के कातर स्वर को भगवान क्यों नहीं सुन रहा? क्या दिल्ली की सड़कों पर निर्भया ने भगवान को नहीं पुकारा होगा?

अफगानिस्तान में यह सब देख वह पागल हो गया। वहां से जब उसकी वापसी हुई और उसे पागलखाने में भर्ती कर दिया गया। दरअसल, लगता है कि यह कहानी उस रेपिस्ट की है। पर, जब वह पागलखाने में भर्ती होता है तो लगता है कि यह कहानी तो पूरे समाज की है। समाज ही रुग्ण हो गया है। मनोचिकित्सकों के साथ होती उसकी बातों में वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि कुछ मनोवृत्तियां बच्चा साथ लेकर पैदा होता है। एक परिवार में चार बच्चे, अलग-अलग प्रवृत्ति के कैसे हो जाते हैं, जबकि उनकी परवरिश एक जैसी हुई होती है? इस जैसे समाज में अनेक लोग मिल जाएंगे, पर क्या वे सभी बलात्कारी हो गए? लेकिन यह तो बलात्कारी हो गया और एक दिन वह खुद अपनी मां को ही अगवा कर लेता है। बलात्कार एक ऐसा शस्त्र है, जिसके भय से समस्त नारी जगत को दबा कर रखा जा सकता है। पर, उस महिला को देखकर कमजोर पड़ गया, 'नहीं सर, यह मुझे हर्ट नहीं कर सका। दीवारों पर इसके बनाए चित्र देखें। इसकी मां के साथ मेरी शक्ल मिलती है।' वह महिला पुलिस को बताती है। वह समझ गया कि वह मेरी मां थी। वह महिला उसके पास आई और उसकी ओर देखकर बोली, ''आर यू डेविड कूपरज सन?'' वह एकटक उसे देखता है। गरिमामय चेहरा, ''तो यह मेरी मां है।''

कहते हैं कि कहानी अपना शिल्प खुद ढूंढ लेती है। इस कहानी का शिल्प भी कुछ ऐसा ही है। आत्मकथात्मक शैली में यह कहानी लिखी गई है। अतीत-वर्तमान में आवाजाही करते हुए कहानी आगे बढ़ती चलती है। भाषा आडंबर से मुक्त है और कहानी अमूर्तता की शिकार नहीं है। अक्सर, आज की कहानियों के साथ ऐसी दुर्घटनाएं आम हो चली हैं। कहानी पढ़ते-पढ़ते पता नहीं चल पाता कि लिखा क्या है, कहना क्या चाहता है। तब कोई आलोचक प्रकट होता है और फिर कहानी की बारीकियों, शिल्प, उद्देश्य, भाषा पर अपना कीमती समय और दुर्लभ शब्दों से व्याख्या करते हुए उसे सदी, दशक, साल की महान कहानी घोषित कर देता है। दूसरी भाषाओं में ऐसा होता है या नहीं, हिंदी में खूब प्रचलित है। सुधा की कहानी आलोचकों के लिए नहीं लिखी गई है, इसलिए समझ में आ जाती है। जैसे हिंदी की किताबों के दाम देखकर आप अनुमान लगा सकते हैं कि यह पाठकों के लिए है या पुस्तकालय के लिए। बंगला में पुस्तकालय संस्करण की किताबें भी कम दामों में बेहतर छपाई के साथ मिल जाती हैं, क्योंकि किताबें पाठकों के लिए छपती हैं, पुस्तकालयों के लिए नहीं। यह कहानी भी पाठकों के लिए लिखी गई है और एक ज्वलंत और धधकते विषय पर। नारी विमर्शों के नाम पर जो कहानियां अपने यहां परोसी जा रही हैं, उससे इतर। हमारे यहां इन दिनों स्त्री विमर्श के नाम पर मस्तराम टाइप कहानियां हैं, जो स्त्रियों द्वारा लिखी जा रही हैं, जिसका सच से कोई ताल्लुक नहीं, पर चर्चा और पुरस्कार खूब बटोर रही हैं। और, चर्चा और पुरस्कार देने वाले वही मर्द। जो कहानी पहले मस्तराम टाइप लेखक लिखते थे, वही अब आज स्त्री लिख रही है, बोल्ड होने के लिए कुछ तो करना पड़ेगा न। नहीं तो आलोचक भला कैसे कहेगा, जबदरस्त, मील का पत्थर, घेरे से बाहर, उत्तर आधुनिक। हां, इतना तो कह सकते हैं 21 वीं सदी में कुछ तो बदला? क्या आप बदले हैं? ▫

पता : ध्रुव तिवारी का मकान, कोकर, नीचे मोहल्ला
रांची- 834001
मो. : 09835710937

जयश्री राय की कहानी 'थोड़ी सी ज़मी थोड़ा आसमां' पर

आलोचना

खून सनी मिट्टी की दास्तां

n भरत प्रसाद

नयी सदी अब युवा होने की ओर अग्रसर है। 14 साल की उम्र पार करती हुई सदी अब अपने मूल्यांकन की अनिवार्य मांग कर रही है। पिछली सदी के अन्तिम वर्षो में कविता, कहानी, उपन्यास और आलोचना के ऐसे दर्जनों शब्द-स्वर गूंजे जो आज हिन्दी साहित्य की स्थायी पहचान बन चुके हैं। हस्तक्षेप, प्रचार और व्यापकता को देखते हुए कहना पड़ेगा कि 21 वीं सदी का पहला दशक 'कहानी दशक' रहा, जिसमें युवा पीढ़ी के ऐसे कई नाम उभरे जिसने मौजूदा परिदृश्य में अपने नाम को स्थापित किया। जगह- जगह कार्यक्रमों, चर्चाओं और लेखों में खुद को बनाए रखने में सफल हुए।

कहना जरूरी है कि वर्तमान शताब्दी अपनी पिछली सदी की अपेक्षा कई गुना अबूझ, जटिल और रहस्यमय हुई है। जीवन, समाज, संस्कृति और प्रकृति का शायद ही ऐसा कोना बचा हो, जहाँ परिवर्तित होती शताब्दी की नवीनतम प्रवृत्तियों ने अपना असर न छोड़ा हो। इस सदी का आदमी एक साथ व्यावहारिक भी है और आत्मग्रस्त भी, सबके साथ भी है और परम अकेला भी, एक मुँह वाला है और अनेक मुखी भी, एक चित्त रखता है और विविध चित्त भी। कुछ इसी तरह बिखरती, बहती, उलझती, अनियंत्रित होती सामाजिक संरचना भी। आज न्यूनतम सामाजिक मूल्यों को बचाने की चुनौती सामने खड़ी है। पिता के साथ बहू-बेटी तक के सम्बन्ध भरभराकर टूटने लगे हैं। प्रेम-सम्बन्ध भावना की ओट में खेले जाने वाले मनमाना खेल बनकर रह गये हैं। रक्त-सम्बन्ध भी अब रिश्तों और मूल्यों की रक्षा के मूलाधार नहीं रह गये हैं। कस्बों, नगरों, बस्तियों और महानगरों में किशोर बच्चों और किशोरियों को बेंचने का काला उद्योग नई सदी का कोढ़ बनता जा रहा है। पियक्कड़, नसेड़ी और आवारा बाप खुद अपनी ही बेटी की आबरू के साथ खेल रहा है, सौदागरों से बेटी का मोल भाव कर रहा है और जान-बूझकर उसे वेश्यावृत्ति के धन्धे में झोंक रहा है। यह वह बहुरूपिया समय है, जब विश्वास करना मजाक बन चुका है। सीधी-सच्ची राह पर चलना पागल घोषित होना है।

ऐसे बेडौल समय के सामने युवा रचनाकारों की लम्बी कतार खड़ी है और अपनी क्षमता के अनुसार प्रस्तुत समय की शिनाख्त करने की कोशिश में जुटी हुई है।

जयश्री राय युवा पीढ़ी का सुपरिचित नाम, जिन्होंने अलग हटकर चमकने वाली भाषा-शैली में कहानियों की कतार खड़ी करके, साहित्य में अपनी पहचान बनायी है। जयश्री राय प्रायः जीवन के सुपरिचित विषयों का चुनाव करती हैं, किन्तु उनमें अपनी अनुभूतियों का ऐसा नयापन भर देती हैं, बेलीक भाषा की ऐसी तंरग पैदा कर देती हैं कि वह विषय अप्रत्याशित भाव सौन्दर्य के साथ खास लगने लगता है। उनकी कहानियों को पढ़ते हुए यह भ्रम उठता है कि उन्होंने नयी भाषा पेश करने के लिए विषयों का चुनाव किया है या विषय की प्रकृति के अनुसार भाषा में नयापन लाया है। कहानी लेखिकाओं में अनुभूति का नयापन स्नोवा बार्नो, नीलाक्षी सिंह, कविता और जय श्री राय में स्पष्टतः देखा जा सकता है। जयश्री राय के एक संग्रह-'तुम्हें छू लूँ जरा' के शीर्षक मात्र से यह देखा जा सकता है।

अनुमान लगाया जा सकता है कि निजी, निगूढ़, प्रगाढ़ अनुभूतियों को कितना तरजीह देती हैं- जय श्री राय। एक अतृप्ति, आकुलता, तड़प और हदें तोड़ने की जिद- साफ देखी जा सकती है-इनकी कहानियों में। सुपरिचित विषयों में टटकी भाषा का रंग भरने के प्रयास में कई बार वे सफल हुई हैं और कई बार असफल भी। मोहक से मोहक भाषा की तमाम बानगी पेश करने के बावजूद यदि वर्णन हमें किसी सार्थक अनुभूति तक नहीं पहुँचा पाया, यदि उस मोहक भाषा के बीच बिजली की तरह गहरा अर्थ नहीं चमक पाया- तो भाषा की सारी कवायद किस काम की?

सुप्रतिष्ठित कथाकार निर्मल वर्मा भी कई बार व्यामोही भाषा का वितान रचने में अर्थो का उद्घाटन करने से हाथ धो बैठते थे। अपनी प्रत्येक कहानी में तरंगमय भाषा का नजारा पेश करने की आदत विषयों के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सत्य से रचनाकार को विमुख कर देती है। भाषा-शैली और शिल्प का विलक्षणपन वहीं तक सुहाता है, जहाँ तक विषयों के दरसत्य को समझने में बाधक नहीं बनता। इसीलिए किस हद तक भाषाई कलात्मकता को खींचना है, यह लेखक को बखूबी ज्ञात होना चाहिए।

जयश्री राय की कहानी 'थोड़ी सी जमीं थोड़ा आसमां' उनकी चिरपरिचित कहानियों की प्रकृति से नितांत भिन्न है। प्रसंगवश तत्काल यह भी उल्लेख क्यों न कर दिया जाय कि उनकी दो अन्य लोकधर्मी कहानियाँ 'कायान्तर' और 'सुअर का छौना' हैं- जो कि उनकी कहानियों पर बनती जा रही धारणा को न सिर्फ तोड़ती हैं बल्कि कहानीकार के भीतर छिपी एक कीमती सम्भावना का द्वार भी खोलती हैं।

प्रस्तुत कहानी के दो केन्द्रीय चरित्र हैं- हिमालय और लिजा। हिमालय कश्मीर का रहने वाला हिन्दू है और लिजा रूस में पली-बढ़ी यहूदी। दोनों का एक दूसरे से साक्षात्कार होता है जर्मनी के एक शहर हैम्बर्ग में। दोनों के दोनों बेवतन, दोनों के पलायन का एक ही कारण नस्लवाद, साम्प्रदायिकता, धर्मान्धता। चाहे रूस हो या जर्मनी, भारत हो पकिस्तान, श्री लंका हो या ईराक लगभग प्रत्येक देश इस महाकोढ़ की आग में उबल रहा है। जम्मू-कश्मीर से कश्मीरी पंडितों का पलायन उतना ही कड़वा सच है, जितना की पाकिस्तान से हिन्दुओं का भारत की ओर कूच करना। यदि एक धर्म के अधीन जीने-मरने वाले देश में रहना है तो गूंगे गुलाम की तरह रहो या फिर धर्मांतरण कर लो, नहीं तो प्राण देने के लिए तैयार रहो। हिमालय दस साल पहले न जाने कितने थपेड़े सहकर भागते-भागते जर्मनी आ पहुँचा है और वहाँ बन्दियों से भी भयग्रस्त अवस्था में, रोजी-रोटी की कठिन लड़ाई लड़ता हुआ एक जर्मन बुढ़िया के घर पेइंग गेस्ट बनकर रहता है। उधर लिजा जो कि रूस में पैदा हुई यहाँ जर्मनी के राइन्बेक शहर में अपनी आन्टी के घर रहती है। यहाँ लिजा की आंटी एक विद्यालय चला रही होती है-खास तौर पर यहूदी बच्चों के लिए। लिजा इसी विद्यालय में बच्चों को चित्रकला सिखाती है।

पूरी कहानी तत्काल घटी हुई घटनाओं से शून्य है। सारी घटनाएँ 'फ्लैशबैक' शैली में घटित होती हैं। अर्थात सुदूर-अतीत में वे घटनाओं अपनी निःशेष भयावहता, क्रूरता और निर्ममता के साथ घटित हो चुकी हैं। जिनको दोनों चरित्र अपनी स्मृतियों की धार पर ऐसा पुनर्जीवित करते हैं कि वे तत्काल घटी हुई घटना से कई गुना ज्यादा गहरा, मर्मान्तक और अविस्मरणीय असर छोड़ती हैं।

दस साल पूर्व कश्मीर से अपने पलायन को और मरणान्तक भय को हिमालय भुला नहीं पाया है। भुला भी नहीं सकता। अपनी मातृभूमि के आकाश, दिशाओं मैदानों, हवाओं, जंगलों और क्षितिज को कोई देशानुरागी भुला भी सकता है क्या? लिजा तो मानो अपने दुःख के बहाने यहूदियों पर ढाए जाने वाले जुल्म का मुकम्मल दस्तावेज ही प्रस्तुत कर देती है। जयश्री राय की प्रस्तुत कहानी अपने कौशल के कारण उतना नहीं, जितना कि नस्लीय हत्याओं का ताण्डव नृत्य पेश करने के लिए याद करने योग्य है। अपने वतन से भागे हुए इन नौजवानों का दोष इसके सिवा और कुछ नहीं कि वे नस्लीय संघर्ष और हिंसा का अंग नहीं बने और न ही नस्लीय भेदभाव को अपने आचरण में स्थान दिया। निर्दोष रहकर भी दर-दर भटकने से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि निर्दोष होना सबसे बड़ा गुनाह है इस दुनिया में। इसकी सजा कभी-माफ नहीं होती।

जर्मनी में एक प्रकार से कालापानी की सजा भुगत रहे हिमालय की दशा गुलामों जैसी है। वह पेइंगगेस्ट होकर भी मकान मालकिन बुढ़िया का नौकर है। लॉन की घास साफ करना, कचरा फेंकना, बाजार करना, बिल भरना हिमालय के हिस्से की अनिवार्य ड्यूटी हैं। एक तरह से मानो वह शरणार्थी बनकर पैदा हुआ। युवावस्था में देश छोड़ने की बेबसी और यहाँ जर्मनी में 'out sider कहलाने की पीड़ा। वह बेघर-बार है, शरणार्थी है और न जाने कितनों की नफरत भरी निगाहों का सामना करते-करते अभ्यस्त हो चला है। 'जर्मनी' कहने के लिए तो विकसित देश है, मगर मानसिकता में, सहिष्णुता, उदारता और मानवीयता में? अलग से उत्तर देने की आवश्यकता नहीं। वह पल-प्रतिपल अपनी 65 वर्षीया बूढ़ी माँ को याद करता रहता है। माँ भी अपनी कोख को किस कदर कोसती होगी कि उसका नौजवान बेटा माँ को धधकते हुए कश्मीर में अकेला छोड़कर भाग चला? हिमालय का पिता भी प्राण बचाने की लालच में भगोड़ा बन गया। आतंकियों द्वारा कश्मीर पर ढाए जाने वाले जुल्म का बयान हिमालय जिन शब्दों में करता है, वह अविस्मरणीय बन जाता है-गांधर बल इलाके के बंदहामा गाँव में आतंकियों ने कत्लेआम किया तो 25 पंडितों के साथ मर कर उससे जान छुड़ाई।

जयश्री राय ने यहूदियों पर आफत बनकर टूटने वाले अत्याचार और यातना शिविरों में उनके साथ होने वाली बर्बरता का विचलित कर देने वाला वर्णन किया है। वर्णन कुछ इस तरह कि सजीवता लिए-दिए चित्रात्मक हो गया है, जो यहूदियों ही नहीं किसी अल्पसंख्यक वर्ग की दुर्दशा और अनन्त भयावहता को साकार कर देता है। लिजा हिमालय से अपनी पीड़ा साझा करती हुई कहती है-'मेरे अपनों के खून और आँसू से यहाँ की मिट्टी सात परतों तक गीली है।' कम उम्र में ही लिजा ने अपनी इस समझ को परिपक्व बना डाला है कि बेकसूर होना, निर्दोष होना, अल्पसंख्यक होना आज की दुनिया में अपराध है। जलावतनी का दर्द आखिर कौन झेलता है? साम्प्रदायिकता के अंधे नृत्य में आखिर कौन कुचला जाता है? दंगा, बवाल और हिंसोन्माद में आखिर किसकी बलि चढ़ती है? दुर्भाग्य बनकर पैदा हुआ है वह, हर कोई जिसका जन्म अल्पसंख्यक समुदाय में हुआ है। हिलटरवादी जर्मनी ने यहूदियों पर किस कदर जुल्मों की इंतहा कर दी, इसका एक मर्मस्पर्शी दृश्य लिजा के शब्दों में-'कांसेंट्रेशन कैम्प्स, घेटो, किलिंग सेंटर लेबर कैम्पस, पूरे यूरोप में फैले हुए। पोलैण्ड में जर्मनी ने पहला घेटो (मृत्यु शिविर) 1939 को बनाया था। जानते हो हिमालय दूसरे विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी ने एक हजार घेटोस का निर्माण जर्मनी अधिकृत पोलैंड और सोवियत यूनियन में किया था। घेटोस के नरक में लाखों यहूदियों को कैद कर नाजी उन्हें पूरे यूरोप से मिटा देने का कुचक्र रच रहे थे।'

यहूदियों पर सदियों से ढाए जाने वाले वैश्विक जुल्म का प्रमुख कारण है उनके हाथों ईसा मसीह को शूली पर चढ़ा दिया जाना। पृथ्वी का ऐसा कौन मानव होगा, जो असाधारण उदारता, प्रेम और करुणा से लबालब भरे मसीह की अकाल मृत्यु पर आँसू न बहाए, शूली पर लटकाए जाने की घटना के पक्ष में खड़ा हो, परन्तु जिन यहूदियों ने ऐसा जघन्य अपराध किया, उसकी सजा यहूदियों की पूरी प्रजाति को क्यों? जो पैदा तो हुए किसी भी मनुष्य की तरह, किन्तु यहूदी परिवार में जन्म लेने के कारण ईसा की हत्या के दोषी बन गये। लिजा बड़ी हिम्मत और तल्खी के साथ यह तथ्य उजागर करती है कि यहूदी जाति के साथ क्रूरता और नफरत का व्यवहार दुनिया के अलग-अलग देशों में बहुत-बहुत पहले ही आरम्भ ही चुका था। अदभुत संयोग-हिमालय को जम्मू के शरणार्थी शिविरों की स्मृति कौंध जाती है, जो कि जर्मनी में बरपाए गये नाजियों के कहर से तनिक भी कमतर नहीं। सबसे बड़े लोकतान्त्रिक देश में और कहाँ-कहाँ मृत्यु-यातना की संस्कृति जड़ें जमा चुकी हैं, यह तय कर पाना मुश्किल है। हिमालय का एक दोस्त है-'जमील' जो कि हम वतन पाकिस्तान से भाग कर आया है क्योंकि वह

शिया है और शियाओं के लिए पाकिस्तान वैसा ही है, जैसे यहूदियों के लिए जर्मनी।

लिजा अपने तथा अपने परिवार के साथ किये गये क्रूर और कायराना अत्याचार से इस कदर पीड़ित है कि भीतर ही भीतर वह आकंठ विद्रोही, अराजक और प्रतिक्रियावादी हो चुकी है। सच है अंगारों पर चलने का दर्द वही समझता है, जो कभी अंगारों में जीया हो। लिजा और हिमालय का दुःख अपने-अपने अनुभवों की अभिन्नता के कारण एकाकार हो चुका है। पता है लिजा को, इस **लहू-विलाप** के बाद भी नस्लीय हिंसा का प्राणघातक ताण्डव खत्म नहीं हो जाएगा, किन्तु दुःख हो या सुख बहिर्मुखी प्रकृति के होते हैं। फर्क इतना ही है कि दुःख बांटने से कम होता है और सुख, बाँटने से बढ़ता है। लिजा के शब्दों में यहूदियों की यातना का इतिहास एक बार और-'यहूदियों के प्रति घृणा इस दुनिया की एक बहुत पुरानी और खतरनाक बीमारी है। मगर इस बीमारी का नामकरण पहली बार 19वीं सदी में जर्मनी ने किया। यहूदियों के विरूद्ध पहला तथाकथित जेहाद 1096 में हुआ। फिर 1290 को इंग्लैंड से निकाला जाना, स्पेन के यहूदियों की सामूहिक हत्या 1391 को फिर वहाँ से भी उनका निष्कासन-1492 को यूक्रेन में भी कोसाक नरसंहार, दी होलो कास्ट, रशिया में यहूदी विरोधी तरह-तरह के सरकारी फरमान इन सबके साथ यहूदियों का इस्लामी तथ अरब देशों से निकाला जाता तो है ही।' निर्मम और क्रूर हत्याओं के अन्तहीन अन्धकार से गुजरते हुए लिजा इस अटल सत्य तक पहुँचती है कि तथाकथित सभ्य दुनिया अपनी हिंसात्मक नफरत को पोसते हुए अल्पसंख्यकों की मामूली गलतियों के बहाने उनका वजूद मिटा देने की अनिवार्यतः साजिश रचती है।

प्रस्तुत कहानी का अन्तर्नाद है-नस्लीय हिंसा, साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता। जाहिर है कि ये तीनों हकीकतें आज भी मानवता के मस्तक पर काल बनकर, नियति बनकर नाच रही हैं। घोंट डाले धर्मग्रंथ परन्तु मूर्खता की गांठ नहीं खुली, बन गये टाइधारी स्कालर, मगर अपने कट्टर संस्कारों के गुलाम ही बने रहे। पुरस्कारों, डिग्रियों और प्रशस्तियों से लद गये, मगर अपनी दिशा तय न कर पाने की दुविधा में जीवन भर उलझे रहे। इंजीनियर इंसानियत के सौदागरों को बम बनाने की ट्रेनिंग देते हैं, ज्ञान के नाम पर शिक्षा केन्द्र नौनिहालों को नफरत का जहर पिला रहे हैं। एम.ए., एम. फिल., पीएच-डी. का कुल जमा हासिल है- दुनिया को बीसों अंगुलियों से लूटना, दौलताधीश बनने की कला में पारंगत होना और अपने सिवा सपने में भी किसी को उत्तम न समझना। यकीनन मकड़ी के जाल से कई गुना जटिल है, अबूझ है यह बौद्धिक, जटिलतावादी, आत्मनिष्ठ और सुखान्ध मनुष्य। इराक का अल बगदादी शिया मुस्लिमों और यजदी वर्ग के नागरिकों के साथ नरसंहार की ऐसी मिसाल पेश कर रहा है कि आज हिलटर जीता तो बगदादी से प्रतिस्पर्धा में ईर्ष्या करता। हजारों-हजार नागरिक अपने गाँवों-घरों से पहाड़ियों में पलायन कर चुके हैं। पाकिस्तान एक तो इस्लामिक देश, ऊपर से सुन्नी बहुल। वहाँ भी शियाओं की हालत गुलामों जैसी। कैसे जीता होगा पाकिस्तान में हिन्दू? आज विश्व के जिस किसी भी देश ने धर्म को अपनी नींव में जगह दी है, वह सारी दुनिया में युद्धोन्माद फैलाने का सबसे प्रमुख कारण है। 'इस्लामिक स्टेट' का असंभव स्वप्न लिए हुए मर मिटने पर आमादा लाखों मुस्लिम नौजवान आगे बढ़ चुके हैं। कौन कहता है-यहूदियों को दी जाने वाली यातना से इनकी क्रूरता कुछ कम है? भारत, अफगानिस्तान, श्रीलंका, रूस, इराक, सीरियों जैसे देशों ने अपनी शरीर पर धर्मपरक युद्धोन्माद का जो दंश सहा है, उसकी मिसालें दुनिया के किसी भी कोने में शायद ही मिलें। एक घटना पढ़िए- 'अरबों डालर वाले आतंकवाद की बैलेंस सीट खून से लिखकर तैयार होती है I SIS का लक्ष्य इराक और सीरिया के सुन्नी इलाकों को इस्लामिक स्टेट बनाना है। यह संगठन इस्लामी सरिया शासन चाहते है। यह वही सरिया कानून है, जिसका नमूना अफगानिस्तान में तालिबान शासन के दौरान देख चुके हैं' **(इंडिया टुडे, अक्टूबर-14)**।

जय श्री राय की प्रस्तुत कहानी इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि वह जातीय, नस्लीय और साम्प्रदायिक हिंसा के कारण दर-ब-दर हो रही लाचार जनता के अपमानपूर्ण अन्तर्नाद को सामने लाती है। यह कहानी इस तथ्य का पुख्ता प्रमाण भी है कि जय श्री राय केवल अत्याधुनिक स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की गुत्थियों में न उलझ कर समाज, जीवन और संस्कृति की अन्य ज्वलन्त समस्याओं पर भावाकुल प्रतिवद्धता के साथ चिंतन करती हैं और उसको पाठकों के हृदय में उतारने का रचनात्मक उद्योग भी करती हैं। विषयों की विविधता की कसौटी पर जय श्री राय सफल सिद्ध होने वाली कथाकार हैं, किन्तु इतने मात्र से कहानीकार की काबिलियत नहीं सिद्ध हो जाती। आह्वान, आह्वान और। विषय से जुड़े एक-एक सत्य की, तथ्य की, मर्म की पुकार। बार बार, अनेक बार। जब तक कि वह अपने वजूद के साथ हमारी धमनियों में रिसने न लगे, हममें बोलने न लगे, हमारे दिल से मुँह-मुंह उद्भाषित न होने लगे। पुकार तब तक उठती रहे, जब तक विषय हमसे यह न कह दे कि तुमने हमें प्रकाशित करने योग्य भाषा पा ली है, प्रतीक, बिम्ब और उपमान हासिल कर लिए हैं। तुम्हारे भीतर आकर मैं विषय नहीं, दर्शन बन गया हूँ। दुनिया में ऐसा एक भी विषय नहीं जिसके पास मुँह न हो। और उसकी ऐसी एक भी बात नहीं, जिसे हम सुन न सकें। हाँ, विषयों के मुख को पहचानने वाली आँखें चाहिए और निनाद के रूप में फूटती बातों को सुनने वाले कान, अन्तःकान चाहिए। भौतिक, जड़ और निर्जीव विषयों की वाणी को अपने बाहरी कानों से सुनने का सवाल ही नहीं। हमारे शरीर में दर्जनों कान, दर्जनों आँखें और दर्जनों मस्तिक तब सक्रिय होते हैं, जब हम परम अनुराग से आप्लावित होकर दिशाओं को, धरती को, आकाश को सुमिरते हैं। यदि जय श्री राय इस ध्यानबद्ध कला का साध लें, तो ठीक इसी विषय पर दुगुने मूल्य, महत्व और मर्म की कहानी लिख सकती हैं। कहानी के एक क्लाइमेक्स पर ग़ौर कीजिए-'युगों पहले प्रताड़ित मेरे पूर्वज मेरे भीतर भी रोते हैं, उच्छवास भरते हैं और रातों को मैं सो नहीं पाती। मैं जानती हूँ कान्सेंट्रेशन कैम्पों में, धेटोस में किलिंग सेटर में, लेबर कैम्पों में भूख से, अत्याचार से, बीमारी से मरने वाले लाखों यहूदियों की मैं आत्मा हूँ। हर यहूदी के साथ हर बार, बार- बार मैं ही मरती हूँ।'

कहना जरूरी है कि प्रेमचन्द क्लाइमेक्स शैली के उस्ताद थे, इसीलिए प्रेमचन्द, प्रेमचन्द हैं। और आज भी प्रेमचन्द के बाद प्रेमचन्द ही हैं।

पता : एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
पूर्वोत्तर पर्वतीय वि.वि.शिलांग-793022
मो. : 09863076138, 09774125265

गीताश्री की कहानी 'डायरी, आकाश और चिड़िया' पर

आलोचना

गुलाब की पंखुरियों के जलते हुये तवे पर गिरने की कहानी

n पंकज सुबीर

गीताश्री उन कहानीकारों में से हैं जिन्होंने कहानी के लिए एक नई भाषा गढ़ी है। हालाँकि इसका श्रेय कुछ दूसरे कहानीकारों तथा गीताश्री की ही समकालीन कुछ महिला कथाकारों को दिया जाता है लेकिन, सच यही है कि उस नई भाषा को गढ़ने में गीताश्री की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक सच और ये भी है कि गीताश्री को उनकी समकालीन महिला कथाकारों की तुलना में कभी उतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना दिया जाना चाहिए था और दूसरी तरफ कुछ स्वप्रचारित नाम खूब चर्चाओं में बने रहे। गीताश्री की कहानियों ने पहले पहल उस प्रकार के चरित्रों की बात की जिन पर बाद में कई कहानीकारों ने काम किया। गीताश्री की कहानियों के उद्दंड और बिगड़ैल पात्र अपने रचाव और बनाव के कारण पाठकों ने खूब पसंद किए। गीताश्री की कहानियाँ एक अलग प्रकार की चमक लिए होती हैं। उनकी कहानियों में कुछ अजनबी सा माहौल और वातावरण होने के बाद भी ये कहानियाँ पठनीयता की दृष्टि से बहुत सम द्ध होती हैं। गीताश्री की कहानियों को मैं समय से कुछ आगे की कहानियाँ कहता हूँ। समय से आगे की कहानियाँ इसलिए कि ये कुछ पहले लिख दी गईं हैं। अभी इनके पाठक तैयार नहीं हुए हैं। इन कहानियों के पात्र समय से पूर्व गढ़ दिए गए हैं। लेकिन इसमें लेखक का कोई दोष नहीं होता। वो तो आने वाले समय की आहटों को वर्तमान में सुनता है, गुनता है और उससे अपनी कल्पना का भविष्य गढ़ देता है। कि लो ऐसा होगा तुम्हारा आने वाला समय। हम उसको नकारते हैं, उस पर हँसते हैं, और पूछते हैं कि ये कौन सी दुनिया है ? ये किस ग्रह से आए हुए पात्र हैं? क्या मंगल ग्रह से उतारे गए हैं? और फिर हम देखते हैं एक दिन कि वैसा हो गया है, वैसा हो रहा है। अपने ही जीवन में हम उस समय के भी साक्षी बनते हैं जिसको हम काल्पनिक समय कह रहे थे। गीताश्री की कहानियाँ समय से आगे जाकर पात्रों का चयन करती हैं। लेखक को यही तो करना चाहिए, समय से आगे और समय के पीछे जाए और वर्तमान में खड़ा रहे। उसे तीनों कालों को साधना होता है।

कहानी को लेकर कहा जाता है कि कहानी तो सुनने की विधा है। कोई कहानी सुनाए और आप सुनें। कहानी का जा रस है जो उसका प्रवाह है वो उसी उत्सुकता में भी होता है कि आगे क्या हुआ? लेकिन यदि कहानी को पढ़ना हो तो बहुत ज़ाहिर सी बात है कि उस कहानी में फिर रस और प्रवाह दोनो हो और साथ में उत्सुकता भी हो कि अब आगे क्या होगा। गीताश्री की कहानियों में ये सब तत्त्व खूब होते हैं। अब जैसे इसी कहानी की बात की जाए 'डायरी आकाश और चिड़ियाँ'। इस कहानी में गीताश्री ने डायरी के माध्यम से एक अलग ही संसार रचा है। हम सब के अंदर एक 'एलिस' होती है, जिसका अपना एक 'वंडरलैंड' होता है। और ये 'एलिस' हमेशा ही अपने 'वंडरलैंड' के बारे में और अधिक, और अधिक जानने को बेताब रहती है। हम सबके सपनों में कुछ सुनहरी तितलियाँ होती हैं जो अपने पँखों का तिलस्मी जादू जगा जगाकर हमें एक रहस्यलोक में बुलाती हैं। बचपन हमेशा हमारे अंदर होता है। हमेशा। एक ओर जहाँ बचपन की अपनी फंतासियाँ होती हैं तो दूसरी ओर अपनी पीड़ाएँ भी होती हैं। बचपन अक्सर पीड़ाओं से घबराकर फंतासियों की ओर भागना चाहता है। या मैं अपने वाक्य को ठीक करूँ तो यूँ कहा जाए कि हम सब अपनी पीड़ाओं से घबराकर अपनी फंतासियों की ओर भागना चाहते हैं, भागते हैं। हम सब अपने अपने 'रौरव' से 'वंडरलैंड' की ओर भाग जाना चाहते हैं। हम भाग नहीं पाते लेकिन, बचपन भाग जाता है। क्योंकि बचपन के पास गुणा भाग अधिक नहीं होता है। बचपन सपनों को लेकर केलकुलेशन नहीं करता। बचपन और हममे फर्क बस यही होता है कि हम शतरंज की तरह जीवन जीते हैं। शतरंज की तरह मतलब ये कि इस चाल का अगली दस पन्द्रह चालों पर क्या प्रभाव पड़ेगा उसका गुणा भाग करने के बाद ही अपनी वर्तमान चाल चलते हैं। जबकि बचपन जिस चाल को चल रहा है केवल उसी पर केन्द्रित होता है। यहाँ मैं बार बार बचपन शब्द का उपयोग कर रहा हूँ, जबकि गीताश्री की कहानी की पात्र चौदह साल की है। चौदह साल को किशोर उम्र कहा जाएगा, बचपन नहीं। और कम से कम आज के समय में तो बिल्कुल ही नहीं। लेकिन, कभी कभी ऐसा नहीं होता है। कभी कभी ये किशोर अवस्था आती ही नहीं है। या तो बचपन के बाद एकदम युवावस्था आ जाती है, जब जीवन की कठिन परिस्थितियाँ ऐसा कर देती हैं। या कभी ऐसा भी होता है कि जीवन बचपन में ही देर तक स्थगित सा खड़ा रह जाता है। आगे ही नहीं बढ़ता। क्योंकि आगे बढ़ने के लिए आवश्यक खाद पानी नहीं मिल पाता है। गीताश्री की इस कहानी की नायिका भी ऐसी है। बचपन में ही स्तब्ध और स्थगित सी।

'आपका बंटी' फिर-फिर कहानियों में लौटता है। उसे लौटना ही है। काया बदल कर, रूप बदल कर। कुछ पात्र देशकाल की सीमाओं का अतिक्रमण करने के लिए ही पैदा होते हैं। बंटी, यहाँ रोली की देह में कायांतरण करके लौटा है। वह सुधा ओम ढींगरा की एक कहानी जो पूरी तरह से अमेरिकी जीवन शैली पर आधारित कहानी थी 'टारनेडो', उसमें भी लौटा था, क्रिस्टी के रूप में। क्रिस्टी और रोली दरअसल बंटी का ही एक्स्टेंशन हैं। बंटी असल में कोई पात्र नहीं है। वह एक समस्या है, और जब तक समस्या रहेगी तब तक पात्र भी रहेगा। इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि उसका नाम क्या है। वो कहाँ है? भारत में या अमेरिका में? उसका होना ही महत्त्वपूर्ण है। रोली की पीड़ा को गीताश्री ने डायरी के माध्यम से उजागर किया है। फंतासी से भरी हुई डायरी। सपनों से भरी हुई डायरी। घाटी, नदी, फूल, झरने, तितलियाँ और बादल, ये केवल रोली की डायरी नहीं है, ये हम सबकी डायरी है। हमारे सपनों में ये सब आना चाहते हैं, लेकिन इनके लिए अब हमारे सपनों में भी स्पेस नहीं है। हमारे सपने भी गणितीय समीकरणों से भरे हुए हैं। जहाँ गणित होता है वहाँ घाटी, नदी, फूल, झरने, तितलियाँ और बादल, नहीं हो सकते बल्कि, वहाँ तो सपने भी नहीं हो सकते। गणित सबको पी जाता है। सारे रस को। जीवन में रस की हर अंतिम बूँद को गणित पी जाता है, और जीवन को नीरस कर देता है। गणित को रस पसंद नहीं, उसे खुश्की पसंद है, सूखापन पसंद है। रोली के जीवन के सारे रस को ये गणित धीरे धीरे चूस रहा है। रोली उसे देख रही है लेकिन कुछ कर नहीं पा रही।

रोली अपने सपनों में अपनी बुआ की लड़की के सपनों के बीज बो देती है। वो कायांतरण कर जाती है अपनी बुआ की लड़की सोनाली में। क्योंकि, सोनाली के जीवन में वह सब कुछ है जो रोली के सपनों में है। इसीलिए वह सोनाली बन कर डायरी लिखती है। बच्चों की दुनिया में कुछ भी जड़ नहीं होता। यही उस दुनिया की विशेषता होती है कि उस दुनिया में सब कुछ चेतन होता है। वहाँ डायरी भी जड़ वस्तु नहीं है। डायरी तो वैसे भी जड़ नहीं होती। मगर यहाँ तो उसका भी एक नाम है-'वीडा'। बच्चे अपनी दुनिया में हर किसी को नाम से बुलाना चाहते हैं। नाम से पुकारना प्रतीक होता है सम्मान का। और हमारी दुनिया में तो हम उनको भी नाम से नहीं पुकारना चाहते जिनके बाकायदा नाम हैं। हम तो चाहते हैं कि उनको भी बिना नाम के पुकारे ही हमारा काम चल जाए। मतलब फलाना, ढिकाना, अमका, ढिमका कह कर। मगर रोली की दुनिया में उसकी डायरी का भी नाम है -'वीडा'। 'वीडा' जो रोली के सबसे ज़्यादा क़रीब है। जिससे वो अपनी हर बात, हर सपना शेयर करती है। जिन्हें वो अपनों से शेयर करना चाहती है। जब अपने मन की कहने के लिए कोई चेतन नहीं मिलता तो फिर जड़ का ही सहारा लिया जाता है। जैसा ये रोली कर रही है। वह दरअसल डायरी नहीं लिख रही, वह तो अपने मन की बात कह रही है। अभिलाषाएँ, कामनाएँ, जिनमें है फेसबुक, अमेरिका, यमुना एक्सप्रेस हाइवे और शीला की जवानी पर नाचना भी। सपने एक बिन्दु और विषय पर रुकना नहीं जानते, इसीलिए तो वे सपने होते हैं। सारे सपने 'वीडा' को बताए जा रहे हैं। 'वीडा' एक फ्रेंच शब्द होता है जिसका अर्थ होता है जीवन। रोली ने अपने लिए एक दूसरा जीवन बना लिया है। सोनाली के सपनों को अपने लिये 'वीडा' के द्वारा तलाश रही है वह।

अलग हो चुके माँ बाप के बच्चों के जीवन पर, उनकी मनोस्थिति पर कई कई कहानियाँ लिखी जा चुकी हैं और आगे भी लिखी जाती रहेंगीं। असफल दाम्पत्य बहुत कहानियों को जन्म देता है। असफल दाम्पत्य का दंश बच्चों को ही सहना होता है। और यदि बच्चे उस समय किशोरावस्था में हों तो और अधिक। तथा यदि लड़की हो तो और और अधिक। सुधा ओम ढींगरा की कहानी टारनेडो की तरह यहाँ भी लड़की अपनी माँ के नए प्रेमी की नज़रों से परे ाान है। और भाग जाना चाहती है उनसे दूर। उन आँखों से दूर, जो आँखें देखते ही देखते हाथ बन जाती हैं, जिनकी उँगलियाँ निकल आती हैं और जो उसकी देह पर फिरने लगती हैं। गन्दी और काली छिपकलियों की तरह। पुरुष हमेशा स्त्री को तलाशता है, उम्र और देह की हर परिधि के पार। तलाश के क्रम में घूरता है वो हर स्त्री देह में संभावना। अपने पुरुष की संतुष्टि की संभावना। स्त्री इस तलाशे जाने को ठीक पहले ही सैकेंड में चीन्ह लेती है। लड़की भी उस घूरने से ही घिन्ना रही है। और उसी से भाग रही है। एकाकीपन, भाग जाने का उतना बड़ा कारण नहीं होता है। एकाकीपन धीरे धीरे अपनी आदत डलवा देता है। हम उसमें रमने लगते हैं। भागने को लेकर हमेशा ही तात्कालिक कारण तलाशे जाते हैं। कि अभी क्या हुआ, क्या ऐसा जो भाग जाने का कारण बना। घर, दुनिया में सबसे अधिक सुकून देने वाला स्थान होता है, ऐसे में यदि कोई उस सबसे अधिक सुकून देने वाले स्थान को अपनी मर्जी से छोड़ कर चला जाता है (भाग जाता है) तो उसके गहरे कारण होते हैं। इतना आसान नहीं होता है घर को छोड़ देना।

वीडा के बाद जो दूसरा पात्र रोली को मिलता है वो है शोएब। पात्र का धर्म लेखिका ने जानबूझकर चयन किया है। दूसरे पात्र का नाम शोएब होना सोच समझ कर हुआ है। लेखिका ने रोली के एकाकीपन के बरअक्स कुछ दूसरे सवालों की भी पड़ताल की है। दूसरे सवाल जो इन दिनों हवाओं में बहुत गूँज रहे हैं। लेखिका ने उन सवालों की जड़ तक पहुँचने की कोशिश की है। दूसरे पक्ष के अंदर गहरे उतर कर। धर्म, समाज और परंपराओं ने हम सबके 'वीडा' (जीवन) की उन्मुक्तता को बाधित किया है। हमारे पंखों को कतरा है। हम क्यों वैसे नहीं रह सकते जैसा हम रहना चाहते हैं। क्यों हमें ये बताया जाता है कि हमारे लिए क्या अच्छा है और क्या बुरा। अच्छा या बुरा होना ग्लोबल कैसे हो सकता है, यूनिवर्सल कैसे हो सकता है। हर व्यक्ति का अच्छा बुरा उसके लिये अलग होगा। हम सब तो कितने अलग अलग हैं? रोली का दूसरा 'वीडा' शोएब है। ग़लत है कि सही, इस पर लेखिका ने बहुत

कुछ नहीं कहा है। रोली की दुनिया वीडा से लेकर शोएब तक फैली हुई है। शोएब उसे फेसबुक में मिला है। फेसबुक पर नहीं, फेसबुक में। क्योंकि फेसबुक एक दुनिया है। विरचुअल दुनिया। आभासी दुनिया। जब वास्तविक दुनिया हमें कष्टप्रद लगने लगती है तब ही तो हम आभासी दुनिया में अपने सुख तलाशने जाते हैं।

कहानी दो स्तरों पर चलती है एक मनोवैज्ञानिक स्तर पर, जहाँ वह रोली के मन की परतों में गहरे उतरती जाती है, सूक्ष्म से सूक्ष्म की पड़ताल करते हुए। रोली के बहाने कई प्रश्नों का उत्तर तलाशते हुए। दूसरा स्तर घटनाक्रम के स्तर पर है। कहानी मनोवैज्ञानिक स्तर पर जितनी सशक्त है, घटनाक्रम के स्तर पर उतनी नहीं है। कोई भी मनोवैज्ञानिक कहानी अपने लिए घटनाक्रम के स्तर पर भी अलग शब्दावली चाहती है। वहाँ सपाट बयानी से काम नहीं चलता है। इसीलिए अक्सर मनोवैज्ञानिक धरातल पर रची गई कहानियों में अक्सर लेखक घटनाक्रम को लाने से बचता है। या, अगर लाता भी है तो उसको इसी रंग में रँगकर लाता है। ये कहानी चूँकि केवल और केवल रोली की कहानी है इसलिए इसमें पाठक केवल रोली से ही जुड़ता है। उसे घटनाओं में कोई दिलचस्पी नहीं है। घटनाएँ तो होती हैं। होती रहती हैं। उनके लिए पत्रकारिता है। इस कहानी में 'वीडा' और फेसबुक दोनों मिलकर जो दुनिया रच रहे हैं दरअसल कहानी वही है। कहानी का दूसरा पक्ष कमजोर इसलिए भी है क्योंकि स्वयं लेखिका के लेखन का सशक्त पहलू भी मनोविज्ञान है। किशोरियों और युवतियों का मनोविज्ञान। और इस कहानी में भी लेखिका ने अपने उस मजबूत पहलू को बहुत सुंदरता के साथ उभारा है। रोली की मनोदशा को वाक्य दर वाक्य, शब्द दर शब्द, सुंदरता के साथ चित्रित किया है। कुछ वाक्य तो इस प्रकार से गढ़े हैं कि वे लकड़ी के टुकड़े पर मारे गए धातु के टुकड़े की तरह वाइब्रेट होते हैं और होते ही रहते हैं। 'मेरे चारों तरफ रौशनी की तितलियाँ उड़ती हैं'। 'मैं फूलों का बिस्तर बना कर सोना चाहती हूँ'। और एक बहुत महत्त्वपूर्ण वाक्य -'हमारे पैरेंट्स अभी तक अपने सपने देखने और पूरा करने में लगे हैं'। यह वाक्य कहानी की धुरी है जिसके चारों तरफ कहानी घूम रही है। या इस प्रकार की कई कई कहानियाँ घूम रही हैं। अपने सपने, पैरेंट्स के अपने सपने। एक समय के बाद पैरेंट्स के सपने बच्चों के रास्ते में आने लगते हैं। रंग बदल कर, रूप बदल कर। ये सपने बच्चों की आँखों में चुभने लगते हैं। दरअसल समय के एक निश्चित अंतराल के बाद सपनों की परिभाषाएँ बदलती हैं। हर पीढ़ी के अपने सपने होते हैं। यदि सपने, समय के ग्लेशियर में जम जाएँ, फ्रीज़ हो जाएँ तो वो सपने नहीं रहते, सपनों की ममी बन जाते हैं। हर पीढ़ी अपने सपनों की ममी लेकर घूमती है और चाहती है कि उसके बाद की पीढ़ी इस ममी को अपने काँधे पर लेकर घूमे। यही होता आ रहा है और यही होता रहेगा।

रोली की एक और पीड़ा है, वो अभी माँ नहीं बनना चाहती। माँ? अपने छोटे भाई की माँ। बंटी की माँ। जो उसे बना दिया गया है। जैसा कि वो शोएब के साथ फेसबुक पर चैटिंग करते समय कहती है 'मैं अपने छोटे भाई बंटी की माँ बना दी गई हूँ। पापा घर से गायब हैं, मम्मी बंटी को मुझे थमा कर निकल जाती हैं। मैं बंटी की आया बन कर रह गई हूँ।' रोली ने यहाँ पर अपने आप को पूरी तरह से खोल दिया है शोएब के सामने। शोएब जो पता नहीं क्या है। उसकी उम्र क्या है, वो करता क्या है, कुछ पता नहीं। विरचुअल दुनिया में सामने डिस्प्लै हो रहे शब्द महत्त्वपूर्ण होते हैं उसके अलावा कुछ भी नहीं। शोएब उसे कभी 'बेबी', कभी 'डियर' तो कभी 'स्वीटी' कह कर संबोधित कर रहा है। संबोधन जो वो सुनना चाहती है। सुनना चाहती है अपनों से। सदियों से यही तो होता आया है कि हम उसी चीज़ की तला ा में घर छोड़ कर निकल पड़ते हैं जो हमें घर में नहीं मिलता है। फिर चाहे वो रोली को मिलने वाले संबोधन हों चाहे बुद्ध को मिलने वाला सत्य हो। खोजना है तो निकलना ही पड़ेगा। बिना निकले खोज नहीं होती। शोएब का चरित्र लेखिका ने बिल्कुल नहीं उभारा है। शायद जानबूझ कर। कि, कोई फर्क नहीं पड़ता इससे कि वो कौन था? बस ये कि हाँ कोई था। कहानी को सूक्ष्म रूप से देखा जाए तो ये उस प्रश्न का भी उत्तर देती है जो इन दिनों हवा में खूब है। शोएब उसी प्रश्न के उत्तर का एक अंश है। जबकि, उत्तर का बड़ा हिस्सा रोली के घर में ही है। डायरी, आकाश और चिड़िया, ये नाम खूब सटीक रखा है लेखिका ने। यहाँ डायरी 'वीडा' अर्थात जीवन का प्रतीक है और शोएब आकाश का। जिनको जी लेने के लिए चिड़िया उत्कंठित है। इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि वो आकाश किस नाम का है शोएब नाम का या सुरेश नाम का।

ये कहानी गुलाब की पंखुरियों के जलते हुए तवे पर गिरने की कहानी है। यदि आपने गुलाब की पंखुरियों की कोमलता को छूकर महसूस नहीं किया है तो आप समझ नहीं पाएँगे कि गर्म तवा उनके लिए कितनी विपरीत परिस्थिति है। बाल मनोविज्ञान और किशोर मनोविज्ञान सबसे रहस्यमयी दुनिया है। जहाँ पहले से तय कुछ भी नहीं है। जहाँ समीकरण नहीं चलते। जहाँ दो और दो का जोड़ कभी भी चार नहीं होता। कभी भी नहीं। जो दो और दो को चार करने के विरोध में खड़ी हुई ही दुनिया है। गीताश्री ने इस दुनिया की कहानी को अपने ही अंदाज़ में रचा है। अपने विशिष्ट अंदाज़ में। बाहर की घटनाओं का विवरण एक ओर जहाँ कहानी का कमज़ोर पक्ष है तो वहीं मन के अंदर की घटनाओं का विवरण सशक्त पक्ष है। और इसलिए, कि कहानी तो वास्तव में वहीं की है अंदर की, मन के अंदर की, इस कहानी को महत्त्वपूर्ण कहानी कहा जाएगा। जाने पहचाने विषय में कुछ नया तलाशने की कोशिश है ये कहानी डायरी, आकाश और चिड़ियाँ। ▫

पता : पी.सी. लैब, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट
बस स्टैंड के सामने, सीहोर-466001
मो. : 09977855399
ईमेल : subeerin@gmail.com

आकांक्षा पारे काशिव की कहानी 'बहत्तर धड़कनें, तिहत्तर अरमान' पर

आलोचना

ख्वाहिशों के अतिक्रमण से सिकुड़ता जीवन

n अमिय बिन्दु

मनुष्य ने प्रगति की तमाम ऊँचाइयां भले छू ली हों लेकिन उसकी इच्छाएँ अनंत हैं। वह किसी भी तरह से संतुष्ट नहीं है, सब कुछ पाकर भी और कुछ न पाकर भी। इस अनंत इच्छाओं के बीच वह गोते लगाता रहता है और अपने जीवन की सार्थकता को इच्छाओं की पूर्ति से जोड़कर देखता जाता है। कदम दर कदम इच्छाएं उसके जीवन की पायदान बनती जाती हैं और उसे पता तक नहीं चलता। व्यक्तिगत बातें परिवार के वर्तुल से होते हुए कब सामाजिक रूप धारण कर लेती हैं, इसका भी आभास नहीं होता। लेकिन मूल प्रश्न है इन इच्छाओं का क्षितिज आखिर कहाँ जाकर वास्तविकता के धरातल से मिलता है? क्या यह क्षितिज मनुष्य जीवन की साधारणता को व्याप्त नहीं कर जाता? क्या इच्छाएँ मनुष्य के जीवन को छीजती नहीं जा रही हैं? ऐसी ही ढेर सारी मानवीय समस्याओं को आकांक्षा पारे काशिव अपनी कहानियों में उठाती रही हैं। उनकी एक नई कहानी 'बहत्तर धड़कनें, तिहत्तर अरमान' पढ़ने को मिली तो अंत तक पहुंचते-पहुंचते न जाने मन की कितनी गहन परतों से होकर गुजरता चला गया। शुरू में साधारण सी लगने वाली यह कहानी अपनी मासूमियत में मनुष्य मन की कितनी परतों को साधती चलती है, एकबारगी पता नहीं लगता। उसे कई बार इसलिए पढ़ डाला कि आखिर एक साधारण सी घटना को कहानी में पिरोने का काम लेखिका ने रचना प्रक्रिया के किस जद्दोजहद से गुजरते हुए किया होगा? मनुष्य जो जीवन जीता है, वह उसके लिए कभी असाधारण नहीं होता। दूसरों के लिए वह असाधारण जरूर हो सकता है। लेकिन आज के तकनीकी-उपभोक्तावादी युग में बड़ी चुनौती जीवन को साधारण बनाए रखने की बन गई है।

सामान्यतया पाठक कहानियों में 'शिफ्ट कंट्रोल ऑल्ट-डिलीट' जैसी नाटकीयता, उत्तेजना और रोमांच ढूँढ़ता रहता है। ऐसे पाठकों को यह कहानी एकबारगी चढ़ाव-उतारहीन, एकदम सपाट लग सकती है। आपको याद होगा कि साहित्येतिहास में ऐसी सपाट कथानकों के साथ कहानी लिखने की शुरूआत चेखव ने की थी जिसे कहानी में यथार्थवाद की उद्घोषणा करार दी गई थी। बहत्तर धड़कने कहानी का नायक ही स्वयं कहता है कि हिंदू मुस्लिम होते हुए भी उनके विवाह में कोई रोमांच नहीं था। इस रोमांच की कमी को अंततः वह अपने विवाह के टूटने का संभावित कारण भी बताता है। जीवन के प्रति इस तरह का वस्तुवादी दृष्टिकोण यथार्थवाद की भूमि को भुरभुरी करता चलता है। किसी वाद के खालिस नारे को छोड़ दें तो क्या आज की आपाधापी वाली जीवनशैली में लोग जीवन से ऊबते नहीं जा रहे हैं? तो क्या यह कहानी उपभोक्तावादी और विज्ञापनी दुनिया में जीने वाले मनुष्य के, वस्तुओं की भरमार के बीच, जीवन के सिकुड़ते जाने की घोषणा है? या फिर भारतीयता के मूल्यों व परंपराओं के नाम पर उसे पीठ पर लादकर घूमते रहने वाले बेताल की टूटती कमर की आत्मस्वीकृति है?

हृदय की धड़कनों और मन की ख्वाहिशों के बीच यह कहानी उसी भारतीय समाज में आगे बढ़ती है जिसमें मनुष्य का आधे से अधिक जीवन त्योहारों, रीति रिवाजों और गीत संगीत में बीत जाया करता था। कहानी की शुरूआत नायक अभय शुक्ला के एक ख्वाब से होती है। ख्वाब में वह हिन्दी फिल्मों में चलने वाले हिन्दू-मुस्लिम दंगों के दृश्य देख रहा होता है लेकिन पात्र के रूप में वह स्वयं और उसके अपने जानने वाले लोग हैं। ख्वाब में उसे स्पष्ट दीखता है कि उसके छोटे भाई को जान का खतरा है और बहन को किसी रिश्तेदार को छिपाकर वह अपने मां-पापा को खोज रहा है। कहानी पढ़ते हुए पाठक की संवेदना में एकाएक मोड़ तब आता है जब अभय की नींद खुलती है और वह ख्वाब होने को राहत की तरह नहीं देखता बल्कि सोचता है कि काश! यह सपना ही उसकी जिंदगी की हकीकत होती। वह कहता है कि ऐसे दंगे के बावजूद नौरीन उसके साथ होती तो उसे अपने परिवार वालों पर खतरे से भी कोई फर्क नहीं पड़ता। उसके इस स्वगत कथन का भेद आगे जाकर खुलता है कि दरअसल वह मन के दूसरे कोने पर अपनी जीवन की एकसारता को कोस रहा था, जिसमें उसे कोई उतार चढ़ाव नहीं दिखता। वह इस बात से परेशान है कि पत्नी बन चुकी उसकी प्रेमिका, जिसका कि वह सुहाग है-नौरीन, उसके जीवन में नहीं है तब भी उसके साथ कुछ भयानक नहीं हो रहा है!

अभय इस बात पर अपना आत्मविश्लेषण (इंट्रोस्पेक्शन) करता हुआ नज़र आता है कि नौरीन के अपने घर लौट जाने के तीन दिनों बाद भी उसके जीवन में कोई उथल पुथल नहीं आया था, बल्कि वह केवल भयानक सपने देख रहा था। यदि फ्रायड की माने तो सपने व्यक्ति

की कुंठाओं की अभिव्यक्ति होते हैं और सपना इस कहानी में भी एक प्रतीक के साथ उपस्थित है। कहानी का जीनोम है यह सपना। जिसे यदि डिकोड कर लिया जाए तो पूरी कहानी को समझा जा सकता है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास 'निर्मला' की भूमिका में भी ऐसे ही एक सपने का प्रयोग किया था। जिसे पढ़ने के बाद महसूस होता है कि पूरा उपन्यास दरअसल उस भूमिका का विस्तार मात्र था। इस कहानी में भी, अभय के ख्वाब से पता चलता है कि उसकी वास्तविक दुनिया उसके सपने से बिल्कुल जुदा है। जहां अलग-अलग धर्म से होते हुए भी उसके विवाह के दौरान दंगे नहीं हुए, कोई ऐसी अड़चन नहीं आई जिसे पार कर वह अपने प्रयास की सार्थकता स्पष्ट कर सकता या फिर उसका विवाह इतना सफल भी नहीं रहा कि हिन्दी फिल्मों के अभिनेताओं की तरह वह चित्रपट पर दर्शकों से रू-ब-रू हो सकता था। सीधे-सीधे वह उन परिस्थितियों को सपने में जीने लगा था जिन्हें वह जीवन के वास्तविक धरातल पर घटित होते देखना चाहता था।

शिफ्ट कंट्रोल वाली कहानी की तरह यह कहानी भविष्य की कहानी न होकर बिल्कुल अपने समय की कहानी है। जिसे एकबारगी समसामयिक कहने में भी कहानी को लंबे दौर का प्रतिनिधि करार दिए जाने का भय पैदा हो जाता है। यह बिल्कुल आज की कहानी है जो आकांक्षा की पहले की कहानियों की तरह स्त्रियों के मन की भी बातें करती चलती है। नौरीन बिल्कुल व्यावहारिक लड़की है जिसके अम्मी, अब्बू डॉक्टर हैं और अपने समाज (अर्थात मुस्लिम समाज) में पढ़े लिखे होने के कारण उन्हें, नौरीन के ही शब्दों में, लिबरल होने का चोगा पहनने का बड़ा शौक था। यहां लेखिका के लिए स्वानुभूति या फिर अपने नायकों से सहानुभूति का प्रश्न गौण हो गया है। लेखिका ने बेहद निपुणता के साथ अपने नायकों और नायिकाओं के व्यक्तिगत वार्तालापों को, स्वगत कथनों को सामाजिक अनुभवों के साथ मिलाकर कहानी का 'प्लॉट' तैयार कर दिया है। अलग-अलग नायकों के साथ कहानी, छोटे-छोटे शीर्षकों के अंतर्गत आगे बढ़ती रहती है और बाद में मुख्य नायक अभय कहानी को पूरा करता है। यह कहानी कहने का एक अलग अंदाज भी है जो अक्सर उपन्यासों में नजर आता है। जैसा कि विष्णु सखाराम खांडेकर के उपन्यास ययाति में है, जहां सभी नायक, नायिका अपनी-अपनी कहानी कहते हैं और सभी कहानियां जुड़कर उपन्यास का कथानक पूरा करती हैं।

कहानी को पढ़ते हुए महसूस होता है कि इसकी रचना प्रक्रिया में रचनाकार को जिस पीड़ा से लगातार गुजरना पड़ा होगा वह साधारण कोटि का नहीं रहा होगा। साधारण चीज को साधारण बनाए रखना अलग कोटि की प्रतिबद्धता की मांग करता है। लेखिका ने न जाने कितनी मर्तबा इसके अंत या शुरूआत के बारे में सोचा होगा। साधारणतया ऐसा हम सभी के जीवन में होता है। अपने-अपने जीवन में हम सभी साधारण कार्य करते रहते हैं, या कम से कम ऐसा ही समझकर करते रहते हैं। हालांकि कन्फ्यूशियस बहुत नकारात्मक रूप से कहते हैं कि साधारण आदमी हमेशा आराम के बारे में सोचता है लेकिन इसमें गलत क्या है? लेकिन हम तो उनसे बहुत आगे अब्राहम लिंकन की धारा के लोग हैं जिन्होंने यह निष्कर्ष निकाल लिया है कि ईश्वर, यदि ऐसा कोई है तो सबसे ज्यादा साधारण मनुष्य से प्यार करता है तभी उसने बहुत ज्यादा साधारण मनुष्य बनाए जबकि असाधारण तो गिनती के लोगों को बनाया। विज्ञान भी कन्फ्यूशियस के उलट प्रकृति को आम आदमी का समधर्मा करार देता है कि उसका हर कदम अपने को आराम की अवस्था में ले जाने के लिए उठता है। जीवन और प्रकृति की तरह यह कहानी बहुत साधारण ढंग से आगे बढ़ती है। लेखकीय हस्तक्षेप के रूप में इसमें कुछ भी नहीं मिलता। ऐसा हस्तक्षेप कुछ पाठकों को आकर्षित भले कर ले मगर रचना प्रक्रिया के स्तर पर इसे साहित्य के लिए सही नहीं कहा जा सकता। अपने नंगे रूप में यह कहानी एक यह संदेश देने में भी सफल होती है कि हर आदमी असाधारण होने के लिए मरा जा रहा है जबकि सच्चाई यह है कि असाधारणता दरअसल साधारणता में ही छिपी हुई है। क्या महात्मा गांधी ने बहुत साधारण जीवन नहीं जीया था?

कुतूहल की आदिम मांग कभी-कभी रचना प्रक्रिया को बाधित कर देती है लेकिन यह कहानी अपने को उस दबाव से मुक्त करती है। आधुनिकता के दबावों से छीजती जाती जीवन की प्रतिरोधकता के संदर्भ में हाल में पढ़ी हुई विवेक मिश्र की कहानी-'थर्टी मिनट्स' याद आती है। जिसमें जिंदगी में रोमांच की कमी से जूझता एक नौजवान, दिल्ली जैसे महानगर में पिज्ज़ा लाने वाले के साथ एक खेल खेलता है, जहां वह भुमंडलीकरण के जुमले की तरह प्रसिद्ध हो चुके इस जुमले को आजमाना चाहता है कि पिज्ज़ा तीस मिनट में आपके घर तक! वह रोज निश्चय करता है कि यदि तीसवें मिनट पर पिज्ज़ा नहीं आया तो वह खुद को फांसी लगा लेगा। और एक दिन वह सच में फांसी पर झूल जाता है क्योंकि पिज्ज़ा वाला एक मिनट देर कर देता है और यह देर इसलिए होती है कि पिज्ज़ा वाले से सीढ़ी पर उस लड़के की प्रेमिका मिल जाती है और उससे पिज्ज़ा लेकर खुद जाती है। कहानी में बिडम्बना जीवन से ऊब की ही नहीं बल्कि संवेदनाओं के कुंद होते जाने की भी है, मनुष्य का मनुष्य से कटते जाने की है, तकनीकी और वस्तुओं के दबाव की है और उससे बढ़कर जीवन के गणित की है।

एक विधा के रूप में किसी भी कहानी की साधारण सी मांग रहती है उसकी पठनीयता, जैसा कि मन्नू भंडारी कहती हैं कि कोई भी कहानी तभी अच्छी हो सकती है जब वो पाठकों से खुद का पढ़वा ले जाए। बहत्तर धड़कने कहानी इस पठनीयता के साथ-साथ उस अनिवार्य कुतूहल को भी बनाए रखती है जिसकी मांग मनुष्य के जीवन में है। हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद के नाम पर खालिस नारेबाजी की अवस्था अब भी बनी हुई है। बहुत से रचनाकार यह समझने की जहमत नहीं उठाना चाहते कि यथार्थ वही नहीं है जो किसी के जीवन में घटित होता जा रहा है बल्कि कई बार हमें काफ्का की तरह मेटामॉरफासिस जैसे गूढ़ प्रतीकों के माध्यम से यथार्थ की तह तक जाना पड़ता है। किसी विचारधारा से प्रतिबद्धता के नाम पर उससे चिपके रहना रचनाकार के

लिए उचित नहीं है। बल्कि रचनाकार अपनी कल्पनाओं से विचारधारा को और गहरा तथा व्यापक बना सकता है। यह कहानी भी किसी नारेबाजी या वाद से अपने को बचाती हुई मानवीयता के बहुत साधारण संवेदनाओं तक स्वयं को सीमित रखती है।

तकनीकी और वस्तुओं की भरमार ने केवल मनुष्य की संवेदना को भोथरा ही नहीं किया है बल्कि जीवन के लिए कुछ सुविधाएं भी जुटाई हैं। इंटरनेट के माध्यम से राजस्थान के एक कथाकार किशोर चौधरी की रचनाओं को पढ़ने का मौका मिला, जो आकांक्षा की तरह साहित्य की राजनीति से दूर नितांत मानवीय सरोकारों वाली कहानियां लिख रहे हैं। उन्होंने भी किसी वाद से चिपटने की बजाय मानवीय संवेदना को अपनी प्रेरणा बना रखा है। उनकी कहानी 'चौराहे पर सीढ़ियां' अपने प्रतीक के लिए यहां बरबस याद आ गई। उन्होंने इस कहानी में सीढ़ी को महिला या स्त्री के लिए प्रतीक रूप में इस्तेमाल किया है। और जीवन की साधारण सी घटना को पारिवारिक संदर्भों में सामाजिकता के साथ इस तरह बुना है कि पाठक अपने को उसी सहज स्थिति में नहीं पाता, जैसी स्थिति में वह कहानी पढ़ने के पहले था। साथ ही यह कहानी बड़ी बारीकी से भारतीय परंपरा के प्रश्नों से दो-दो हाथ करती चलती है कि चौराहे पर सीढ़ियों (लड़कियों) के आ जाने से परिवार या समाज के स्तर पर क्या घमासान हो सकता है?

सामाजिक सरोकारों के दबाव के चलते हिन्दी कहानियों में इस समय प्रेम गायब होता जा रहा है। जहां कहीं प्रेम है भी तो उसका स्वरूप भारतीयता की हदों को पार करने में ही अपनी सफलता मानता है। बहत्तर धड़कनें...कहानी में प्यार अपनी अंतिम परिणति-विवाह तक पहुंचता है साथ ही अपने निराकार क्षितिज को छूता हुआ तलाक की सीमा में प्रवेश कर जाता है। हालांकि निराकार रूप में वह कुछ अंशों में नायक अभय के सपने में जीवित रहता है। इस प्रेम में कॉलेज वाली शरारत की शोखी भी है और मौन का संगीत भी है। परंतु सामाजिकता के धरातल पर वह विवाह में परिणत होकर वैसा ही नहीं रह पाता। बड़े ही आराम से अभय और नौरीन तलाक के लिए तैयार हो जाते हैं वह भी आपसी रजामंदी वाले तलाक के लिए। एक बार फिर यहां से रोमांच गायब है। नौरीन या अभय का एक दूसरे पर, एक दूसरे के परिवार पर कोई आरोप नहीं है बल्कि चुपचाप बड़े ठंडेपन से सांस्कृतिक परिस्थितियों का हवाला देते हुए स्वीकरण मात्र है। इस स्वीकरण से महानगरीय संवेदनाओं पर लगने वाले ठंडेपन के इल्जाम को सही साबित किया जा सकता है। इसमें लेखक की ओर से हस्तक्षेप की अपेक्षा भी कहाँ से की जा सकती थी? क्योंकि किसी कृति की रचना करते हुए भी रचनाकार की अपने समय विशेष, विषय या परिवेश पर पकड़ होती है। वह उस कृति में अपने माहौल पर चोट करता है और कोशिश करता है कि वक्त से आगे जाकर वह पाठकों को रचना के जरिए सोचने के लिए प्रेरित कर सके। इस कहानी का 'प्लॉट' और उसका 'अंत' सोचने के लिए रचनाकार को कई बार रचकर बदलना पड़ा होगा। वह भी इस आशंका के साथ कि कहीं इसे कहानी माना ही न जाए।

प्यार के जिस सवाल को यह कहानी, अभय और नौरीन के माध्यम से, जो दूसरे संदर्भों में हिन्दू और मुस्लिम भी हैं, से आगे खिसकाता है वह बिल्कुल जुदा है। वैसे भी प्यार अंकगणित का सवाल नहीं है और न ही बीजगणित के नियम इस पर लागू होते हैं। इसका गणित बिल्कुल जुदा है। इसमें कभी एक और एक मिलकर सब कुछ हो सकता है तो कभी दो में से एक निकाल लेने पर कुछ भी नहीं बचता। बल्कि दुनिया खत्म हो जाती है। इसके विपरीत जिस समाज में यह प्यार पनपता है वह विशुद्ध गणितीय संरचना है। जिसकी बिसात बहुत समझ बूझकर तैयार की गई है जिस पर दिलों की ाहमात चलती रहती है। भारतीय समाज में विवाह केवल दो लोगों का मिलन नहीं है बल्कि दो संस्कृतियों का मिलन है। ऐसी परिस्थितिजन्य स्वीकृति नौरीन की भी है। व्यापक ऐतिहासिक संदर्भ में देखा जाए तो मुगलकालीन गंगाजमुनी तहज़ीब इसी आपसी मिलाप से निकली थी, इसे एकबारगी खारिज नहीं किया जा सकता। मगर मौजू सवाल यह है कि क्या इस तरह के मिलाप की कोशिश को अनिवार्य बनाया जा सकता है?

कुछ लोग सवाल उठा सकते हैं कि कहानी के नायक और नायिका ने अपने विवाह को बचाने के लिए कुछ अतिरिक्त प्रयास नहीं किए। उन्होंने अपनी ख्वाहिशों और सुविधाओं के आगे घुटने टेक दिए। परिवार द्वारा पैदा की गई छोटी-मोटी असुविधाओं को भी वे सहेजकर जीवन से लयबद्ध नहीं कर सके। लेकिन सबसे बड़ा सवाल तो यही है कि क्या ऐसी कोई कोशिश लेखकीय हस्तक्षेप के दायरे में नहीं आ जाती? अभय के जिस सपने के दृश्य से कुछ लोगों को कहानी की शुरूआत में दंगे की मसालेदार सामग्री मिलती है वह बाद में बिना किसी अतिरिक्त धार्मिक या सांप्रदायिक मसाले के गायब हो जाती है। वह भी ऐसे समय में जबकि देश की राजनीति की दिशा ऐसे सामाजिक संदर्भों से प्रेरणा ले रही हो, इस तरह इन दोनों का चुप रह जाना कहां तक तर्कसंगत और समसामयिक माना जा सकता है?

मगर दृष्टि के दायरे को थोड़ा व्यापक करके देखा जाए तो यह स्वमेव स्पष्ट हो जाएगा कि यह कहानी स्वयं उस सांप्रदायिक प्रश्न के जवाब में खड़ी है जो भारतीय समाज के सामासिक ताने-बाने को नुकसान पहुंचाने की कोशिश करती रही है। इस सांप्रदायिक प्रश्न से भी बहुत आगे बढ़कर यह कहानी कहती है कि विवाह या तलाक एक सामाजिक प्रश्न है जिसमें दो लोग या कह लीजिए दो परिवार जुड़ते या अलग होते हैं। इसमें जाति या धर्म का मसाला एक अतिरिक्त छौंक भर है। इसलिए इसे मध्ययुगीन धार्मिक या सांप्रदायिक चश्में से देखना सामयिक पूर्वाग्रह है। संबंध टूटने की हताशा में जो कटाक्ष नौरीन अपने अम्मी-अब्बू या अभय पर करती है वह दरअसल प्रतिक्रियावादी रास्ते की झलक दिखलाता है कि प्रेम में टूटा हुआ मनुष्य अंततः रूढ़िवाद की ओर मुड़ सकता है। लेकिन अंततः मनुष्य का जीत जाना ही अंतिम उपादेय है। ऐसे किसी संकट के सामने मनुष्य को हारने नहीं दिया जा सकता और साहित्य तो ऐसा हरगिज़ नहीं होने देगा।

धर्म, प्रेम, विवाह, तलाक के अतिरिक्त यह कहानी कई और स्तरों पर जूझती हुई चलती है। नायिका की शिकायत है कि उसके अब्बू अम्मी उस पर पूरा हक जताने की बजाय मॉडर्न और लिबरल बने रहना अधिक सार्थक समझते हैं। क्या यह परिवार के स्तर पर उत्तर-आधुनिकतावाद के तहत तैयार हुई नई समझ का प्रतिरोध नहीं है? यह हमें बचपन में सुने हुए नैतिक कहानी के उस लड़के की याद नहीं दिलाती जो चोरी में पकड़ लिए जाने पर अपनी मां के कान काट लेता है और कहता है कि पहली बार हम चोरी करके आए थे तो हमें मना क्यों नहीं किया? क्या हमारी अपेक्षाएं आधुनिकता का वर्तुल पूरा कर दूसरे दौर में पहुंचने लगी हैं? ऐसा मान लेना निस्संदेह जल्दबाजी होगी। लेकिन यह उसी धारा की याद दिलाता है जिसे रघुवीर सहाय ने बहुत पहले 'मेरे और नंगी औरत के बीच' कहानी में शुरू की थी। उन्होनें भी मनुष्य को उसके खालिस रूप में, नंगे रूप में देखने की जिद की थी और प्रकारांतर से यथार्थवाद के नारे को पुष्ट करने की कोशिश भी। हालांकि नामवर सिंह जी ने उसे पूंजीवाद के तीखे बोध से पैदा हुआ एक विशेष प्रकार का मानवतावाद करार दिया है। लेकिन हम किसी वाद की तह में जाए बिना भी इस कहानी को व्यापक फलक में संभावनाशील भविष्यद्रष्टा करार दे सकते हैं।

कथानक, प्लॉट और चरित्र से इतर शिल्प के स्तर पर भी यह कहानी संभावनाओं की नई जमीन तलाशने की कोशिश करती दिखती है। कहानी में वाक्यों और स्वगत संवादों का उतार-चढ़ाव इतना सहज और लयबद्ध है जैसे हम अपनी कथा कहे जा रहे हों, वह भी पूरे रौ में। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि सामने वाला क्या सुनता है और सुनता भी है या नहीं! अंग्रेजी में कहानी के इस शिल्प विन्यास के लिए 'टेक्स्चर' शब्द का प्रयोग होता है। लेकिन लगता है हिन्दी कहानियों के लिए ठीक वही ाब्द प्रयोग करने की बजाय हमें और गहरे जाकर पड़ताल करने की जरूरत है क्योंकि हमारे संगीत, हमारे आरोह-अवरोह और लय की हमारी समझ अंग्रेजी वालों से बिल्कुल जुदा है। हिन्दी का वाक्य विन्यास भी अंग्रेजी से अलग है और उसके अर्थान्वयन के तरीके तो और भी विशिष्ट हैं। भाषा अपने आप में एक सांस्कृतिक मानक है। उसकी ध्वनि संरचना को मात्र संगीत के आरोह-अवरोह से जोड़कर नहीं देख सकते।

दरअसल भाषा का सवाल इतना सतही और एकस्तरीय नहीं है जिसे हम एकबारगी कहानी पढ़ते हुए स्वीकार करें या नकार दें। भाषा बोली जाने से पहले सोची जाती है और उससे भी पहले वह कल्पनाओं में कहीं उड़ती रहती है। कल्पनाओं को मस्तिष्क के पटल पर उतार लाने और उसे सोच के स्तर पर वाक्य के खांचे में बिठाना और फिर उसी तरह के वाक्यों को कागज पर उतार लाना एक लंबी प्रक्रिया है। कई बार कहानी के दृश्य कल्पना में, भाव में बिल्कुल स्पष्ट होते हैं, रचनाकार के आंखों में आंसू तक ढलक आते हैं लेकिन उस दृश्य को पाठक तक पहुंचाने के लिए वाक्य का संकट खड़ा हो जाता है। फिर सोचने के स्तर पर टूटे-फूटे वाक्य बन भी जाते हैं लेकिन कागज पर उन्हें उतारने का संकट और बड़ा हो जाता है। संकट के बड़ा होने की यह प्रक्रिया सुरसा के शरीर की तरह पहले से दोहरी होती जाती है। हालांकि लेखक को इस बात से फर्क नहीं पड़ता कि पाठक उसके वाक्यों को किस विन्यास से पढ़ेगा लेकिन एक बार लिखने के बाद स्वयं पढ़ते हुए उसके मन में यह इच्छा जरूर रहती है कि जैसा वह कहानी को जीते समय महसूस कर रहा था वैसा पढ़ते हुए महसूस कर रहा है या नहीं? यह लेखक की अपनी कसौटी है, जिसका साबका पाठक से नहीं पड़ता। और साहित्य की बिडंबना (आइरनी) भी यही है कि लिखने के बाद लेखक अपनी कृतित्व से अलग हो जाता है और साहित्य संसार में अपनी कृति को प्रचलित युगबोधों, मूल्यों और आवश्यकताओं के संदर्भ में पड़ताल के लिए छोड़ देता है। इसीलिए कई बार भूतकाल के रचनाकार, आधुनिक समय में प्रासंगिक हो उठते हैं या फिर जीवंत हो उठते हैं और पूरा साहित्यिक बिरादरी उन्हें नए ढंग से सोचने, समझने और पढ़ने की जुगत करने लग जाता है।

इस तरह शिल्प, कथानक, उद्देय हर स्तर से 'बहत्तर धड़कने, तिहत्तर अरमान' बिल्कुल समसामयिक दौर की कहानी है जिसमें नायक और नायिका के जीवन से लय गायब है, संगीत गायब है, रोमांच गायब है और अंततः जीने का उद्देश्य गायब है। लेकिन बड़ा प्रश्न आज यह आन खड़ा हुआ है कि क्या जीवन का उद्देश्य होना ही चाहिए? बिना किसी मंजिल के चलते जाना भी क्या जीवन नहीं है? कुछ लोगों के लिए यह जीवन एक यात्र मात्र है जो उन्होंने इस दुनिया में कुछ दिनों के लिए तय की है। मन्नू भंडारी के शब्दों में कहानी के लिए जरूरी दूसरी शर्त संप्रेषणीयता के स्तर पर भी कहानी निश्चित रूप से सफल कही जा सकती है। रचनाकार जो कहना चाह रहा है, वह पाठक तक पहुंच रहा है, इससे बढ़कर सफलता एक रचनाकार के लिए और भला क्या हो सकती है? इस कहानी को समझने के लिए पाठक को जद्दोजहद नहीं करनी पड़ेगी। हालांकि इसके और भी नए क्षितिजों की ओर झांक आने के लिए आलोचकों को खूब मेहनत करनी होगी। कहानी के विरोध में कहा जा सकता है कि यह कहानी तलाक के मुहाने पर खड़े दंपत्तियों के लिए कोई समाधान नहीं प्रस्तुत करती लेकिन कार्ल मार्क्स ने कहा था कि अपने वक्त का महानतम व्यक्ति वह नहीं है जो समाधान देता है, बल्कि वह है जो प्रश्न उठाता है, प्रश्न उठाना अधिक महत्वपूर्ण है। समाधान तो आज या कल मिल ही जाएंगे। साहित्य के संदर्भ में रचनाकार का भी मुख्य धर्म प्रश्न उठाना है, लोगों में असुविधा पैदा करना है। यह कहानी भी लीक पर सोचने वालों में बेचैनी पैदा करती है और कुछ नया सोचने के लिए रास्ता बनाती चलती है। कहानी को पढ़ते हुए पाठकों को नायक अभय की तरह बेचैनी होगी कि वह अपने विवाह को बचाने के लिए क्यों कुछ कर नहीं सकता? यह उस स्थिति की ओर भी संकेत करता है कि हमारी इच्छाएं हमारे जीवन का अतिक्रमण करती जा रही हैं, क्या यह स्वस्थ स्थिति है? तमाम व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक और सांप्रदायिक प्रश्नों को समेटे हुए यह कहानी बार-बार पढ़े जाने की मांग करती है और हर बार के पठन में इसके कुछ अनदेखे क्षितिज खुलते जाते हैं। ▫

पता : 8 बी/2, एन पी एल कॉलोनी
न्यू राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली- 110060
मो. : 09311841337

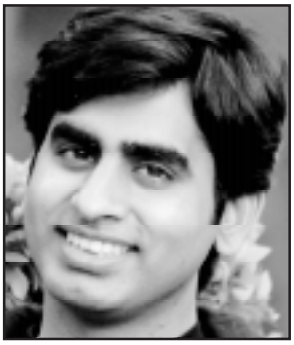

वन्दना देव शुक्ल की कहानी 'यथार्थ इन दिनों' पर

आलोचना

विमर्शों के समय में यथार्थ इन दिनों

n सुशील कृष्नेत

मृतप्राय होती संवेदनाओं के दौर में अब सामूहिक नरसंहार से लेकर बलात्कार तक की घटनाएं महज एक खबर भर हो गयी हैं। चाय की एक सिप के साथ ये घटनाएं सुनी और पढ़ी जाती हैं और अगली सिप तक भुला दी जाती हैं। पिछले 16 दिसंबर की घटना आज की तारीख में एक खबर मात्र है। भले ही उसके लिए एक आन्दोलन क्यों न हो चुका हो। उसके बाद भी हर घंटे, हर दिन 16 दिसंबर की पुनरावृत्ति हो रही है। सच्चाई यही है कि आज हम ऐसी घटनाओं के बाद कानून, न्याय-व्यवस्था से कोई उम्मीद नहीं रखते। किसी अपराधी के हिरासत में लिए जाने के बावजूद हमें यही लगता है कि वो छूट जाएगा या साक्ष्यों के अभाव में बरी कर दिया जाएगा। चूंकि ऐसा होता आया है और हो भी रहा है इसलिए इस तथ्य से इनकार नहीं कर सकते कि यह आज के समय का यथार्थ नहीं है। इस यथार्थ को सिर्फ जनमानस ही नहीं बल्कि पीड़ित पक्ष भी स्वीकार करता है। समाज का उच्च वर्ग कानूनी पेंच में 'फंस' कर अपना कीमती वक़्त जाया नहीं करना चाहता तो निम्न वर्ग को न कोई उम्मीद होती है न ही साधन। नतीजा छोटी से बड़ी घटना सब एक समय के बाद भुला दी जाती है। मौजूदा समय के इस यथार्थ को वंदना देव शुक्ल ने अपनी कहानी 'यथार्थ इन दिनों' में दिखलाने की कोशिश की है।

कहानी की पृष्ठभूमि यह है कि सुप्पी अर्थात सुपर्णा घोष मनोचिकित्सक डॉक्टर निमित्त घोष और उनकी पत्नी नीमा की इकलौती संतान है। सुप्पी अपने माता-पिता के 'भविष्य का उजला नीला आसमान है' जिसे वो डॉक्टर बनाना चाहते हैं और उसके नाम से 'डॉक्टर सुपर्णा घोष नर्सिंग होम' स्थापित करने का सपना है। सुप्पी के पी.एम.टी. में दाखिला हो जाने से उनके सपनों का महल अब मूर्त रूप लेने वाला है। लेकिन अचानक एक दुर्घटना से उनके 'कामनाओं से बनी एक-एक ईंट, एक-एक स्तम्भ सब धराशायी। आँखों के आगे एक सपनों का उबड़-खाबड़ ढेर' में तब्दील हो गयी। कहानी की शुरुआत उस घटना के बाद से होती है। सुप्पी के माता-पिता गहरे अवसाद में हैं। दोनों की परेशानी का कारण उनकी इकलौती पुत्री सुप्पी के साथ घटी दुर्घटना है जिसे कहानी में इन शब्दों के माध्यम से बताया गया है 'दोनों ने जिसे हथेलियों में पाला आज उसकी फूल सी कोमल देह के साथ? ये दुनिया का एक ऐसा गुनाह है जिसे करता कोई है भोगता कोई तथा अपराध-बोध का दंश समूची कौम व काल के हिस्से बदा होता है'। कहानी अपने शुरुआत में यह लगभग बता देती है कि कौन सी घटना घटने वाली है या घट चुकी है। कहानीकार के ये शब्द महज उसे प्रमाणिक करते हैं। आगे की पूरी कहानी में घटना से पहले डॉक्टर दम्पति का अपनी पुत्री के प्रति चिंता जो उसके लड़की होने की वजह से है, उसे दिए गए संस्कार से कुछ आश्वस्त तो हैं लेकिन समय और समाज को देखते हुए उन्हें अनहोनी की आशंका रहती है जो हो जाती है। आगे डॉ. घोष अपने पुलिस अधिकारी सहपाठी की बदौलत घटना की तह तक पहुँचते हैं और सुप्पी को अस्पताल से घर वापस लाते हैं। अंततः डॉ. घोष अपनी पुत्री की काउंसलिंग करते हैं और कुछ प्रश्नों के जरिए उसे इस घटना से उबारने की कोशिश करते हैं।

इस तरह यह कहानी एक ऐसे परिवार की कहानी है जिसमें एक लड़की है और उसके माता-पिता। लड़की के साथ बलात्कार हुआ है जिसका दंश पूरा परिवार झेल रहा है। कहानी के पीछे लेखिका का उद्देश्य एक तो ऐसे परिवार की स्थिति से परिचित कराना है जिसे हम अखबार में देख कर पन्ने पलट देते हैं और दूसरा ऐसे परिवार का हमारी वर्तमान व्यवस्था के प्रति अविश्वास को दिखलाना। कहानी के शुरुआत में डॉ. दंपति का अवसादग्रस्त होना, उनके सपनों के टूटने का, उस परिवेश को सूक्ष्मता और जीवंतता से दिखलाया है। इन सबके बावजूद कहानी पढ़ते समय लगातार 16 दिसंबर की घटना याद आती रहती है। सिर्फ एक घटना को केंद्र में रखकर कहानी लिख देना या उस घटना को कुछ पात्रों के माध्यम से बयां कर देना साहित्य में कोई योगदान नहीं देता। उस घटना के प्रति लेखक और समाज का नजरिया, घटना की तह में जाने की कोशिश और कौन से प्रश्न हैं जो उस घटना से जुड़े हैं, इन सबके ताने-बाने से एक बेहतर कहानी बुनी जा सकती है जो साहित्य में कुछ जोड़ पाने की कोशिश होगी। कहानी में दो प्रश्न ऐसे हैं जिन्हें लेकर ही कहानीकार ने यह कहानी बुनी है। एक प्रश्न 'संस्कार' को लेकर है और दूसरा इस तरह की घटनाओं के बाद पीड़ित पक्ष व उसके परिवार पर क्या बीतती है।

'संस्कार' यह शब्द एक चिंता की मानिंद कहानी और उसके पात्रों के माथे पर बार-बार उभरता है। हर बार यह जितना आश्वस्त करता है उतना ही शंकाग्रस्त भी। माता-पिता दोनों इस बात से आश्वस्त हैं कि उन्होंने अपनी बेटी को अच्छे संस्कार दिए हैं जिससे कोई अनहोनी नहीं होगी। 'डॉक्टर अपनी बेटी को हमेशा दुनिया में होने वाली सार्थक खोजों, लड़कियों की उपलब्धियों और विकास की चीजें बताते, प्रतिष्ठित लेखकों के उपन्यास और कविताएँ पढ़ने की प्रेरणा देते। सुप्पी की लिखी गयी कविताओं की भूरी-भूरी प्रशंसा करते और उनमें संशोधन भी।' इस तरह डॉक्टर पिता अपनी तरफ से संतुष्ट रहते और अपनी पत्नी नीमा से कहते 'हमने बच्ची को अच्छे संस्कार दिए हैं निमू, मुझे विश्वास है उस पर और तुम्हें भी करना चाहिए। शी इज वेरी ऑनेस्ट एंड ब्रेव चाइल्ड फिर हँसते हुए कहते 'अरे भाई हम हिन्दुस्तान में रहते हैं तालिबान में नहीं'

दूसरी तरफ माँ नीमा हैं-'कितनी जल्दी मान जाती है ये लड़की सब कही बातें? ना कभी बहस करती ना विरोध। कभी नीमा को सुप्पी की ये आदत उसका गुण लगती और कभी उसका भोलापन जो घसीटकर उसको एक अनजान से फिक्र की हद में ले जाकर पटक देता। कभी तो विरोध या जिद करना चाहिए उसे' यहाँ जिस अनजान सी फिक्र और कभी तो विरोध करने की बात है उसे पिता की आश्वस्ति कि 'हिन्दुस्तान में रहते हैं तालिबान में नहीं' से जोड़ कर देखें तो विरोधाभास जरूर लगेगा लेकिन जैसा कि कहानी का शीर्षक ही है 'यथार्थ इन दिनों' सही बैठता है। बेशक हिन्दुस्तान में रहते हैं, अच्छे संस्कार दिए हैं लेकिन क्या यह गारन्टी है कि इतने के बावजूद हम जिस 'अनजान सी फिक्र की चिंता करते हैं वैसा कुछ नहीं होगा? शायद नहीं, क्योंकि संस्कारों का बीजारोपण हमारे समाज में एकतरफा है। इस कहानी में ही एक जगह सुप्पी प्रश्न करती है 'क्या संस्कार सिर्फ लड़कियों को दिए जाते हैं? आप लोगों ने ही तो कहा था कि लड़कियां यदि बोल्ड रहें और एहतियात बरतें तो उनका बाल भी बांका नहीं हो सकता?' सुप्पी का यह प्रश्न जितना अपने माता-पिता से हैं उससे ज्यादा कहीं समाज से है। डॉक्टर घोष जब यह सोचते हैं कि 'ये दुनिया का एक ऐसा गुनाह है जिसे करता कोई है भोगता कोई तथा अपराध-बोध का दंश समूची कौम व काल के हिस्से बदा होता है' तब एक त्रिकोण बनता है- अपराधी, पीड़िता और समाज का। अब इन तीनों में कौन कितना दोषी है? कौन है? कौन नहीं है? यह सामाजिक-व्यवस्था का प्रश्न है जिसमें संस्कार और संस्कृति भी शामिल है। यह जानते हुए भी कि इस तरह का गुनाह अपराध है फिर भी न तो समाज इसे रोक पा रहा है न कानून और न ही उस अपराध में शामिल हो रहा अपराधी। त्रिकोण के किसी एक कोण पर भी इसकी जिम्मेदारी डाल देने से ही यह अभी तक होता आ रहा है। इस सन्दर्भ में कृष्ण कुमार की पुस्तक 'चूड़ी बाजार में लड़की' के कुछ प्रसंग याद आ रहे हैं जिसमें वे सामाजीकरण की इस प्रक्रिया का सूक्ष्म जायजा लेते हुए लिखते हैं-'सड़क, बाजार, मैदान आदि सार्वजनिक स्थानों का उपयोगमूलक अर्थ, जो पहले से लड़की को दे दिया गया है, उसे पूर्वनिश्चित रूप में आत्मसात कर लेना होता है, जबकि लड़के के लिए ऐसी कोई बाध्यता नहीं होती। वह सड़क जैसी सार्वजनिक जगहों के अर्थ स्वयं गढ़ता है, अपनी मानसिक व शारीरिक स्वतंत्रता का उपयोग करते हुए उन अर्थों को विस्तार देता है...लड़की के साथ ऐसा नहीं होता बाजार और मैदान जैसी जगहों से भी वह यही सीखती है और अंततः यह समझ बनाती है कि दुनिया में उसके लिए एकमात्र सुरक्षित जगह उसका घर है।' इसी पुस्तक में वह आगे लिखते हैं-'लड़के अपने बचपन में घर से निकलना ही एक उद्देश्य बना लेते हैं इसके विपरीत लड़की के लिए घर से निकलने का अर्थ किसी पूर्व-निदिष्ट जगह पर पहुँचने की शुरुआत होता है। वैसे भी यदि लड़की अपने गंतव्य तक देर से पहुंचे या वहां से लौटकर देर से घर आए तो उसकी पूछताछ अनिवार्य रूप से होती है वह मान चुकती है कि उसके शरीर में उसकी सामाजिक असुरक्षा की इबारत अनिवार्यतः दर्ज है। घर से कहीं भी जाना इस सन्दर्भ में अपने शरीर के साथ हो सकने वाली जघन्य दुर्घटना की चिंता करते हुए ही संभव है। इस चिंता का दैनिकीकरण बच्ची से लड़की और औरत बनने की सामाजिक प्रक्रिया का ऐसा उपक्रम बना देता है जिसके शैक्षिक परिणाम लिंग-विषमता का ढांचा तैयार करते हैं।

इन दोनों सन्दभों को कहानी के साथ जोड़कर देखें तो जिस समस्या को लेकर कहानी लिखी गयी है उसके तह तक जाने के सूत्र मिलते हैं। लड़की का आज्ञाकारी होना, संस्कारी होना, समय पर घर आ जाना और इसके उलट लड़कों का 'मर्द' होना, लड़की की तरह ना होना घर में लड़कियों की तरह बैठने की बजाय घर से बाहर घूमना ये वो बीज हैं जो आगे चलकर लिंग-विभेद पैदा करते हैं और ऐसी घटनाओं के कारक बनते हैं। और जब इस समस्या पर विचार होता है तो प्रायः लड़की या लड़के के परिवारिक-संस्कार, लड़की के चाल-चलन से लेकर उसके कपड़ों को कारण बताया जाता है। जब सुप्पी की माँ नीमा उसे जींस लेने से मना करते हुए यह कहती हैं कि 'नहीं बेटा, लड़कियों को कुछ मर्यादा से रहना चाहिए, ये ड्रेसें अच्छी नहीं लगतीं' यहाँ नीमा अपनी बेटी सुप्पी को उसी सामाजीकरण की प्रक्रिया में शामिल कर रहीं हैं जहाँ उसे यह एहसास होता रहेगा कि वह लड़की नहीं है, उसके पास देह है जिसकी सुरक्षा करनी है। हालांकि यह पाठ से अलग होगा फिर भी सुप्पी की जगह एक लड़के को इन्हीं माता-पिता के साथ रख कर देखें तो क्या जींस का प्रश्न हो या देर शाम तक घर वापसी का प्रश्न, दोनों ही स्थिति में पूरा परिवेश और पूरी चिंता ही विपरीत हो जाती है।

'संस्कार' के प्रश्न के बाद दूसरी महत्वपूर्ण बात जो कहानी को सिर्फ घटनाओं के ब्यौरे होने से बचाती है वह है डॉ घोष का सुप्पी से किये गए प्रश्न जो कहानी के अंत में हैं और जिससे कहानी एक सकारात्मक दिशा अख्तियार करती हुयी खत्म हो जाती है। डॉ. घोष सुप्पी से पूछते हैं कि जो तुम्हारे साथ हुआ क्या उसके लिए तुम दोषी हो? दूसरे प्रश्न में सुप्पी को इस हालत से उबरते हुए यह सोचने के लिए कहते हैं 'तब जबकि इसके अलावा हमारे पास फिलहाल कोई और उपाय नहीं और जिंदगी अभी भारी पूरी हमारे आगे दूर तक बिछी है?' आखिरी प्रश्न में उनकी कोशिश यह बतलाने की है कि तुम्हारे साथ तो हम हैं, परिवार है और सबसे बड़ी बात तुम्हारा भविष्य है जबकि उन दोषियों का भविष्य अंधकार में और समाज तथा परिवार की तरफ से धिक्कार अलग से। वस्तुतः कहानी का यह आखिरी किन्तु महत्वपूर्ण हिस्सा कहानी लिखे जाने का उद्देश्य जान पड़ता है। कहानीकार ने चतुराई से सुप्पी के पिता को मनोचिकित्सक का जामा पहनाया और डॉ घोष के जरिए एक काउंसलिंग का प्रसंग। यह जानते हुए की यह घटना एक सामान्य घटना नहीं है कम से कम एक पीड़िता के परिवार के लिए। घटना की उधेड़बुन, समाज और व्यवस्था का यथार्थ दिखाने के बाद अब क्या? तो यह अंतिम हिस्सा उसी 'अब क्या' का उत्तर है जो खुद भी यथार्थ है कि सब कुछ होने के बावजूद जिन्दगी नए सिरे से शुरू होती है और इसे होनी भी चाहिए।

2014 में लिखी जा रही इस कहानी में यह चिंता का प्रश्न है कि व्यवस्था चाहे वह कानूनी हो या सामाजिक, कोई परिवर्तन नहीं आया है। एक से एक कानून और जागरूकता के लिए व्यापक सक्रियता के बावजूद अगर कहानी में यह दिखता है कि अपराध होने के बाद कोई एफ.आई.आर. नहीं, बल्कि इसके उलट न्याय-व्यवस्था पर भरोसा भी नहीं है तो यह अच्छा संकेत तो नहीं है। सकारात्मक और यथार्थ लिखने की कोशिश में ईमानदारी कहीं रह गयी है। अपराध और व्यवस्था से समझौता कर लेना, जिसके साथ अपराध हुआ है उसका मौन रह जाना, यथार्थ के नाम पर कब तक लिखा जाता रहेगा?

पता : ए-244, नेहरू विहार, दिल्ली-54
मो. : 08826866539
ईमेल : sushil-kld@gmail-com

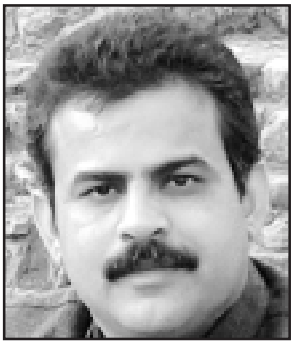

पंखुरी सिन्हा की कहानी 'कैनेडियन माउंटेन टाइम' पर

आलोचना

अपने कथ्य में एक जरूरी हस्तक्षेप करने वाली कहानी

n मनोज कुमार पाण्डेय

'पितृसत्तात्मक व्यवस्था स्त्री को शारीरिक रूप और मानसिक तौर पर गुलाम बनाये रखने के लिए किसी भी सीमा तक जा सकता है। विश्व के हर कोने में हर तरह का समाज अपने पुरुषवादी चरित्र को किसी न किसी रूप में बनाये रखने की जुगत और प्रयोग करता रहता है। इस प्रयास में वह स्त्रियों को उनकी क्षमता, उपलब्धियों, अवसरों से अनभिज्ञ और वंचित रखने के तमाम साधनों का प्रयोग करता रहता है। दुनिया की हर स्त्री पर पुरुष 'नजर' रखने की कवायद अनवरत रूप से चलती रहती है। भारतीय समाज के पुरुषवादी परिवारों में यह नजर रखने की 'लक्ष्मण-रेखा' घर के बाहर ही नही घर के अन्दर भी खिंची रही है। आज स्त्रियों की स्थिति में लगातार बदलाव हो रहा है। स्त्री संघर्ष और चेतना के बहुआयामी परिणामों ने स्त्री-पीड़ा की तस्वीर को लगातार साफ किया है। इतना ही नही इस तस्वीर पर पड़ने वाली समकालीन पुरुषवादी धब्बों को भी पहचानने की दृष्टि भी तेज हो चुकी है। 'कैनेडियन माउन्टेन टाइम' पंखुरी सिन्हा की ऐसी ही कहानी है जिसमे आज के गैजेट्स-युग में स्त्री-विरोधी स्थितियों की पहचान दर्ज की गयी है। अपनी इसी विशेषता के कारण यह कहानी अपने पढ़े जाने के लिए जरूरी हो जाती है।

नारी मुक्ति की मानसिकता और आन्दोलन का जन्म पश्चिमी समाज में बहुत पहले हो चुका है। फ्रेंच क्रांति का इतिहास भी इसका प्रमाणिक साक्षी है। पश्चिमी समाज और देशों को पहली दुनिया माना जाता है। स्त्री अधिकारों की वकालत जोरदार स्वर में पश्चिमी समाज करता रहा है। कई बार बाकी दुनिया के लिए उनके मूल्यांकन का प्रमुख आधार भी संबंधित देश-समाज में स्त्रियों की स्थिति ही बनती है। ऐसे में 'तीसरी दुनिया' के बाशिंदे हम लोगों के मन में जो छवि इन देशों की उभरती है वह पंखुरी की कहानी पढ़ लेने के बाद थोड़ा-सा क्षरित जरूर हो जाती है। यह कहानी एक युवा लड़की की है जो भारत के किसी प्रदेश से पढ़ने के लिए एक विदेशी 'विश्वविख्यात यूनिवर्सिटी' में जाती है। कहानी में संकेत न होने बाद भी इतना तय है कि लड़की ने विदेशी विश्वविद्यालय में पढ़ने का यह अवसर अपनी योग्यता और क्षमता से ही पाया है। यह लड़की भी पश्चिमी समाज के खुलेपन और दोस्ताना वातावरण से प्रभावित रही होगी। अपनी क्षमता और जीवन के प्रति उसके आशा और विश्वास को पश्चिमी समाज के बारे में स्थापित मान्यताएं पुख्ता करती होंगी। कहानी का पाठक भी इस कहानी के पढ़ने के पहले पश्चिमी समाज के बारे में कुछ इसी तरह की मानसिक छवि के दायरे में अपने आप को पाता होगा। उसके लिए यह जानना किसी धक्के से कम नही होगा कि कहानी पश्चिमी समाज के अकेडमिक दुनिया की उन नसों की पहचान करती है जिनके भीतर 'स्त्री-विरोध और नस्लवाद' का हानिकारक द्रव बहुत धीरे-धीरे रिस रहा है। इस कहानी का एक पक्ष भारतीय समाज के सामन्ती चरित्र से भी जुड़ा हुआ है। कहानी में इस विशेषता को कथानायिका की माँ के माध्यम से उभारा गया है.

सामाजिक, सांस्कृतिक और यौन-मनोवृति से निर्मित कारणों के प्रभाव में स्त्री को अपना 'पीछा' किये जाने की यातना से गुजरना पड़ता है। पीछा किया जाना स्त्री मात्र की भयावह नियति के तौर पर पायी जाने वाली प्रवृति है। बीमार मनोवृति वाला पुरुषवादी समाज बहुत समय से स्त्री का 'पीछा' करता रहा है। अपने इस काम के लिए वह अपने समय में उपलब्ध हर तरह के साधनों का बखूबी इस्तेमाल भी करना शुरू कर देता है। आज तकनीकी साधनों को भी इस मकसद के लिए साधने में माहिर हो चुका है. आज के कम्प्यूटर वाली शब्दावली में कहा जाये तो यह पीछा किये जाने का 'डिजिटल रूप' है। कहानी में इसे और इससे उभरी पीड़ा को रेखांकित किया गया है। फोन, मेल, लैपटाप आदि साधनों के माध्यम से यह 'ई-पीछा' बंद कमरे में भी पहुंचने की ताकत रखता है ऐसे में अकेले छुप जाने की हजार कोशिशें भी तार-तार हो जाती है। यह बंद कमरे में भी घनघोर मानसिक दबाव और संत्रास का कारण बन जाता है। कहानी की कथानायिका शुभांगी का पीछा इसी तरह किया जाता है। उसका पीछा करने वालों में, उसके आसपास के रोजाना मिलने-जुलने वाले लोगों के साथ-साथ उससे हजारों किलोमीटर की

दूरी पर बैठी उसकी माँ और उसके परिवार के लोग भी शामिल है। इस कम में उसका विदेशी पति भी शामिल है। इस दोहरे दर्द को बताने के लिए ही यह कहानी कही गयी है।

भारतीय विश्वविद्यालयों की सामाजिक-सांस्कृतिक-शैक्षिक परिवेश की अंदरूनी परतों से हम सभी स्पष्ट रूप से परिचित है। पश्चिमी देशों के 'विश्वविख्यात' विश्वविद्यालयों के परिवेश की अंदरूनी परतों से हमें कथानायिका अपने शैक्षिक-जीवन की घटनाओं के माध्यम से परिचित कराती है। "क्लास में केवल पढ़ाई होनी चाहिए, लेकिन भयानक राजनीति खेली जा रही थी। युद्ध की रणनीति की क्लास पढ़ाने वाले जर्मन प्रोफेसर, कुछ अजब अधूरे वाक्यों में उसकी कुछ कहानियों के नायकों के नाम ले रहे थे। नस्लवाद संबंधी कुछ फिरके कसने के बाद, वह अपनी माँ का भी हवाला देते हुए सिद्धान्त बघार रहे थे, ''माई 81 इयर्स ओल्ड मदर'', वाक्य यहीं तक सुना था शुभांगी ने, और अपनी मर्जी से पूरा कर लिया था, ''आँफटेन गिव्स मी अ जर्मन आई सीम टू लैक!'' कथा नायिका का अपनी मर्जी से जोड़ा गया वाक्य उसका पीछा किये जाने और नस्लवाद की भयावह स्थिति और पीड़ा झेलने के बाद ही संभव हुआ होगा.। यह कहानी अपने इस सच के साथ विदेशी अकेदमिक दुनिया के बनी बनाई छवि को खंडित ही नही करती बल्कि कथानायिका के साथ होने वाले व्यवहार को सामने ला एक भयावह तस्वीर में बदल देती है। कथानायिका के साथ नस्लवादी व्यवहार बार-बार होता है। दूसरे देश की स्त्री के सवाल पूछने पर अंतिम हस्र भी 'स्त्री-विरोध और नस्लवाद' की कहानी बया करता है। ''उन हमवतन प्राध्यापिका से इतर, एक जर्मन प्रोफेसर के कैंपस से बाहर, सिनेमा हाल तक पीछा करने पर और उनकी छात्र-छात्राओं के भयानक प्रहार करने पर, जब उनसे सवाल किया कि ये पीछा आखिर कैसे और क्यों है, तो पुलिस, यानि कैंपस पुलिस, उसके ठाणे, यहाँ तक कि जेल का भी चक्कर लगवा देने के बाद,उसे देश, निकला मिला था।''

कथानायिका का पीछा करने वाले और उसके प्रति नस्ली दृष्टि वाली जमात इतनी ताकतवर और सधी चाल चलने वाली है कि वह अपने साथ उसकी माँ को भी अपने साथ शामिल कर लेती है। जो माँ कुछ दिन पहले तक अपनी बेटी के परदेश में बड़ी पढ़ाई करने की बात पर फूले नही समाती होगी, वही माँ फोन आदि तकनीकी माध्यमों से अपनी बेटी पर नजर रखने में भी जुट जाती है। अपने परिवार वालों को अपनी निगरानी में शामिल होते देख कथानायिका का अपने आप को बुरी तरह अकेला महसूस करती है। ऐसा होना पूरी तरह स्वाभाविक है। यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि माँ का 'हैकिंग' में शामिल होना पूरी तरह उन्ही ताकतों का सफल प्रयास है जो शुभांगी के पीछे पड़े हुए है। इन ताकतों को भारतीय परिवारों की सामन्ती पुरुषवादी बुनावट की बखूबी पता है। उन्हें पता है कि भारतीय परिवार कैसे अपने घर की स्त्रियों के 'प्रेम' व्यवहार को नियंत्रित करता है।

कथानायिका के हार न मानने की सकारात्मक जिद उसके व्यक्तित्व की एक विशिष्टता के तौर पर इस कहानी में उभरती है। बार-बार टूटने, रिश्तों तक के खोने के बाद भी नये सिरे से लड़ने और फिर से अपना हिस्सा पा लेने के साथ अपनी जगह बना लेने की उसकी यह जिद रेखांकित किये जाने की मांग करती है। कहानी का अंत कथानायिका की जगह कथा के पाठक के समक्ष यही चुनौती खड़ी करता है। ''दो दिन बाद, जब बीते इन्टरव्यू की चिट्ठी देखी तो सन्न रह गयी, किसको हक था एक भूतपूर्व प्रेमी से ये बतवाने का कि उसकी चिट्ठी आई है? अगर नाहक फिर उसके कमरा बदलने से पहले, उसने लेटर बाक्स का पचड़ा न किया होता, तो वह जरूर गुजरते में अपनी चिट्ठी देख चुकी होती। या शायद देख चुकी होती। पर अब ये चिट्ठी न देकर, दुबारे का काम करवाना दरअसल, तीसरी बार का तोड़कर जोड़ना था, और सुर्खी, चूना, गिलावा, बालू, गिट्टी सीमेंट से भी लाख जोड़ने पर जुड़ नही पा रही थी, वह इस बार के काम से, कुछ नही का एक बहुत बड़ा प्रदेश,तेजी से दौड़ता हुआ, उसकी ओर चला आ रहा था।''

अपने कथ्य में एक जरूरी हस्तक्षेप करने वाली कहानी बतकही वाले अंदाज में कही गयी है। 'मैं कासे कंहू अपने जिया की' की समस्या साहित्य में नही होती है। साहित्य के तमाम रूप हर तरह के सुख-दुःख को कह लेने और सुन-समझ लेने की क्षमता से सपन्न होती है। इन सभी को अपने पाठक भी मिल ही जाते है। यह कहानी पाठक को अपने पास बिठा अपना दुःख कहने की कहानी है। 'दुःख' का विस्तार उसको भलीभांति और संवेदनशील स्तर पर जुड़ जाने बाद ही संभव होता है।

कहानी में कई टिप्पणियाँ एक सचेत पाठक को कथा नैरेटर की मानसिक-वैचारिक स्पष्टता के प्रति सचेत करती है। जैसे एक जगह पर "चिंकी लड़कियाँ' पद का प्रयोग सदमे की तरह लग सकता है। यह पद हमारे आसपास किस अर्थ भंगिमा के साथ प्रयोग किया जाता है? एक ऐसे पात्र के मुंह से, जो खुद 'नस्लवादी स्थितियों' को झेल रहा है और लड़ रहा है, इस तरह की शब्दावली का प्रयोग सदमा ही पहुंचा सकता है।

कई कहानियां समझदार और सचेत पाठक की मांग करती हैं। बहुत हद तक यह कहानी भी इसी तरह की है। यह इसकी ताकत और कमजोरी दोनों एक साथ है। अगर सावधानी और सजग रहते हुए इस कहानी को न पढ़ा जाए तो कथ्य और संदर्भों के छूटने का खतरा बना रह सकता है। अपने कथ्य की गहरी संवेदनशीलता के साथ यह कहानी अपने बुनावट में बहुत नाजुक और बेलबूटेदार बनाये जाने की कोशिश है जिसके कारण सावधानी और सजगता की मांग जरूरी हो जाती है।□

पता : डी ए 51 बी हरिनगर, घंटाघर नई दिल्ली-64
मो. : 09868000221

कविता की कहानी 'कोखघर' पर

आलोचना

मुक्ति की नई ज़मीन की तलाश

n सौरभ शेखर

विज्ञान और प्रौद्योगिकी की तरक्की ने एक ओर जहाँ मनुष्य का जीवन ज्यादा सुविधाजनक और भौतिक अर्थों में सुखद बनाया है वहीं मानवीय संबंधों में नई जटिलताएं भी पैदा की हैं। बल्कि हाल के वर्षों में चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में हुए चमत्कारिक अनुसंधानों ने दांपत्य, प्रेम और विश्वास के सहज समीकरणों को भी उलट-पुलट दिया है। ये वैज्ञानिक परिघटनाएं न सिर्फ युगों पुराने सांस्कृतिक मूल्यों और अवधारणाओं को चुनौती दे रही हैं, बल्कि समकालीन सामाजिक नैतिकता को भी पुनर्परिभाषित कर रही हैं। लेकिन जैसा कि हर उथल-पुथल और आलोड़न के साथ होता है, इन सबसे हमेशा कुछ नई जमीनें निकल आती हैं। कविता की कहानी 'कोख घर' की कथा-भूमि विज्ञान और तकनीक की इसी सरपट रफ्तार के समानान्तर सशक्तिकरण की नई संभावनाएं तलाशने की कश्मकश से उपजी है।

'सरोगेसी' या किराए पर कोख देना एक ऐसी बात है जो हकीकत में ढलने के बावजूद आज भी हमारे मन में भारी कौतूहल जगाती है। आखिर यह कैसे संभव है? एक स्त्री अपने गर्भ में किसी और का बच्चा कैसे पाल सकती है? सामान्य गर्भधारण की तुलना में यह कितना असहज और कष्टप्रद होगा? और बच्चा जनने के बाद कोई औरत उसे उसके जैविक माता-पिता को सौंप कर एक झटके में उससे जुड़े तमाम भावनात्मक तंतुओं को कैसे तोड़ फेंकती होगी? वो कौन सी निर्मम परिस्थितियां हैं जिनमे एक स्त्री अपना कोख किराए पर देने को तैयार हो जाती है? क्या इसमें कहीं किसी अंश में परहित के लिए आत्मोत्सर्ग का मानवता का उच्चतम आदर्श भी निहित होता है या यह सिर्फ और सिर्फ आर्थिक हितों से जुड़ा फैसला होता है? 'सरोगेसी' के लिए तैयार होने वाली स्त्री का परिवार इसे कैसे स्वीकारता है? उसका पति क्या सोचता है? क्या समाज के नजरिये में कोई बदलाव मुमकिन है? और सबसे बढ़ कर कि क्या औरत अपनी जाहिर सी कमजोरियों को भी ताकत में तब्दील कर सकती है? कविता अपनी इस कहानी में कमो-बेश इन तमाम सवालों से मुखातिब नजर आती हैं।

'कोख-घर' कविता की अधिकाँश अन्य कहानियों की तरह 'स्ट्रीम ऑफ कांशसनेस' शैली में लिखी गई है। कहानी मंथर गति से और फ्लैशबैक में आगे बढती है। सुलभा कहानी के केंद्र में है। उसने घरवालों की मर्जी के विरुद्ध सुदीप से प्रेम विवाह किया था। मगर सुदीप उसे जिन्दगी में कोई सुख नहीं दे सका। गृहस्थी में पैसे की तंगी का आलम यह है कि पांच साल की बेटी स्कूल तक नहीं जा पा रही। स्वप्नदर्शी सुदीप शादी के आठ साल बीत जाने के बाद भी उसे सिर्फ सुनहरे सपने ही दिखा पाता है। ऐसी घोर आर्थिक विवशता में सुलभा को 'सरोगेसी' के विज्ञापन में एक रास्ता दिखाई पड़ता है. मगर सुदीप का 'संस्कारित' पुरुष अहम् इस खयाल की कल्पना तक नहीं कर सकता कि उसकी बीवी की कोख में किसी और का बच्चा पलेगा। बहरहाल, सुलभा सुदीप के टुच्चे अहम् की बलिवेदी पर अपनी जायज महत्वाकांक्षाएं कुर्बान करने से इनकार कर देती है। वह सुदीप के लिए एक चिट्ठी छोड़ कर बेटी गुड़िया का हाथ थाम 'सरोगेसी' के लिए दिल्ली निकल पड़ती है। बाद में कैथरीन नाम की विदेशी महिला का बच्चा अपनी कोख में धारण करने के क्रम में वह जिस प्रकार की शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं से गुजरती है, वह 'सरोगेसी' की अत्यंत मुश्किल प्रक्रिया को बयान करने के लिए काफी है। सुलभा, एक ओर सुदीप की अहमजन्य उपेक्षा से आहत हैं, वहीं अपने रक्त-मांस से सींचे बच्चे को कल को किसी और को सौंपने का खयाल भी उसे लगातार मानसिक दंश देता है। सुलभा निःसंदेह ये सारे कष्ट अपनी बेटी को एक बेहतर भविष्य देने के लिए सह रही है, मगर कहानी का वह प्रसंग अत्यंत मार्मिक है जहाँ 'कैथरीन', वह विदेशी स्त्री जिसके लिए सुलभा अपना कोख किराए पर दे रही थी, की आँखों में तैरते कृतज्ञता भाव का जिक्र आता है। सच है, तमाम भौतिकवाद के बावजूद मातृत्व जैसे कोमल भाव कभी भी पैसे से नहीं तोले जा सकते। भारत जैसे देश में व्याप्त गरीबी और सक्षम चिकत्सा तंत्र का युग्म-वैचित्र्य धनी देशों के निवासियों की निगाहों में भले ही हमें 'सरोगेसी' के लिए सबसे आकर्षक स्थल बनाता हो, मगर इस कारोबार में अभी बाजार की चारित्रिक संवेदनशून्यता आने में बहुत वक्त लगेगा।

सुलभा दिल्ली में जिस 'मातृ सदन' का विज्ञापन पढ़ कर आई थी, वहां उसे अपने स्वभाव के अनुकूल दो और सहेलियां भी मिल जाती हैं। पहली बिंदास रेशमा और दूसरी नीमा। रेशमा दिल्ली के कारोबारी मुस्लिम परिवार की बहू है। परिवार संयुक्त है, सो बंदिशें भी तमाम

हैं। रेशमा एक महत्वाकांक्षी लड़की है, जो 'सरोगेसी' इसलिए चुनती है कि वह अपने पैसे के बूते मौजमस्ती करना चाहती है। उसका पति गुलाब उसे प्यार करता है और घरवालों के खिलाफ जा कर इस काम में उसकी मदद करता है। वह बाकायदा 'मातृ सदन' में उससे मिलने भी आता है और कभी-कभी तो उनकी हंसी निषिद्ध समय के बाद भी सुनाई पड़ती है। रेशमा इस कदर बेपरवाह है कि न तो मजहबी रिवाजों को कोई भाव लगाती है और न ही गर्भावस्था के दौरान बरती जाने वाली सावधानियों को ले कर गंभीर है। उसे अपनी इस लापरवाही का खामियाजा दर्दनाक गर्भपात के रूप में उठाना पड़ता है। वहीं नीमा की अलग त्रासदी है। नीमा सौतेले बाप और स्वार्थी माँ की ज्यादतियों से बचने के लिए दिनेश के साथ घर से भाग निकलती है। हालांकि, वह दिनेश की निष्ठा के प्रति शुरू से सशंकित थी, मगर घर के नारकीय जीवन से बाहर निकलने का कोई भी रास्ता उसे मंजूर था। आशंका के मुताबिक, दिनेश कुछ ही दिनों बाद उसे छोड़ कर रफूचक्कर हो जाता है। हमारे तथाकथित प्रगतिशील समाज और कल्याणकारी लोकतांत्रिक राजनीति के लिए इससे बड़ा शर्म और क्या हो सकता है कि नीमा जैसी एक लड़की जो अल्पशिक्षित है, जो परिवार और प्रेमी द्वारा छली गई अविवाहिता है, दिल्ली जैसे महानगर में उसे सम्मानजनक जिन्दगी का एकमात्र जरिया 'सरोगेसी' दिखाई पड़ता है। नीमा उस तंत्र की बेहयाई को बेपर्दा करती है जो अपनी तरुणियों को एक 'गिनी पिग' बनने और अपनी कच्ची कोख को 'कोख-घर' में उधार रखने के लिए मजबूर करता है।

बहरहाल, कहानी का क्लाइमेक्स कहानी की जान है। 'मातृत्व' को सदैव स्त्री की सबसे बड़ी विशेषता मानते हुए भी उसकी कमजोरी की तरह ट्रीट किया गया है। सच भी यही है कि पितृसत्ता ने औरत को हेय साबित करने और उसे भावनात्मक बेड़ियों में जकड़ने के लिए पूरी कुटिलता और चालाकी से इसी 'मातृत्व' का दोहन किया है। दुनिया भर के विभिन्न फेमिनिस्ट आंदोलनों ने पहले भी 'मातृत्व' के सन्दर्भों में इस मर्दवादी राजनीति की पहचान की है और कई बार इसकी परिणति समलैंगिक संबंधों और मातृत्व के नकार तक में हुई है। मगर, कविता अपनी इस कहानी में मुक्ति की एक नई और संभावित जमीन इसी 'मातृत्व' में तलाश करती हैं। सुदीप थक-हार कर अपनी गलती मानते हुए सुलभा को खत लिखता है और उससे घर वापस लौट आने की गुजारिश करता है। सुलभा एक क्षण को तो जरूर विचलित होती है, मगर अंततः वह सुदीप की इस मौकापरस्ती के जाल में फंसने से इनकार कर देती है। यहाँ नीमा और सुलभा के किरदारों में तुलना जरूरी है। 'सरोगेसी' का विकल्प दोनों स्वेच्छा से चुनती हैं, मगर यह समझना जरूरी है कि नीमा का किरदार जहाँ एक सामाजिक त्रासदी है, वहीं सुलभा अपना मुकद्दर खुद लिखने वाली एक खुद्दार और बेदार औरत है। 'मातृत्व' उसके लिए न तो बंधन है और न ही बेड़ी। 'मातृत्व' उसकी कुदरती खूबी है। और सुलभा इस रहस्य को जान चुकी है।

बहरहाल, कहानी का जरूरत से ज्यादा लम्बा होना उसकी धार को कुंद करता है। आज लंबी कहानी लिखने का एक फैशन सा बन चुका है। लेकिन यह पाठकों को कहानी से दूर भी धकेल रहा है. कविता 'कोख-घर' में अनावश्यक ब्योरों और गैरजरूरी दार्शनिकता से बचने में तो जरूर कामयाब रही हैं, मगर 'अनिंदिता' के सब-प्लाट को फिजूल में तूल दिया गया है। अनिंदिता के बहाने 'सरोगेसी' के बारे में कुछ अहम् तथ्य जरूर सामने आते हैं, मगर उसके दिवंगत माता-पिता का प्रसंग कहानी में कतई अनपेक्षित था। कहानी में असली प्रभाव उसके विषद होने से नहीं, सुसंबद्ध होने से उत्पन्न होता है। ▫

पता : एफ.एफ.-13, वरदान अपार्टमेंट, अभय खण्ड 3
इंदिरापुरम, गाजियाबाद-201010
मो. : 09873866653

(पृष्ठ 190 का शेष)

अधिकारियों को ब्लैकमेल भी करने लगे थे। आख़िर कब तक चलता यह सब। एक दिन अधिकारियों ने मिलकर राय को वी.एस.आर लेने पर मजबूर कर दिया। इस प्रकार, राय पुनः वहीं पहुँच गए, जहाँ से चले थे।

कहानी, मिस्टर राय के माध्यम से निम्न-मध्य वर्ग के संघर्षों, उसके उत्थान और नैतिक भ्रष्टाचार को उजागर करती है। इसी के समानांतर 90' के दशक की नई आर्थिक नीतियों के तहत पलने वाली नव-औपनिवेशिक दासता और बाज़ारवाद की पड़ताल करती है। बड़े बारीक ढंग से लेखिका दिखाती हैं कि मध्यवर्ग जब नव धनाढ्य वर्ग में तब्दील होता है, तो उन्हीं अय्याशियों का लुत्फ उठाता है जिनका पहले वह स्वयं शिकार होता है। यह भी गौरतलब है कि इन नवीन परिस्थितियों से व्यक्ति ने अगर कदमताल नहीं की तो उसका बाज़ार के भँवर में फंसकर ढेर होना तय है। वास्तव में, आज के उत्तर आधुनिक विमर्शों के बीच उदारीकरण की परिस्थितियों की समाज दशा का चित्रण करती यह कहानी मिस्टर राय के मार्फत पूरे भारतीय समाज को बेनकाब करती है।

फ्लैशबैक शैली में लिखी गई कहानी की भाषा एकदम सरल और सहज बोधगम्य है। मुंबई के कुछेक देशज शब्दों को पिरोकर लेखिका ने मराठी संस्कृति को जीवंत किया है। साथ ही कुछ जरूरी और प्रसंगानुसार अंग्रेजी के शब्दों को रचकर कहानीकार ने भाषिक संवेदना के साथ न्याय किया है। चुनांचे, कहानी पठनीय तो है ही, विचारणीय भी है।

पता- 24, मिलिनी पार्क, लखनऊ विश्वविद्यालय परिसर
लखनऊ-226007
मो. : 09451945847
ईमेल : rush2ravikant@gmail.com

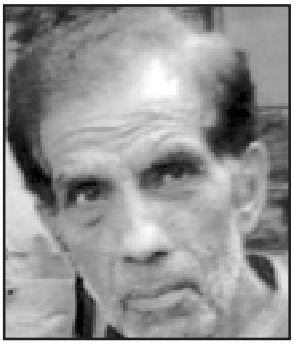

दया दीक्षित की कहानी 'वक़्त वक़्त की बात' पर **आलोचना**

अतीतोन्मुखी भविष्य में हस्तक्षेप

n प्रताप दीक्षित

कहानी का जन्म कब हुआ यह कहना कठिन है। रिचर्ड बर्टन के अनुसार कहानी संसार की सर्वाधिक प्राचीन विधा है। कहानी की सर्वसम्मत परिभाषा करना भी दुष्कर है। प्रेमचंद ने कहा है कि, 'कहानी ऐसा उद्यान नहीं जिसमें भांति भांति के फूल खिले हों। बल्कि एक गमला है जिसमें एक ही पुष्प का सौरभ सम्मुनत रूप में दृष्टिगोचर होता है।' कहानी के आधुनिक रूप का प्रादुर्भाव प्रेमचंद से हुआ निर्विवाद है। आधुनिक जीवन के बदलते परिवेश में इसकी जो छवि विकसित हुई है, इसका कारण इसकी युगबोध चेतना है। संप्रति, मनुष्य और समय की आकांक्षाएं, विश्वास, आस्थाएं, सपने सब बदल चुके हैं। कहानी इस निरन्तर परिवर्तित समय के नए संदर्भों-मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बन गई।

समय ओर उसके जटिल यथार्थ को कहानी ने लगातार अन्वेषित करने के लिए प्रतिबद्ध रही। उत्तर औपनिवेशिक, काल में मुक्त बाज़ार, विज्ञापन तंत्र, अपराध माफिया, क्रूर महत्वाकांक्षाएं, अनैतिक होड़, अमानवीयता, हिंसा-बलात्कार की विकृतियां, संवेदना का क्षरण, रुणा की व्यर्थता, भाषा का अवमूल्यन आदि के पूरे परिदृश्य ने मनुष्य को न केवल हतप्रभ किया बल्कि उसके मनुष्य होने के अर्थ पर ही प्रश्नचिन्ह लगा दिया।

कहानी में पहली बार उत्तरोत्तर आदमी की सही और गहरी आन्तरिक सत्ता का खनन के साथ ही उसके आन्तरिक रचाव अनुभव की प्रमाणिकता का सवाल भी उठाया गया।

सामजिक परिवर्तन के प्रभाव सबसे पहले स्त्री-पुरुष संबंधों ओर परिवार पर पड़ते हैं। स्त्री पुरुष के बीच दूरी आने के क्या कारण होते हैं? इस परिदृष्य में महिला रचनाकारों ने स्त्री विमर्श के क्षेत्र में महत्वपूर्ण हस्तक्षेप किया है। साहित्य जगत में विमर्शों के संबंध में सहानुभूति और स्वानुभूति के प्रश्न उठते रहे हैं। लेखकों ने स्त्री से संबंधित समस्याओं-विमर्शों पर गंभीरता से लिखा, लेकिन जब महिला कथाकारों ने स्वयं कलम उठाई तब यथार्थ और संवेदना के उन आयामों को खंगाला गया जहां अभी तक संभव नहीं हुआ था। यह रचनाएं घटित के प्रति मात्र दृष्टा की तटस्थता से नहीं बल्कि असहमति के साथ सजग हस्तक्षेप करती हैं। इन कहानियों के केन्द्र में स्त्री का अपना आकाश, प्रेम दाम्पत्य के द्वंद्व, अन्तर्विरोध, विसंगतियां हैं। दूसरी ओर उसकी अपनी अस्मिता-स्वाधीनता और स्वनिर्णय के अधिकार के लिए असमाप्त संघर्ष है।

दया की इस कहानी में स्त्री की पीड़ा, संघर्ष और प्रतिरोध व्यक्ति से प्रारंभ होकर सामजिक संघर्ष का प्रतिफलन बंन जाता है। लेखक का सीधा और गंभीर रिश्ता उसके अपने वर्तमान ओर निजी अतीत से होता है, परंतु समाज निरपेक्ष नहीं। पतनशीलता ओर विघटन के प्रति कहानी केवल दृष्टा बन कर 'जग का मुजरा' नहीं लेती, बल्कि असहमति से आगे बढ़ कर सजग हस्तक्षेप करती है। कहानी इसी तथ्य को प्रमाणित करती हैं।

'वक़्त वक़्त की बात' के स्त्री चरित्र अपने अपने तरीके से अन्याय, शोषण ओर पुरुष वर्चस्व वाली व्यवस्था से विद्रोह करते हैं। कहानी का कथ्य दुर्गी पर उसके पति भूपत के अमानवीय अत्याचार, शारीरिक-मानसिक-भावनात्मक प्रतारणा, उपेक्षा और उसकी सखी-परिजन धमनावाली जिज्जी के हर कदम पर उसके साथ खड़े होने, अन्ततः दुर्गी का उसके अपने देवर नरेन्द्र से संबंध बनने, उसके बच्चों की माँ बन कर बिना विवाह किए खुले आम उसके रहने तक के अतीव साहस के इर्द-गिर्द विकसित हुआ है।

कहानी का प्रारंभ एक दृश्य चित्र से होता है-काम-धाम निपटा कर...बगिया में निकल आई दुर्गी। पांच कमरे, आंगन, बरामदा, रसोई, छत, छत पर का बड़ा सा हाल...इतने बड़ घर में दुर्गी को सबसे अच्छी यही बगिया लगती है। जब ब्याह कर आई थी, तब उजाड़ सी थी ये बगिया। ...दुर्गी ने मेहनती थी, सो धीरे धीरे उसने झाड-झंखाड खोद खोद कर फेंक दिए। उनकी जगह छोटी छोटी क्यारिंया बना लीं। ...इन मंजरियों की सुगंध फूलों से मिल कर विलक्षण सुगंध संसार रचती है।' कहानी की यह बगिया स्त्री के सपनो-आकांक्षाओं का प्रतीक है। कमरे-आंगन मकान होते हैं। स्त्री उन्हे घर में परिवर्तित करती है। परंतु वही उसका बनाया घर एक दिन उसका अपना नहीं रह जाता, बेगाना हो जाता है। उसकी शरणस्थली उसकी अपनी पोशी बगिया अर्थात उसके सपने बनते हैं। परंतु जरूरत उन सपनो के दर्द को बांटने के लिए किसी साथी की होती है। धमनावाली जिज्जी (किरन) उसे ढाढ़स बंधाती हैं, मनोबल बढ़ाती हैं। मित्रता-अपनापे में उम्र बाधक नहीं बनती। फिर किरन तो 'दुर्गी से ज्यादा बड़ी नहीं हैं। दूसरी ओर स्त्री ही स्त्री की शत्रु भी बनती है-'काम-काज तो हमने सब कर लिया, लेकिन डुकरो (सास), बांदी-गुलाम की तरह चौबीस घंटे की हाजिरी चाहती हैं अपने ढिंगे।'

ऐसा माना जाता है कि विवाह स्त्री के मन और जीवन को ही नहीं नारीत्व की बुनियाद को पूरी तरह बदल देगा। वह अपने भावी पति के संबंध में कितने सपने संजोए रहती है। परंतु दुर्गी के सभी सपने पहली ही रात दुःस्वप्न में बदल जाते हैं। 'अंतरंग पल छिनों मे थे तो हमारे संगी, पर बातें करते रहे उसी चाची की फिर एकदम से क्या सूझा कि मुँह मोड़ कर करवट बदल ली...हमारी तरफ उनकी पीठ।'

पति की क्रूरता का प्रमाण है कि जब भूपत बगिया में आता है तब दुर्गी ही नहीं बगिया भी सहम जाती है। पति द्वारा दुर्गी को रबड़, लातों-घूसों से अमानवीय ढंग से मारने पीटने के बाद उसके नग नग दुखते शरीर में इसके अतिरिक्त सोचने को क्या रह जाता है कि, 'कैसे कटेगी जिंदगानी'। यह सवाल केवल दुर्गी का नहीं हजारों वर्षों से पूरी स्त्री जाति का है। फिर भी वह सहन कर रही है। शायद इसीलिए स्त्री को धरती के सामान माना गया है। धरती तो जाने कब से उत्खनन बर्दास्त कर रही है। वह तो अपना आक्रोश ज्वालामुखी, पहाड़ों के भूस्खलन, भूकम्प आदि से प्रकट कर देती है परन्तु स्त्री शिकायत की सिकन भी चेहरे पर नहीं लाती। परंतु सभी स्त्रियां दुर्गी की तरह नहीं होतीं। यह अनाहक नहीं कहा गया है कि स्त्री के चरित्र को मनुष्य क्या देवता भी नहीं जानते। यही प्रकृति का दिया 'रहस्यमय चरित्र' उसका रक्षा-कवच बनता है। आशा, भूपत की चाची का कथन इसका प्रमाण है- 'हम इतने भोले नही हैं, जितना तुम समझते हो। हमें इन बातों का इल्म है। नरेन्द्र गहरी बात है, मायके के नाम पर तुम और ससुराल के नाम पर यही परिवार है हमारा। ... पैसा ही तो लेते हैं (भूपत) सो लेते रहें, दो-दो घंटे चांपते रहते हैं भूपत हमारे चरन, फिर चरनो के नीचेई सो जाते हैं, ऐसा चौबीस घंटे का नौकर कहां धरा और इतना ईमानदार? पहले के समय में जमींदार, सेवादारनी और रखैलें पालते थे, हमाई जान में हमने तो पाल लिया गद्दर सुआटा!'

दुर्गी के अन्दर की तहों में प्यार छिपा हुआ है। जब कोई प्रेम में होता है तब सब कुछ सुन्दर लगने लगता है। उसकी सुख-दुःख की संगिनी बगिया में 'शीतल वायु के झोंकों से जी जुड़ा जाता है।... कुछ पाखी पखेरुआ चोंच से चोंच भिड़ाए जाने बातें कर रहे थे, कि प्रीत लगा रहे थे। क्या कर रहे थे, यह कौन जान सकता था।

उसके मन में सोया हुआ प्रेम देह के स्तर पर तब जागता है, जब उसे रात में बूढ़े सास-ससुर की प्रेम करती फुसफुसाहटें सुनाई पड़ती हैं। दूसरी ओर नरेन्द्र के मन में दुर्गी, जिसके साथ उसकी लगन की बात उठी थी, के प्रति हमदर्दी प्रेम में परिवर्तित होती जा रही है। छोटी छोटी बातें, रसोई बनाने में अपनी भाभी दुर्गी की मदद इसे व्यक्त करती हैं। नरेन्द्र उस पुरुष का प्रतीक है जो स्त्री पर अत्याचार के विरोध में सदैव सक्रिय रहता है। इसी लिए वह अपने मातहत का तबादला करा देता है।

दूसरी ओर भूपत बेबात में पत्नी से मार-पीट, उपहास, उपेक्षा बढ़ते जा रहे हैं। पति द्वारा स्त्री को दिए जाने वाले घरेलू उपकरण प्रकारान्तर से पुरुष-पति की सुख-सुविधा, उपयोग के लिए ही होते हैं।

दुर्गी और नरेन्द्र के पहली बार स्थापित हुए संबंध को लेखिका ने कलात्मक अभिव्यक्ति दी है-'दुर्गी गैर होस सी जैसे सपना सा देखने लगी...सन्निपात से बावरी दुर्गी बर्रा रही है...ये बटन खुल गए. ...उर का ऐसा ओज देख नरेन्द्र की ऑखें चौंधिया गईं। ...बसंत की गीली सांझ में ईसुरी की फागों के रंग घुल रहे थे। खुल रहे थे, खिल रहे थे।' यह संबंध भले ही आकस्मिक हों, परोक्षतः यहां पहल दुर्गी की तरफ से हुई है। इसके पीछे यदि दुर्गी की जाने कब की दैहिक अतृप्ति है, तो दूसरी तरफ उसके मनोवैज्ञानिक स्तर पर अवचेतन में छिपा-दमित विद्रोह भी। वस्तुतः स्त्री अस्मिता-अस्तित्व को परिवार-समाज द्वारा स्वीकृति देने में उसके चरित्र-पवित्रता की अवधारणा ही सबसे बड़ी बाधा है। 'इफ कैरेक्टर इज़ लॉस्ट, एवरीथिंग इज़ लॉस्ट' वास्तव में स्त्रियों पर ही लागू होता है। दैहिक सीमाओं का अतिक्रमण संभवतः इसी अवधारणा के प्रति विद्रोह बन कर उभरता है। समकालीन समय में इस तरह के वर्णनों के बहाने लेखक द्वारा ली गई शृंगारिक-स्वतंत्रता की तुलना में कहानी में संयम बरता गया है।

दुर्गी का इसके बाद का व्यवहार इस सत्य को निरूपित करता है कि प्रेम में समर्पण और उसकी प्रमिल स्वीकृति स्त्री का वाह्य और आंतरिक रूप निखार देती है। इसके बाद दुर्गी की गर्भवती होना, भूपत द्वारा अमानुषिक अत्याचार, उसे नग्नावस्था में घर से निकालना, पड़ोस-मोहल्ले के लोगों की गैर जरूरी तटस्थता जैसे अनिवार्य सरोकार कहानी में आते हैं जिनके वर्तमान सामाजिक व्यवस्था, नैतिकता के आधार, विवाह और परिवार्य जैसी समस्याओं को कहानी में रचनात्मक स्तर पर प्रश्नांकित किया गया है।

इन तमाम प्रश्नो-समस्याओं के एक विकल्प के साथ कहानी समाप्त होती है जब नरेन्द्र और दुर्गी पति-पत्नी की भांति बिना विवाह किए हुए रहने लगते हैं। उनके दो पुत्र हो चुके हैं। दुर्गी ने तो बहुत कहा विवाह के लिए परन्तु नरेन्द्र कवाह की निस्सारता बताता है-तुम्हें क्या मिला विवाह करके? तुम हो, बच्चे हैं, और हमें क्या चाहए? वैधानिक रूप से वह भूपत की ही पत्नी है, दिखाने के लिए। भूपत को पुलिस में लिखाई गई रिपोर्ट ने शांत कर दिया है। समाज के संबंध में धमानावाली जिज्जी किरन ने समझा दिया है-'समाज के पास एक ही बात नहीं है, और भी कई काम, बाते हैं। जमाना देख रही हो नित रोज की नई नई बातों में ये तुम्हारी पुरानी बातों को पूछने की किसको पड़ी है?' समाधान प्रस्तुत कर देती है। कहानी किसी निष्कर्ष और समाधान पर तो नहीं पहुंचती परन्तु वह विचार और विमर्श के लिए विषय प्रवर्तन अव य करती है- 'सतीत्व, वफादारी, पवित्रता के बंधनों में जकड़े संवादहीन, क्षत-विक्षत रिश्तों के दिखावे के साथ, एक ही ही छत के नीचे रहने की विवशता के बीच 'चरित्रवान-दुखी-दम्पति' अथवा थोड़ी सी स्पेस देते हुए लेकिन एक दूसरे के प्रति असीम प्रेम में समर्पित 'बेवफा-दम्पति' में किसकी जरूरत है।

प्रत्येक रचना अपने विषय-परिवेश के अनुसार शिल्प और भाषा लेकर आती है। कहानी में प्रयुक्त मुहावरे, भाषा की आंचलिकता-हिलोर, ममतालु, अपने ढिंग, गसी-फसी, कपड़ा-लत्ता से होना, सिर्रिन बिना कहे व्यक्त किए उस ग्रामीण-कस्बाई परिवेश का ंचित्र उपस्थित कर देते हैं जहां जहां स्त्री विमर्श की न केवल आहट पहुंची बल्कि सजग हस्तक्षेप हो चुका है-हवलदार को आश्चर्य होता है कि अधपढ़ी स्त्री तहरीर की पावती की कॉपी मांग रही है।

यद्यपि बहुत से प्रसंग और पात्रें की विश्वसनीयता संदेह से परे नहीं है। भूपत के स्वयं रिते मे चाची से अवैध संबंध हैं। ऐसे व्यक्तियों के मन में एक स्वाभाविक अपराधबोध रहता है। ऐसी स्थिति में पत्नी पर उसका अमानुषिक अत्याचार आरोपित प्रतीत होता है। इसी प्रकार इस विषय पर अनेक कहानियां लिखी जा चुकी हैं। परंतु अपनी निष्पत्ति में कहानी केन्द्रीय स्तर पर सड़ी-गली व्यवस्था, पुरुष वर्चस्व के विद्रूप एवं सांमती जीवन पद्धति की विसंगतियों के यथार्थ और प्रतिरोध को निरूपित करती है। शारीरिकता के प्रति जिन वर्जनाओं और संस्कारों के प्रति रूढ़िगत समाज अभ्यस्त है उस नियति के खिलाफ कहानी के माध्यम से एक नए सामाजिक विवक की कहानी तलाश करती है।□

पता : एमडीएच 2/33, सेक्टर-एच
जानकीपुरम, लखनऊ-226021
मो. : 09956398603

इंदिरा ढांगी की 'माल-ए-मुफ्त' कहानी पर

आलोचना

वर्गभेद की विडंबनाओं और लेखकीय संभावनाओं के बीच

n राकेश बिहारी

हिन्दी कहानी में कथ्य बनाम रूप का द्वंद्व हमेशा से चर्चा का विषय रहा है। इतना ही नहीं इस नाम पर हमेशा से कहानी लगभग दो भागों में विभाजित भी नजर आती रही है। काल निर्धारण के क्रम में यथार्थवाद को भले किसी खास काल-खंड से जोड़ कर देखा जाता हो पर अलग-अलग नामों के साथ यथार्थवाद की उपस्थिति और उस पर बहस किसी न किसी तरह कहानी में हमेशा से मौजूद रही है। इसमें शायद ही किसी को संदेह हो कि कहानी यथार्थ की विधा है। लेकिन प्रश्न यह भी है कि क्या सिर्फ यथार्थ को जस का तस रख भर देना ही कहानी के लिए पर्याप्त है? यदि कहानी लिखना एक कला है तो वह पूरी तरह कलाविहीन कैसे हो सकती है? क्या कलाविहीनता यथार्थ की पुनर्रचना में एक बड़ी बाधा नहीं है? क्या कलात्मकता और प्रतिबद्धता दो विपरीतधर्मी अवधारणाएँ हैं? भूमंडलोत्तर कथा-पीढ़ी की निर्मिति और उसके विकास के बीच अलग-अलग पत्रिकाओं के कथा-केन्द्रित विशेषांकों और इनसे इतर सामान्य अंकों में भी ऐसे प्रश्नों पर लगातार चर्चा होती रही है। कहानी की इन दोनों धाराओं को भूमंडलोत्तर कहानी में भी बहुत आसानी से पहचाना जा सकता है। एक वह जो जीवन-यथार्थ से अलग हो कर सिर्फ भाषाई और शिल्पगत कलात्मक प्रयोगों को ही नयेपन का नियामक मानती है तो दूसरी वह जो 'कला के लिए कला' और 'प्रयोग के लिए प्रयोग' के जवाब में एक खास तरह की ठस और कलाहीन अभिव्यक्ति को ही कहानी का असली गंतव्य समझती है। इन दो अतिरेकों के बीच कुछ वैसी कहानियों को भी आसानी से पहचाना जा सकता है जो बिना ऐसी बहसों में पड़े यथार्थ और कल्पना के रचनात्मक सहमेल से कहानी में 'लार्जर दैन लाईफ' की परिकल्पना को साकार करती चलती हैं। विशुद्ध कलावादी कहानियों की तरह घोर यथार्थवादी कहानियां भी कई बार बनावटीपन का शिकार हो जाती हैं। ऐसे में यह प्रश्न उठाना भी स्वाभाविक है कि क्या प्रगतिशीलता, जनपक्षधरता और सरोकारवाद की सीमित समझ के साथ समकालीनता से विलग एक कल्पित यथार्थ को ही कहानी की सफलता का नियामक माना जा सकता है? इंदिरा दाँगी की विवेच्य कहानी 'माल-ए-मुफ्त' से गुजरते हुये कथा-विमर्श से जुड़े ये बुनियादी प्रश्न नए सिरे से अपना सिर उठाते हैं।

यह कहानी अपने पहले ही पाठ में एक नीति कथा के होने का-सा अहसास कराती है। एक जमाना था जब कहानियां नीति कथा के बाने में ही लिखी जाती थीं। लेकिन आज कहानी विधा उससे बहुत आगे निकल चुकी है। कहानी के इस विकास को मूल्यहीनता या अनैतिकता का विकास नहीं कहा जा सकता। दरअसल मूल्य और नैतिकता के बने-बनाए मानदंड जिस तरह ध्वस्त हो रहे हैं और नए तरह के मूल्यों और नैतिकताओं की आचार संहिताएँ रोज एक नया रूपाकार ले रही हैं, उसकी हकीकत और उसमें परत-दर-परत छुपी अभिव्यंजनाओं को विश्लेषित करने में हितोप्रदेशी नीतिकथाओं का-सा शिल्प अक्षम और असमर्थ है। इसके मद्देनजर पहली नजर में तो इस कहानी के प्रकाशनार्थ चयन के औचित्य पर ही संदेह उत्पन्न होता है। लेकिन अगले ही पल संपादकीय विवेक का वह कोना दूर से चमकता दिखाई देता है जो इस कहानी के चयन के बहाने कहानी कला को लेकर हमेशा से चलने वाली उस बहस को समकालीनता के आईने में नए सिरे से परखना चाहता है।

एक ऐसे समय में जब अधिकाधिक ब्योरों से सम्पन्न कहानियाँ लगातार आख्यानपरक और औपन्यासिक होती जा रही हैं, यह कहानी अपने छोटे रूपाकार के कारण अलग से ध्यान खीचती है। लेकिन अगले ही पल इसकी कमजोर बुनावट, कच्ची भाषा, बनावटी यथार्थबोध और वर्गभेद की इकहरी समझ इसकी सीमाओं के रूप में सामने आ खड़े होते हैं। 'माल-ए-मुफ्त' झुग्गी बस्ती की दिनचर्या, वहाँ रहने वालों के जीवन-द्वंद्व, उनके सपनों, उनकी असमर्थताओं आदि के बीच बाजार प्रदत्त नए यथार्थों के निरूपण के बहाने वर्ग भेद से उत्पन्न कसैली हकीकतों को रेखांकित करना चाहती है। लेकिन विषय संदर्भों की अपेक्षित समझ के अभाव में कहानी कई अंतर्विरोधों का शिकार हो गई है और कहानी में वर्णित घटनाओं का समकालीन यथार्थ से ठीक-ठाक संगति न बैठने के कारण कहानी का प्रभाव क्षेत्र भी क्षतिग्रस्त हो गया है। कहानीकार एक खास तरह के कृत्रिम यथार्थ की सर्जना में इस कदर व्यस्त है कि भाषा का सौंदर्य और अनुशासन भी उसके हाथ से कब फिसल जाता है उसे पता ही नहीं चलता। यथार्थ और भाषा की इस बेतुकी जुगलबंदी का एक नमूना दृष्टव्य है ''अदिति नामी अँग्रेजी स्कूल में पढ़ती है। पिछले बरस सरकारी नियम-लॉटरी से उसकी बेटी को दाखिला मिल गया, जहां के बारे में बंगले वाली मेम साहब कहती हैं, इतनी लंबी कतार लगती है उस स्कूल का दाखिला-फार्म लेने को कि दिन बीत जाता है नंबर आते-आते! भोपाल के उस सबसे नामी स्कूल की फीस-वैन किराया तो सरकारी फार्म भरने से मिल जाता है लेकिन वहाँ का स्तर, आर्ट एंड क्राफ्ट वाली क्लासों और स्वीमिंग पूल वाली कक्षाओं में बेटी को बराबर बनाए रखने के लिए कांति ने दो बंगलों का झाड़ू-पोंछा-बर्तनवाला काम और जुटा लिया है। व्याकरण और भाषा के तमाम अनुशासनों से बेखबर इस तरह के लाचार

वाक्य-विन्यास कहानी को ठीक से खड़ा नहीं होने देते और सरोकारवाद के फार्मूले में लिपटा कृत्रिम यथार्थ पाठकों को विकर्षित भी करता है। उल्लेखनीय है कि कहानी में अदिति की उम्र पाँच साल बताई गई है और उसे खुद किताब खोल कर पाठ याद करते भी दिखाया गया है। गौर किया जाना चाहिए कि इस स्तर के स्कूल, बच्ची की उम्र और उसके व्यवहार में कहानी कोई साम्य नहीं रच पाती है। कथाकार एक खास किस्म के आदर्श-रचना की लालसा से इस कदर मोहाविष्ट है कि उसे इन असम्बद्ध और अतार्किक दृश्यों की खबर ही नहीं रहती। चमकदार के लिए 'चमक-चमक रंग, सौन्दर्य प्रसाधन के लिए 'प्रसाधित सौन्दर्य', जिद पर अड़े होने के लिए 'जिद्दाता' जैसे अटपटे भाषाई प्रयोगों के साथ ही 'श्याम शिशु' और 'घिसना पत्थर' जैसे परस्पर विपरीत सौन्दर्यबोधी शब्दों का एक ही वाक्य में अगल-बगल बैठना न सिर्फ कहानी के पाठ में अवरोध उत्पन्न करता है बल्कि कहानी की पूरी संरचना को अव्यवस्थित और ऊबड़-खाबड़ बना देता है।

इस बात पर भी गौर किया जाना चाहिए कि एक तरफ तो कांति सड़क पर मिले हेयर क्लिप को अपनी बेटी अदिति को इसलिए नहीं देती कि यह मुफ्त का माल उसे उसके लिए देखे गए सपनों के मार्ग में अवरोधक लगता है वहीं कहानी के अंत में वह यह सोचती हुई दिखती है कि मुफ्त का वह माल बच्चों में बांटने के बजाय यदि वह अपने घर में ले आती तो यह चोरी कहा जाता। इतना ही नहीं, एक तरफ तो वह बीच राह मिल गए क्लिपों को तमाम गरीब बच्चों में बाँट देती है तो वहीं दूसरी तरफ अपनी बच्ची को न्यू मार्केट में बिकने वाले अपेक्षाकृत ज्यादा कुलीन सामान खरीदने के सपनों के बहाने ठेले पर बिकने वाले उस 'सर्वहारा क्लिपों' से अलग कर लेती है। यह एक खास तरह का विशिष्टता बोध है जो सपना देखने के साथ ही शुरू हो जाता है। कहने की जरूरत नहीं कि इन सपनों के हासिल होने के बाद यही यही विशिष्टता बोध एक दिन वर्ग भेद की खाई को और चौड़ी करेगा। कांति के चरित्र के इन विरोधाभासों को दिखाने का यह मतलब कतई नहीं कि जीवन विरोधाभासों से मुक्त होता है और कहानियों में उनकी जगह नहीं होनी चाहिए। बल्कि सच तो यह है कि ऐसे विरोधाभासों से उत्पन्न विडंबनाएं कहानी को कहीं अधिक व्यंजनापूर्ण और बहुपरतीय बनाती हैं, लेकिन उसके लिए जिस अपेक्षित अनुभव, भाषा-बोध, वैचारिक परिपक्वता और कलात्मक समझदारी की जरूरत होती है वह इस कहानी में सिरे से गायब है। नतीजतन वर्गभेद की विडंबनाओं का मारक आख्यान होने की संभावनाओं से भरी यह कहानी लेखकीय अंतर्विरोध का उदाहरण होकर रह गई है। ▫

पता : एन एच 3/सी 76, एन.टी.पी.सी., विंध्यनगर
सिंगरौली-486885
मो. : 09425823033
ईमेल : biharirakesh@rediffmail-com

आलोचना

भूमिका द्विवेदी अश्क की कहानी 'द लास्ट फ्लाइट' पर

अबूझ पहेली का पल्लिवित रूप

n प्रांजल धर

कई बार कुछ फिल्में ऐसी होती हैं कि उन्हें एक और बार देखने का मन करता है, बावजूद यह जानते हुए कि यह एक घटिया फिल्म है। कई बार ऊब से भरा एक सफर काटने के लिए आदमी कुछ भी खरीद लेता है पढ़ने के लिए, 'वर्दी वाला गुण्डा' से लेकर 'हत्या कर दूँगा' तक के व्यापक और नीरस, दुहरावों और वर्णनों वाले कोई भी 'उपन्यास'। ठीक उसी तरह, जिस तरह गणित की पहेली में हमें तभी तक आनन्द आता है, जब तक हमें उसका उत्तर न पता हो। पर कुछ पहेलियाँ इतनी खूबसूरत होती हैं कि उनका जवाब जानने के बावजूद इंसान उन्हें दुबारा बूझना चाहता है। जवाब भुलाकर उनमें फिर से कोरा बनकर गोते लगाना चाहता है और ऐसा न कर पाने पर इंसान उन्हीं पहेलियों को और लोगों को बुझाता है ताकि सामने वाले व्यक्ति की जिज्ञासा का व्याकरण उसको कोई पुरसुकून छाया दे सके, ''ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे'' की मानिन्द। 'द लास्ट फ्लाइट' भूमिका द्विवेदी अश्क की ऐसी ही एक कहानी है जिसमें शब्दों के जरिये किसी घटना के वृहद वर्णन भर हैं, इस वर्णन में अय्यारी और तिलिस्मी किस्म का रहस्य और रोमांच भी मौजूद है। परिवार के प्रति प्रेम और बेटी के प्रति वात्सल्य इस कहानी की धुरी है। अगर इस 'कहानी' को घनीभूत कर दिया जाए तो असल में यह एक रोचक लघुकथा से अधिक कुछ नहीं है।

अनेक ढोंगियों, तान्त्रिकों, बाबाओं और सन्तों की निरन्तर खुलती जा रही असलियत के वर्तमान दौर में यह कहानी हमें उसी बुनियादी प्रश्न की ओर ले जाती है कि क्या आत्मा, पुनर्जन्म और स्वर्ग या नरक जैसी चीजें वास्तव में होती भी हैं या इन सबको सिर्फ गल्प तक ही सीमित रखना बेहतर है? कहानी जिस प्रकार मन की अशान्ति का उत्तर पारलौकिक जगत के समाधानों में खोजने की कोशिश करती है, उससे यही लगता है कि मृत्यु के बाद वाले जीवन पर सोचना-विचारना उतना अतार्किक नहीं है, जितना पहली नजर में दिखता है। बस सवाल इन समाधानों के साहित्यिक प्रस्तुतीकरण का है। पात्रों की रचना अगर उम्दा होगी, संवाद अगर शक्तिशाली होंगे, केवल तभी आत्मा-परमात्मा की जटिलताओं के उलझे यथार्थ की तहों की एक झलक पायी जा सकती है। इस कोण से यह कहानी कई बार फ्लैशबैक में जाती है, स्मृतियों की संरचना का हल्का-फुल्का जायजा लेती है और एक ऐसी स्थिति का निर्माण करती है जिसे हम, प्लेटो की भाषा में, कैथारसिस-सदृश कोई प्रक्रिया कह सकते हैं। जीवन-जगत की निस्सारता को बारम्बार बयाँ करने वाली यह मामूली-सी लगने वाली कहानी असल में इसी प्रक्रिया का रूपायन है।

मृत्यु जीवन का सबसे बड़ा सत्य है। चलताऊ तौर पर हम इसे इतना बड़ा सत्य मानते हैं जो जाति, धर्म या लिंग या देश-काल सबसे ऊपर होती है। कहा जाता है कि मौत तो सबको आनी है। पर यह बात भी बहुत पेचीदा है क्योंकि सद्दाम हुसैन की मौत और रोनाल्ड रीगन की मौत को हम एक जैसा नहीं मान

सकते। यानी मृत्यु का भी अपना एक समाजशास्त्र होता है और इसी समाजशास्त्र को लेकर प्लेन क्रैश के बहाने दुर्घटनाओं में मरने वाले लोगों की मृत्यु का स्थानीयता और वैश्विकता का समावेश करते हुए इस कहानी में चित्रण किया गया है।

कई रचनाकार यह मानते हैं कि मृत्यु इतना जटिल विषय है कि इसके बारे में एक तरफ तो यह कहा जाता है कि सारे गल्प सत्य साबित हो सकते हैं। वहीं दूसरी तरफ यह भी कहा जाता है कि इसके बारे में कोई भी अनुमान सत्य नहीं हो सकता। हम सत्य के केवल आस-पास पहुँच सकते हैं और यह कहानी इसी आस-पास की एक खूबसूरत यात्रा है। अज्ञेय लिखते हैं कि दुख सबको माँजता है, और इसी दुख ने एली के पिता जॉन को इस कदर माँजने की कोशिश की है कि स्वर्ग से बतियाती उसकी बेटी उसी नन्हीं जान की हिफाजत के लिए फिक्रमन्द दिखती है जिसकी जान उसने हर हालत में बचाकर ही दम लिया। दम लिया, यानी बेदम हो गई। असल में यह निरन्तर चुकते जा रहे जीवन का बेहद सार्थक उपयोग है।

रचना तो वह होती है जो पाठक में कुछ जोड़ती हो, या फिर किसी ऐसी चीज का वर्णन करती हो जो यथार्थ होता हो, जिससे पाठक कुछ तारतम्य और जुड़ाव महसूस कर सकें, साधारणीकरण की कोई स्थिति आ सके, भले ही वह स्थिति क्षीण ही क्यों न हो! इस स्तर पर यह कहानी इतना जरूर बताती है कि जब किसी हवाई जहाज में कोई सम्पूर्ण नाश वाली स्थिति आती है, तब भी जो मानवीय मूल्य अपनी समग्र महानता में सुरक्षित बने रहते हैं, ममता उनमें सर्वोपरि है। अगर विक्रम-बेताल के पुराने रूपक से एक उदाहरण उठाएँ तो कहना चाहिए कि अपने पति नागराज की मौत का बदला लेने के लिए नागिन कुख्यात है, लेकिन फिर भी वह अपने पति के हत्यारे को माफ कर देती है और प्रतिशोध की सारी प्रतिज्ञाएँ तोड़ खुद आत्महत्या तक कर लेती है। ऐसा वह इसलिए करती है क्योंकि वह देखती है कि नाग-नागिन के छोटे-छोटे सँपोले बच्चों को हत्यारे की बेटियाँ दूध पिला रही हैं। नागिन सोचती है कि अगर मैं इन बच्चियों के पिता को डस लूँगी तो ये बच्चियाँ अनाथ हो जाएँगी, फिर इन अनाथ बच्चियों का जीवन कितना निस्सहाय, निरुपाय, कारुणिक और दयनीय हो जाएगा! इसके बाद नागिन डसने का विचार छोड़ देती है क्योंकि उसके भीतर ममता जाग जाती है। असल में ममता सबसे ऊँची भावना है, बल्कि कहना चाहिए कि समस्त भावनाओं की रानी है और यही इस कहानी की खूबसूरती है। एली को खुद मर जाने की चिन्ता नहीं है, बल्कि उसे एक अजनबी किन्तु मासूम नन्हें बच्चे की बहुत चिन्ता है। इतनी चिन्ता कि, वह उसे चादर की तरह ओढ़ लेती है। अपनी गोद में भर लेती है। अगर दिशा को उल्टा कर दिया जाए तो यह दृष्टान्त हमें होलिका द्वारा प्रह्लाद को गोद में बैठाने की याद दिलाता है। इतना जरूर है कि होलिका ने प्रह्लाद को मारने के लिए ऐसा किया था, जबकि एली ने बच्चे की जीवन रक्षा के लिए।

असल में कहानी का प्लॉट भारतीय है, उसमें संवेदना की लकीरें भारतीय हैं, बस नाम कुछ ऐसे हैं जिनसे अभारतीयता का भ्रम होता है क्योंकि यह कहानी एक ईसाई परिवार की है, जहाँ चर्च हैं, पादरी हैं, अंग्रेजी के कुछ संवाद हैं, शराब के नशे में धुत एक ऐसा विधुर है जिसने अपनी आखिरी आशा यानी अपनी बेटी एली को भी प्लेन क्रैश में गँवा दिया है। हालाँकि जिसे हम पूर्वानुमान या छठीं इन्द्रिय की आशंका कहते हैं, उसका भी परिचय हमें कहानी में मिलता है जब यह पिता जॉन अपनी बेटी एली के प्लेन में जाने को लेकर खुश नहीं है। एली मान-मनौव्वल भी करती है कि उसका पिता उसे खुशी-खुशी विदा करे, कोई उसकी लास्ट फ्लाइट थोड़ी ही ही ये! लेकिन कालान्तर में हम यह जान जाते हैं कि यह उसकी लास्ट फ्लाइट ही थी। ऐसी फ्लाइट जो एली के लिए लास्ट लेकिन जॉन के लिए लॉस्ट साबित हो गई, पाठकों पर यह कुछ हद तक एवरलास्टिंग असर छोड़ती है। यह फ्लाइट एक अबूझ पहेली की तरह है जिसका पल्लवन एक कहानी की शक्ल में किया गया है और पाठकों को सोचने पर मजबूर किया गया है।

फूल अच्छे लगते हैं, लेकिन इन फूलों के अर्थ बिल्कुल ही बदल जाते हैं जब इनके पौधों को एली ने लगाया हो। आज एली जिन्दा न सही, ये फूल जिन्दा हैं और उसके पिता को सुकून देते हैं। कहानी बेटी और पत्नी की याद में तड़पते-कलपते एक आदमी की व्यथा बयाँ करती है जिसका कारोबार इसी गम में चौपट होता जा रहा है और वह शराब पीकर कब्रिस्तान पर बैठा रहता है। उसका दोस्त विली उसे लाख समझाता है, पर जिसके पैर में बिवाई फटी हो, उसका दर्द नैतिक उपदेशों से नहीं, बल्कि औषधियों से ही दूर हो सकता है। औषधि के रूप में पादरी का भाई मिलता है जो हर कब्र पर जाकर मुर्दों से कुछ बातें करता है, थोड़ी मिट्टी बटोरता है और 'लाइफ आफ्टर डेथ' का अध्याय पढ़ता और गुनता है। भारत जैसे देश में ऐसे बाबा और सिद्ध बहुत मिल जाया करते हैं जो मरे हुए लोगों की आत्माओं से संवाद कराते हों।

अपनी मर चुकी बेटी से हुई पहली संवाद-प्रक्रिया में पिता जॉन का घबराना दो कारणों से लाजिमी है। पहला तो यह कि उसे विश्वास ही नहीं हो रहा है कि ऐसा हो भी सकता है! और दूसरा यह कि वह अपनी बेटी के वात्सल्य के महासागर में गहराई तक गोते लगाना चाहता है लेकिन इतना अवसर उसे दिया ही नहीं जाता। जीवन और मृत्यु को रेखांकित करने वाली यह कहानी कहीं से भी उपदेशात्मक या वैराग्य भाव से प्रेरित नहीं है, वरन एक ऐसे समापन की ओर जाती है जिसे हम सहज और स्वीकार्य कह सकते हैं। यह बात और है कि इस कहानी पर और ज्यादा काम किया जा सकता था, इसके कथ्य को और अधिक मजबूत बनाया जा सकता था। इस खास अर्थ में जब हम इसके शिल्प को देखते हैं, तो यह हड़बड़ी में लिखी गई कहानी अधिक प्रतीत होती है।

इधर भूमिका द्विवेदी की जिस तरह से कुछ रचनाएँ पढ़ने को मिली हैं, उससे ऐसा लगता है कि उनके भीतर एक समर्थ रचनाकार मौजूद है। यह तो आने वाला समय ही बताएगा कि वह अपनी प्रतिभा का कितना और कैसा सृजनात्मक उपयोग करती हैं ताकि पाठकों को नित नए साहित्यिक आस्वाद का आनन्द भी मिलता रहे और समकालीन यथार्थ से उनका परिचय भी होता रहे। ▫

पता : 2710, भूतल, डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
मो. : 09990665881

सीमा आजाद की कहानी 'लखन कहां का रहने वाला है' पर **आलोचना**

विस्थापन की समस्या कहानी के केन्द्र में है

n स्वाती ठाकुर

सीमा आजाद की कहानी 'लखन कहाँ का रहने वाला है' की शुरुआत आत्मकथन से होती है, जो शीर्षक के प्रश्न से सीधे जुड़ती है और फिर कहानी फ्लैशबैक में चली जाती है। पूरी कहानी इसी फ्लैशबैक में चलती है, जो एक व्यक्ति की कहानी के माध्यम से सामाजिक, राजनीतिक स्थिति व सच्चाई के साथ साथ कुछ मानवीय प्रश्न भी खड़े करती है और आखिर में आकर फिर से अपने शीर्षक से जुड़ जाती है। इस तरह से यह कहानी एक प्रश्न का जवाब बताने की पूरी प्रक्रिया है, एक भरे पूरे गाँव का खो चुके गाँव में तब्दील हो जाने का स र है, एक खुशहाल ग्रामीण के विस्थापित होते चले जाने का दंश है और इसके साथ ही, कुछ यादों के जरिए घवाहिल इंसानियत की टीस है, जो सबकुछ खो चुके लखन को प्रायः परेशान करती है।

पूरी कहानी लगभग 'मैं' शैली में चलती है परन्तु कहानी का शीर्षक 'लखन कहाँ का रहने वाला है' कहानी की उस 'मैं' शैली से बाहर आकर लेखिका द्वारा दिया गया शीर्षक है, जो कहानी के दृष्टिकोण को पाठक के समक्ष पाठ के भीतर प्रवेश से पूर्व ही संकेतित कर देता है। यह शीर्षक उस उद्देश्य को पहले ही पाठक के हाथ में थमा देता है, जिसे कहानी में ढूँढने का अकसर दावा किया जाता है। इसे लेखिका की योजना का एक पक्ष ही मानना होगा कि वे कहानी में छद्म कला रूप को खड़ा करने की बजाए सोच को वार्ता का विषय बनाना चाहती हैं।

यह कहानी अपने आरम्भ में रेखाचित्रात्मक शैली में आगे बढ़ती है और अपने पाठकों के मन में एक गांव का शब्द चित्र तैयार करती है। इस पूरी प्रक्रिया में वह अपने कुछ चरित्रों का भी शब्दों के माध्यम से चित्र बनाती है। छोटी सी दुबली-पतली, गेहुंआ रंग और गोल-गोल आँखें। दुपट्टे से घिरा होने के नाते उसका चेहरा ज्यादा ही गोल लगता। हर समय कोई न कोई दूध का दांत टूटा ही रहता था। हंसती तो उसकी गोल आँखें सिकुड़कर छोटी सी हो जाती और टूटे हुए दांत वाला मंसूड़ा दिखने लगता।

कहानी छोटे-छोटे किन्तु बेहद बारीक बिन्दुओं से गुंथी गयी है, जिसे समझना भी जरूरी है। कहानी में व्यक्त पात्र हिन्दू हैं, मुसलमान हैं। यहाँ यह समझ लेना भी जरूरी है कि हमारे समाज में हिन्दू और मुसलमान महज दो वर्ग नहीं, अपितु दो विरोधी वर्ग हैं। इसी विचार के साथ हिन्दूधर्म के भीतर की अनेकों श्रेणियां अपने विरोधी मुसलमान धर्म के विरुद्ध एकजुट हो जाती हैं। हिन्दओं के भीतर की अनेक श्रेणियां बाम्हन, ठकुरान, दसुध, कोइरी, अहीर, कहानी में मौजूद हैं। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यहाँ इंसान नहीं रहता, यहाँ इंसानियत से कहीं ऊपर हैं, ये श्रेणियां। इंसानियत इस कहानी के पूरे कथाक्रम से गायब है और सिा कथाक्रम से ही नहीं अपितु सच्चाई तो यह है कि 'इंसानियत' नामक यह भाव पूरे समाज के परिदृश्य से ही गायब है। विलुप्त होती इस इंसानियत की चर्चा कहानी में कुछेक जगहों पर कुछ पात्रों में दीखती तो है, पर वह भी ससिप् मानसिक उधेड़बुन के रूप में। कमजोरियों से लगाव रखने वाला आम आदमी अपने व्यवहार से इस मानवीय चर्चा को व्यक्त नहीं कर पाता और इसी वजह से इस दिशा में कोई कदम नहीं उठाता।

यह बात तो सच ही है कि राजनीति कही जाने वाली 'नीति' (?) आमजन की मानसिकता को गढ़ने का पूरा प्रयास करती है और अपनी इस अनैतिक प्रक्रिया में वह वर्ग भेद व जाति भेद को और पुख्ता करती है, जाति व वर्गों के मध्य वैमनस्यता अपना फायदा करती जाती है, जिसे आमजन नहीं समझ पाता।

मुस्लिम समुदाय को लेकर एक खास तरह की नकारात्मकता, जिसे क्रूरता भी कहा जा सकता है, आज भी कायम है (इसका कारण कुछ स्थितियों, अपराधों का सामान्यीकरण भी है) और इस पर निष्पक्ष रूप से सोचे जाने की जरुरत है। आज के राजनैतिक परिदृश्य में, जब 'सांस्कृतिक राष्टवाद' के नाम पर एक वर्ग विशेष पर की गयी या की जा रही हिंसा को जायज ठहरा दिया जा रहा है और इस तरह के कृत्यों में संलिप्त लोग बड़े बड़े राजनीतिक पदों पर बिठाए जा रहे हैं, इस कहानी में व्याप्त हिसां व उसके मूल को समझे जाने की जरुरत है।

कहानी का केन्द्रीय चरित्र लखन जब अपने गाँव की बात शुरू करता है तो वह एक ऐसे गाँव की बात करता है, जहां कुछ लोग रहते हैं जिन्हें अपनी जाति व धर्म का बोध तो है, पर किसी को लेकर कोई घृणा या नफरत नहीं है, तभी तो उनमें मैत्री का भाव है। लड़के लड़कियां सब एक साथ खेलते हैं, पर समय के साथ साथ लड़कियां इस समूह से बाहर होती जाती हैं, ये समाज का प्रभाव था, जहाँ उनका साथ खेलना सही नहीं समझा जाता। पर धीरे धीरे लड़कों का यह समूह भी बंटता जाता है। कहानी ज्यों ज्यों आगे बढ़ती है, राजनीतिक महत्वाकांक्षा से प्रेरित कुछ हिन्दू व्यक्ति अपने गाँव को हिन्दूगाँव बनाने की कोशिश में मुस्लिम समुदाय के प्रति वैमनस्य का बीज बोने में कामयाब हो जाते हैं। वो कहते

हैं न महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में पलता है। और यदि यह महत्वाकांक्षा राजनीतिक हुई तो उस निष्ठुरता की निमर्मता को मापा नहीं जा सकता। कहानी में व्यक्त गाँव जो अब वहां कभी रहने वाले मुसलमानों की तरह खो चुका है, इस निष्ठुरता का प्रमाण है।

संगठन (खास कर राजनीतिक) विभेद की रणनीति में जन्म लेते हैं। कहानी में इसे संवादों के माध्यम से बेहद सरल और प्रभावशाली तरीके से कहा गया है, ''यह हिन्दुओं का संगठन है। मुसलमान इसमें नहीं आ सकते। काहे हम एक ही गाँव के तो हैं? मैंने पूछा। पर हैं तो वो मुसलमान और उनका देश तो पाकिस्तान है। हम केवल अपने देश के लोगों को बुलाते हैं।''

समूह स्वयं ही अपने होने को विभाजन के चिन्हों में खोजता है। कहानी में व्यक्त चाकू के आकार, मांस काटने में उसका प्रयोग, फोन के नम्बर, जनसंख्या, आदि, तो उसके विपरीत 'हाफपैन्टिया' और 'काफ़िर' जैसे संकेत विभाजन की उस रेखा को गाढ़ा करते जाते हैं। कहानी में यह स्पष्ट व्यक्त हुआ है कि कोई संगठन फलता-फूलता है तो मूल रूप से उस अदृश्य सामूहिक गर्व पर जो उसे अंधत्व प्रदान करता है।

''हाँ मैं तो हिन्दू हूँ, काहे न जाऊंगा'' मोहन ने गर्व से कहा।

''संगठन को विरोध की खुराक हमेशा चाहिए होती है। लेखिका इसे आगे हिन्दू जाति की टिप्पणियों में संकेतित करती हैं। कहानी के उत्तर पक्ष में जब मुस्लिम टोले के वजूद को बर्बरतापूर्वक समेटकर गाँव को हिन्दू गाँव बना दिया गया है, तब हिन्दू समाज की तहों में समाई जातिगत विषमता का जिक्र मिलता है।

''लाल सफेद प्लास्टिक की कुर्सियां सबके लिए लगाई गयी थी, जिस पर आगे की कतारों में बभनान, ठकुरान, कयथान, और अहहरन के लोग थे फिर कोइरान के लोग इनके पीछे अन्य लोग। इन सबके एक ओर किनारे दरी बिछाई गयी थी जिस पर पासियान और दुसाध टोले के लोग थे बच्चे भी इस पर लोट रहे थे।''

राजनीतिक शोषण की इबारत इन्हीं संहिताओं में लिखी जाती है, कहानी में इसे स्पष्ट चिन्हित किया गया है।

बड़ी बड़ी बातें खूब कही सुनी जाती हैं, पर उससे भी ज्यादा जरूरी है उन छोटी समझी जाने वाली जगहों की फांस को समझना जो समाज के हर तबके के बीच विषमता और कई जगहों पर अमानवीयता का संबंध तैयार करता है।

यह कहानी सहज आवरण में लिपटी ऐसी कई भयानक असहजताओं को उजागर करती है। हिन्दू मुस्लिम संबंध हमारे यहाँ एक जटिल समस्या के रूप में है। शुद्धतावादी बनने बनाने के चक्कर में जाने कितने समाज, जातियां नष्ट हो चुकी हैं। मुस्लिमों के प्रति उदार समझी जाने वाली हिन्दूजाति का रवैया भी कुछ इसी तरह की मानसिकता से ग्रसित रहा है। इसी वजह से पूरे के पूरे कौम को नष्ट कर देने वाली घटना को भी कई लोग न्यायोचित ठहरा दिया करते हैं। यह कहानी उस मानसिकता पर सवाल करती है, साथ ही राजनीतिक प्रोपेगेंडा को समझने की वकालत करती है। गाँव में फैक्ट्री लगाने की बात करते वक्त बलराम हाल में संपन्न चुनाव का बहुप्रसिद्ध नारा 'अच्छे दिन आने वाले हैं' की टोन में 'खुशहाली आने में अब ज्यादा दिन नहीं बचे हैं' कहता है।

कहानी में व्यक्त इतनी सारी समस्याओं मसलन हिन्दू मुस्लिम संबंध, राजनीतिक प्रपंच, विस्थापन आदि के बरक्स बहुत महीन स्तर पर स्त्रियों की समस्या भी अतंर्भुक्त है। चूँकि यह कहानी एक व्यक्ति के माध्यम से एक पूरे समाज की कहानी कहती है, इसलिए कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में उस समाज के हर तबके की बात करती है। स्त्रियाँ यहाँ भी एक उत्पाद ही हैं, जिन्हें रौंद देना पुरुष प्रजाति को असीमित पौरुषीय दंभ से भर देता है। इतिहास प्रमाण है शोषण की किसी भी प्रक्रिया में औरतें दोहरे शोषण का शिकार होती हैं। लखन देखता है कि किस तरह हिंदू पुरुष मुस्लिम स्त्रियों का बलात्कार कर रहे हैं। हिन्दू औरतों को जब उनके पति अपने पौरुष की गाथा सुना रहे होते, तो उन स्त्रियों के लिए उनके घर के मर्दों का यह रूप उनके सामने पहली बार आया था। और ''हर रूप की तरह उन्होंने मर्दों के इस रूप को भी स्वीकार कर लिया क्योंकि यह मर्दों की औरतों पर जोर-जबरदस्ती से ज्यादा हिन्दू मुसलमान का मामला था।'' मौजूदा समय में गाजा पर हो रहे इजरायली हमलों से भी इस बात की पुष्टि होती है, जहाँ मारे गए लोगों में स्त्रियों व बच्चों की संख्या अधिक है। कहानी में भी ठीक यही स्थिति है।

कहानी का विषय चूँकि गाँव से जुड़ा है इसलिए भाषा में भी वह पुष्ट है, जो इसे स्वाभाविक बनाता है। नामों के उच्चारण का तरीका हो या, फिर बातचीत के बहुतेरे शब्द, सभी अपने प्रयोग में ग्रामीण गंध लिए हुए हैं। ग्लोबल बनते इस दौर में 'लोकल' का भी अपना एक खास महत्व है।

ऐसे में स्थानीयता का गहरा स्पर्श लिए हुए यह कहानी विकास के नाम पर गाँवों व ग्रामीणों को उजाड़ने की सरकारी नीतियों से उपजी समस्याओं को प्रभावी रूप से बताती है। पर कहीं कहीं भाषा अपनी यह स्वाभाविकता खो देती है। उपलब्धतानुसार, विशेषज्ञता, विस्थापित आदि कुछ ऐसे ही प्रयोग हैं, जो किसी सब्जी वाले के कहने में अखरते हैं। इसके साथ ही पूरे गाँव को खाली करवाकर वहाँ पावर प्लांट का लगना थोड़ा अविश्वास भी पैदा करता है, क्योंकि पावर प्लांट लगाए जाने के लिए आवश्यक स्थितियों का पूर्व में कोई संकेत नहीं मिलता है। फिर भी कोर्ट कचहरी और जांच के डर को बता कर इसे लगभग सुलझा दिया गया है। इन सब के अतिरिक्त कहानी की शुरुआत में केन्द्रीय चरित्र का 'जैसा कि आप जानते हैं मेरा नाम लखन है' कहना भी थोड़ा अखरता है।

कुल मिलाकर यह तो कहा ही जा सकता है सीमा आजाद की इस कहानी 'लखन कहाँ का रहने वाला है' के केंद्र में भारत की एक बड़ी समस्या 'विस्थापन' है। पर सिर्फ यही एक समस्या नहीं है जो इस कहानी में व्यक्त हुई है, जैसा कि ऊपर कहा भी गया है इस कहानी में मौजूदा भारत की और भी कई गंभीर समस्याओं को पूरी संवेदनशीलता से अभिव्यक्त किया गया है। और इस तरह से यह कहानी कहीं न कहीं भारत की वास्तविक समस्याओं को लखन की जिंदगी से जोड़ती है। इन सबसे ऊपर यह कहानी विकास के सरकारी लिबास में लिपटे राजनीतिक झूठ को भी अपने पाठकों के समक्ष उजागर करती है। ▫

***शोधार्थी, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।**

पता : राजभाषा विभाग, इंडियन ओवरसीज बैंक, पांचवा तल, एनेक्स बिल्डिंग, सेन्ट्रल ऑफिस 763 अन्ना सलाई, चेन्नई-600002

मो. : 09941562531

क्या आप मुझे एक मुर्दा दिलवा सकते हैं?

n अलका सरावगी

जयगोविन्द अपना ही लिखा हुआ पढ़कर स्तब्ध था। किस राजाराम बाबू के साथ बिताए कौन से दस साल? आदमी जब कोई कथा कहता है, तो क्या वह एक ऐसे प्रवाह में अपने को डाल देता है जिसका उसे खुद पता नहीं होता? यह सच है कि राधेश्याम बाबू उर्फ राजाराम बाबू- यानी कि कथा के राजाराम बाबू के साथ उसका परिचय छत पर रहनेवाले व्यास जी पंडित ने करवाया था। कुछेक साल उनके चक्कर लगाकर उनकी जूट मिल में उसने कम्प्यूटर लगा कर अपना साफ्टवेयर काफी दिनों तक चलाया था, पर राधेश्याम बाबू के सपने या अपने किसी सपने में भी वह उनका ए.डी.सी. नहीं बना था। हकीकत में बनना तो बहुत दूर की बात है। सच तो यह है कि वह जीवन में किसी का ए.डी.सी. नहीं बना, बल्कि उसके जीवन में पिछलग्गू हमेशा रहे। स्कूल कॉलेज के दिनों से लेकर आज तक लोग हर किसी बात पर उससे सलाह लेने उसके आगे-पीछे घूमते रहे हैं।

लोग जानते हैं कि जयगोविन्द काम का आदमी है। पर वह हर तरह का काम करवा सकता है क्योंकि उसकी पहचान जाने कहाँ-कहाँ तक, न जाने किस तरह निकल आती है। यहाँ तक कि एक बार किसी ने उसे फोन करके पूछा था कि एक प्राइवेट मेडिकल कॉलेज के लिए वह मुर्दे की व्यवस्था कर सकता है क्या? बेशक उसने एकदम मना कर दिया था, पर लोगों के दिमाग में उसकी जुगाड़ बैठाने की ताकत पर वह खुद चकित था। राधेश्याम बाबू से तो उसने पूरे-पूरे पचास लाख में सौदा किया था कि उनके प्लास्टिक की परत चढ़ाए हुए यानी लेमिनेटेड जूट बैग की वह इतनी सरकारी खरीद करवा देगा कि अगले साल सारे जूट-गनी बैग बेचनेवाले मक्खी मारेंगे। सरकार के पास खुद इतना स्टॉक होगा कि रखने की जगह नहीं होगी। इन्दिरा गाँधी के मरने के बाद दूसरा चुनाव था और लड़ने के लिए पैसों की भारी जरूरत थी। सरकारी खरीद पर कमीशन उधर भी तय थी और इधर जयगोविन्द के लिए भी। तब राधेश्याम बाबू उसके आगे-पीछे ऐसे घूमते थे जैसे वह उनकी अस्थमा की दवा हो। एक बार तो गंगा किनारे की जूट मिलों में एक-एक करके उसे खोजते हुए वह तीस किलोमीटर तक मोटर दौड़कर आ गये थे। राधेश्याम बाबू ने उस जमाने में यानी आज के करीब बीस साल पहले करीब-करीब सौ करोड़ रुपए कमाये थे। यह अलग बात है कि चुनाव खत्म होते ही जाँच कमीशन बैठा दिया गया और रुपयों का भुगतान सरकार ने रोक दिया। तीन साल बाद एक चौथाई पैसा मिलने पर राधेश्याम बाबू ने उसे साढ़े बारह लाख रुपये दिये थे। पर वे रुपये शेयर बाजार हर्षद मेहता कांड में स्वाहा हो गए।

उन्हीं दिनों जयगोविन्द के बड़े जीजा का कलकत्ते के नए-नए खुले बी.एम. बिड़ला अस्पताल में हॉर्ट का बाईपास ऑपरेशन हुआ था। तब यह ऑपरे ान कोई मामूली आपरेशन नहीं था। अस्पताल की लॉबी में मरीजों के रिश्तेदार इस तरह भरे रहते कि लगता कोई फिल्म की शूटिंग चल रही हो। सारे लोग आदतन जोर जोर से आपस में बातें करते रहते। भीड़ के शोरगुल में अपनी आवाज दूसरे तक पहुँचाने के लिए आवाज ऊँची करनी पड़ती। जयगोविन्द को दो-तीन दिनों में शोरगुल से चिढ़ कम होने पर ध्यान देने से समझ में आने लगा था कि प्रायः सारे लोग शेयरों की खरीद और बिक्री के बारे में ही बातें करते हैं। उसने आज तक शेयर न कभी खरीदे थे न कभी बेचे थे। उसे यह सब लेवा-बेची निठल्लों का धंधा-शगल लगता था, जो घर-बैठे दूसरों की मेहनत का पैसा आराम से अपनी जेब में डालना चाहते थे। पर अभी तो पूरा हिन्दुस्तान यानी पान-बीड़ी बेचने वाले से लेकर दफ्तर का बाबू हो या मालिक, हर आदमी अपनी कमाई को दस-पाँच दिनों में दुगुनी करने की फिराक में लगा था। जयगोविन्द के पास राधेश्याम बाबू के सौदे से आए ताजे-ताजे साढ़े बारह लाख रुपये कुलबुलाने लगे थे। डूबेंगे तो डूब जाएँगे। इससे अधिक क्या होगा। औरतें तक अपने गहने गिरवी रखकर शेयर खरीद रही थीं। उसके पास तो ऊपर-ऊपर के रुपये थे। जयगोविन्द के शेयर खरीदते ही अगले दिन से शेयर बाजार उठना बन्द हो गया था। वह चिन्ता में पड़कर अपने दोस्त के भाई को, जिसके मार्फत उसने शेयर खरीदे थे, हर दो घण्टे में फोन करने लगा था। दस दिन के अन्दर शेयरों के सारे कागज रद्दी के भाव बिकने लायक हो गए थे। गनीमत थी कि उसने दीपा को न उन रुपयों के आने के बारे में बताया था और न खोने के बारे में, लेकिन दीपा ने उसे मरा-मरा सा देखकर खुद ही पूछ लिया था, ''कहीं तुमने भी शेयरों में रुपए तो नहीं डुबो लिये न? जिसे देखो वही सुस्त पड़ा है। यहाँ तक कि हमारे धोबी ने भी अपनी वर्षों की कमाई खो दी है।''

''पागल हो गई क्या तुम? मैं और शेयर? कभी नहीं।'' -जयगोविन्द ने पूरा जोर लगाकर उसे भरोसा दिलाया था।

रुपए तो डूब गये पर जयगोविन्द ने इसे कोई नुक्सान न मानकर एक केस स्टडी की तरह देखा। कितने गजब की बात थी कि एक

आदमी या कुछेक आदमी मिलकर पूरे देश की अर्थव्यवस्था को झकझोर दें -उसके तमाम सुराखों से अपने फायदे के लिए रास्ते निकाल लें। जयगोविन्द ने ए.सी.सी. सीमेंट कम्पनी के शेयर खरीदे थे, जिनकी कीमत चार हजार प्रतिशत बढ़ाई गई थी। मजे की बात थी कि हर्षद मेहता नाम के शख्स ने बैंकों को उनके आपसी लेन-देन में बेवकूफ बनाकर उन्हीं का सारा पैसा शेयरों की कीमत बढ़ाने में लगा दिया था। बैंकों को दिवालिया बना दिया पट्ठे ने। कोई मामूली बात तो नहीं है। दिमाग चाहिए ऐसी आँधी चलाने में, जिसमें सब तिनकों की तरह उड़ जाएँ। बैंक अपना पैसा डुबोने के लिए तो नहीं देती, उन्हें यकीन दिलाना पड़ता है कि पैसा ब्याज सहित मिल जाएगा। क्या मजेदार खेल खेला शख्स ने। इसकी टोपी उसके सर-उसकी टोपी किसी और के सर। कितने लोगों का उसने यकीन दिलाया कि उसी के हाथ में उनकी टोपी है।

सच पूछा जाए, तो जयगोविन्द किसी को पिछलग्गू बनने लायक समझता है तो ऐसे हर्षद मेहता जैसे धुरंधर शख्स का। राधेश्याम बाबू जैसे लोग तो इस देश में भरे पड़े हैं, जो किसी न किसी सरकारी बाबू या नेता की जेब गरम करके अपने माल की खरीद करवा देते हैं या कच्चा माल सरकारी 'कोटे' से हासिल करने में कामयाब होकर कोई इंडस्ट्री लगा कमाई कर लेते हैं। टाटा-बिड़ला से लेकर छोटे-मोटे उद्योगपति तक सब लाइसेंस राज में इसी फिराक में लगे रहे। पर यह हर्षद मेहता अनोखी चीज है। उसने किसी का तलवा नहीं चाटा बल्कि सबको भरोसा बेचकर अपना काम बनाया। अब सरकार करती रहे उन सुराखों को बन्द, जिनमें से हर्षद मेहता ने घुसकर करोड़ों-अरबों का वारा-न्यारा कर दिया। उसके दिमाग की दाद तो देनी ही पड़ेगी कि वह इतने बड़े देश के इतने लोगों को भरोसा बेच सका।

जयगोविन्द को याद आया कि उन्हीं दिनों वह समर शुक्ला का भी कोई मुरीद नहीं हुआ था। अगर इस सिस्टम को जीतना है, तो उसी के तौर-तरीकों से। बड़ाबाजार का एक छोटा-मोटा नेता अगर देश के तमाम अखबारों के पहले पन्ने पर पहुँचता है, तो इसमें उसकी समझ और सूझ-बूझ के अलावा उसके पास क्या साधन है? किस आदमी के करीब पहुँचने के लिए क्या करतब करना है और कब उसे छोड़कर किसी दूसरे का पल्ला पकड़ लेना है, यह उसे पता होना चाहिए। विरोध-प्रतिरोध कब काम करते हैं और कब चुप्पी साधकर बैठ जाना होता है, वह सब जानता है। नेता, अभिनेता और उद्योगपति-वह तीनों के काम का ही आदमी नहीं है, वह इन तीनों को एक सूत्र में बाँधनेवाला भी है। जयगोविन्द को याद आया कि माँ ताश का खेल खेलती थी, तो बिना पत्ते देखे ही बाजी लगा देती थी। अक्सर माँ जीत भी जाती थी। आदमी को जिन्दगी में जीतने के लिए एक छठी इन्द्रिय की जरूरत होती है। लोग जिसे भ्रष्टाचार कहते हैं, वह दरअसल इसी 'एक्स्ट्रा' दिमाग की सिस्टम को अपनी शर्तों पर चलाने की प्रतिभा है। इस कम्प्यूटर का सॉफ्टवेयर बनाना और चलाना हर किसी के वश की बात नहीं। जयगोविन्द को अब इस सिस्टम को तोड़मरोड़ कर अपने काम में लगाना कम्प्यूटर की किसी नई-पुरानी भाषा को बरतने से कोई कम रोमांचकारी और दिलचस्प नहीं लगता।

देश की आजादी की पचासवीं वर्षगाँठ के पहले के दो साल जयगोविन्द को सबसे ज्यादा याद आते हैं। यह उसके जीवन का 'पीक पीरियड' था या उसे तब ऐसा ही लगा था। उसे लगने लगा था कि उसने सिस्टम को समझ लिया है। और उसकी मंजिल तक जाने का रास्ता उसे मालूम है। यही वह समय था जब वह बड़ाबाजार थाने के ओ.सी. की पॉकिट से दस रुपये का नोट निकाल कर उसी के चपरासी को दे सकता था कि मेरे लिए पान-मसाला की एक पुड़िया लाओ। उद्योग भवन के गलियारों में लाइसेंस लेनेवालों या अपना तय 'कोटा' बढ़ानेवालों की भीड़ भले ही कम हो गई हो, दिल्ली में जयगोविन्द की जान-पहचान और इसलिए उसकी खुद की माँग बढ़ती जा रही थी। विदेशों से भारी पैसा देश में आ रहा था और दुनिया की तमाम बड़ी कम्पनियाँ भारत को भविष्य का सबसे बड़ा बाजार मानकर किसी और से पहले भारत में अपने पैर फैलाना चाह रही थीं। जूट मिलों में जयगोविन्द के सॉफ्टवेयर की माँग इतनी बढ़ गई थी कि उसे अपने मातहत पाँच लोगों को रखकर काम करवाना पड़ रहा था। पर्यावरण को बचाने के आंदोलन के कारण दुनिया में जूट की माँग बढ़ रही थी और जो जूट मिलें मजदूरों का प्राविडेंट फंड तक जमा न करा पाने के कारण करोड़ों रुपए की बकाया रकम उधार करके बंद होने के कगार पर पड़ी थीं, उन्हें एक बार फिर से सुनहले जूट के धागे के सुनहले दिन दिख रहे थे।

उन्हीं दिनों उसके पास एक ऐसे शख्स का फोन आया था, जिसे वह हिन्द मोटर के दिनों से जानता था। वहाँ के एकाउंट्स विभाग में काम करनेवाला रमेश खेतान सेट्रंल एवेन्यू पर जानकीदास तेजपाल मैनशन से एक मकान दूर पर ही रहता था। पता चलने पर हावड़ा स्टेशन से दोनों साथ ही हिंदमोटर जाने लगे थे। बाद में जब जयगोविन्द ने वहाँ काम छोड़ा तो कुछेक साल बाद खेतान उसके पास नौकरी के लिए आया था। तब राधेश्याम बाबू से सिफारिश कर जयगोविन्द ने उसे उनकी जूट मिल में एकाउटेंट की नौकरी दिलवा दी थी।

इस बार रमेश खेतान ने फोन पर कहा था- ''जयगोविन्द, तुम सब छोड़-छाड़ कर हमारे साथ आ जाओ। हम तीन लोग मिलकर एक जूट मिल खरीद रहे हैं। हमें खरीदने के लिए देना होगा सिर्फ एक लाख रुपया। पाँच करोड़ का बकाया हमारे सिर जरूर रहेगा। पर तुम उसकी चिन्ता मत करो। प्राविडेंट फंड डिपार्टमेंट के दो अफसर हमसे मिले हुए हैं। तुम सोचो मत, बस हाँ कर दो।'' जयगोविन्द की हैरत का ठिकाना नहीं था। कल तक एकाउटेंट की नौकरी करनेवाले की इतनी औकात कि पाँच करोड़ का बकाया सिर पर लेकर जूट मिल खरीद ले। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि खेतान उसे अपने साथ क्यों रखना चाहता है? क्या इसलिए कि उसके मार्फत वह पुलिस और सरकार से बचना चाहता है? या फिर वह उससे मुफ्त में सॉफ्टवेयर लगवाकर जूट मिल को चलाने की सहूलियत चाहता है?

जयगोविन्द फोन पर हँसा था-''अरे यार, तुम मुझे सोचने के लिए थोड़ा वक्त तो दोगे? तुम तो जानते ही हो अभी कम्प्यूटर की माँग इतनी बढ़ गई है कि मेरी हालत पतली हो रही है। ऊपर से जानकीदास तेजपाल मैनशन को हर हाल में ढहाए जाने से बचाना है। उसका कोर्ट में केस चल रहा है। 'मेट्रोपीड़ित बंधु एसोसियेशन' की जिम्मेदारी मुझ पर डाल दी गई है। क्या करूँ और क्या न करूँ? दिन में अड़तालीस घंटे होते, तो कम पड़ते।'' रमेश खेतान एक सेकेंड चुप रहा, फिर

बोला-''मैने तुमसे तुम्हारा रोज का कार्यक्रम नहीं पूछा था जयगोविन्द। फालतू के कामों में आदमी सारी जिन्दगी बिता सकता है। उससे होगा क्या? तुम सब छोड़-छाड़ कर हमारे साथ आ जाओ। ऐसा मौका जिन्दगी में बार-बार नहीं मिलता।''

ऐसा नहीं कि जयगोविन्द ने सोचा नहीं था कि रमेश खेतान का प्रस्ताव मान ले। जूट मिल का मालिक होना एक ऐसा सपना था जिसे उसने कभी देखा तक नहीं था। पर पाँच करोड़ की 'लायबिलिटी' सिर पर लेकर वह जीएगा कैसे? उसे जेल की वह रात याद आ गई। कितनी भयानक दुर्गन्ध थी। सारी रात उसने पेशाब रोककर रखा था। खटमलों से भरे कम्बल पर वह लेटा तक नहीं था। बाकी मुजरिम उसे देख-देख हँस रहे थे। आज भी वह सीलन और पेशाब-टी की दुर्गन्ध याद आती है, तो उबकाई आ जाती है। इतने सालों बाद अब जाकर इस देश में यह सपना पैदा हुआ है कि सब कुछ कम्प्यूटर पर किया जा सकता है। अब उसकी पढ़ाई की कीमत उसे मिल रही है और आगे भी मिलनेवाली है। ऐसे में वह किसी ऐसे रास्ते पर चलना नहीं चाहता जो उस दुर्गन्ध तक उसे फिर ले जा सकती हो। उसके जीवन का 'पीक-पीरियड' अब आया है, वह इसे किसी कीमत पर खोना नहीं चाहता।

आज पीछे मुड़कर देखा जाय, तो रमेश खेतान ने बिलकुल सही कहा था। जयगोविन्द को वैसा मौका कभी नहीं मिला। एक के बाद, दूसरी, तीसरी, चौथी जूट मिलें रमेश खेतान ने खरीद ली। प्रोविडेंट फंड विभाग के दो अफसरों को सस्पेंड कर दिया गया। खेतान ने अलीपुर में बड़ा बंगला खरीद लिया। वह कभी जेल नहीं गया। उसका बेटा लाल रंग की 'फेरारी' गाड़ी में बैठकर रोज सुबह विक्टोरिया मेमोरियल के आस-पास चक्कर लगाता है। जयगोविन्द को खेतान ने कभी फिर फोन नहीं किया, पर एक बार दस साल बाद किसी के यहाँ शादी में मिल गया, तो बड़ी गर्मजोशी से मिला। ''तुम्हारा जानकीदास तेजपाल मैनशन तो अभी तक खड़ा है''- उसने हँसकर कहा। जयगोविन्द जवाब में खिसियानी-सी हँसी हँसकर रह गया।

बीच के इन दस सालों में बहुत कुछ बीत चुका था। अब तो जानकीदास तेजपाल मैनशन भी आधे टूटे हुए खंडहर की तरह खड़ा था, जिसके किसी भी दिन गिरने की आशंका से प्रायः सारे लोग भाग लिए थे। जयगोविन्द नई शताब्दी शुरू होने के पहले कम्प्यूटरों पर 'वाइ टू के' यानी दो हजार वर्ष के तीन शून्य आने पर सारे आँकड़ों के गायब होने के खतरे से परेशान था। उसके लगाए कम्प्यूटर गंगा के दोनों तटों पर फैली बीसियों जूट मिलों में चल रहे थे। रोहित अमेरिका में पढ़ाई पूरी करके नौकरी में लग चुका था। उसी की सलाह पर जयगोविन्द 'वाई टू के' पर एक कोर्स करने के लिए अमेरिका फिर से हो आया था।

अमेरिका से लौटने के बाद जयगोविन्द को अचानक महसूस हुआ कि वह अब यह काम और नहीं कर सकता। आखिर कब तक वह इस तरह जूट मिलों तक सड़कें मापता रहेगा? हर काम को करने की एक उम्र होती है। पचास के आस-पास आदमी यह महसूस करने लगता है कि जीवन को पहले की गति पर जीया नहीं जा सकता। ऊपर से इस देश में कोई काम प्रोफे ानल तरीके से करना असंभव है। आपके नीचे काम करनेवाला आदमी हमेशा इस फिराक में है कि कैसे वह आपको धोखा देकर खुद अपनी साफ्टवेयर आपकी खरीददार कम्पनियों में लगा दे। उधर आपके खरीददार लगातार इस चेष्टा में लगे रहते हैं कि आपके आदमी को तोड़ लें और उससे वही काम आधे दाम पर करवा लें। जैसे ही आपका आदमी उनका आदमी बन जाता है, वे आपसे झगड़ा कर कांट्रेक्ट खत्म करने का मौका खोजने लगते हैं। रोज आपको तंग करने के लिए नई-नई शिकायतें करने लगते हैं।

रोहित क्या गलत कहता है कि इंडिया में तो लोगों का वश चले तो हर तरह की सलाह फोन पर मुफ्त में ही ले लें। बात बिलकुल सही है। यहाँ लोग कोशिश करते हैं कि डॉक्टर फोन पर ही मर्ज सुनकर फोन पर ही दवा लिखवा दे। इसीलिए डॉक्टर लोग भी चालाकी करते हैं। वे बिना मतलब आपके एक्सरे या खून टेस्ट करवा देते हैं और उसकी कमीशन उनकी जेब में पहुँच जाती है। लोग वकील तक से भी फोन पर सलाह कर अपना काम करवा लेना चाहते हैं। इसीलिए वकील आपका केस उलझाए रखता है कि आपकी इनकम टैक्स या सेल्स टैक्स की समस्या कभी सुलझे नहीं और सुलझे तो बिचौलिए के रूप में अपनी जेब में मोटा पैसा डालकर। अफसर की जेब में जितना पैसा वकील डालेगा, उतना ही अपनी ही जेब में डालेगा। अजीब गोरखधंधा चलता है इस देश में।

कहा जा रहा था कि किसी भी इंजीनियर, डाक्टर से यहाँ वे लोग ज्यादा कमाएँगे जो किसी तरह की सेवा उपलब्ध कराएँगे। जैसे विदेशों में पोस्टमैन, ड्राइवर और आपका हेयरड्रेसर या नाई आपके बराबर के मकान में रहकर आपकी तरह की जिदंगी जीता है, उसी तरह यहाँ भी हर तबके का आदमी ऊपर उठ सकेगा। पर यहाँ हुआ यह है कि सिर्फ वे लोग कमाई कर पाए जिन्होंने विदेशों को अपनी सेवा कम्प्यूटरों के जरिये बेची। उन्हीं के पास चेन्नई, बंगलोर, हैदराबाद, गुड़गाँव में विदेशों का धन आया, और नीचे तबके का आदमी भी वहीं चल दिया क्योंकि उन्हें अच्छी तनख्वाह वहीं मिल सकती थी। अब नौकर, ड्राइवर या दरबार बिहार-यू.पी से कलकत्ता नहीं आते। सीधे बंगलोर या हैदराबाद जाते हैं। रोहित कहता है कि कभी वह इंडिया लौटा, तो बंगलोर में ही बसेगा। कम-से-कम वहाँ पर यह 'कल्चर' तो आया है कि काम सही तरीके से करो और उसके मुहमाँगे दाम लो।

रोहित की बातें गलत नहीं थीं। जयगोविन्द को अपनी कंसल्टेन्सी बंद करनी पड़ी क्योंकि काम बहुत था, पर करनेवाले लोग नहीं थे। या तो वे उसे धोखा देकर अपना हिसाब बैठाकर उसी के 'क्लायंट्स' यानी ग्राहकों को हड़प लेते थे, या बंगलोर, गुड़गाँव में नौकरी के आवेदन के जवाब का इन्तजार करते एक तरह से मन-ही-मन त्यागपत्र लिख चुके होते थे। जयगोविन्द को लगने लगा था कि काम करवाना होगा, तो ऐसे लोगों से जो इतने चतुर नहीं हैं कि अपना अलग रास्ता निकाल सकें और उसी की तरह किसी कारण से कलकत्ता नहीं छोड़ सकते। पर काम को बंद करने का अंतिम निर्णय उसने तब लिया जब उसके पास पाँच साल से काम कर रहे एकदम सीधे-सादे गोर्वधन दास को उसने अपने सॉफ्टवेयर की नकली कॉपी बनाते हुए पकड़ लिया। रोहित कहता था कि अमेरिका में अगर किसी का सगा भाई भी उससे पैसा देकर खरीदे किसी फिल्म या गाने की 'डाऊनलोड' की नकल करना चाहे, तो वह उसे कभी नहीं देगा। वह अपने भाई को साफ कह देगा कि ऐसा करना अनुचित और गैर कानूनी है।

कंसल्टेन्सी बंद करने का निर्णय लेने में कोई दुविधा इसलिए भी नहीं हुई थी क्योंकि उसके पास मिशिगन के पुराने दोस्त प्रीतम भंसाली का बहुत बढ़िया ऑफर था। प्रीतम भारत आकर चेन्नई यानी कि पुराने मद्रास में बस गया था और उसकी कम्पनी 'सिलिकौन सॉफ्टवेयर' के पास दुनिया की तमाम बड़ी-बड़ी कम्पनियों का आई. टी. का बिजनेस था। सिर्फ आठ सालों में उसने अमेरिका, यूरोप और सिगांपुर में कम्प्यूटिंग कर देश के मुख्य दस बी.पी.ओ. या कॉल सेंटर में अपना नाम दर्ज करवा लिया था। उसने फोन पर जयगोविन्द को कहा था, ''अगले दो साल में यानि 2000 के साल में मेरे पास 2000 लोग काम कर रहे होंगे। मैं यह बात अपनी बड़ाई मारने के लिए नहीं बता रहा हूँ, सिर्फ तुम्हें यह बताना चाहता हूँ कि मेरा काम कितना फैल गया है। तुम्हारे लिए मेरे दरवाजे हमेशा खुले हैं।'' जयगोविन्द का मन नहीं हुआ था कि उसे बताए कि वह कलकत्ता क्यों नहीं छोड़ना चाहता। अब जब एडवोकेट बाबू मर चुके हैं, यह कहना हास्यास्पद लगेगा कि वह एक पुराने झुके हुए मकान को बचाने के लिए शहर नहीं छोड़ सकता।

जयगोविन्द ने यूनिवर्सिटी के दिनों के अपने पुराने बिन्दास अंदाज का सहारा लिया-''अभी मेरा मूड कलकत्ता छोड़ने का नहीं हैं। पर तुम्हारा काम मैं यहीं बैठा कर सकता हूँ। आज इटंरनेट के जमाने में मैं तुम्हारे बगल के चेम्बर में बैठकर काम करूँ या तुमसे पन्द्रह सौ किलोमीटर दूर, क्या फर्क पड़ता है?'' भंसाली हँस पड़ा था। ''तुम करोगे वही, जो तुम चाहोगे। चलो, कोई बात नहीं। आज से तुम मेरी कम्पनी के आदमी हो। तुम्हारा सर्विस कांट्रेक्ट तुम्हें दो दिन में मिल जाएगा। तनख्वाह में तुम्हें जो रकम बैठानी हो, बैठा लेना। उस पर हम बात नहीं करेंगे।'' जयगोविन्द ने प्रीतम भंसाली के लिए काम करते हुए आश्चर्य से देखा कि कम्पनी का ध्यान सिर्फ अपने शेयरों के दाम बढ़ाने की तरफ था। प्रीतम जब-तब उसे फोन करता। पर बातें बी.पी.ओ. से संबंधित यानी विदेशी ग्राहकों को संतुष्ट रखने की समस्याओं पर नहीं होती थी। प्रीतम उसे कहता-''तुम मेरी कम्पनी के शेयर खरीद लो। जितना पैसा तुम्हारे पास इधर उधर पड़ा हो या भाभी के पास हो या बाजार से जितना ब्याज पर मिल जाए, सब लेकर मेरे शेयरों में लगा दो जैग। तुम क्या लाख-पचास हजार महीना कमाने के लायक हो दोस्त? तुम अमेरिका से पढ़े हुए सिस्टम इंजीनियर हो। मुझे दुख होता है कि तुम कुछ कर नहीं पाए।'' जयगोविन्द का दिमाग चकरा जाता। उसे मालूम था कि प्रीतम दो-तीन पेग पीकर ही उससे बात कर रहा है। बेशक प्रीतम अरबपति बन चुका है जबकि वह पढ़ने में जयगोविन्द से हरदम पीछे रहा। इस लिहाज से जैग के लिए उसका दुख सही है, पर उसकी बात पर भरोसा कैसे किया जाय? जूट मिलों में दिन-रात गाड़ी चलाकर कमाए हुए पैसों को दाँव पर कैसे लगाया जाय?

वर्ष 2000 के साल में जब 'सिलिकोन साफ्टवेयर' के एक शेयर का दाम 2100 रुपए तक चढ़ गया, तो जयगोविन्द के होश उड़ गए। अगर उसने प्रीतम की बात मान ली होती, तो आज वह छोटा-मोटा करोड़पति बन ही जाता। यह अवसर भी उसने गंवा दिया। दो साल में जितने रुपए प्रीतम की कम्पनी से कमाए थी, यदि वही लगा देता, तो सारे पाप धुल जाते। पर जब वही शेयर अगले साल ही पचास रुपए हो गए, तो जयगोविन्द ने अपनी पीठ ठोंक ली। बच गया वह तो। तीन महीने बाद उसने अखबार में एक रिपोर्ट पढ़ी कि 'सिलिकौन साफ्टवेयर' ने एक ही नंबर के शेयर किसी विदेशी कम्पनी को और मद्रास की किसी कम्पनी को बेचे हैं और बड़े-बड़े बैंकों का रुपया उस पर बकाया है। जयगोविन्द ने तुरन्त प्रीतम को फोन लगाया। जैसे ही उसने अखबार का जिक्र किया, प्रीतम ने लाइन काट दी।

कुछ महीनों तक जयगोविन्द के पास उसकी तनख्वाह का चेक आता रहा। उसके बाद पता चला कि 'सिलिकौन' ने अपने खास ग्राहकों के साथ एग्रीमेंट किसी दूसरी कम्पनी को बेच डाले हैं। जयगोविन्द ने फिर प्रीतम के मोबाइल पर फोन लगाया, पर फोन नहीं उठाया गया। उसके बाद चेक आने बंद हो गए। कुछेक महीने बाद अचानक प्रीतम ने वापस जयगोविन्द को फोन किया और किसी बैंक के अफसर से मिलकर दस कम्पनियों के नाम से बैंक में एकाउंट खोलने के लिए पच्चीस हजार रुपए उसे देने के लिए कहा। जयगोविन्द का मन हुआ कि इनकार कर दे। पर वह दोस्ती के तकाजे से ऐसा कर नहीं सका। बाद में जब प्रीतम भंसाली गिरफ्तारी के डर से अमेरिका भाग गया, तब जयगोविन्द को अखबारों से पता चला कि उसने उन दस फर्जी कम्पनियों के बैंक एकाउंट से करोड़ों रुपए इधर से उधर किए थे कि सरकार और शेयरहोल्डरों की आँखों में धूल झोंकी जा सके।

जयगोविन्द बहुत दिनों तक घबड़ाया रहा कि पुलिस उस तक न पहुँच जाय। प्रीतम पर न जाने कितने केस चल रहे थे। एक तो वे पच्चीस हजार रुपए प्रीतम उसे भेजना भूल गया था। ऊपर से जयगोविन्द की जान सूखी जा रही थी कि कहीं वह बैंक अफसर उसका नाम-पता और फोन नम्बर पुलिस को न बता दे। पर शायद वह मामला रफा-दफा हो गया था। तीन साल बाद जब प्रीतम वापस भारत लौट आया और पुलिस ने उसे एयरपोर्ट पर गिरफ्तार कर सीधे जेल भेज दिया, तो जयगोविन्द का सोया हुआ डर फिर उठा। छह महीने बीतने पर उसने जैसे ही चैन की साँस ली कि एक दिन किसी अजय विश्वास का फोन उसके मोबाइल पर आया-''हैलो मिस्टर जैग! मैं अजय विश्वास बोल रहा हूँ, मिस्टर प्रीतम भंसाली का सेक्रेटरी। आपको तो पता ही होगा कि प्रीतम सर को चेन्नई से कलकत्ता के प्रेसीडेंसी जेल में शिफ्ट किया गया है। मिस्टर भंसाली आपसे मिलना चाहते हैं। क्या आप कल शाम को पाँच बजे अलीपुर में जेल के गेट पर मुझे मिलेंगे?''

जयगोविन्द चकरघिन्नी हो रहा था। क्या वह साफ इन्कार कर दे या फिर कोई बहाना मार दे? साला वहीं मद्रास में पड़ा रहता। यहाँ आया होगा बैंक के उन्हीं दस खातों के कारण। अब उसे मिलने के लिए जेल में बुला रहा है! क्या पता यह धमकी हो कि अगर वह नहीं गया, तो उसका नाम प्रीतम पुलिस को बता देगा। लेकिन यदि वह जाता है, तो एक तरह से यह निश्चित हो जाता है कि कलकत्ते की धांधलियों में वही भंसाली का पार्टनर है। पर जाना तो पड़ेगा ही। दोस्ती का भी एक तकाजा होता है। वह प्रीतम से यह पूछना भी चाहता है कि उसने क्यों अपने बने-बनाए साम्राज्य को इस तरह मटियामेट किया। क्या तो वह सपना देख रहा था कि 'इन्फोसिस' जैसी बड़ी कम्पनी बनाकर दिखाएगा और अब इस तरह सब कुछ लुटा कर जेल की सलाखों के पीछे दुर्दान्त दुर्गन्ध में पड़ा है! क्या करोड़ों का साम्राज्य उसके जीने के लिए काफी नहीं था?

जयगोविन्द प्रीतम से मिला, पर न तो उसे जेल की दुर्गन्ध का सामना करना पड़ा और न ही वह प्रीतम से यह सवाल पूछ पाया। सेक्रेटरी अजय वि वास ने भेंट करनेवाले दिन सुबह-सुबह फोन करके उसे बताया कि उसे अलीपुर जेल न जाकर रेसकोर्स के सामने वाली सड़क पर एक अस्पताल में जाना है और गेट पर दरबान को सिर्फ अपना पहला नाम जैग बताना है। जयगोविन्द की जान में जान वापस आ गई। बेशक प्रीतम जैसा चतुर सुजान क्या जेल में सड़ेगा? आखिर इतने अरब रुपए का करेगा भी क्या? बीस-तीस लाख आराम के लिए खर्च हो भी जाएँ तो क्या! उसके पास एक-एक करोड़ रुपए की कई गाड़ियाँ ही होंगी।

अचानक जयगोविन्द को कुछ बातें समझ में आईं। प्रीतम ने कभी उसे मद्रास नहीं बुलाया कि अपना वैभव दिखा सके। गाड़ियों के बारे में उसने अखबार में ही पढ़ा था। क्या पता उसके पास सचमुच विदेशी कम्पनियों का इतना बड़ा आई.टी. सर्विस का काम था या नहीं? क्या पता सबकुछ फुलावटी हो ओर एक को हजार या दस हजार भी बताया जा रहा हो। हो सकता है कि ये सारे आँकड़े बता कर बैंकों से पैसा लिया जा रहा हो और शेयरों के दाम बढ़ाए जा रहे हों। क्या पता जयगोविन्द की तरह प्रीतम भंसाली के मन में भी हर्षद मेहता के लिए प्रशंसा का भाव रहा हो और उसने मन-ही-मन उसे अपना गुरु मानकर अपनी होशियारी से पूरे 'सिस्टम' को एक बार फिर से झटका दिया हो। बेकार है प्रीतम से कोई भी सवाल पूछना, वह यही कहेगा कि उसने कुछ गलत किया ही नहीं। हर्षद मेहता ने भी तो यही कहा था। जयगोविन्द अस्पताल में घुसते-घुसते सोचने लगा था कि कहीं सचमुच प्रीतम बीमार तो नहीं हो गया? उसने उसके सेक्रेटरी से औपचारिकता के नाते भी प्रीतम की तबीयत के लिए कुछ नहीं पूछा था। अब अस्पताल की ड्योढ़ी में घुसते-घुसते अस्पतालों की डेटोल या फिनाइल या कुछ और की गंध को सूँघते हुए उसके मन में यह खयाल आया। हर्षद मेहता तो पचास की उम्र तक भी नहीं पहुँचा था। बेचारा हार्ट अटैक से मर गया। उसने काली-सफेद दाढ़ी उगाए हुए आँखों के काले घेरे में डूबती आँखों वाले प्रीतम की कल्पना की। आज उससे चार साल बाद भेंट होगी। पिछली बार 'वाई टू के' का कोर्स करने के दौरान न्यूयॉर्क के एक कैफे में ही दोनों मिले थे। इंडिया में तो न वह प्रीतम के अहमदाबाद वाले घर कभी गया न मद्रास वाले।

कहानियों या फिल्मों पर संभवतः आधारित जयगोविन्द की कल्पना बिलकुल गलत निकली। उसे प्रीतम सफाचट क्लीन-शेव किया हुआ आफ्टर-शेव की सुगंध से महकता हुआ अस्पताल के बेड पर बैठा हुआ मिला। 'हाय'- कहकर उसने जयगोविन्द से पूरी ताकत से हथेली भींचकर हाथ मिलाया और अमेरिकन अँग्रेजी के लहजे में बोलते हुए अपनी सुन्दरी पत्नी से परिचय कराया। दो-तीन मिनट तक प्रीतम जैग की प्रतिभा को 'ब्रिलियंट' और 'आउटस्टैंडिंग' बताते हुए उसकी मिशेल से दोस्ती और फोर्ड मुस्टांग स्पोर्ट्स कार पर बोलता रहा। जयगोविन्द यह जानते हुए भी कि प्रीतम बेमतलब उसको मक्खन लगा रहा है, अपने अंदर अच्छा महसूस कर रहा था। ''हमारा हीरो था जैग! इंडिया की शान। इसे तुरंत असिस्टेंट टीचर की नौकरी मिल गई थी और अमेरिकन गर्ल-फ्रेंड भी! बाकी हम सारे इसकी सूरत और तकदीर से रश्क करते थे-'' प्रीतम बोलता जा रहा था। प्रीतम की दुबली-पतली पत्नी सचमुच गजब सुन्दरी थी। वह चालीस पार तो जरूर होगी, पर बीस साल से कतई ज्यादा की नहीं लग रही थी। कोई उसे लगभग गंजे हो गए प्रीतम की लड़की भी समझ सकता था। उसने सुर्ख लाल रंग की लिपस्टिक लगा रही थी और एक बड़ा-सा पर्स झुला रखा था जिस पर एक बड़ा सा 'डी' लटक रहा था। 'डियोर- क्रिश्चियन डियोर' का पर्स होगा- जयगोविन्द के मन में खयाल आया। ऐसे लग रहा था जैसे वह किसी खास पार्टी में जाने के लिए तैयार होकर आई हो।

प्रीतम अचानक मिशिगन यूनिवर्सिटी के दिनों से वर्तमान पर आ गया। ''तुम तो समझ ही रहे हो जैग कि यह देश अपने सबसे बेहतरीन 'टैलेंट' के साथ कैसा बरताव करता है? तुम्हें क्या मिला यहाँ आकर? और मुझे क्या मिला लौटकर? यह सड़े हुए अस्पताल का यह आठ बाइ आठ फुट का कमरा? इसका एयर-कंडीशन और टी वी सिर्फ सजाने के लिए है। दोनों ही ढंग से काम नहीं करते। घर का खाना खाने के लिए और सिगरेट पीने के लिए रोज जेल में दस हजार रुपए खर्च होते हैं। मेरी बीबी की हालत देखो। बेचारी सूखकर काँटा हो गई है। रोज डिप्रे न की दस गोलियाँ खाती है। मैं जेल में रोज इसके लिए एक कविता लिखकर इसे भिजवाता हूँ। उसके हजारों रुपए अलग लगते हैं। यह बेचारी मेरे लिखे उन चंद शब्दों पर जिन्दा है।''

जयगोविन्द ने देखा कि प्रीतम की पत्नी की आँखों में पानी भर आया था। वाकई ये लोग बहादुर लोग हैं। इतनी तकलीफ में ऊपर से अपने को चुस्त-दुरुस्त दिखा रहे हैं। यह कोई मामूली बात नहीं। हो सकता है कि बहुत महत्त्वाकांक्षी होने के कारण भंसाली ने थोड़ा-बहुत गैरकानूनी काम कर डाला हो, पर वह कोई चोर-डाकू तो नहीं है। ऐसे भी इस देश में टाटा-बिड़ला-अम्बानी से लेकर खुद उस तक कौन बेदाग है? प्रीतम हमेशा से थोड़ा अलग किस्म का था। ''रुल्स आर फौलोड बाय फूल्स''- यानी कि नियमों का पालन गधे करते हैं- यह उसका यूनिवर्सिटी के दिनों में भी तकियाकलाम था। ठीक ही तो है। ऐसे-ऐसे नियम सरकार ने बना रखे हैं जिन पर चलकर तो कोई दाल-रोटी भी ढंग से खा नहीं सकता। एक करोड़ रुपए की गाड़ी तो खैर सपने में भी नहीं देख सकता। खुद वह अपने जीवन का हिसाब-किताब जोड़े तो उसने लोगों के नाम सरकारी ब्लैकलिस्टों से हटाने में या सरकारी टेंडर दिलवाने में जितना कमाया है, उसका आधा भी जूट मिलों में अपना साफ्टवेयर लगाकर चलाने में नहीं कमाया होगा।

''तुम्हें मेरा एक काम करना होगा दोस्त-'' प्रीतम के कहते ही जयगोविन्द एकाएक सकते में आ गया कि कोई नई मुसीबत पैदा हाने को है। एक पल में उसके दिमाग ने उससे कहा- ओह यू स्टुपिड मैन। तुम क्या सोच रहे थे कि प्रीतम भंसाली जैसा इंसान अपनी बीबी के सामने तुम्हारी बड़ाई ऐसे ही कर रहा था! ऑफ कोर्स, उसने तुम्हें कोई काम से ही याद किया है। ''देखो जैग, मुझे मिशिगन यूनिवर्सिटी के हमारे दोस्त दीपंकर सेन से पता चला कि तुमने उसका दिल्ली का डीडीए का फ्लैट बिना कागजों के ही बिकवा दिया है। उसने बताया कि उसके पिता को वह फ्लैट एलॉट किया गया था, पर उसके कागज उनके मरने के बाद उसकी माँ के पास से गायब हो गए थे। उसने बताया कि तुमने सिर्फ पाँच परसेंट के कमीशन पर यह काम करवा

दिया। इतना ही नहीं, तुमने उसका कलकत्ते का टालीगंज वाला पुश्तैनी मकान भी बहुत रुपयों में बिकवा दिया। वह आज मौज में करोड़ों रुपए लेकर बैठा है, तो सिर्फ तुम्हारे कारण। अब मुझे भी तुम ही बचा सकते हो। मेरे पास कलकत्ते के आस-पास बहुत जमीनें हैं। मुझे सबके दाम खड़े करने हैं। तुम्हारा कमीशन तुम्हीं तय करोगे। जितनी ज्यादा मुश्किल खाली करवाने में होगी, तुम्हारा कमीशन उतना ही ज्यादा रखो। एनी प्राब्लम?''

जयगोविन्द ने नो प्रॉब्लम के अंदाज में सिर हिलाते हुए प्रीतम की पत्नी की ओर देखा। उसके चेहरे पर बच्चों की सी मासूम मुसकान खेल रही थी।

जयगोविन्द का सारा सामान मुम्बई या बंबई जाने के लिए पैक हो चुका है। उसने अपने जयदीप के नाम से लिखे आत्मकथात्मक उपन्यास को पूरा नहीं पढ़ा। बंबई में तो कोई खास काम नहीं होगा। न कोई यार दोस्त होगा आस-पास और न कोई 'रीयल इस्टेट' का बिजनेस। ज्यादा-से-ज्यादा फोन पर कलकत्ते वाले दलाल से कुछ शेयरों की खरीद करवा लेगा या बेच लेगा। बाकी समय तो किताबें पढ़ने में ही बीतेगा। अब तो ऑन-लाइन खरीदकर लैपटोप में ही अनगिनत किताबें पढ़ी जा सकती हैं। जरूरत पड़ी तो किसी लाइब्रेरी की मेंबरशिप ले लेगा। सुमित नौकरी की तरह ही जल्दी-जल्दी घर भी बदल लेता है। पर लाइब्रेरी तो हर जगह होती ही होगी।

जयगोविन्द ने कलकत्ता एयरपोर्ट पर बैठे-बैठे बम्बई के लिए बोर्डिंग की घोषणा होने का इन्तजार करते याद करने की कोशिश की कि उसके उपन्यास का अंत कहाँ पर हुआ था। जहाँ तक उसे याद है, उपन्यास की शुरुआत वहाँ हुई थी जब दीपा और वह जानकीदास तेजपाल मैनशन में सबके छोड़कर चले जाने के बाद अकेले बचे थे। नीचे तिवारी दरबान था जो उसी के जाने के इतंजार में तकलीफ सह रहा था। उन लोगों ने अगल-बगल के कमरों के दरवाजे-खिड़कियाँ निकाल लिए थे और छत तोड़ने की धमकी तिवारी को दे चुके थे। सड़क से गुजरते हुए उसे पीछे से लोगों की टिटकारी और हँसने की आवाजें सुनाई पड़तीं। उसे मालूम था कि ये लोग आफताब हुसैन के बैठाए हुए लोग हैं जो उसका और तिवारी का मनोबल तोड़ने के लिए उसे सुना-सुनाकर गालियाँ और धमकियाँ देते रहते हैं।

उपन्यास का अंत क्या था? जयगोविन्द को यह याद है कि प्रीतम भंसाली ने उसे 'रीयल इस्टेट एजेंट' बनाकर उसके जीवन की एक नई दिशा तय कर दी थी। ठीक उसी समय पूरे देश में जमीन की कीमतों में ऐसा उछाल आया था, जिसकी किसी ने कल्पना नहीं की थी। कलकत्ते में जमीनों के दाम पहले वाली बंबई के दामों जैसे हो गए थे। यहाँ तक कि गली-कूचों में भी लोग पचास लाख रुपए 'कट्ठा' यानी सात सौ बीस वर्ग फुट जगह के लगाने लगे थे। कल तक जो जमीन सबसे महंगे इलाके में पच्चीस लाख रुपए कट्ठे में बिक नहीं पा रही थी, उसी का दाम दो से अढ़ाई करोड़ रुपये कट्ठे का हो गया था। कोई ऐसी गली नहीं थी जिसमें पुराने मकान टूटकर नए मकान न बन रहे हों। कलकत्ता शहर के अंदर जिन इलाकों में बड़े-बड़े कारखाने हुआ करते थे, वहाँ आकाश को छूती शानदार मल्टीस्टोरीड बिल्डिंग खड़ी हो रही थीं। विराट शॉपिंग मॉल बनाने की घोषणाएँ की जा चुकी थीं। राजारहाट में न्यू कोलकाता के लिए सपाट खड़ी जमीनों पर बड़े-बड़े काँच की दीवारों वाले मकान खड़े होने लगे थे। ऐसा लग रहा था कि न्यू कोलकाता सिगांपुर जैसा बन जाएगा।

प्रीतम भंसाली की बेहाला वाली जमीन खाली करवाने में जयगोविन्द पूरे दो साल तक लगा रहा था। कई एकड़ जमीन कई कम्पनियों के नाम से थी, पर यह तब खरीदी गई थी, जब उस पर एक पूरी बस्ती बस चुकी थी। जयगोविन्द की बड़ाबाजार के थाने में और यहाँ के कांउसिलर एम.एल.ए-एम.पी. से जितनी जान-पहचान थी उससे कहीं ज्यादा बेहाला में बन गई थी। बेहाला के सबसे बड़े मस्तान दिवाकर घोष से तो उसका ऐसा दोस्ताना हो गया था कि अपने घर शाकाहारी खाना बनाकर उसे खिलाए बिना दिवाकर भेजता ही नहीं था। दीपा को खुद ही फोन लगाकर कहता कि जॉय दादा यानी जयगोविन्द हमारे घर खाकर जाएँगे। बेशक दीपा को उसने दिवाकर का परिचय बेहाला के जमींदार परिवार का बताकर दे रखा था। कई बार दिवाकर उसे अपनी जमीन पर उगाई सब्जियाँ भी दे देता। इससे भी दीपा को भरोसा दिलाने में आसानी हो जाती थी।

दिवाकर घोष की मदद से बेहाला की जमीन लगभग खाली करवाई जा चुकी थी। दिवाकर ने आफताब हुसैन की तरह ही मेज पर पिस्तौल रखकर आधे लोगों को भुगता दिया था। बाकी लोगों को उसने एक-एक करके तरह-तरह से तोड़ा। जाहिर है कि इसमें जयगोविन्द ने उसे कई तरह की आइडिया दीं। एक आदमी को दमे की शिकायत थी। उसके बगल पड़ी खाली जगह में रोज लाल मिर्च की धूनी लगाकर खाना बनवाया गया। वह दस दिन में ही भाग लिया। बस एक नब्बे साल की अकेली बुढ़िया बच गई थी जिसके पास उसका कोई दूर का भतीजा रहता था। बुढ़िया किसी तरह जाने को तैयार नहीं थी। वह वहाँ जाते ही गाली बकने लगती। जयगोविन्द को कई बार लगता कि यह बुढ़िया उसी का प्रतिरूप है। या शायद एडवोकेट बाबू जिंदा रहते, तो इसी तरह मकान खाली नहीं करते, चाहे कुछ भी हो जाता।

उपन्यास का अंत शायद वहीं हुआ था जब जयदीप जानकीदास तेजपाल मैनशन से रातोंरात बिना सामान लिए भाग खड़ा हुआ था। उसी दिन बुढ़िया को उसके भतीजे की मदद से नींद की गोली खिलाकर दिवाकर घोष ने कलकत्ते से पचास मील दूर अपने पुश्तैनी घर के पास एक झोपड़ी बनाकर पार्सल कर दिया था। जयदीप जब रात को टंकी तोड़कर भारी पत्थर लुढ़काने से भी डरकर नहीं भागा था, तब आफताब हुसैन हाइकोर्ट से नोटिस ले आया था जिसमें कॉरपोरेशन के चीफ इंजीनियर की सिफारिश पर जानकीदास तेजपाल मैनशन को गिराने का आदेश था। बहुत मिन्नत कर जयदीप ने दो दिन की मोहलत माँगी थी और अगले दिन दो ट्रकों में गोदरेज की लोहे की भारी अलमारियाँ और पुराना फर्नीचर लदवाकर उस दड़बे में ले आया था, जिसमें दीपा के साथ उसने अपने दाम्पत्य जीवन के अन्तिम दो साल गुजारे थे।

उधर बुढ़िया भागी, इधर जयदीप। एक ही रात में दोनों बेघर हो गए थे। यदि ऐसा सच में न हुआ हो या आगे-पीछे हुआ हो, तो भी उपन्यास का अंत एक ऐसे संयोग से करना कोई पुरातनपंथी तरकीब तो नहीं? बेदखल होना और बेदखल करना एक साथ होते ही हैं। यह तो जीवन का शाश्वत सत्य है। ▫

पता : 2/10, शरत बोस रोड, गार्डेन अपार्टमेंट, जी ब्लॉक, द्वितीय तल (हिन्दुस्तान क्लब के पहले वाली गली, आइडियल प्लाजा के सामने)
कोलकाता-700020
मो. : 09830152000

संजय चौबे का नवीनतम विचारोत्तेजक उपन्यास - 20 जनवरी 2015 से उपलब्ध.

9 नवंबर 1989 को बर्लिन की दीवार गिरी थी.
9 नवंबर 1989 को सनातन भारत में राम जन्म भूमि पर शिलान्यास हुआ था.
...लेकिन इससे लगभग पौने तीन साल पहले 18 फरवरी 1987 को उसने पटना के गाँधी मैदान में कहा -

"समस्या ? ऐसा करने पर सब कुछ तहस नहस हो जाएगा, है न ! समस्याओं की झड़ी लग जायेगी.. समाज बिखर जाएगा.... लेकिन ये अन्तर्धार्मिक या अन्तर्जातीय विवाह, ये हिन्दू - मुस्लिम के बीच विवाह या ब्राह्मण - हरिजन के बीच का विवाह - समस्या नहीं, समाधान है. सदियों पुरानी समस्या - आपसी फसाद व नफरत के जहर का समाधान ! सोचना जरा ! सब कुछ तहस नहस हो जाएगा लेकिन एक नया समाज बनेगा, एक नया परिवार बनेगा और इस नये परिवार में 'नया आदमी' जन्मेगा..."

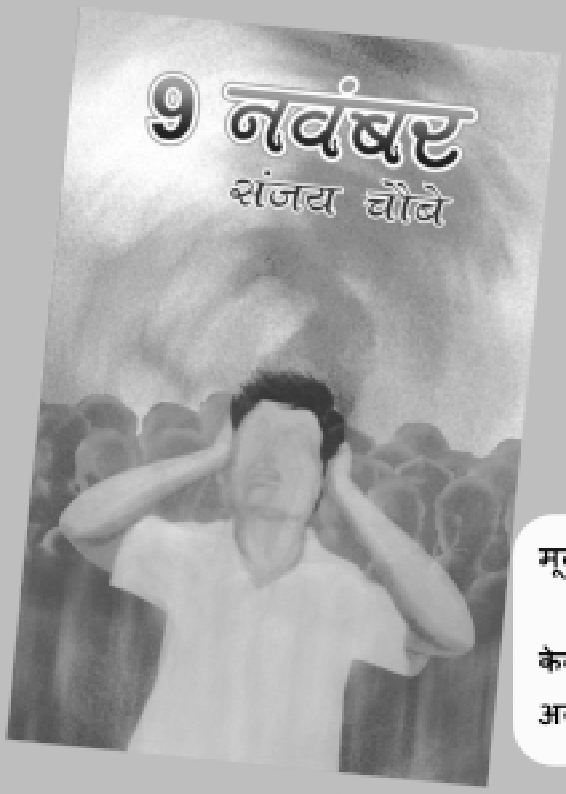

मूल्य : ~~रु.175/-~~
रु.100/-
केवल सीमित अवधि के लिए.

"..... यहीं भागलपुर में जमुना कोठी है. तुम जा कर देखना. वहाँ एक डॉक्टर लेकर जाना. माँ होती है न. माँ बच्चों को दूध पिलाती है लेकिन तुम उसके स्तन काट लो तो ? दरोगा, एक डॉक्टर भेजो.... जमुना कोठी में बुन्नी बेगम के स्तन न जाने कैसे कट गए, बच्चों का क्या होगा ! बच्चे भी तो थे. हाँ याद आया, दिन दहाड़े बच्चों के सिर धड़ से अलग हो रहे थे. मैं वहाँ था, दरोगा. बच्चों के पैर भी कट रहे थे. ये बीमारी ठीक नहीं है, दरोगा. किसी अच्छे डॉक्टर को लेकर जाना. वे सब वहीं होंगे. मैं ठीक हो सकता हूँ तो वे सब भी ठीक हो सकते हैं.... बुन्नी बेगम है उसका नाम.... नाम भूल भी जाओ तो कोई बात नहीं माँ को कैसे भूलोगे..."

ऑनलाइन स्टोरों पर उपलब्ध

amazon flipkart.com

एडवांस प्रति बुक कराने हेतु मो: 07839317522, 09415320286 पर एस.एम.एस
या zlatika74@gmail.com पर ई मेल भेजें. ई बुक के रूप में www.notnul.com पर भी उपलब्ध.
प्रकाशक - मनसा पब्लिकेशन्स, 2/256, विरामखंड, गोमतीनगर, लखनऊ - 226010

www.notnul.com
(A product of Greenfield IT Solutions)

NOT NUL

-- Building Intellect..

पढ़िए हिंदी साहित्य ऑनलाइन ---NOTNUL

1. www.notnul.com पर जाकर sign up करें।
2. Login करने के बाद "Home" पेज पर जाइये ।
3. अपनी पसंदीदा किताबें/पत्रिकाएं ढूंढे और उन्हें "Add to Bookrack" करें।
4. दाये हाथ पर "Bookrack" में Checkout बटन क्लिक करें।
5. भुगतान का तरीका चुने और भुगतान करें।
6. सफल भुगतान के बाद Download का बटन क्लिक करें।

पढ़िए–कहीं भी,कभी भी बिताब हर जगह ले जाने की कोई जरूरत नही है। मोबाइल या लैपटाप काफी है।	तकनीक द्वारा कम मूल्य पर उपलब्ध है, किताबें	पर्यावरण की रक्षा अपनी रक्षा पेपर रहित हो कर समाज को अमूल्य योगदान दें।
पढ़ना भी स्वाधिकार है।	आज हिंदी को आपकी और आपको हिंदी की ज़रूरत है। कम दाम पर खरीद कर आप लाभान्वित होंगे साथ में हिंदी को भी समृद्ध करेंगे।	घर में रखने की जगह नहीं बची है। यो आपका ऑनलाइन पुस्तकालय है। आप कभी भी अपनी किताब दुबारा पढ़ सकते हैं।

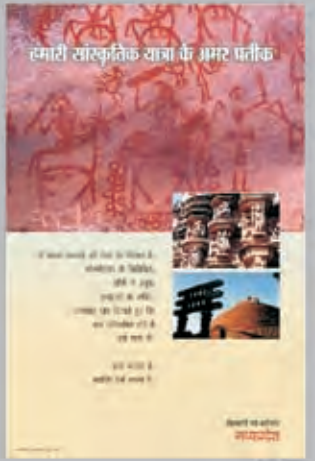
हमारी सांस्कृतिक यात्रा के अमर प्रतीक

ऊर्जा

ओएनजीसी
ONGC

विद्युतशक्ति से सशक्तिकरण तक

हमारे पूर्वोत्तर राज्यों के स्वप्न आलोकित हुए

ओएनजीसी की इन्हीं विद्युत परियोजनाओं की प्रथम इकाई (363.3 मेगा वाट) भारत के पूर्वोत्तर के प्रकाशमय कर रहा है और यह संयुक्त [illegible] क्षेत्र की इस तरह की सबसे बिजली [illegible] परियोजनाओं में से एक है। ओएनजीसी ने राज्य को [illegible] बनाने में कई वर्षों तक मदद की है और इस प्रकार महिलाओं को अपने परिवारों का भरण पोषण करने के लिए आजीविका चलाने हेतु सशक्त कर रहा है।

ओएनजीसी कम्पनियों का समूह

ओएनजीसी विदेश लिमिटेड, ओएनजीसी पेट्रो एडिशन्स लिमिटेड, ONGC Mangalore Petrochemicals Limited, ONGC Tripura Power Company, TPC, Petronet MHB Limited, ONGC Videsh Limited, tbl, ONGC Nile Ganga B.V., MSEZ, ONGC Petro additions Limited

ओएनजीसी कॉर्पोरेट ऑफिस, जवाहर लाल नेहरू भवन, सेक्टर-13, प्लॉट नं. 124, इंडिया एक्स, नई दिल्ली 110001
फोन: 011-23301001, 23301166, 26721760 • फैक्स: 011-26741515 • www.ongcindia.com • facebook.com/ONGCLimited

आर.ओ. नं. : सीसीडी/सद्भाव विज्ञापन/हिन्दी/8/2014